TO THE READER.

KINDLY use this book very carefully. If the book is disfigured or marked or written on while in your possession the book will have to be replaced by a new copy or paid for In case the book be a volume of set of which single volumes are not available the price of the whole set will be realized.

O. L. 29.



LIBRARY

Class No. 891.432

Book No. Sh 53 Bh

Acc. No. 10309

भूमिका

यह नाटकावली तीन खंडों में विभक्त की गई है। पहले खंड में भारतेंदुजी के ५ अनुवादित नाटक—विद्यासुंदर, पाखंड-विडंबन, धनंजय-विजय, कर्पूर-मंजरी और मुद्राराक्षस—हैं; दूसरे खंड में उनके ७ मौलिक नाटक—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, सत्यहरिश्चंद्र, श्रीचंद्रावली, विषस्य विषमौषधम्, भारतदुर्दशा, नीलदेवी और अंधेर नगरी—तथा तीसरे खंड में उनके दो अपूर्ण नाटक—प्रेमजोगिनी और सतीप्रताप—हैं। प्रत्येक खंड के नाटकों को उनके रचनाक्रम के अनुसार रखा गया है। बाबू राधाकृष्णदासजी ने इनके बनाए हुए बीस नाटक बताए हैं। शेष ६ नाटकों के नाम इस प्रकार हैं—प्रवास नाटक, भारतजननी, दुर्लभ बंधु, नवमल्लिका, रत्नावली और मृच्छकटिक। इनमें से प्रवास, नवमल्लिका, रत्नावली और मृच्छकटिक को उन्होंने अपूर्ण बताया है और रत्नावली को छोड़कर शेष तीनों को अप्रकाशित भी कहा है। मृच्छकटिक को तो उन्होंने अप्राप्य भी बताया है। रत्नावली की केवल प्रस्तावनामात्र का भारतेंदुजी अनुवाद कर सके थे, इसलिये प्राप्य होने पर भी हमने उसे सम्मिलित करना ठीक नहीं समझा। मृच्छकटिक और प्रवास नाटकों का हमको कहीं पता नहीं चला। भारतजननी के संबंध

में स्वयं भारतेंदुजी ने लिखा है—"भारतजननी रूपक जो गत नवंबर (सन् १८७८) से छपता है उसके ऊपर मेरा नाम लिखा है। वह रूपक मेरा बनाया नहीं है। वंगभाषा में 'भारतमाता' नामक जो एक रूपक है वह उसी का अनुवाद है जो मेरे एक मित्र का किया है, जिन्होंने अपना नाम प्रकाश करने को मना किया है। मैंने उसको शोधा है और जो अंश कुछ भी अयोग्य था उसको बदल दिया है। कवि की कीर्ति का लोप नहीं करना। अतएव यह प्रकाश करना मुझ पर आवश्यक हुआ।" दुर्लभ बंधु बाबू बालेश्वरप्रसाद का अनुवाद किया हुआ है। इसका भी संशोधन भारतेंदुजी ने किया था। अतएव उसको भारतेंदुजी की कृतियों में गिनकर इस संग्रह में सम्मिलित करना हमने उचित नहीं समझा। भारतेंदुजी के नाटकों का जो संग्रह खड्गविलास प्रेस से निकला है उसमें माधुरी नामक एक रूपक भी है। इसके संबंध में बाबू राधाकृष्णदासजी का कहना है कि यह इनका बनाया नहीं है, धोखे से प्रकाशक ने इनका नाम दे दिया है। यह ग्रंथ भरतपुर के राव कृष्णदेवशरणसिंह का, जो भारतेंदुजी के अनन्य मित्रों में से थे, बनाया हुआ है। अतएव भारतेंदुजी के बनाए केवल १४ नाटक ठहरते हैं जिन्हें हमने इस संग्रह में सम्मिलित किया है। यद्यपि श्रीचंद्रावली को हमने पहले रखा है और उसके अनंतर विषस्य विषमौषधम् को रखा है पर हमारा अनुमान है कि इनके बनने

ग्रंथ-सूची

प्रस्तावना

संवत् १६५७ में इँगलैंड में ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना हुई और उसे भारतवर्ष से व्यापार-संबंध स्थापित करने का एकाधिकार दिया गया। बारह वर्ष तक उद्योग में लगे रहने के अनंतर संवत् १६६६ में इस कंपनी का पहला कारखाना सूरत में खुला। इस साधारण घटना से ब्रिटिश जाति और भारतवर्ष के पारस्परिक संबंध का सूत्रपात हुआ। क्रमशः व्यापार की वृद्धि होने लगी। डच और फरासीसी लोगों ने भी इसी समय के लगभग भारतवर्ष से व्यापारिक संबंध स्थापित किया। इन तीनों युरोपीय जातियों में पहले तो अपना-अपना व्यापार बढ़ाने के लिये बहुत कुछ स्पर्धा हुई, पर पीछे से जब युरोप में युद्ध छिड़ गया, तब यहाँ भी उसका परिणाम देख पड़ने लगा और यहाँ भी वे जातियाँ परस्पर छोटा-मोटा युद्ध करने लगीं; यह दशा बहुत वर्षों तक रही। अंत में इस सामरिक तथा व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता में अँगरेज जाति की विजय हुई और वह दृढ़तापूर्वक भारतवर्ष में अपना प्रभुत्व जमाने लगी। संवत् १८१४ की पलासी की लड़ाई के उपरांत अँगरेजों के पैर इस देश में दृढ़ता से जमने लगे, परंतु अवस्था अभी

आविर्भाव-काल

तक डाँवाँडोल थी। संवत् १८६० में मुगल-साम्राज्य का अंत हो गया और मुगल-सम्राट् अँगरेजों से पेनशन पाकर अपना जीवन बिताने लगा। अब इस विस्तृत राज्य को भली भाँति शासित करने का उद्योग किया जाने लगा। संवत् १९१४ में सिपाही-विद्रोह हुआ, जिससे ब्रिटिश शासन की जड़ हिल गई, पर अँगरेजों के सौभाग्य से उन्हें थोड़े ही दिनों में इस विपत्ति से छुटकारा मिल गया और उन्होंने इस विद्रोह को दमन करके अपने शासन की नींव दृढ़ता से जमा ली। इसके उपरांत ब्रिटिश जाति और भारतवर्ष के संबंध की घनिष्ठता दिन पर दिन बढ़ने लगी। (एक व्यापारी संस्था ने वणिज-व्यापार के लिये इस देश में आकर २५० वर्षों में यहाँ अपना अटल राज्य स्थापित कर लिया।)

इस दैवी घटना के कारण इँगलैंड की अपेक्षाकृत नवीन सभ्यता का भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता से संबंध स्थापित हुआ और दोनों में संघर्षण होने लगा। विजय के उत्साह में मग्न होकर अँगरेज अपनी जाति तथा अपने देश के उपकार में दत्तचित्त थे और अत्यंत कुशलतापूर्वक अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रयत्नवान् हो रहे थे। पिछले एक सहस्र वर्षों से भारतवर्ष विदेशियों के अधीन होकर तथा उनकी सेवा-वृत्ति करके अपना जीवन बिता रहा था। एक में उत्साह, जाति-प्रेम और देशाभिमान के भाव भरे हुए थे, दूसरा संकटापन्न होकर अपने दिन कठिनाई से काट रहा था। उसे अपने

जीवन तक के लाले पड़ रहे थे, स्वार्थपरता ने उस पर अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया था। ऐसी अवस्था में दो भिन्न-भिन्न सभ्यताओं का संघर्षण सम शक्ति से नहीं चल सकता था।

किसी लेखक का कहना है कि युरोप के लोग पहले व्यापार का झंडा लेकर आगे बढ़ते हैं। उसके पीछे धर्म का झंडा खड़ा किया जाता है और अंत में सभ्यता का अजेय दुर्ग खड़ा होकर विजितों को अपना अस्तित्व भुलाकर उसी की महत्ता स्वीकृत करने के लिये वाध्य करता है। भारतवर्ष में भी क्रमशः ये ही घटनाएँ हुईं। जब अँगरेजों के पैर यहां जम गए तब उन्हें अपने शासन को सुचारु रूप से चलाने की चिंता हुई। उन्होंने भारतवर्ष को भारतीय सिपाहियों की सहायता से जीता था। अब शासन भी भारतीयों की सहायता से चलने लगा, पर शासन को ठीक-ठीक चलाने के लिये शासक और शासित में परस्पर व्यवहार की आवश्यकता होती है और यह व्यवहार केवल भाषा के द्वारा सम्पन्न हो सकता है। अतएव यह आवश्यक हुआ कि शासक शासित की भाषा का ज्ञान प्राप्त करें और शासित शासक की भाषा का। इस पारस्परिक व्यवहार-विनिमय के लिये ऐसे विद्यालयों के स्थापन की आवश्यकता हुई जहाँ अँगरेजों को भारतीय भाषाएँ सिखाई जायँ। साथ ही ऐसा आयोजन भी अनिवार्य था, अनिवार्य ही नहीं वरन् परम आवश्यक था, जिससे भारतीयों को अँगरेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराया जाय। इस अन्यो-

न्याश्रित व्यापार की आवश्यकता में मात्रा का भेद रहा। शासकों के लिये भारतीय भाषाओं का व्यावहारिक ज्ञान उतना आवश्यक नहीं था जितना शासितों के लिये, क्योंकि शासितों को अपनी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराके वे उनके द्वारा सुगमता से अपना काम चला सकते थे। इस स्थिति में पहले तो फोर्ट विलियम कालेज में ऐसा प्रबंध किया गया कि इँगलैंड से आए हुए नवयुवक शासकों को भारतीय भाषाओं की शिक्षा दी जाय, पर पीछे से इसकी तादृश आवश्यकता न समझी गई और यह कालेज बंद कर दिया गया। पहले चाहे जिस भाव से प्रेरित होकर यह कालेज खोला गया और फिर बंद कर दिया गया हो, पर इसने हिंदी साहित्य का रूप ही बदल दिया। अँगरेजों का यह नियम है कि वे पहले यह निश्चय कर लेते हैं कि कौन-कौन सी बातें हमारे लिये आवश्यक और उपयोगी हैं और तब वे उनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्नवान् हो जाते हैं। हमारी हिंदी भाषा का साहित्य अब तक प्रायः पद्यमय था, गद्य तो उसमें नाममात्र को था। पद्य के द्वारा पारस्परिक व्यवहार कभी चल नहीं सकता। यद्यपि सब देशों के साहित्य में पहले पद्य का ही आविर्भाव होता है, पर साथ ही परस्पर भाव-विनिमय के लिये गद्य का भी प्रयोग होता है। हिंदी में भी साहित्य का आरंभ पद्य-रचना से हुआ है और इसके लिये व्रजभाषा का ही विशेष प्रयोग हुआ है, पर भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है और प्राचीन

समय में देश के भिन्न-भिन्न भागों के रहनेवालों के आने-जाने तथा मिलने-जुलने के साधन सुगम न होने के कारण भाव-विनिमय के लिये अनेक प्रांतिक भाषाओं तथा उपभाषाओं का खंड-राज्य था। इस अवस्था में जब अँगरेजों को शासकों और शासितों के बीच परस्पर व्यवहार स्थापित करने की आवश्यकता हुई, तब वे इस काम के लिये भिन्न-भिन्न उपभाषाओं तथा बोलियों में से किसी एक को नहीं चुन सकते थे। इस काम के लिये उन्होंने मुख्य-मुख्य प्रांतीय भाषाओं को चुना जिनमें हिंदी भी एक थी। पर हिंदी में गद्य-ग्रंथ तो थे ही नहीं, इसलिये वे इन ग्रंथों के निर्माण की ओर दत्तचित्त हुए। इस प्रकार फोर्ट विलियम कालेज में लल्लूजीलाल, सदल मिश्र आदि पंडितों को यह काम सौंपा गया और उन्होंने सफलतापूर्वक इसे सम्पन्न किया। इन घटनाओं के वशवर्ती होकर हिंदी गद्य की नींव दृढ़तापूर्वक रखी गई।

अब इस बात का विचार आरंभ हुआ कि भारतवासियों को किस प्रकार की शिक्षा दी जाय और वह भी किस भाषा के द्वारा हो। बहुत वाद-विवाद तथा सोच-विचार के अनंतर अँगरेजी भाषा द्वारा पाश्चात्य विद्याओं की शिक्षा देना निश्चित हुआ और उसके अनुसार भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों में इसका प्रबंध होने लगा। इस कार्य को इँगलैंडवासी कितना आवश्यक और उपयोगी समझते थे, इसका अनुमान एक

इसी बात से कर लेना चाहिए कि संवत् १९१४ में, जब कि सिपाही-विद्रोह भयानक रूप धारण किए हुए था, पहला विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। तब से लेकर आज तक शिक्षा का कार्य बराबर चला आ रहा है। पाश्चात्य शास्त्रों की शिक्षा देने और अँगरेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराने में बड़ा अंतर है। एक से ज्ञान की वृद्धि हो सकती है, पर दूसरे से एक विदेशीय जाति के परस्पर व्यवहार की भाषा से परिचय होता है। भाषा द्वारा जो विजय प्राप्त होती है, वह चिरस्थायिनी और अधिक व्यापक होती है। अपनी निज की भाषा, अपने प्राचीन साहित्य तथा अपने प्राचीन इतिहास के ज्ञान से शून्य रहकर जब मनुष्य किसी विदेशीय भाषा, विदेशीय साहित्य और विदेशीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त करता है और उनकी महत्ता पर मुग्ध हो जाता है, तब वह धीरे-धीरे अपने आपको भूलने लगता है और अंत में विदेशीय रंग में ऐसा रँग जाता है कि उसे अपने देश की सब बातों से विराग उत्पन्न होने लगता है; उसे अपनी भाषा गँवारू और व्यंजक-शक्ति-रहित जान पड़ने लगती है, अपना साहित्य हीन और अपूर्ण देख पड़ने लगता है और अपने इतिहास में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष के झगड़ों को छोड़कर और कुछ मिलता ही नहीं। सारांश यह कि वह अपने आपको एक अशिक्षित, असभ्य और गुणहीन जाति का मनुष्य समझने लगता है। अँगरेजी शिक्षा ने बहुत दिनों तक शिक्षित भारतीयों के हृदयों पर ऐसा

ही प्रभाव डालना आरंभ कर दिया था। वे सब बातों में शासकों ही को सर्वश्रेष्ठ और अपना आदर्श मानने लगे थे; उनका अनुकरण करने में ही अपना महत्त्व समझते थे। रहन-सहन, कपड़े-लत्ते, चाल-ढाल, बातचीत आदि सब बातों में अँगरेज उनके आदर्श हो रहे थे। यदि यह अवस्था और कुछ काल तक बनी रहती, तो भारतवर्ष का रूप ही कुछ का कुछ हो जाता। उसमें अपने पूर्व गौरव का कोई चिह्न वर्तमान न रह जाता। वह अँगरेजी रंग में ऐसा रँग जाता कि उसे क्रिस्तान होने, अँगरेजी भाषा बोलने और अँगरेजी आचार-विचार तथा व्यवहार को अंगीकार करने में ही अपने जीवन का साफल्य जान पड़ने लगता। पर ईश्वर को यह स्वीकृत न था। उसकी तो यह इच्छा थी कि पूर्व और पश्चिम के सम्मेलन से वृद्ध भारत फिर से जाग उठे, उसमें नई शक्ति का संचार हो जाय, वह नए भावों से पूर्ण हो संसार की उन्नत जातियों में पुनः अपना महत्त्व स्थापित करे। संसार में जब-जब ऐसे महत्त्व के परिवर्तन होने को होते हैं, तब-तब उनको सिद्ध करने के लिये विशेष शक्ति-संपन्न आत्माओं का आविर्भाव होता है। ब्रह्मसमाज ने बंगाल को क्रिस्तान होने से बचा लिया। उत्तर भारत में स्वामी दयानंद सरस्वती ने धर्म और समाज-सुधार की ऐसी बलवती धारा प्रवाहित की कि देश का यह भाग अपने पूर्व गौरव को समझ और अपने प्राचीन आचार-विचार से अभिज्ञ होकर क्रिस्तान होने से बच गया।

वैसे ही भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी भाषा में नई संजीवनी शक्ति का संचार कर उसे इस योग्य बना दिया कि वह जातीय विकास की सहायक होकर भारतवासियों की मातृभाषा के उपयुक्त गौरव को प्राप्त करने में समर्थ हुई। पहले कहा जा चुका है कि सभ्यता की विजय राजनीतिक विजय से अधिक महत्त्वपूर्ण और स्थायी होती है। संयोग से जब राजनीतिक विजय के साथ सभ्यता की विजय की सहयोगिता और सहकारिता हो जाती है तब वह राजनीतिक विजय चिरस्थायिनी होकर किसी विजित देश को सदा-सर्वदा के लिये अपना बना लेती है। एक दूरदर्शी लेखक का कथन है कि यदि किसी देश को निरंतर दासत्व की शृंखला में बाँधे रखना हो, तो पहले उसका इतिहास नष्ट कर देना चाहिए (इसका सबसे सुगम उपाय उस देश के वासियों की अपनी मातृभाषा से अरुचि उत्पन्न करके विजेताओं की भाषा के प्रति विशेष अनुराग और गाढ़ी ममता उत्पन्न कर देना है) भारतवर्ष में यही उद्योग किया गया था, पर 'मेरे मन कछु और थी कर्ता के मन और'। ईश्वर ने भारतेंदु हरिश्चंद्र को इस लोक में भेजकर इस प्रवाह को उलटा बहा दिया। (मातृभाषा हिंदी के प्रति विराग के स्थान पर अनुराग उत्पन्न हो गया। पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त लोगों की रुचि बदल गई और उनमें अपने साहित्यभांडार को सुंदर-सुंदर रत्नों से भरने की उत्कट कामना उत्पन्न हो गई।

"भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से हिंदी साहित्य का नया युग आरंभ होता है।) इन्होंने जिस अवस्था में हिंदी को पाया वह विलक्षण थी। पद्य में जायसी, सूर, तुलसी आदि के आख्यान-काव्यों का समय एक प्रकार से बीत चुका था। केशव के चलाए हुए नायिकाभेद, रस, अलंकार आदि को लक्ष्य करती हुई स्फुट कविताओं के छींटे उड़ रहे थे। गद्य प्रेमसागर, सिंहासन-बत्तीसी और बैताल-पचीसी से ही संतोष किए बैठा था।

"यद्यपि देश में नए-नए भावों का संचार हो गया था, पर हिंदी भाषा उनसे दूर थी। लोगों की अभिरुचि बदल चली थी, पर हमारे साहित्य पर उसका प्रभाव नहीं पड़ा था। शिक्षित लोगों के विचारों और व्यापारों ने दूसरा मार्ग तो पकड़ लिया था, पर उनका साहित्य उसी पुराने मार्ग पर था। ये लोग समय के साथ स्वयं तो कुछ आगे बढ़ आए थे, पर जल्दी में अपने साहित्य को साथ न ले सके। उसका साथ छूट गया और वह उनके कार्यक्षेत्र से अलग पड़ गया। प्राय: सभी सभ्य जातियों का साहित्य विचारों और व्यापारों से लगा हुआ चलता है। यह नहीं कि उनकी चिंताओं और कार्यों का प्रवाह तो एक ओर हो और उनके साहित्य का प्रवाह दूसरी ओर। फिर यह विचित्र घटना यहाँ कैसे हुई? (बात यह है कि जिन लोगों के हृदय में नई शिक्षा के प्रभाव से नए विचार उत्पन्न हो चले थे, जो अपनी आँखों से देश-काल

का परिवर्तन देख रहे थे, उनमें अधिकांश तो ऐसे थे जिनका कई कारणों से हिंदी साहित्य से लगाव छूट सा गया था, और शेष ऐसे थे जिन्हें हिंदी साहित्य का मंडल बहुत ही बद्ध और परिमित दिखाई देता था, जिन्हें नए विचारों को सन्निविष्ट करने के लिये स्थान ही नहीं सूझता था। उस समय एक ऐसे साहसी और प्रतिभा-सम्पन्न पुरुष की आवश्यकता थी जो कौशल से इन बढ़ते हुए विचारों का मेल देश के परंपरागत साहित्य से करा देता। बाबू हरिश्चंद्र का प्रादुर्भाव ठीक ऐसे ही समय में हुआ और वे यह कार्य करने में समर्थ हुए *।"

वंश-परिचय

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने अपने वंश का परिचय स्वयं इस प्रकार दिया है—

वैश्य-अग्र-कुल में प्रगट, बालकृष्ण कुलपाल।
तासुत गिरिधर-चरन-रत, वर गिरिधारीलाल॥
अमीचंद तिनके तनय, फतेचंद ता नंद।
हरपचंद जिनके भए, निज कुल-सागर-चंद॥
श्री गिरिधर गुरु सेइ के, घर सेवा पधराइ।
तारे निज कुल जीव सब, हरि-पद-भक्ति दृढ़ाइ॥
तिनके सुत गोपाल ससि, प्रगटित गिरिधरदास।
कठिन करम-गति मेटि जिन, कीनो भक्ति-प्रकास॥
मेटि देव देवी सकल, छोड़ि कठिन कुल-रीति।
थाप्यो गृह में प्रेम जिन, प्रगटि कृष्ण-पद-प्रीति॥
पारवती की कोख सों, तिनसों प्रगट अमंद।
गोकुलचंद्राग्रज भयो, भक्त-दास हरिचंद॥

* नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १४ संख्या १०।

इस प्रकार भारतेंदुजी ने अपने पूर्वजों का बहुत संक्षिप्त वर्णन किया है, पर बाबू राधाकृष्णदास ने इस वंश का वृत्त विस्तार से दिया है जो अंत में दिया जाता है। इसमें इधर के नाम बढ़ा दिए गए हैं, पहले का अंश ज्यों का त्यों है। इसमें जो नाम भारतेंदुजी की दी हुई वंश-परंपरा में आए हैं, वे काले अक्षरों में दिए गए हैं, शेष नाम साधारण अक्षरों में हैं।

भारतेंदुजी की दी हुई वंश-परंपरा और बाबू राधाकृष्णदास के दिए हुए वंशवृत्त में सबसे बड़ा अंतर यह है कि भारतेंदुजी गिरिधारीलाल को राय बालकृष्ण का पुत्र मानते हैं और बाबू राधाकृष्णदास उनको राय बालकृष्ण के पुत्र लक्ष्मीराम का पुत्र कहते हैं, पर साथ ही एक दूसरी जगह सेठ अमीचंद को राय बालकृष्ण का पौत्र तथा सेठ गिरिधारीलाल का पुत्र बताते हैं। हमारे पास कोई ऐसा साधन नहीं जिससे हम इस संदिग्ध विषय पर कोई निश्चित सम्मति देकर इसका निर्णय कर सकें। अस्तु, इस वंश परंपरा से यह पता चलता है कि राय बालकृष्ण के पूर्वपुरुषों का कोई विशिष्ट वृत्तांत भारतेंदुजी या बाबू राधाकृष्णदास को विदित नहीं हो सका। बाबू राधाकृष्णदासजी निजलिखित भारतेंदुजी के जीवनचरित में लिखते हैं—"राय बालकृष्ण के प्रतिष्ठित पूर्वजों का दिल्ली के शाही घराने से बहुत ही घनिष्ठ संबंध था। जब शाहजहाँ का बेटा शाह शुजा सन् १६५० के लगभग विशाल बंगाल का सूबेदार होकर वहाँ गया तब राय बालकृष्ण के पूर्वज भी

उसके साथ दिल्ली छोड़कर बंगाल में चले गए और जैसे-जैसे बंगाल में मुसलमानी राजधानी बदलती गई वैसे-वैसे ये लोग भी अपना प्रवास-स्थान परिवर्त्तित करते गए। राजमहल और मुर्शिदाबाद में इनके पूर्वजों के उच्च प्रासादों के अवशिष्ट चिह्न अब तक पाए जाते हैं। इसी विशाल वंश के सेठ बालकृष्ण के पौत्र तथा सेठ गिरिधारीलाल के पुत्र सेठ अमीचंद के समय में इस देश में अँगरेजों का राजत्वकाल प्रारंभ हुआ। उस समय ये भी अँगरेजों के सहायकों में से एक प्रधान सहायक थे। उस समय इनका इतना मान था कि इनके नौ बेटों में से दो को "राजा" और दो को "राय बहादुर" की पदवी प्राप्त थी। इन पुत्रों में से वंश केवल बाबू फतेचंद का चला।" इस विवरण से भी लक्ष्मीराम के संबंध का संदेह दूर नहीं हो सकता। संभव है, भारतेंदुजी इनका नाम देना भूल गए हों अथवा बाबू राधाकृष्णदासजी को ऊपर का उद्धृत वाक्य लिखते समय इनकी विस्मृति हो गई हो और भूल से 'प्रपौत्र' के स्थान पर 'पौत्र' लिख गए हों *। जो हो, भारतेंदुजी के पूर्वजों में से पहले पुरुष, जिनका व्यक्तित्व इतिहास-प्रसिद्ध है, सेठ अमीचंद हुए। इन सेठजी के विषय में बाबू व्रजरत्नदास बी० ए०, जो भारतेंदुजी के दौहित्र हैं, लिखते

* बाबू शिवनंदनसहाय लिखते हैं कि बाबू राधाकृष्णदास की दी हुई वंशावली ठीक है क्योंकि वह भारतेंदुजी के पुरोहित की बही के लेख से मिलती है।—भारतेंदु-चरित्र पृष्ठ ३।

हैं—"ये भी अँगरेजों के प्रधान सहायक थे और लगभग चालीस वर्ष से कलकत्ते में व्यापार कर रहे थे। आरंभ में निज व्यापार फैलाने में अँगरेजों ने इनसे बहुत सहायता ली थी पर उसके जम जाने पर उन्होंने दोष लगाकर इन्हें अलग कर दिया। इसी समय बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला ने कलकत्ते पर चढ़ाई कर उसे लूट लिया और अमीचंद का भी चार लाख रुपया नगद और सामान लुट गया। इनके घर-द्वार जला दिए गए और इनके परिवार की कई स्त्रियाँ और पुरुष जलकर मर गए। अँगरेजों ने अन्य प्रांतों से सहायता प्राप्त कर पलासी के युद्ध में नवाब को परास्त कर गद्दी से उतार दिया और उसके स्थान पर मीर जाफर को बैठाया। इस षड्यंत्र में अमीचंद भी सम्मिलित थे पर उसके सफल होने पर पुरस्कार बँटने के समय इनका नाम तक न लिया गया, जिससे इन्हें इतना क्षोभ हुआ कि इस घटना के डेढ़ ही वर्ष के उपरांत इनकी मृत्यु हो गई *।"

इन घटनाओं से क्षुब्ध होकर सेठ अमीचंद के पुत्र बाबू फतेचंद संवत् १८१६ के लगभग काशी चले आए। इसके कुछ दिनों पीछे इनके भाई राय रत्नचंद भी काशी आ गए। इनके पुत्र रायचंद और पौत्र गोपीचंद की मृत्यु इनके ही जीवन-काल में हो गई थी। अतएव बाबू फतेचंद के पुत्र बाबू हर्षचंद अपने चाचा की समस्त संपत्ति के भी उत्तराधि-

* जरासंध महाकाव्य—कवि-चरित्र पृष्ठ ६।

कारी हुए। इसके अतिरिक्त बाबू फतेचंद का विवाह काशी के जगत्सेठ गोकुलचंदजी की एकमात्र कन्या से हुआ। उनकी समस्त संपत्ति के अधिकारी भी बाबू फतेचंदजी हुए। इस प्रकार तीन घरानों की लक्ष्मी इनके यहाँ आ इकट्ठी हुई और उस सबके अधिकारी बाबू फतेचंद के पुत्र बाबू हर्षचंद हुए। बाबू फतेचंद की मृत्यु संवत् १८६७ के लगभग हुई।

बाबू फतेचंद के पुत्र बाबू हर्षचंद काशी में काले हर्षचंद के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपने बुद्धिकौशल तथा जन-हितैषिता से राजा और प्रजा दोनों में सम्मान प्राप्त किया। काशी का प्रसिद्ध बुढ़वामंगल का मेला, जो होली के उपरांत होता है, इन्हीं का चलाया हुआ है। इनके पुत्र गोपालचंद्र उपनाम गिरिधरदासजी हुए। इनका जन्म संवत् १८९० पौष कृष्ण १५ को हुआ था। जब ये ११ वर्ष के थे तभी, संवत् १९०१ में, इनके पिता का देहांत हो गया। बाबू हर्षचंद ने अपने जीवन-काल में एक वसीयतनामा लिखा था जिसके अनुसार उन्होंने अपनी मृत्यु के उपरांत अपनी कोठी का समस्त प्रबंध खिजीलाल नाम के एक व्यक्ति को सौंपा था। पर प्रबंध ठीक न हो सका; काम-काज में बड़ा घाटा हुआ। अंत में १३ वर्ष की अवस्था में बाबू गोपालचंद्र ने सब कारबार अपने हाथ में ले लिया और उसे बड़ी योग्यता से चलाया। अपने पिता के एक-मात्र पुत्र होने तथा अतुल संपत्ति के अधिकारी होने के कारण इनका लालन-पालन बड़े लाड़-प्यार से हुआ तथा पिता

के शीघ्र ही परलोक-वासी होने के कारण ये घर के काम-काज में लग गए। इसलिये इनको यथोचित शिक्षा प्राप्त न हो सकी, पर थे ये प्रतिभा-संपन्न, इसलिये स्वाध्याय से ही इन्होंने हिंदी और संस्कृत में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। भारतेंदुजी अपने "नाटक" नामक निबंध में इनके विषय में लिखते हैं—"मेरे पिता ने बिना अँगरेजी शिक्षा पाए उधर (अर्थात् पात्र-प्रवेशादि नियमरक्षण द्वारा भाषा-नाटक-रचना की ओर) क्यों दृष्टि दी, यह बात आश्चर्य की नहीं। उनके सब विचार परिष्कृत थे। बिना अँगरेजी की शिक्षा के भी उनको वर्तमान समय का स्वरूप भली भाँति विदित था। पहले तो धर्म के विषय में ही वे इतने परिष्कृत थे कि वैष्णव-व्रत पूर्ण पालन के हेतु अन्य देवता मात्र की पूजा और व्रत घर से उठा दिए थे। टामसन साहब लेफ्टिनेंट गवर्नर के समय काशी में पहला लड़कियों का स्कूल हुआ तो हमारी बड़ी बहिन को उन्होंने इस स्कूल में प्रकाश रीति से पढ़ने बैठा दिया। यह कार्य उस समय में बहुत ही कठिन था, क्योंकि इसमें बड़ी ही लोक-निंदा थी। हम लोगों को अँगरेजी शिक्षा दी। सिद्धांत यह कि उनकी सबकी सब बातें परिष्कृत थीं और उनको स्पष्ट बोध होता था कि आगे काल कैसा चला आता है।"

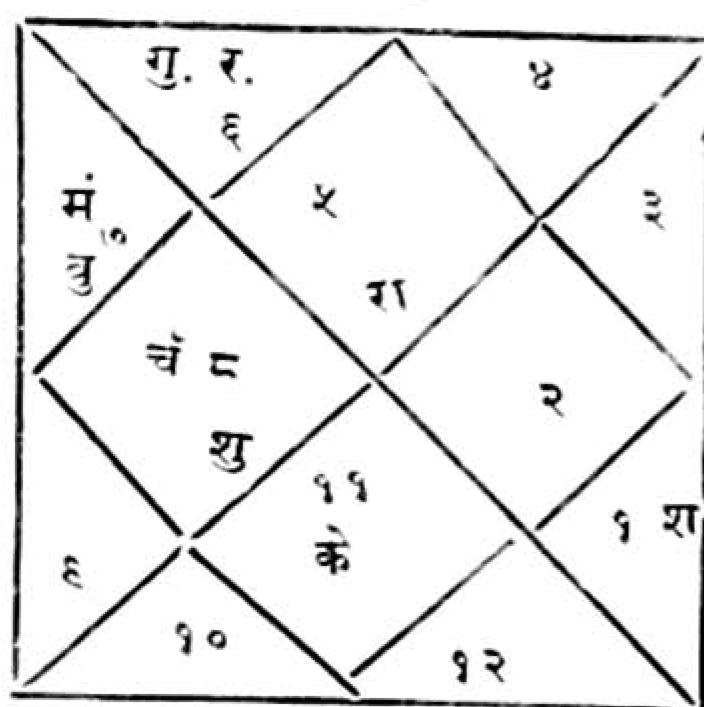
बाबू गोपालचंद्रजी का स्वभाव बड़ा ही सरल था और उनकी प्रवृत्ति सात्विक थी। वे किसी दुर्व्यसन में लिप्त नहीं हुए थे, केवल भाँग पीने की बान उन्हें पड़ गई थी जिसके

कारण जलोदर रोग हो गया और उसी से २७ वर्ष की अवस्था में, संवत् १९१७ वैशाख शुक्ला ७ को, उनका देहांत हो गया। उनके दो विवाह हुए थे। पहले से चार संतति हुई—दो पुत्र और दो कन्याएँ। उनके ज्येष्ठ पुत्र हमारे चरितनायक भारतेंदु हरिश्चंद्रजी हुए।

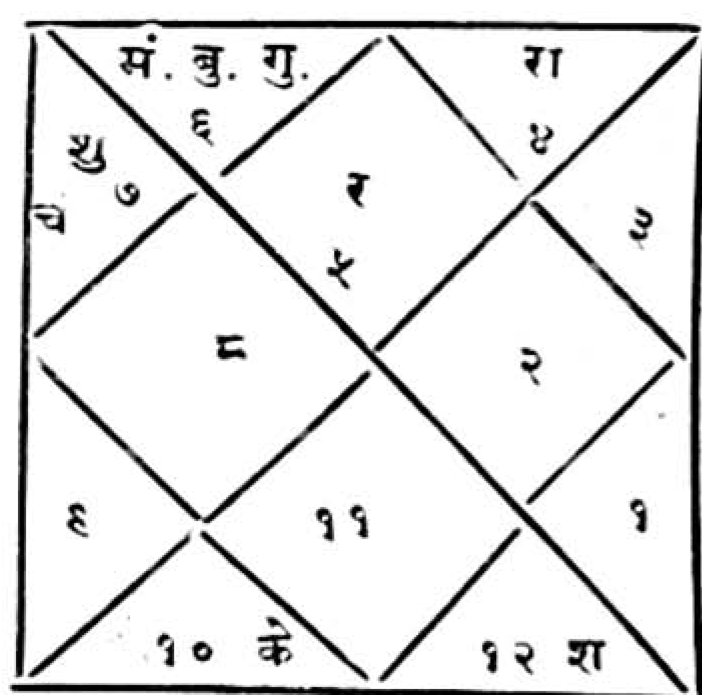
जीवन-वृत्तांत

भारतेंदु हरिश्चंद्रजी का जन्म संवत् १९०७ भाद्रपद शुक्ला ७ को हुआ था। इस जन्म-तिथि के संबंध में कुछ मतभेद है। कुछ लोग इसे पंचमी और कुछ सप्तमी मानते हैं। महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी ने इनका जन्मपत्र बनाया था जिसमें उन्होंने लिखा था कि सन् १८५० के सेप्टेम्वर मास की नवीं तारीख सोमवार (भाद्रपद शुक्ला सप्तमी संवत् १९०७) को आधी रात के अनंतर ४ घंटा, ३७ मिनिट और १२ सेकेंड पर काशी में इनका जन्म हुआ। उन्होंने इनकी जन्म-कुंडली इस प्रकार दी है—

सायन जन्म-कुंडली



निरयण जन्म-कुंडली



अभी ये पाँच वर्ष के भी नहीं हुए थे कि इनकी माता का देहांत हो गया और १० वर्ष की आयु पूरी होने के पूर्व ही पिता भी स्वर्गवासी हुए। यद्यपि पिता ने अपनी जीवनावस्था में इनका विद्यारंभ करा दिया था पर उनके शीघ्र ही परलोकगामी होने के कारण इनकी शिक्षा यथोचित रीति पर न हो सकी। पिता की मृत्यु के अनंतर इनका नाम क्वींस कालेज से संबद्ध स्कूल में लिखाया गया और पढ़ने-लिखने पर जोर दिया गया, पर चंचल प्रकृति के होने तथा माता-पिता के अंकुश के अभाव में स्वच्छंद हो जाने के कारण इनका मन पढ़ने-लिखने में नहीं लगता था, फिर भी तीन-चार वर्ष तक ये बराबर स्कूल जाते रहे और एक प्रकार से पढ़ने-लिखने का क्रम चलता रहा। इनकी बुद्धि बड़ी ही तीव्र और स्मरणशक्ति अत्यंत प्रखर थी। इसलिये थोड़ा सा जी लगाने पर ये अपना पाठ याद कर लेते थे। १५ वर्ष की अवस्था में इन्होंने सकुटुंब जगदीशपुरी की यात्रा की और इसी के साथ शिक्षा की भी समाप्ति हो गई। यद्यपि इनकी शिक्षा भली भाँति नहीं होने पाई थी पर ये थे प्रतिभासंपन्न। इसलिये जो कुछ शिक्षा इन्होंने पाई थी और पीछे से स्वाध्याय से जो ज्ञानसंचय किया था, वह इनकी उद्देश्य-सिद्धि के लिये अलम् था। यदि इनकी शिक्षा भली भाँति हुई होती और कुछ अधिक दिनों तक इन्होंने स्कूल या कालेज में पढ़ा होता तो न जाने इनकी ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा कितनी प्रखर हो गई होती

और ये हिंदी का उपकार करने में कितने अधिक समर्थ हुए होते। पर ईश्वर ने इन्हें केवल बीज-वपन का कार्य सौंपकर इस धराधाम में भेजा था और उसके लिए जितनी विद्या, बुद्धि, कला-कौशल तथा धन-संपत्ति की आवश्यकता थी उतनी उस जगन्नियंता जगदीश्वर ने इनके लिये प्रस्तुत कर दी थी।

पहले पहल ये सकुटुंब जगन्नाथजी गए। यह बात संवत् १९२२ की है। उस समय तक सिपाही-विद्रोह शांत हो चुका था और बंगाल में ब्रिटिश सिंह का दौर्दम्य प्रताप फैल रहा था, साथ ही वह प्रांत पाश्चात्य ज्ञान से लाभ उठाकर भारतवर्ष के अन्य प्रांतों से सब बातों में आगे बढ़ने के लिये उद्योगशील हो रहा था। बंगाल की यह यात्रा भारतेंदुजी के जीवन पर कई प्रकार का प्रभाव डालने में समर्थ हुई थी। इस यात्रा में इनका पहले पहल बंगसाहित्य की उन्नतिशील स्थिति से परिचय हुआ तथा नए ढंग के बँगलानाटकों के देखने का इन्हें अवसर प्राप्त हुआ। इनका पहला नाटक "विद्यासुंदर", जो संवत् १९२५ में प्रकाशित हुआ, एक बँगला नाटक का अनुवाद है। इसके अतिरिक्त विधवाविवाह आदि समाजसुधार की बातों से भी ये पहले पहल यहीं परिचित हुए। इस यात्रा के आरंभ में एक बहुत ही साधारण घटना हुई जिसका प्रभाव बड़ा व्यापक हुआ और जिसने इनके व्यावहारिक जीवन को उच्छृंखल बनाने में सहयोग दिया। चलते समय एक महाशय ने इन्हें चुपचाप दो अशर्फियाँ देकर समझा

दिया कि यदि विमाता के कारण आपको किसी प्रकार का कष्ट हो और आप मनचाही चीज न ले सकें, तो ये अशर्फियाँ आपके काम आवेंगी। इन्हीं दोनों अशर्फियों ने इनमें ऋण लेकर मनचाही बात के पूरा करने की बान उत्पन्न की जिससे इनके जीवन का अंतिम अंश बड़ी ही कठिनता तथा दुःख में बीता। अस्तु, भारतेंदुजी को देश के भिन्न-भिन्न भागों में यात्रा करके वहाँ की रीति-नीति जानने, भिन्न-भिन्न लोगों के भावों तथा विचारों से परिचित होने तथा देश की साधारण स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के बहुत से अवसर प्राप्त हुए। इस प्रकार इन्होंने अनेक विषयों में बहुज्ञता प्राप्त की। संवत् १९३९ में ये महाराणा सज्जनसिंह के आमंत्रण पर तथा श्रीनाथद्वारे के दर्शनों की इच्छा से मेवाड़ गए। वहाँ से लौटने पर ये बीमार पड़े, पर अच्छे हो गए। संवत् १९४१ में ये बलिया गए। यही इनकी अंतिम यात्रा थी। इसके अनंतर फिर ये कहीं न जा सके और संवत् १९४२ में इस असार संसार को छोड़ गोलोकवासी हुए। इन्होंने ३५ वर्ष की आयु पाई और १७-१८ वर्ष तक सार्वजनिक कामों में अपना समय लगाकर देश तथा अपनी मातृभाषा की वह सेवा की जो इनकी स्मृति को सदा बनाए रखेगी।

जगदीश-यात्रा से लौटने पर और विद्यासुंदर के अनुवाद से इनका सार्वजनिक जीवन आरंभ होता है। तब से लेकर अंत समय तक के केवल १७-१८ वर्ष के अल्प काल में इन्होंने जितने

काम किए, वे सभी महत्त्व के थे और उनसे इनकी देशहितैषिता तथा दूरदर्शिता का अच्छा परिचय मिलता है। पहले पहल संवत् १९२४ में इन्होंने 'चौखंभा स्कूल' की स्थापना की। यह अब तक 'हरिश्चंद्र हाई स्कूल' के नाम से चल रहा है, और काशी के श्रेष्ठ स्कूलों में गिना जाता है तथा काशी के छात्रों में शिक्षाप्रचार का महत्त्वपूर्ण काम निरंतर कर रहा है। संवत् १९२७ में 'कवितावर्द्धिनी सभा' और संवत् १९३० में 'पेनी रीडिंग क्लब' तथा 'तदीय समाज' की स्थापना हुई, पर ये संस्थाएँ बहुत दिनों तक जीवित न रहीं। इनके अतिरिक्त कोई ऐसा देशहितकर कार्य न था जिसमें इन्होंने सहयोग न दिया हो और जिसकी सहायता न की हो।

(इनके साहित्यिक जीवन का आरंभ संवत् १९२५ में विद्यासुंदर नाटक के प्रकाशन के साथ होता है। उस समय से लेकर अंत काल तक ये अपनी मातृभाषा हिंदी की सेवा में तत्पर रहे)(इसी वर्ष (संवत् १९२५) में इन्होंने 'कविवचनसुधा' नामक मासिकपत्र निकालना आरंभ किया। पहले तो इसमें कविताएँ छपती रहीं पर पीछे से गद्य लेख भी अधिकता से निकलने लगे। कुछ काल के अनंतर यह पाक्षिक और अंत में साप्ताहिक हो गया। यह पत्र भारतेंदुजी की मृत्यु के पीछे तक निकलता रहा, पर इससे इनका संबंध केवल साढ़े सात वर्ष तक रहा। ठीक समय पर न निकाल सकने तथा पंडित चिंतामणि के आग्रह करने पर भारतेंदुजी ने इसे उन्हें

सौंप दिया। पंडित चिंतामणि के तत्त्वावधान में यह दिनों दिन गिरता गया और अंत में बंद हो गया। आरंभ में इसमें कविताएँ छपती रहीं, फिर गद्य-लेख भी निकलने लगे और साथ ही इसके द्वारा राजनीतिक तथा सामाजिक आंदोलन भी आरंभ किया गया। भारतेंदुजी के भावों और विचारों का पता इस पत्र के सिद्धांत-वाक्य से भली भाँति लग जाता है। वह वाक्य यह है—

खल-गनन सों सज्जन दुखी मति होहिं हरिपद-मति रहै।
उपधर्म छूटैं, स्वत्व निज भारत गहै, कर-दुख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर, नारि नर सम होहिं, जग आनँद लहै।
तजि ग्राम-कविता सुकविजन की अमृत बानी सब कहै॥

बाबू राधाकृष्णदासजी इस सिद्धांत-वाक्य पर विचार करते हुए लिखते हैं—"यद्यपि इस समय (संवत् १९६०) इन बातों का कहना कुछ कठिन नहीं प्रतीत होता है, परंतु उस अंधपरंपरा के समय में इनका प्रकाश्य रूप से इस प्रकार कहना सहज न था। नव्य शिक्षित समाज को 'हरिपद-मति रहै' कहना जैसा अरुचिकर था उससे बढ़कर पुरानी लकीर के फकीरों को 'उपधर्म छूटै' कहना क्रोधोन्मत्त करना था। जैसा ही अँगरेज हाकिमों को 'स्वत्व निज भारत गहै', 'कर-दुख बहै' कहना कर्णकटु था उससे अधिक 'नारि नर सम होहिं' कहना हिंदुस्तानी भद्र समाज को चिढ़ाना था, परंतु वीर हरिश्चंद्र ने जो जी में आया उसे कह ही डाला और जो

कहा उसे अंत तक निबाहा भी। इन्हीं कारणों से ये गवर्मेंट के क्रोध-भाजन हुए, अपने समाज में निंदित हुए, और समय-समय पर नव्य समाज में भी बुरे बने, परंतु जो व्रत इन्होंने धारण किया उसे अंत तक नहीं छोड़ा, यहाँ तक कि 'कवि-वचनसुधा' से अपना संबंध छोड़ाने पर भी आजन्म यही व्रत रखा।"

'कविवचनसुधा' से ही संतुष्ट न रहकर इन्होंने संवत् १९३० में 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन' निकालना आरंभ किया। यह मासिक रूप में निकलता था और इसमें अच्छे-अच्छे लेख निकलते थे पर इसकी केवल आठ संख्याएँ छप सकीं, तदनंतर यह हरिश्चंद्र-चंद्रिका के नाम से छपने लगा। छः वर्ष तक भारतेंदुजी इस चंद्रिका को निकालते रहे। इसके अनंतर पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के कहने पर इसे उन्हें दे दिया, पर वे इसे भली भाँति न चला सके। इसलिये चार वर्ष के अनंतर इन्होंने फिर उसे स्वयं प्रकाशित करना आरंभ किया, पर इसके दो ही मास के अनंतर इनका परलोकवास हो गया, और चंद्रास्त के साथ ही उसकी चंद्रिका भी सदा के लिये विलीन हो गई। संवत् १९३१ में स्त्रियों की शिक्षा के लिये इन्होंने 'बालाबोधिनी' पत्रिका निकालना आरंभ किया। यह चार वर्ष तक चली, पर पीछे से इसके प्रकाशन का व्यय न उठा सकने के कारण इसे भी बंद कर देना पड़ा।

इस प्रकार भारतेंदुजी ने तीन पत्र और पत्रिकाएँ निकालीं। पहले तो गवर्मेंट इन तीनों की प्रतियाँ खरीदती

थी, पर पीछे से इनकी स्वतंत्र प्रकृति से असंतुष्ट होकर और इनसे द्वेष रखनेवालों के बहकाने में आकर उसने यह सहायता बंद कर दी। उधर भारतेंदुजी को भी अर्थ-संकोच होने लगा। इसलिये इन तीन पत्र-पत्रिकाओँ का क्रमशः अस्त हो गया। यद्यपि इनका इतने शीघ्र अस्त हो जाना दुःख का विषय है, पर जिस उद्देश्य से भारतेंदुजी ने इनका प्रकाशन आरंभ किया था, वह सिद्ध हो गया। भारतेंदुजी का आविर्भाव पथ-प्रदर्शन के लिये हुआ था और इस कार्य में वे पूर्णतया सफल हुए। इनके दिखलाए हुए मार्ग पर चलकर पीछे से अनेक पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं तथा अब तक निकल रही हैं और हिंदी साहित्य के विशेष अंग की पुष्टि कर रही हैं।

व्यापक भाव

भारतेंदुजी की साहित्य-सेवा-रूपी सरिता अनेक धाराओं में प्रवाहित हुई थी। नाटक, आख्यान, काव्य, स्तोत्र, परिहास, इतिहास, माहात्म्य इत्यादि भिन्न-भिन्न विषयों पर इनकी लेखनी परिचालित हुई थी। साधारणतः हम इनकी रचनाओं को दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं—पद्यात्मक रचनाएँ और गद्यात्मक रचनाएँ। इन दोनों प्रकार की रचनाओं में हम समान रूप से एक व्यापक भाव पाते हैं। चाहे जैसा अवसर हो और चाहे जिस प्रकार की रचना की आवश्यकता हो, भारतेंदुजी अपने देश को नहीं भूलते, घूम-फिरकर इन्हें उसके पूर्व गौरव, वर्तमान हीन अवस्था और भविष्य का ध्यान आ ही

जाता है और ये तत्संबंधी अपने हृदयोद्गारों को रोक नहीं सकते। जिस समय भारतीय सेना के मिस्र में विजय प्राप्त करने का समाचार इस देश में पहुँचा, काशी में इस उपलक्ष में बड़ा आनंद मनाया गया। भारतेंदुजी ने उस अवसर पर "विजयिनी-विजय-वैजयंती" शीर्षक कविता लिखकर अपना आनंद प्रकट किया था। युद्ध की घटना का इस प्रकार साधारण वर्णन करते हुए—

तड़ित तार के द्वार मिल्यो सुभ समाचार यह—
भारत सैना कियो घोर संग्राम मिस्र महँ।
जेनरल मकफरसन आदिक जे सेनापति-गन।
तिन लै भारत सैना कियो भारी अति ही रन।
बोलि भारती सैन दई आयसु उठि धाओ।
अभिमानी अरबी बेगहि बेगहि गहि लाओ॥
सुनिकै सबही परम बीरता आज दिखाई।
सत्रुगनन सों सन्मुख भारी करी लराई।
छिन में सत्रु भगाइ गह्यो अरबी पासा कहँ।
तीन सहस रन बीर करे बँधुआ संगर महँ।
आरजगन को नाम आजु सबही रख लीनो।
पुनि भारत को सीस जगत महँ उन्नत कीनो॥

जहाँ भारतवर्ष का नाम आया, ये अपने को सँभाल नहीं सके और अपने प्यारे देश के विषय में इस प्रकार कह चले—

कित अर्जुन कित भीम कित, करन नकुल सहदेव।
कित विराट अभिमन्यु कित, द्रुपद सख्य नरदेव॥

प्राचीन गौरव का स्मरण करते ही उन्हें वर्तमान दीन अवस्था का भी स्मरण हो आता है।

हाय वहै भारत भुव भारी, सबही विधि ते भई दुखारी॥

यह कहा जा सकता है कि यह विषय ही ऐसा था कि कवि की लेखनी इस प्रकार चंचल हो उठी। पर यही प्रवृत्ति उनके नाटकों में भी देख पड़ती है। भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर-नगरी आदि रचनाओं में देशहितैषिता के भाव कूट-कूट कर भरे हैं। भारत-दुर्दशा के आरंभ में ही वे लिखते हैं—

रोअहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो।
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो।
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥
जहँ भए शाक्य हरिचंदरु नहुष ययाती।
जहँ राम युधिष्ठिर वासुदेव सर्याती।
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती।
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती।

इसी नाटक के छठे अंक के आरंभ में वे भारत-भाग्य से कहलाते हैं—

सोअत निसि वैस गँवाई, जागो जागो रे भाई।
निसि की कौन कहै दिन बीत्यो काल राति चलि आई।

देख परत नहिं हित-अनहित कछु परे बैरि बस जाई।
निज उद्धार पंथ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई।
अबहूँ चेति पकरि राखो किन जो कछु बची बड़ाई।
फिरि पछिताए कछु नहिं ह्वैहै रहि जैहो मुँह बाई॥

इसके आगे भारत के प्राचीन गौरव का ऐसा सुंदर चित्र खींचा गया है जिसे पढ़ते ही रोमांच हो आता है और हृदय देशाभिमान से पूर्ण हो जाता है, पर अंत में अपनी वर्तमान अवस्था देखकर कवि का यह कहना "सोइ भारत की आज यह भई दुरदसा हाय" उसके क्षोभ, उसकी निराशा और उसकी उद्विग्नता सूचित करता है। इसी प्रकार नीलदेवी के सातवें अंक में "सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा" आदि पंक्तियों में उन्होंने भारतवर्ष की वर्तमान और भावी अवस्था का कैसा सच्चा पर साथ ही कितना हृदय-विदारक चित्र अंकित किया है जिसे पढ़कर भारत माता का कौन ऐसा पुत्र होगा जिसका हृदय विचलित न हो उठे और जिसके मुँह से अनायास आह न निकल पड़े? जब मनुष्य सब ओर से हार जाता है तब उसका ध्यान दीन दुखियों के एक-मात्र आश्रय परमेश्वर की ओर जाता है और वह उसकी शरण में जाकर अपने त्राण की प्रार्थना करता है। नीलदेवी के आठवें अंक में यह विनय कितनी हृदयस्पर्शी और द्रावक है—

कहां करुनानिधि केसव सोए!
जागत नेक न यदपि बहुत बिधि भारतवासी रोए।

इक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं भारतहित बिसराए।
इत के पसु गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए।
इक दिन दीन हीन नर के हित तुम दुख सुनि अकुलाई।
अपनी संपति जानि इनहि तुम रह्यौ तुरंतहि धाई।
प्रलय-काल-सम जौन सुदरसन असुर-प्रान-संहारी।
ताकी धार भई अब कुंठित हमरी बेर मुरारी।
दुष्ट जवन बरबर तुव संतति घास साग सम काटैं।
एक-एक दिन सहस-सहस नर-सीस काटि भुव पाटैं।
ह्वै अनाथ आरत कुल-विधवा बिलपहिं दीन दुखारी।
बल करि दासी तिनहिं बनावहिं तुम नहिं लजत खरारी।
कहाँ गए सब शास्त्र कही जिन भारी महिमा गाई!
भक्तबछल करुनानिधि तुम कहँ गायो बहुत बनाई।
हाय सुनत नहिं निठुर भए क्यों परम दयाल कहाई।
सब विधि बूड़त लखि निज देसहिं लेहु न अबहुँ बचाई॥

इस नाटक के संबंध में भी वही आपत्ति खड़ी की जा सकती है जो 'विजयिनी-विजय-वैजयंती' में हो सकती है, पर शृंगार-रस-पूर्ण "कर्पूर-मंजरी" के प्रशस्ति-वाक्य को देखिए—

उन्नत-चित ह्वै आर्य परस्पर प्रीति बढ़ावैं।
कपट-नेह तजि सहज सत्य ब्यौहार चलावैं।
जवन-संसरग-जात दोसगन इनसों छूटैं।
सबै सुपथ पथ चलैं नितहि सुख संपति लूटैं।
तजि विविध-देव-रति कर्म-मति एक भक्ति-पथ सब गहैं।
हिय भोगवती सम गुप्त हरि-प्रेम-धार नितही बहैं॥

इसी प्रकार 'सत्य-हरिश्चंद्र' का प्रशस्ति-वाक्य है, जिसका उपयोग 'कविवचन-सुधा' के सिद्धांत-वाक्य में किया गया है।

ऐसे ही और भी अनेक उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं। और तो और, प्रबोधिनी एकादशी पर भगवान् को जगाने के लिये "जागो मंगलरूप सकल व्रजजन रखवारे" कहते हुए भी उन्हें भारतभूमि का स्मरण हो आता है और वे यहाँ के प्राचीन गौरव की बातें कहते-कहते भगवान से यह प्रार्थना किए बिना नहीं रह सकते—

जागो हैं। बलि गई बिलंब न तनिक लगावहु।
चक्र सुदर्सन हाथ धारि रिपु मारि गिरावहु॥
थामहु थिर करि राज छत्र सिर अटल फिरावहु।
मूरखता दीनता कृपा करि वेग नसावहु॥
गुन विद्या धन बल मान बहु सबै प्रजा मिलिकै लहै।
जय राज-राज महराज की आनँद सों सब ही कहै॥
सब देसन की कला सिमिटि कै इतही आवै।
कर राजा नहिं लेइ प्रजन पै हेत बढ़ावै॥
गाय दूध बहु देहिं तिनहिं कोऊ न नसावै।
द्विजगन आस्तिक होहिँ मेघ सुभ जल बरसावै॥
तजि छुद्र बासना नर सबै निज उछाह उन्नति करहिं।
कहि कृष्ण राधिकानाथ जय हमहूँ जिय आनँद भरहिं॥

सारांश यह कि भारतेंदु हरिश्चंद्र के हृदय में सब अवसरों, सब अवस्थाओं और सब कालों पर अपने देश की स्मृति जाग्रत हो उठती थी और वे उसी की भलाई की कामना निरंतर करते रहते थे। इसी देशभक्ति के भाव से प्रेरित होकर वे सब कार्यों में प्रवृत्त होते थे। यह उनका जीवन-व्यापी

भाव और ध्येय था। हमारी समझ में भारतेंदुजी की इतनी महत्ता इसलिये नहीं मानी जानी चाहिए कि वे उच्च कोटि के कवि, हिंदी को नया जीवन तथा स्वरूप देनेवाले आदरणीय गद्य-लेखक, अथवा नाट्य साहित्य की नींव रखनेवाले नाट्यकार थे, जितनी इस बात के लिये मानी जानी चाहिए कि वे भारतभूमि की हित-चिंता में निरत रहकर उसके अभ्युदय की सदा कामना करनेवाले, अपने सब कामों में उसी आदर्श को सामने रखकर कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होनेवाले और उसकी सिद्धि के लिये अपने आपको तथा अपना सर्वस्व उसके लिये निछावर कर देनेवाले थे। देशहितैषिता ही उनका मुख्य प्रेरक भाव था, और सब बातें गौण तथा उसी मुख्य भाव की पुष्टि के लिये थीं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि वे बड़ी उच्च कोटि के कवि थे। उन्होंने अपनी प्रतिभा से प्रेरित हो हिंदी कविता को नया रूप दिया और उसे नवीन युग के भावों तथा विचार-प्रवाह के लिये उपयुक्त बना दिया।

साहित्यिक समीक्षा

उन्होंने देखा कि "बहुत से शब्द जिन्हें बोलचाल से उठे कई सौ वर्ष हो गए थे कवित्त और सवैयों में बराबर खपाए जाते हैं जिससे जन साधारण का ध्यान उसकी ओर से फिरता जाता है। चक्कवै, अमेजे, सजेजे, ठायो, करसायल, ईठ, दीह, ऊनो, लोइ आदि के कारण बहुत से लोग हिंदी कविता से किनारा खींचने लगे हैं। दूसरा दोष जो बढ़ते-

बढ़ते बहुत बुरी सीमा को पहुँच गया था वह शब्दों का तोड़-मरोड़ और गढ़े हुए मनमाने शब्दों का प्रयोग था। जैसे 'कपियों का स्वभाव रूख तोड़ना' गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है वैसे ही इन कवियों का स्वभाव शब्द तोड़ना हो चला था। बाबू हरिश्चंद्र ने इन बातों का संशोधन करना आरंभ किया और व्रजभाषा की फुटकर कविताओं के लिये भी अच्छा मार्ग दिखलाया। उन्होंने अपने रसीले कवित्तों और सवैयों में ऐसे शब्दों का प्रयोग बहुत कम किया है और उनकी भाषा बोलचाल की भाषा से मिलती हुई रखी है, जैसे—

आजु लौं जो न मिले तो कहा,
　　हम तो तुम्हरे सब भांति कहावैं।
मेरे उराहनो है कछु नाहिं,
　　सबै फल आपने भाग को पावैं।
जो हरिचंद भई सो भई,
　　अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति,
　　बिदा के समय सब कंठ लगावैं॥

इसी कारण इनकी कविता का प्रचार भी देखते-देखते हो गया। लोगों के मुँह से इनके सवैये चारों ओर सुनाई देने लगे, इनके गीतों को स्त्रियाँ तक घर-घर में गाने लगीं। इनकी कविता बहुत ही जनप्रिय हुई। इनके समय ही में जो-जो संग्रह बने उन सबमें प्रायः इनकी कविताएँ, विशेषकर सवैये दिए गए। इन्होंने मनुष्य के मनोवेगों को बड़ी ही सीधी-

सादी पर परिपूर्ण भाषा में निकालने का प्रयत्न किया है। लीक पीटनेवालों की उस शब्दावली को, जो पुरानी पड़ गई थी, इन्होंने बहुत कुछ छाँटा। ये बड़े भारी साहित्य-संशोधक हुए। इनके सीधे-सादे शब्दों से भाव टपके पड़ते हैं। जिसे इनकी कविता 'साधारण' जँचे, उसे समझना चाहिए कि 'खड्ड-बड्ड'वाले कविंदों ने भावुकता का नाश करके उसके हृदय को कुरुचि-पूर्ण कर दिया है"* ।

मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत करना तथा कल्पना की शुद्धि और मनोवेगों का परिष्कार करना कविता के उपयोगी कार्य हैं। उक्त तीनों कार्य कविता के उद्देश्य को चरितार्थ करने में समर्थ होते हैं। तीनों अलग-अलग भी उपयोगी हो सकते हैं पर तीनों की समष्टि ही वास्तव में कविता को उसका स्वरूप देने में समर्थ होती है। कुशल कवि लोग कल्पना की शुद्धि तथा मनोवेगों की परिष्कृति का कार्य प्रकृति के दो विभाग करके, अर्थात् वाह्य प्रकृति और मानव-प्रकृति द्वारा, सिद्ध करते हैं। इनमें से पहले कार्य का साधन तो "कवि वन, पर्वत, नदी, निर्झर, लता, वृक्ष आदि प्राकृतिक वस्तुओं को कल्पना में उपस्थित करके करते हैं और दूसरे को मनोवेगों के उत्कर्ष तथा सृष्टि के बीच उनके उचित और सुंदर स्थानों को दिखाकर करते हैं। इनमें से कोई महाकवि तो दोनों कार्यों में कुशल होते हैं, जैसे वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति और

* नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग १४ संख्या १०।

तुलसीदास, कोई प्रथम में और कोई द्वितीय में। बाबू हरिश्चंद्र अधिकांश भाषा कवियों के समान इस तीसरे प्रकार के कवियों में थे। यद्यपि इन्होंने अपनी कविता-द्वारा नए-नए प्रभाव उत्पन्न किए, पर उसके साधनों को परंपरानुसार ही रखा। मानव-व्यापारों ही के उत्तेजक अंशों को छाँटकर इन्होंने मनोवेगों को उभाड़ने और ठीक करने का प्रयत्न किया, और-और प्राकृतिक पदार्थों तथा व्यापारों की शक्ति पर बहुत कम ध्यान दिया। इन्होंने मनुष्य को सारी सृष्टि के बीच रखकर नहीं देखा, वरन् उसे उसी के उठाए हुए घेरे में रखकर देखा। मनुष्य की दृष्टि को उसके फैलाए हुए प्रपंचावरण से बाहर प्राकृतिक दृश्यों की ओर ले जाने का प्रयत्न इन्होंने नहीं किया, जिनसे वह अपनी स्थिति के विस्तार को देख मनुष्य मात्र ही होने से संतोष कर सकता है। पर किया क्या जाता? हिंदी साहित्य का उत्थान ही ऐसे समय में हुआ जब लोगों की रुचि बिगड़ चुकी थी, जब वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति के आदर्श लोगों के सामने से हट चुके थे।

"हमारे आदि-कवि वाल्मीकि के हृदय में जिस कविता का आविर्भाव हुआ था, वह वास्तविक कविता थी। उन्होंने जो मार्ग दिखलाया वही सच्चा मार्ग था। देखिए, वर्षा का कैसा प्राकृतिक चित्र उन्होंने खींचा है—

क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं नभः प्रकीर्णाम्बुधरं विभाति।
क्वचित् क्वचित्पर्वतसन्निरुद्धं रूपं यथा शान्तमहार्णवस्य॥

व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पैर्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम् ।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति ॥
मेघाभिकामा परिसम्पतन्ती सम्मोदिता भाति वलाकपंक्तिः ।
वातावधूता वरपौण्डरीकी लम्बेव माला रुचिराम्बरस्य ॥
बालेन्द्रगोपान्तरचित्रितेन विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन ।
गात्रानुपृक्तेन शुकप्रभेण नारीव लाक्षोक्षितकम्बलेन ॥
समुद्वहन्तः सलिलातिभारं बलाकिनो वारिधरा नदन्तः ।
महत्सु श्रृंगेषु महीधराणां विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयान्ति ॥
प्रहर्षिताः केतकिपुष्पगन्धमाघ्राय मत्ता वननिर्झरेषु ।
प्रपातशब्दाकुलिता गजेन्द्राः सार्द्धं मयूरैः समदा नदन्ति ॥
श्रङ्गारचूर्णोत्करसन्निकाशैः फलैः सुपर्याप्तरसैः समृद्धैः ।
जम्बूद्रुमाणां प्रतिभान्ति शाखा निपीयमाना इव षट्पदौघैः ॥
महान्ति कूटानि महीधराणां धाराविधौतान्यधिकं विभान्ति ।
महाप्रमाणैर्विपुलैः प्रपातैर्मुक्ताकलापैरिव लम्बमानैः ॥

"उपर्युक्त वर्णन में किस सूक्ष्मता के साथ कविकुलगुरु ने ऐसे प्राकृतिक व्यापारों का निरीक्षण किया है, जिनको विना किसी उक्ति के गिना देना ही कल्पना पर प्रभाव डालकर उसे परिमार्जित करने के लिये बहुत है। कालिदास के कुमार-सम्भव का हिमालय-वर्णन, रघुवंश में उस वन का वर्णन जहाँ नंदिनी को लेकर राजा दिलीप गए हैं तथा मेघदूत में यक्ष के बताए हुए मार्ग का वर्णन ऐसा है, जिसे बार-बार पढ़ने से भी जी नहीं भरता। भवभूति का तो कहना ही क्या है! देखिए—

एते त एव गिरयो विरुवन्मयूराः
तान्येव मत्तहरिणानि वनस्थलानि ।

आमञ्जुवञ्जुललतानि च तान्यमूनि
नीरन्ध्रनीलनिचुलानि सरित्तटानि ॥

"इस तरह की कविता क्या इनके पीछे फिर भारतवर्ष में हुई? यहीं से तो उसने दूसरा मार्ग पकड़ा।

"इन महाकवियों को प्रसंगवश नहीं वरन् केवल वर्णन की रोचकता के लिये जहाँ मानुषी व्यापार दिखाने की इच्छा हुई, वहाँ इन्होंने ऐसे ही स्थलों के व्यापारों को दिखलाया है जहाँ मनुष्य से प्रकृति की सन्निकटता है, जैसे ग्रामों के आसपास किसानों का खेत जोतना या काटना, ग्वालों का गाय चराना इत्यादि; जैसे, मेघदूत में यक्ष मेघ से कहता है—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविकारानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यस्सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किञ्चित्पश्चाद्व्रज लघुगतिः किञ्चिदेवोत्तरेण ॥

"सच्चे कवि ऋतु आदि के वर्णन में ऐसे ही व्यापारों को सामने लाए हैं। ऐसे कवि ग्रीष्म में छाया के नीचे बैठकर हाँफते हुए कुत्तों और पानी में पैठी हुई भैंसों का उल्लेख चाहे भले ही कर जायँ, पर पसीने से तर रोकड़ मिलाते हुए मुनीवजी की ओर ध्यान न देंगे।

"धीरे-धीरे लोग इस बात को भूल चले कि मनुष्य के व्यापार परिमित और संकुचित हैं। अतः बाह्य प्रकृति के अनंत और असीम व्यापारों के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंशों को

तारतम्यपूर्वक दिखाकर कल्पना को शुद्ध और परिष्कृत करना ही कवि का धर्म है। इधर उच्च श्रेणी के भी जो कवि हुए उन्होंने अधिकतर मनुष्य की चित्तवृत्तियों के विविध रूपों को बड़े कौशल तथा तीव्रता के साथ दिखाया, पर बाह्य प्रकृति की स्वच्छंद क्रीड़ा की ओर कम ध्यान दिया। पीछे से तो राजाश्रयलोलुप मँगते कवियों के कारण कविता केवल वाक्पटुता वा शब्दों का व्यायाम बन गई, विषयी लोगों के काम की चीज हो गई। भर्तृहरि के समय ही से यह दुरवस्था आरंभ हो गई थी, जिस पर उन्होंने दुख के साथ कहा था—

पुरा विद्वत्ताभूदुपशमवतां क्लेशहतये।
गता कालेनासौ विषयसुखसिद्ध्यै विषयिणाम्॥

"वन, नदी, पर्वत आदि इन याचक कवियों को क्या दे देते जो ये उनका वर्णन करते! जायसी, सूर, तुलसी आदि स्वच्छंद कवियों ने हिंदी कविता को उठाकर खड़ा ही किया था कि केशव ने पशुओं की भाँति उसके पैर छानकर उसे गंदे बाजारों में चरने के लिये छोड़ दिया। फिर क्या था, नायिकाओं के पैरों में मखमल के गुदगुदे बिछौने और गुलाब के फूल की पंखड़ियाँ गड़ने लगीं। यदि कोई षट्ऋतु की लीक पीटने खड़े हुए तो कहीं शरद् की चाँदनी से किसी विरहिणी का शरीर जलाया, कहीं कोयल की कूक से कलेजों के टूक किए, कहीं किसी को प्रमोद में मत्त किया, क्योंकि उन्हें तो इन ऋतुओं के वर्णनों को उद्दीपनमात्र मानकर संयोग

या वियोग शृंगार के अंतर्गत ही लाना था। उनकी दृष्टि प्रकृति के इन व्यापारों पर तो जमती ही नहीं थी, नायक या नायिका पर ही दौड़-दौड़कर जाती थी। अतः उनके नायक-नायिका की अवस्था-विशेष और प्रकृति की दो-चार इनी-गिनी वस्तुओं से जो संबंध होता था, उसी को दिखाकर वे किनारे हो जाते थे।

"भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने यद्यपि समयानुकूल प्रसंगों को छोड़कर नए-नए भाव उत्पन्न किए, पर उन्होंने प्रकृति के प्रति कुछ भी प्रेम नहीं दिखाया। उनका जीवनवृत्तांत पढ़ने से भी पता लगता है कि वे प्रकृति के उपासक न थे। उन्हें जंगल, पहाड़, नदी आदि देखने का उतना शौक न था। वे अपने भाव 'दस तरह के आदमियों के साथ उठ-बैठकर' प्राप्त करते थे। इसी से मनुष्य के गुण-स्वभाव को यथातथ्य अंकित करने में वे अद्वितीय हुए हैं। हिंदी में उनके जोड़ का दूसरा कवि कठिनता से मिलेगा। भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति आदि देखने से यह बात अच्छी तरह मन में बैठ जायगी।

"कहा जाता है कि एक दिन भारतेंदुजी के यहाँ बैठकर एक रंडी गा रही थी जिसे देखकर उन्होंने कविता बनाई और पास के लोगों से कहा—'देखो, यदि हम इनका सत्संग न रखें तो ये भाव कहाँ से सूझें!' वे उर्दू कविता के भी प्रेमी थे जिसमें वाह्य प्रकृति के निरीक्षण की चाल ही नहीं और

जिसमें कल्पना के सामने आनेवाले चित्रों के वीभत्सतापूर्ण और घृणित होने की कुछ परवा न कर उद्वेगों के उत्कर्ष ही की ओर ध्यान रखा जाता है। यदि ऐसा न होता तो 'मरे हूँ पै आँखें ये खुली ही रहि जायँगी' और 'बिदा के समय सब कंठ लगावैं'वाले पद्य वे न लिखते। मनोवेगों का उत्कर्ष तो उन्होंने ख़ूब दिखलाया है, पर वन, नदी, पर्वत आदि के चित्रों-द्वारा उन्होंने मनुष्य की कल्पना का मैल छाँटकर उसे स्वच्छ और स्वस्थ करने का भार अपने ऊपर नहीं लिया।

"उनकी रचनाओं में विशुद्ध प्राकृतिक वर्णनों का अभाव बराबर पाया जाता है। वस्तु-वर्णन में उन्होंने मनुष्य की कृति ही की ओर अधिक रुचि दिखाई है, जैसे सत्य-हरिश्चंद्र के गंगा के इस वर्णन में—

नव उज्जल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरत बूँद मध्य मुक्ता मनु पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पैं इक इमि आवत।
जिमि नरगन मन बिबिध मनोरथ करत मिटावत॥
कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो उठि धाई।
सपनेहूँ नहिं तजी, रही अंकम लपटाई॥
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर-सम सोहत।
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत॥
धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा पताका।
घहरत घंटा धुनि, धमकत धौंसा करि साका॥
मधुरी नौबत बजति, कहूँ नारी नर गावत।
वेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत॥

"चंद्रावली नाटिका में यमुना के तट का वर्णन आया है। वह भी नियमानुगत और परंपराभुक्त ही है। उसमें उपमाओं की भरमार यह सूचित करती है कि कवि का मन उल्लिखित प्राकृतिक वस्तुओं पर रमता ही नहीं था, हट-हट जाता था। देखिए—

तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल-परसन-हित मनहुँ सुहाए॥
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज-निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप-वारन तीर कों सिमिटि सबै छाए रहत।
कै हरि-सेवा-हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत॥
कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखति ब्रज सोभा।
कै उमगे पिय प्रिया प्रेम के अनगिन गोभा॥
कै करिकै कर बहु पीय कों टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई॥
कै पिय-पद उपमान जानि एहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत॥
कै ब्रज-तियगन-बदन-कमल की झलकति झाईं।
कै ब्रज हरिपद-परस हेत कमला बहु आईं॥
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रजमंडल बगरे फिरत।
कै जानि लच्छमी-भौन एहि करि सतधा निज जल धरत॥* "

---

* नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १५ संख्या १०।

हमारे यहां काव्य के दो मुख्य विभाग किए गए हैं—एक श्रव्य काव्य और दूसरा दृश्य काव्य। दृश्य काव्य सर्वोत्कृष्ट माना गया है क्योंकि इसके द्वारा सामाजिकों के हृदय पर जो प्रभाव डाला जा सकता है वह श्रव्य काव्य द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इसमें सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कवि की कल्पना वास्तविकता का ऐसा सुंदर रूप धारण कर लेती है कि देखनेवाले को यह जान नहीं पड़ता कि वह किसी काल्पनिक घटना से अवगत हो रहा है, अर्थात् नाटक में सजीवता या प्रत्यक्षानुभव की जो छाया रहती है वह श्रव्य काव्य में नहीं आ सकती। इसी लिये इसका महत्त्व माना जाता है।

नाटकावली

भारतवर्ष में नाट्य-कला ने बड़ी उन्नति की थी। मिस्त्रियों और यूनानियों की भाँति भारतीयों की नाट्य-कला का मूल भी धार्मिक ही है, पर उसमें औरों की अपेक्षा कुछ विशेषता और प्राचीनता है। यूनानी नाटकों का, और उनमें भी सबसे प्राचीन दु:खांत नाटकों का, आरंभ वहाँ के महाकाव्यों और गीति-काव्यों से हुआ था, पर भारतीय नाटकों का आरंभ यहाँ के गद्य और गीति-काव्यों से हुआ था। साहित्यिक विकास के अनुक्रम में पहले गद्य, तब गीति-काव्य और तब महाकाव्य आते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जिन नाटकों का आरंभ गीति-काव्यों और महाकाव्यों से हुआ हो, उनकी अपेक्षा वे नाटक अधिक प्राचीन हैं जिनका मूल गद्य और गीति-काव्यों

में हो। हमारे यहाँ इस ढंग के प्राचीन नाटकों का अवशेष अब तक बंगाल की 'यात्राओं' और ब्रज की 'रासलीलाओं' के रूप में वर्तमान है। यद्यपि ठीक-ठीक यह नहीं बतलाया जा सकता कि भारत में शुद्ध और व्यवस्थित रूप में नाटकों का आरंभ कब हुआ, तथापि अनेक प्रमाणों से यह अवश्य सिद्ध है कि ईसा से कम से कम हजार-आठ सौ वर्ष पहले यहाँ नाटकों का यथेष्ट प्रचार था; और ईसा से चार-पाँच सौ वर्ष पहले यहाँ की नाट्यकला इतनी उन्नत हो चुकी थी कि उसके संबंध में अनेक लक्षण-ग्रंथ भी बन गए थे। इस प्रकार हमारे यहाँ के नाटकों का क्रमबद्ध इतिहास उस समय से आरंभ होता है जिस समय वे अपनी उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर थे और जिसके उपरांत उनका ह्रास आरंभ हुआ था।

यद्यपि प्राचीन अथवा अज्ञात काल के कई नाटककारों और उनके नाटकों का पता चलता है पर इसका ज्ञात काल महाकवि कालिदास से आरंभ होता है। तब से लेकर ईसवी दसवीं शताब्दी तक उसका आरंभिक काल माना जाता है। हमारी समझ में यह उसका आरंभिक काल नहीं वरन् मध्य-काल है। कालिदास का पहला नाटक मालविकाग्निमित्र है जिसके कई पात्र ऐतिहासिक हैं। अग्निमित्र का समय ईसा से डेढ़-दो सौ वर्ष पहले का तो अवश्य है। दूसरा नाटक शकुंतला है जिसकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में

होती है। उनका विक्रमोर्वशी नाटक भी बहुत ही उत्तम है और उसकी उत्तमता का एक प्रमाण यह भी है कि उसके अनुकरण पर संस्कृत में और भी नाटकों की रचना हुई है। कालिदास के अनंतर अच्छे नाटककारों में हर्ष की गणना है जो ईसवी सातवीं शताब्दी के आरंभ में हुए थे और जिनकी लिखी हुई रत्नावली नाटिका और नागानंद आदि नाटक हैं। शूद्रक का मृच्छकटिक नाटक भी बहुत ही अच्छा है, पर कहते हैं कि वह भास के दरिद्र-चारुदत्त के आधार पर लिखा गया है। इसके अनंतर भवभूति हुए जो कन्नौज के राजा यशोवर्म्मन् के आश्रित थे और जिनका समय सातवीं शताब्दी का अंत माना जाता है। इनके रचित महावीरचरित, उत्तररामचरित और मालतीमाधव नाटक प्रसिद्ध हैं। इनके अनंतर नवीं शताब्दी में भट्टनारायण ने वेणीसंहार और विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस की रचना की थी। नवीं शताब्दी के अंत में राजशेखर ने कर्पूरमंजरी, बालरामायण और बालभारत आदि नाटक रचे थे और ग्यारहवीं शताब्दी में कृष्णमित्र ने प्रबोधचंद्रोदय नाटक की रचना की थी। इस प्रकार ईसा की दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी तक तो संस्कृत में अच्छे-अच्छे नाटकों की रचना होती थी, पर उसके उपरांत इनका पतनकाल आरंभ हुआ। भारतवर्ष में नाट्यकला के ह्रास का सूत्रपात वास्तव में मुसलमानों के आक्रमणों से आरंभ होता है। विदेशियों के आक्रमणों और राजनीतिक अव्यवस्था के समय यदि लोगों को खेल-

तमाशे अच्छे न लगें तो यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है; और इसके परिणाम-स्वरूप यदि भारत में नाट्यकला का अंत हो गया, तो इसमें किसी को आश्चर्य न होना चाहिए। कुछ दिनों के आक्रमणों और राजनीतिक अव्यवस्था के उपरांत प्रायः सारा देश मुसलमानों के हाथ में चला गया। आरंभ से ही मुसलमानों में संगीत और नाट्यकला आदि का नितांत अभाव था। यही नहीं, वरन् धार्मिक दृष्टि से वे लोग इन सब बातों के घोर विरोधी थे। अतः उनके समय में नाटकों आदि की कुछ भी चर्चा न हो सकी। हाँ, जिन स्थानों में हिंदुओं का राज्य था उनमें कभी-कभी और कहीं-कहीं नाटक रचे तथा खेले जाते थे। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारत में मानो अपनी निज की नाट्य-कला उठ ही गई थी, जो थोड़ी-बहुत बची भी थी, वह भी आधुनिक नाटकों के रूप में नहीं, वरन् नाटकों के सर्वथा पूर्व रूप में थी। संयुक्त प्रांत में 'रासलीला', बंगाल में 'यात्रा' और महाराष्ट्र प्रदेश में 'कीर्तन' आदि से ही लोग अपना मन बहला लेते थे। जब से इस देश का अँगरेजों के साथ संबंध स्थापित हुआ, तब से उनके कला-कौशल का प्रभाव यहाँ पर बड़ी अधिकता से पड़ने लगा है। इस प्रभाव के वश में पड़कर यहाँ अँगरेजी ढंग के नाटकों तथा रंगशालाओं का प्रचार हुआ है। पहले पहल पारसियों ने कंपनियाँ बनाकर इनका आरंभ किया। अब तो इस प्रकार के नाटकों तथा रंगशालाओं का समस्त

देश में प्रचार हो गया है और ऐसा जान पड़ता है कि इनका भविष्य अँगरेजी ढंग के विकसित रूप में होगा।

हमारे भारतीय शास्त्रकारों ने नाटक के तीन मूल तत्त्व माने हैं—अर्थात् वस्तु, नायक और रस, और इन्हीं तीनों तत्त्वों के आधार पर नाट्य-कला का विवेचन किया गया है। युरोप में नाटकों के छः तत्त्व माने गए हैं—अर्थात् वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देश-काल, शैली और उद्देश्य। दोनों प्रकार के तत्त्वों पर विचार करने से इनमें कोई विशेष अंतर नहीं विदित होता। पहले तो नाटकों का संबंध घटनाओं और व्यापारों से अर्थात उन बातों से होता है जो सहन या संपादित की जाती हैं। इन्हीं को हम 'वस्तु' कहते हैं। दूसरे ये घटनाएँ और व्यापार मनुष्यों के आश्रित होते हैं अर्थात् उन बातों को सहने या करनेवाले मनुष्य होते हैं जो व्यापार-शृंखला को स्थिर रखते हैं। इन्हें पात्र कहते हैं। इन पात्रों का आपस में वार्तालाप तीसरा तत्त्व है जिसे कथोपकथन कहते हैं और जिसका चरित्रचित्रण से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। ये सब व्यापार या घटनाएँ किसी समय और स्थान में होनी चाहिएँ, जहाँ और जिसमें पात्रों को अपना कार्य करना तथा सुख-दुख भोगना पड़ता है। इसे देश-काल कहते हैं। प्रत्येक नाटक में लेखक को अपने जीवन-संबंधी विचारों को परोक्ष रूप में प्रकट करना पड़ता है। इसके निमित्त उसे अपने विचारों के अनुसार घटनाओं का क्रम-स्थापन, पात्रों के राग-भाव आदि

का प्रदर्शन तथा वस्तु-निर्देष इस प्रकार से करना पड़ता है जिसमें वह अपने सांसारिक भाव और जीवन के लक्ष्य प्रकट कर सके। यह उसकी नाटक-रचना का उद्देश्य है। छठा तत्त्व शैली है जिसके द्वारा लेखक अपने भावों और विचारों आदि को भाषा का रूप-विशेष देकर प्रकट करता है।

हमारे शास्त्रकारों के तीन तत्त्वों में से वस्तु तो दोनों में समान है, नायक के अंतर्गत कथोपकथन और देश-काल आ जाता है। शैली का हमारे यहाँ भी अलग विवेचन किया गया है। रस का हमारे यहाँ विशेष रूप से ध्यान रखा गया है, पर युरोपीय विद्वानों ने भी मनोवेगों को सब प्रकार के काव्यों में परम आवश्यक और उपयोगी माना है। जैसे हमारे यहाँ काव्य की आत्मा रस माना गया है, वैसे ही युरोपवालों में भी मनोवेगों को काव्य का प्राण माना है। उद्देश्य में हमारे शास्त्रकारों तथा युरोपीय शास्त्रकारों में बड़ा मतभेद है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि हमारे शास्त्रकारों का उद्देश्य जीवन का आदर्श चित्र उपस्थित करना है। वे यह दिखाना चाहते हैं कि जीवन कैसा अच्छा हो सकता है या होना चाहिए। युरोपवाले यह दिखाना चाहते हैं कि जीवन प्रायः कैसा होता है और किस-किस स्थिति में पड़कर मनुष्य कैसा आचरण करता है। इस उद्देश्य की विभिन्नता के कारण हमारे नाटकों और युरोप के नाटकों में बड़ा भेद रहता है।

हमारे यहाँ नाटक के संबंध में तीन और बातों का विशेष विचार किया गया है—अर्थप्रकृति, अवस्था और संधि। कथा-वस्तु को प्रधान फल की प्राप्ति की ओर अग्रसर करनेवाले चमत्कारयुक्त अंशों को अर्थप्रकृति कहते हैं। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि पाँच प्रकार की अर्थप्रकृतियाँ—अर्थात् बीज, बिंदु, पताका, प्रहरी और कार्य—वस्तुकथानक के तत्त्व हैं। कार्य या व्यापार-शृंखला को अवस्था कहते हैं जिसका संबंध नायक आदि के कार्यों से रहता है। ये भी पाँच प्रकार की कही गई हैं—आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। इन पाँचों अवस्थाओं के योग से अर्थ-प्रकृतियों के रूप में विस्तारी कथानक के पाँच अंश हो जाते हैं। एक ही प्रधान प्रयोजन के साधक उन कथांशों का मध्यवर्त्ती किसी एक प्रयोजन के साथ संबंध होने को संधि कहते हैं। ये भी पाँच प्रकार की होती हैं, अर्थात् मुख संधि, प्रतिमुख संधि, गर्भ संधि, विमर्श संधि और निर्वहण संधि। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि अर्थप्रकृतियाँ वस्तु के तत्त्वों से, अवस्थाएँ कार्यव्यापार से और संधियाँ नाटक-रचना के विभागों से संबंध रखती हैं।

युरोपीय शास्त्रकारों ने अर्थप्रकृतियों और संधियों के संबंध में कोई विचार नहीं किया है, पर कार्य-व्यापार की वे भी पाँच अवस्थाएँ मानते हैं। बहुधा आधुनिक नाटकीय कहानियों का मूल तत्त्व किसी न किसी प्रकार का विरोध

हुआ करता है। नाटक में दो विरोधी भाव, पक्ष, सिद्धांत या दल आदि दिखलाए जाते हैं, और उन्हीं दोनों के विरोध के साथ-साथ कथावस्तु का विकास होता चलता है। साधारण नाटकों में यह विरोध प्रायः व्यक्तिगत रूप में ही सामने आता है। किसी महात्मा या दुरात्मा या किसी सच्चे वीर और दुष्ट बलवान् का विरोध और अंत में उस महात्मा या वीर की विजय का दृश्य ही अधिकांश नाटकों में दिखाया जाता है। पर अच्छे नाटकों में यह विरोध और भी अनेक रूपों में दिखलाया जा सकता है। किसी वीर को अपने दुर्भाग्य अथवा विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, और किसी विचारवान् को स्वयं अपने ही तामस भावों का दमन करना पड़ता है। तात्पर्य यह कि प्रायः किसी न किसी प्रकार का विरोध या विपरीतता ही नाटक का मूल आधार होती है। नाटक में जहाँ से यह विरोध या संघर्ष आरंभ होता है, मानों वहीं से मुख्य कथावस्तु का भी आरंभ होता है; और जहाँ इस विरोध या संघर्ष का कोई परिणाम निकलता है, वहीं मानो कथावस्तु का अंत हो जाता है। जब कथावस्तु का आरंभ और अंत निश्चित हो गया तब हम सहज में कह सकते हैं कि इन दोनों स्थानों के बीच में कथावस्तु का विकास किस ढंग से होता है। कथावस्तु के आरंभ में जो संघर्ष या विरोध उत्पन्न होता है वह पहले एक निश्चित सीमा तक बढ़ता जाता है, और उस सीमा के उपरांत किसी

एक पक्ष या दल की जीत आरंभ होने लगती है और तब अंत में सत् को असत् पर अथवा असत् को सत् पर विजय प्राप्त होती है। कभी-कभी अंत में विजय पानेवाला बीच में दब भी सकता है, पर फिर भी उसकी विजय-प्राप्ति में कोई बाधा नहीं पड़ती। इसलिये आधुनिक पाश्चात्य साहित्यकारों ने नाटक के कार्य-व्यापार को पाँच अवस्थाओं में विभक्त किया है। पहली अवस्था आरंभ है जिसमें विरोध उत्पन्न करनेवाली कुछ घटनाएँ होती हैं, दूसरी विकास जिसमें विरोध और झगड़े बढ़ते हैं, तीसरी चरम-सीमा जहाँ से किसी एक पक्ष की विजय आरंभ होती है, चौथी उतार या निर्गति जिसमें विजयी दल की विजय निश्चित हो जाती है, और पाँचवीं अंत या समाप्ति है जिसमें उस विरोध या झगड़े का अंत हो जाता है।

हमारे यहाँ के आचार्यों का मत इससे कुछ भिन्न है। विरोध और झगड़े आजकल की सभ्यता के परिणाम हैं, अथवा कम से कम उनका विकास और वृद्धि आजकल की सभ्यता में हुई है। प्राचीन भारत में भी विरोध और झगड़े होते थे पर वे इतने अधिक, प्रत्यक्ष और व्याप्त नहीं होते थे कि रंगशालाओं पर उनके अभिनय की आवश्यकता होती। हमारे यहाँ के प्राचीन नाटक तो केवल धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के उद्देश्य से रचे, खेले और देखे जाते थे। इसलिये हमारे यहाँ कार्य-व्यापारों की अवस्थाओं के विभाग भी और

ही ढंग से किए गए हैं। हमारे यहाँ भी कार्य-व्यापार की—आरंभ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम—पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं। इन पाँचों अवस्थाओं की ऊपर दी हुई युरोपीय शास्त्रकारों की निर्धारित पाँच अवस्थाओं के साथ तुलना की जा सकती है और दोनों में कुछ सामंजस्य भी स्थापित किया जा सकता है। हमारे यहाँ के आचार्यों के अनुसार किसी प्रकार का फल प्राप्त करने की उत्कंठा होती है और उसी उत्कंठा से नाटक का आरंभ होता है। उस फल की प्राप्ति के लिये जो उद्योग किया जाता है वह यत्न कहलाता है। आगे चलकर उस फल की प्राप्ति की आशा होने लगती है जिसे प्राप्त्याशा कहते हैं। इसके उपरांत विघ्नों का नाश हो जाता है और फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है जिसे नियताप्ति कहते हैं, और सबके अंत में फल-प्राप्ति होती है जो फलागम कहलाती है। इससे स्पष्ट है कि हमारे यहाँ नाटकों में विरोध भाव को कभी प्रधानता नहीं दी जाती थी; उनमें तो केवल उद्योग और सफलता का ही महत्त्व प्रतिपादित होता था। इसका कारण उद्देश्य की विभिन्नता थी। तो भी यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो इन दोनों प्रकार के विभागों में इस विरोधवाले अंश को छोड़कर और कोई विशेष अंतर नहीं है। आरंभ और अंत अथवा फलागम के संबंध में तो कुछ कहना ही नहीं है। शेष बीच की तीनों अवस्थाओं में कोई विशेष अंतर नहीं है। एक में झगड़े का विकास होता है, दूसरे में फल-प्राप्ति के लिये

प्रयत्न होता है; एक में विजय निश्चित होती है और दूसरे में फल-प्राप्ति। यदि दोनों में कोई मुख्य अंतर है तो यह कि पाश्चात्य विद्वानों ने विरोध या संघर्ष को प्रधानता देकर अपने विषय को बहुत संकुचित कर दिया है।

यों कहने को चाहे हिंदी में कवि देव-कृत देवप्रपंच-माया नाटक, नेवाज कवि-कृत शकुंतला नाटक, हृदयराम-कृत हनुमन्नाटक, या व्रजवासीदास-कृत प्रबोधचंद्रोदय आदि कई नाटक कई सौ वर्ष पहले के बने हुए वर्तमान हों, पर वास्तव में नाट्य-कला की दृष्टि से वे नाटक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उन रचनाओं में नाटक के नियमों का पालन नहीं किया गया है। हाँ, प्रभावती और आनंदरघुनंदन आदि कुछ नाटक अवश्य ऐसे हैं जो किसी प्रकार नाटक की सीमा में आ सकते हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र का कहना है कि हिंदी का पहला नाटक उनके पिता बाबू गोपालचंद्र उपनाम गिरिधरदास-कृत नहुष नाटक है। पर वह भी साधारण बोलचाल की हिंदी में नहीं वरन् व्रजभाषा में है। इसके उपरांत राजा लक्ष्मणसिंह ने शकुंतला नाटक का अनुवाद किया था। यद्यपि यह नाटक भाषा आदि के विचार से बहुत अच्छा है, पर वह मौलिक नाटक नहीं कहा जा सकता। वास्तव में भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की कृतियों से हिंदी में नाट्य साहित्य का आरंभ होता है। इनके बनाए १४ नाटक हैं, जिनमें ५ अनुवादित, ७ मौलिक और २ अपूर्ण हैं। अनुवादित नाटकों में विद्या-

सुंदर, पाखंड-विडंबन, धनंजय-विजय, कर्पूर-मंजरी और मुद्राराक्षस हैं। पहला तो बँगला से अनुवादित हुआ है और शेष चारों संस्कृत या प्राकृत से। इनके संबंध में किसी प्रकार के विवेचन की आवश्यकता नहीं; क्योंकि इनके मौलिक न होने के कारण इन पर विचार करने से कवि के हृदय और मस्तिष्क को जानना असंभव है। फिर भी इनके संबंध में बिना किसी संकोच के यह कहा जा सकता है कि इन अनुवादों में भी मौलिकता का आनंद आता है। पढ़नेवाले को यह पता नहीं लगने पाता कि हम कोई अनुवाद-ग्रंथ पढ़ रहे हैं। मेरी समझ में इन पाँचों नाटकों में सबसे अच्छा अनुवाद कर्पूर-मंजरी का हुआ है और उसके अनंतर मुद्राराक्षस का स्थान है। विद्यासुंदर तो बँगला से अनुवादित हुआ है और वह १८ वर्ष की अवस्था में लिखा गया है। उसकी भाषा में प्रौढ़ता का अभाव है। हाँ, कर्पूर-मंजरी में प्रौढ़ता, मधुरता और सुंदरता स्पष्ट देख पड़ती है और अनुवाद ऐसा अच्छा हुआ है कि पढ़नेवाले को यह मालूम नहीं होने पाता कि हम कोई अनुवाद ग्रंथ पढ़ रहे हैं। उसमें मौलिकता का आनंद आता है।

मौलिक नाटकों में सबसे पहले संवत् १९३० में, जब कि भारतेंदुजी की आयु केवल २३ वर्ष की थी, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' लिखा गया था। इस प्रहसन में मदिरा तथा मांस-सेवन करनेवालों की पोल खोली गई है और विधवा-

विवाह आदि के संबंध में व्यंग्य से टीका-टिप्पणी की गई है। उस समय के समाज-सुधारकों, धर्म-प्रचारकों, विधवा-विवाह के पक्षपातियों, और पंडितों की दिल्लगी उड़ाई गई है। एक स्थान पर लिखा है "जिन हिंदुओं ने थोड़ी भी अँगरेजी पढ़ी है वा जिनके घर में मुसलमानी स्त्री है उनकी तो कुछ बात ही नहीं, आज़ाद हैं।" नहीं कह सकते कि भारतेंदुजी का यह कटाक्ष स्वयं अपने ऊपर है या किसी दूसरे पर। यम-राजपुरी के वर्णन में राजा के संबंध में चित्रगुप्त से कहलाया गया है कि इसने "जो कुछ किया वह केवल वितंडा कर्मजाल किया जिसमें मांस-भक्षण और मदिरा पीने को मिले; परमेश्वर-प्रीत्यर्थ इसने एक कौड़ी भी व्यय नहीं की, जो कुछ व्यय किया सब नाम और प्रतिष्ठा पाने के हेतु"। इस पर यमराज कहते हैं "प्रतिष्ठा कैसी ? धर्म और प्रतिष्ठा से क्या संबंध ?" इसका प्रत्युत्तर चित्रगुप्त यह देते हैं "सर्कार अँगरेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार उदारता करता है उसको 'स्टार आफ़ इंडिया' की पदवी मिलती है।" स्पष्ट है कि यह आक्षेप राजा शिवप्रसाद पर है। यद्यपि भारतेंदुजी राजा शिवप्रसाद को गुरुवत् मानते थे और मुद्राराक्षस का समर्पण भी राजा साहब ही को करते हुए उन्होंने लिखा है—"परम-श्रद्धास्पद श्रीयुक्त राजा शिवप्रसाद बहादुर, सी० एस० आई० के चरण-कमलों में केवल उन्हीं के उत्साहदान से उनके वात्सल्यभाजन छात्र-द्वारा बना हुआ यह ग्रंथ सादर समर्पित

हुआ।" पर उनमें और राजा साहब में कभी आंतरिक प्रेमभाव नहीं रहा। जिस समय अपने स्वतंत्र विचारों और कार्यों के कारण भारतेंदुजी ब्रिटिश गवर्मेंट के कोपभाजन हुए उस समय अग्नि में आहुति देने का काम प्रायः राजा साहब ही करते थे। इस अवस्था में आपस में यदि आंतरिक वैमनस्य रहा हो और वह समय-समय पर फूट निकलता हो, तो इसमें आश्चर्य की कौन बात है? इस प्रहसन में केवल राजा साहब ही पर कटाक्ष किया गया हो सो बात नहीं है, स्वामी दयानंद, पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर, राजा राजेंद्रलाल मित्र कोई भी बचने नहीं पाए हैं—सब पर छींटे फेके गए हैं। इस प्रहसन से उस समय की सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति का कुछ-कुछ पता चलता है।

भारतेंदुजी का सबसे प्रसिद्ध मौलिक नाटक "सत्यहरिश्चंद्र" है। कुछ लोगों का कहना है कि यह क्षेमीश्वर के 'चंड-कौशिक' नाटक का छायानुवाद है। पर उसमें और इसमें कई बातों में अंतर है। 'सत्यहरिश्चंद्र' में नाटक का आरंभ इंद्र के द्वेषभाव से होता है। वही विश्वामित्र को उत्तेजित करके राजा हरिश्चंद्र की परीक्षा लेने और उन्हें धर्म-च्युत करने के लिये उद्यत करता है। पर 'चंड-कौशिक' में राजा हरिश्चंद्र विश्वामित्र को एक कन्या का बलिदान देते देखकर उनकी भर्त्सना करते हैं और विश्वामित्र के शाप देने पर समस्त पृथ्वी का दान देकर उस शाप से मुक्ति पाते हैं।

पौराणिक काल में सब ऋषियों और तपस्वियों के तपोभंग का मूल कारण इंद्र ही बताया गया है और उसी आधार पर भारतेंदुजी ने भी इस नाटक की घटनाओं को खड़ा किया है। इस नाटक का उद्देश्य राजा हरिश्चंद्र की सत्य प्रतिज्ञा की महिमा दिखाना है। वे भाँति-भाँति के कष्ट सहते हैं और उनकी विकट परीक्षा होती है पर वे अपने निर्धारित पथ से डिगते नहीं, उस पर दृढ़ रहते हैं और अंत में परम पद पाते हैं। इस प्रकार 'सत्य-हरिश्चंद्र' और 'चंड-कौशिक' के मूल आधार में ही बड़ा अंतर है, अतएव एक को दूसरे का अनुवाद कहना अनुचित है। हाँ, यह बात अवश्य है कि भारतेंदुजी ने क्षेमीश्वर के नाटक को देखा था और उसकी बहुत सी बातों का उपयोग भी अपने नाटक के निर्माण में किया है। उदाहरणार्थ गंगा और काशी आदि की शोभा का वर्णन, श्मशान और चांडालों आदि का वर्णन सब निज का है; और कुछ श्लोक तथा दो-चार और बातें चंड-कौशिक नाटक से ली गई हैं।

नाट्यशास्त्र में नाटक लिखने या अभिनय करने के लिये जिन नियमों का निर्धारण किया गया है उनसे भारतेंदुजी पूर्णतया परिचित नहीं जान पड़ते। युरोप के नवीन ढंग के नाटकों का प्रचार उनके समय में हो गया था, पर उनकी कला के संबंध में भी उनका ज्ञान उतना ही था जितना एक पढ़े-लिखे नाटक देखनेवाले का हो सकता है। उसमें भी उनकी विशेषज्ञता

नहीं थी। तिस पर भारतेंदुजी की शिक्षा साधारण थी। जो कुछ ज्ञान का संचय उन्होंने किया था, वह अपनी अलौकिक प्रतिभा के ही कारण था। इसलिये नाट्य-कला के अनुसार उनकी कृतियों का विवेचन करना व्यर्थ है। जैसे कोई कुशल कारीगर कोई सुंदर वस्तु बनाता है, तो हमें यह जानने की उत्सुकता होती है कि किन-किन उपादानों का प्रयोग करके वह इस प्रकार सफल हो सकता है। इसी प्रकार नाटककारों की प्रयोगशाला की जाँच-पड़ताल की जाती है और उससे उनकी निपुणता, उनके कौशल, उनके व्यावहारिक ज्ञान, उनके सांसारिक अनुभव तथा उनके शास्त्रीय अनुशीलन आदि का पता लगाया जाता है। भारतेंदुजी की कोई प्रयोग-शाला ही नहीं थी जिसकी जाँच-पड़ताल की जा सके। जो कुछ था वह उनकी अलौकिक प्रतिभा, उनकी तीव्र बुद्धि, और उनका असीम देशप्रेम तथा उसके लिये अपने सर्वस्व को आहुति दे देने की तत्परता थी। ये सब गुण आदरणीय होने पर भी किसी कवि या ग्रंथकार की काव्य विषयक प्रतिष्ठा के कारण नहीं हो सकते। जान पड़ता है कि भारतेंदुजी न तो भारतीय नाट्यशास्त्र से पूर्णतया परिचित थे और न युरोपीय नाट्यशास्त्र का उनको व्यावहारिक या शास्त्रीय ज्ञान था। यदि कोई कहे कि नाटक नामक निबंध लिखनेवाले भारतेंदुजी को नाट्यशास्त्र का ज्ञान कैसे नहीं था, तो इसका उत्तर यही है कि वह पुस्तक पूरी-पूरी उनकी लिखी नहीं है; और यह

बात स्वयं इसकी भाषा से भी सिद्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त उसका रचना-काल संवत् १९४० है। जो कुछ रचनाएँ वे कर सके अथवा उनमें सफलता प्राप्त कर सके उनका मूल आधार उनकी प्रतिभा थी। नाटकों में भारतीय और युरोपीय नाट्यशास्त्रों से जो बात उन्हें जँची उसे उन्होंने ले लिया और अपने ढंग से उसका उपयोग किया। इस कार्य में भी विलक्षणता या विशेषता हो सकती है और इसका करनेवाला एक नए ढंग का संस्थापक हो सकता है, पर भारतेंदुजी यह कार्य भी न कर सके। उन पर नए ढंग के बँगला नाटकों तथा पारसी कंपनियों में खेले जानेवाले नाटकों का प्रभाव पड़ा और उनके अनुकरण पर हिंदी नाटकों को किंचित् परिमार्जित और सुचारु रूप देने में ही उनकी कृति का महत्त्व है, अथवा इसी बात को हम यों कह सकते हैं कि उन्होंने हिंदी में नाटकों का बीजारोपण किया और उस कार्य के लिये पूर्व तथा पश्चिम से सामग्री का संग्रह किया। 'सत्यहरिश्चंद्र' में न तो हमें अर्थप्रकृतियों का ही पता लगता है, न अवस्थाओं का और न संधियों का। यों खींच-तानकर कुछ बातें निकाली जा सकती हैं पर वे समालोचक की उपज मात्र होंगी, उनमें वास्तविकता का अंश बहुत ही थोड़ा होगा। इस नाटक का उद्देश्य तो भारतीय नाटकों के ढंग पर है, और आख्यान भी पौराणिक है, पर नाटक की रचना युरोपीय ढंग पर की गई है। वह बहुत कुछ आज कल के स्टेजों पर

खेलने के लिये बनाया गया है। इस नाटक के पढ़ने से हमें यह नहीं विदित होता कि वास्तव में उसका नायक कौन है—हरिश्चंद्र या विश्वामित्र ? आधिकारिक फल को प्राप्त करनेवाले तो राजा हरिश्चंद्र ही कहे जा सकते हैं क्योंकि विश्वामित्र की अंत में हार दिखाई जाती है। पर राजा हरिश्चंद्र किस फल की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं ? उनका तो मूल सिद्धांत यही है कि "चंद टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार। पै दृढ़ श्रीहरिचंद को, टरै न सत्य विचार॥" यहाँ सत्य विचार ही कौन था ?—एक स्वप्न की बात थी। स्वप्न को सत्य मानकर और उसी के कारण भिखारी बनकर स्त्री-पुत्र-सहित जगह-जगह टक्करें मारते फिरना—और वह भी केवल किसी दूसरे की प्रेरणा से—फल की प्राप्ति नहीं कहा जा सकता। फिर हरिश्चंद्र का न प्रयत्न कहीं देखने में आता है और न प्राप्त्याशा या नियताप्ति का कहीं पता लगता है। उनका सारा प्रयत्न अपने सत्यपालन की रक्षा ही में देख पड़ता है जो उनका स्वतःसिद्ध उद्देश्य और जीवन का व्रत था। क्रियाशील तो विश्वामित्र देख पड़ते हैं, हरिश्चंद्र तो अकर्मण्य की भाँति जो-जो सिर पर पड़ता है उसे चुपचाप सहते जाते हैं। उनका जो कुछ प्रयत्न स्पष्ट देख पड़ता है वह केवल अपने को तथा अपनी स्त्री को बेचकर दक्षिणा का एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा देना है। युरोपीय सिद्धांतों के अनुसार और विशेष कर यूनान के प्राचीन दुःखांत नाटकों (ट्रैजिडी) के

अनुकूल दो भावों का संघर्ष स्पष्ट देख पड़ता है। राजा हरिश्चंद्र अपने सत्य पर अटल हैं, विश्वामित्र उन्हें उससे च्युत करना चाहते हैं। सब देवी-देवता विश्वामित्र की सहायता करते हैं, केवल सूर्य समय-समय पर चेतावनी देकर राजा हरिश्चंद्र को सचेत करते रहते हैं जिसमें वे अपने सिद्धांत से गिरने न पावें। यह घोर संघर्ष अंत तक चलता है, पर अंत में राजा की जय होती है; सब देवी-देवता आकर उनका आश्वासन करते और उन्हें परीक्षा में उत्तीर्ण पाकर बधाई देते हैं। अतएव इसमें हम प्राचीन यूनानी ट्रैजिडी के तत्त्वों को स्पष्ट देखते हैं। यह नाटक करुणरस-प्रधान माना जाता है, पर नाटकों में करुण रस का संचार वहीं तक उपयुक्त और आवश्यक माना जाता है जहाँ तक वह किंचित् शोक तो उत्पन्न कर सके, पर क्षोभ का कारण न हो। वह इतना ही चाहिए जितने में आनंद का साधक हो सके। शैव्या का विलाप सीमा से बाहर हो गया है। वह जितना चाहिए उससे कहीं अधिक है। बँगला के नाटक-शिल्पी गिरीश घोष की भाँति भारतेंदुजी ने इस करुण रस के उद्रेक में यही कर दिखाने का प्रयत्न किया है कि नाटक देखकर सामाजिक खूब रोएँ। नाटक का आरंभ विश्वामित्र और इंद्र आदि की बातचीत से होता है; प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, अथवा विकास, चरम सीमा और निगति का कहीं ठीक-ठीक पता नहीं लगता और अंत में फलागम इतना शीघ्र हो जाता है कि देखनेवाला अचंभे में

रह जाता है। कार्य-व्यापार का चढ़ाव-उतार क्रमशः होना चाहिए, पर इसमें चढ़ाव में नाटक का अधिक अंश लग जाता है, उतार बहुत शीघ्रता से होता है। भारतेंदुजी ने इस नाटक में जिस काशी का वर्णन किया है वह उनके समय की काशी है, न कि राजा हरिश्चंद्र के समय की। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि राजा हरिश्चंद्र भगीरथ के पूर्वजों में थे। यह बात पुराण-सिद्ध है कि भगीरथ ही गंगा को लाए थे और इसी लिये उसका नाम भागीरथी पड़ा। फिर हरिश्चंद्र के समय में काशी को स्पर्श करती हुई गंगा कैसे प्रवाहित हो सकती है? इस वर्णन से देश-काल-दोष आ गया है।

अब यदि व्यावहारिक दृष्टि से, अभिनयत्व के विचार से, इस नाटक पर विचार किया जाय तो इसमें और भी कई दोष देख पड़ते हैं। अभिनय करने के उद्देश्य से जो नाटक लिखे जाते हैं उनमें एक साधारण बात यह रहती है कि क्रमशः ज्यों-ज्यों अभिनय होता चलता है, त्यों-त्यों अंक छोटे होते जाते हैं। इस नियम का कारण भी है। आरंभ में नाटक देखनेवाले अभिनय देखने के लिये उत्सुक रहते हैं। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों-त्यों आलस्य और थकावट आती जाती है। अतएव उनकी रुचि को अंत तक बनाए रखने के लिये शीघ्र-शीघ्र अंकों के समाप्त करने की आवश्यकता होती है। इस बात को स्वयं भारतेंदुजी ने अपने नाटक नामक निबंध में स्वीकार किया है। उदाहरण के लिये भारतेंदुजी-अनुवादित 'कर्पूर-मंजरी'

और 'मुद्राराक्षस' को ले लीजिए। यदि हम यह मान लें कि 'कर्पूरमंजरी' का अभिनय दो घंटे (= १२० मिनिट) में समाप्त हो सकता है तो पहला और दूसरा अंक ३८, ३८ मिनिट में समाप्त होगा और तीसरा तथा चौथा २२, २२ मिनिट में। इसी प्रकार यदि यह मान लें कि 'मुद्राराक्षस' का अभिनय पांच घंटे में किया जा सकता है तो प्रत्येक अंक में क्रमशः ५२, ५२, ४७, ४०, ४८, ३४ और २७ मिनिट लगेंगे। पर सत्य-हरिश्चंद्र नाटक को देखिए। यदि हम यह मान लें कि इस नाटक का अभिनय तीन घंटे में किया जा सकता है तो इसके चारों अंकों का अभिनय करने में क्रमशः २५, ३०, ४० और ८५ मिनिट लगेंगे। अभिनय करने के लिये जो नियम सबसे आवश्यक है उसका यदि 'सत्यहरिश्चंद्र' को एक विशेष अप-वाद मान लें तो दूसरी बात है, नहीं तो इस दृष्टि से यह सर्वथा दोषपूर्ण है।

अच्छा अब दूसरी दृष्टि से इस पर विचार कीजिए। पहले अंक में इंद्रसभा का वर्णन है और उसकी समाप्ति पर परदा गिराया जाता है। दूसरे अंक का आरंभ राजा हरिश्चंद्र के राजप्रासाद से होता है और सामाजिकों के सम्मुख रानी शैब्या बैठी हुई और उसकी एक सहेली बगल में खड़ी हुई दिखाई जाती है। किसी अंक के अंत में जब परदा गिरता है तब उसके दृश्य को लेकर दूसरे अंक का अभिनय आरंभ होता है। यदि यह मान लिया जाय कि भारतीय प्राचीन पद्धति के अनुसार प्रत्येक

अंक की समाप्ति पर अंतिम परदा (ड्राप सीन) गिरता है तो दूसरी बात है, पर उस अवस्था में एक अंक और उसके पीछे आनेवाले अंक की व्यापार-शृंखला प्रायः छिन्न कर दी जाती है और उस अवच्छेद के भाव को दूर करने के लिये विष्कंभक आदि काम में लाए जाते हैं, पर इस नाटक में ऐसा नहीं है। तीसरे अंक के आरंभ में एक 'अंकावतार' दिया गया है। अंकावतार में एक अंक की कथा दूसरे अंक में बराबर चलती रहती है, केवल अंक के अंत में पात्र बाहर जाकर अगले अंक के आरंभ में पुनः आ जाते हैं। इस अंकावतार में इस नियम का पालन नहीं किया गया है। इसे विष्कंभक कहा जाय तो कुछ उपयुक्त होगा। सारांश यह कि इस नाटक में भारतीय पद्धति का अनुकरण नहीं किया गया है। इस अवस्था में पहले अंक के परदे के गिरने के साथ ही राजप्रासाद का दृश्य कैसे उपस्थित हो सकता है और रानी तथा उसकी सहेली बैठी या खड़ी हुई कैसे दिखाई जा सकती है! इसी प्रकार तीसरे अंक की समाप्ति पर पुनः परदा गिरता है और चौथे अंक का आरंभ दक्षिण श्मशान पर होता है, जहाँ उसके उपयुक्त दृश्य के उपस्थित करने का उल्लेख है। भारतेंदुजी ने इस नाटक में जहाँ-तहाँ पात्रों के वेष-भूषा आदि का संकेत दे दिया है जिससे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि वे इस नाटक को अभिनय के उपयुक्त समझते थे। पर जैसा कि ऊपर कहा गया है, इसका भली भाँति अभिनय

करने के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं जिनसे यह स्पष्ट विदित हो सकता है कि भारतेंदुजी को दृश्य काव्य का न तो पूरा-पूरा साहित्यिक ज्ञान था और न व्यावहारिक, तथा उन्होंने युरोपीय और भारतीय पद्धतियों के भेदों को भी पूर्ण रूप से हृदयंगम नहीं किया था, पर थे वे एक निपुण लेखक और अच्छे कवि। इसलिये उनकी कृतियों के ये सब दोष छिप जाते हैं और पाठक उनके नाटकों को पढ़कर और उसके मूल-भाव से मुग्ध होकर आनंद प्राप्त करते हैं। भारतेंदुजी के जीवनचरित लिखनेवालों ने उनके पात्र बनकर अभिनय करने का उल्लेख किया है। इससे यह न समझना चाहिए कि वे अभिनय के सब उपादानों से अभिज्ञ थे। वे स्वयं कुशल पात्र बन सकते हों, पर वे कुशल सूत्रधार, स्थापक या नाटक-रचना की संधियों से विज्ञ लेखक नहीं थे।

भारतेंदुजी की चंद्रावली नाटिका भी उनके अत्यंत प्रसिद्ध ग्रंथों में से है। इसका संस्कृत तथा व्रजभाषा में अनुवाद हुआ था और यह भारतेंदुजी को थी भी बहुत प्रिय। वे इसका अभिनय भी करना या कराना चाहते थे, पर उनकी इच्छा पूरी न हो सकी। इसमें संदेह नहीं कि इस नाटिका की भाषा बड़ी ही मधुर और परिमार्जित है तथा इसमें उज्ज्वल प्रेम का बड़ा ही सुंदर चित्र उपस्थित किया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि इस नाटिका में जिस प्रेम का चित्र अंकित

किया गया है, वह भारतेंदुजी के अपने भक्तिभाव का प्रतिबिंब है, वह उनके धार्मिक जीवन की प्रतिछाया है। जिस प्रकार चंद्रावली श्रीकृष्णचंद्र के वियोग में बावली हो उठी है और सदा उन्हीं के ध्यान में निमग्न रहती है उसी प्रकार भारतेंदुजी भी श्रीकृष्णचंद आनंदकंद के भक्तिसागर में सदा डुबकियाँ लगाकर उनकी खोज में लगे रहते थे और सदा उनके पाने की अभिलाषा नें लवलीन रहते थे। पर साहित्यिक या व्यावहारिक दृष्टि से यदि इस नाटिका का विवेचन किया जाय तो इसमें से अस्वाभाविकता स्थान-स्थान पर टपकी पड़ती है। आरंभ ही में शुकदेवजी और नारदजी आते हैं और व्रज की प्रेमलीला का आनंद लेने के लिये वहाँ जाते हैं। फिर कहीं इनका पता भी नहीं लगता कि इनका क्या हुआ। दूसरे अंक में चंद्रावली ने बड़ी लंबी-चौड़ी वक्तृताएँ झाड़ी हैं जो सर्वथा अस्वाभाविक जान पड़ती हैं। यही बात अन्य अंकों में भी मिलती है। संध्या और वर्षा के जो प्राकृतिक दृश्य बीच-बीच में अंकित किए गए हैं वे केवल उद्दीपन का कार्य करते हैं; कहीं भी इन प्राकृतिक दृश्यों को चंद्रावली के मानवी जीवन का अंग बनाकर प्रकृति का और उसके हृदय का सामंजस्य स्थापित करने का उद्योग नहीं किया गया। एक विचित्र आदर्श भी उपस्थित कर दिया गया है। कहाँ तो चंद्रावली की माता उसका बाहर आना-जाना बंद कर देती है और कहाँ योगिनी का वेष धारण किए हुए श्रीकृष्णचंद्र के

आने तथा अपना वास्तविक रूप प्रकट करने पर ठीक उसी समय माता का यह सँदेसा भी आ जाता है कि "स्वामिनी ने आज्ञा दई है के प्यारे सों कही दै चंद्रावली की कुंज में सुखेन पधारौ।" न जाने किस आदर्श को सामने रखकर इस नाटिका के पात्रों का चरित्र-चित्रण किया गया है।

'विषस्य विषमौषधम्' तो हमें भारतेंदुजी की रुचि और प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल जान पड़ता है। बाबू शिवनंदन-सहाय इस भाण की वस्तु का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—"श्रीमहाराज मल्हारराव गायकवाड़ बड़ोदाधीश ने अपने किसी अत्यंत असंगत और कुत्सित व्यभिचार के प्रकट हो जाने पर रुष्ट होकर रेजिडेंट के साथ अयोग्य वर्ताव किया था। उसी का सर्कार ने एक कमीशन-द्वारा अनुसंधान कराके महाराज को राजच्युत करने की आज्ञा दी थी। यही विषय इस भाण में वर्णित किया गया है। इसमें कवि ने सर्कार की कार्रवाई की बड़ी प्रशंसा की है। यह उपदेश-मय भाण पढ़ने योग्य है, इससे बड़ोदा का संक्षिप्त पुरावृत्त भी ज्ञात हो जाता है। इसके आदि में यह दोहा है—

परतिय-रत रावन वध्यो, परधन-रत तिमि कंस।
राम कृष्ण जय सूर ससि, करत मोह-अघ-ध्वंस॥

"इसमें कवि ने भंडाचार्य के मुख से सब कुछ कहवाया है। वह कहता है—'हमारी दशा भी अब रावण की हुआ चाहती है, तो क्या हुआ, होय।

रावन ने दस सिर दिए, जनकनंदिनी काज।
जौ मेरो इक सिर गयो, तो यामें कह लाज॥

" 'देखो, परस्त्री-संग से चंद्रमा यद्यपि कलंकित है तौ भी जगत् को आनंद देता है, वैसे ही (मोछों पर हाथ फेरकर) हम बड़े कलंकित सही, पर हमी इस नगर की शोभा हैं। भला दुष्ट बाबाभट्ट! क्या हुआ; तुमने हमारा सब भेद खोल दिया। यह भेद खुलने पर भी हमने तुम्हें और कृष्णाबाई दोनों को न छकाया तो मेरा नाम भंडाचार्य नहीं।'

"फिर भंडाचार्य ऊपर देखते और दुराचार की कहानी कहते-कहते यह कह उठता है—'अहा स्त्री वस्तु भी ऐसी ही है—

पुरुपजनन के मोहन को विधि यंत्र विचित्र बनायो है।
काम अनल लावन्य सुजल बल जाको विरचि चलायो है॥
कमर कमानी बार तार सों सुंदर ताहि सजायो है।
धरम घड़ी अरु रेलहु सों बढ़ि यह सबके मन भायो है॥

" 'यह तो कल के अर्थ में यंत्र हुआ अब हिंदुस्तानी तंत्र के यंत्र का वर्णन सुनिए—

पुरुपजनन के मोहन को यह मंगल यंत्र बनायो है।
कामदेव के बीज मंत्र सों अंकित सब मन भायो है॥
ग्रहण दिवारी कारी चौदस सारी रात जगायो है।
सिद्ध भयो सबको मन मोहत नारी नाम धरायो है॥

" 'इसी मंत्र के अनुष्ठान का यह फल है—...स्त्री और बिजली जिसे छू गई वह गया...महाराज गद्दी से उतारे गए'।"*

* भारतेंदु-चरित्र पृष्ठ १८२—८३

अंत में कहा है—"कोई हमारे सरकार के विरुद्ध जो कुछ कहे वह झख मारे। यदि ऐसे लोगों को उचित दंड न हो तो ये लोग न-जाने क्या अनर्थ करें……धन्य सरकार……दूध का दूध पानी का पानी।" अंतिम प्रशस्तिवाक्य भी देखने योग्य है—

परतिय परधन देखि, न नृपगन चित्त चलावें।
गाय दूध बहु देहिं, मेघ सुभ जल बरसावें।
हरि-पद में रति होइ, न दुख कोऊ कहँ व्यापै।
अँगरेजन को राज ईस इत चिर करि थापै।
श्रुति-पंथ चलैं सज्जन सबै सुखी होहिं तजि दुष्ट-भय।
कवि-बानी थिर रस सों रहै भारत की नित होय जय॥

जो महात्मा देश के लियें अपना सर्वस्व निछावर करने को सदा उद्यत रहे, जिसको बात-बात में अपने देश का स्मरण हो आवे और जो उसके उदय के संबंध में अपने स्वतंत्र विचारों को प्रकट करने में कभी आगा-पीछा न करे, वही एक राजा के गद्दी से उतारे जाने पर आनंद मनावे और भाण लिख-कर प्रशस्ति में "अँगरेजन को राज ईस इत चिर करि थापै" तक कह डाले! इस भाण में भारतेंदुजी अपने असली रूप में नहीं देख पड़ते। उनके स्वभाव में, उनकी रुचि में, उनके देशाभिमान में, उनकी देशहितैषिता में बहुत बड़ा परिवर्तन देख पड़ता है। फिर जिसका चरित्र स्वयं आदर्श रूप न हो वह दूसरे की चरित्र-हीनता के लिये दंडित होने पर बधावे बजवावे—यह

यदि विचित्र बात नहीं तो आश्चर्यजनक अवश्य है। क्या संवत् १९३३ के लगभग, जब यह भाण रचा गया, कोई घटना ऐसी हुई थी जिसके कारण उनके स्वभाव में, उनकी प्रकृति में, उनके भाव में क्षणिक या स्थायी परिवर्तन हो गया था ? इस भाण से ऊपर जो दो छंद उद्धृत किए गए हैं उनकी श्लेषयुक्त भाषा में जो अश्लील भाव छिपे पड़े हैं वे केवल निंदनीय ही नहीं प्रत्युत कवि के रुचि-विपर्यय के स्पष्ट प्रमाण भी हैं। भारतेंदुजी इस रचना में अपने ऊँचे आसन से बहुत नीचे गिर गए हैं।

'भारत-दुर्दशा' और 'नीलदेवी' में भारतेंदुजी को अधिक सफलता प्राप्त हुई है और इनके द्वारा वे पढ़नेवालों अथवा अभिनय देखनेवालों के सामने देश का एक सजीव आदर्श-पूर्ण तथा अनुकरणीय चित्र उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। ये दोनों रचनाएँ देशहितैषिता के भावों से कूट-कूटकर भरी हुई हैं। पर देखना यह है कि क्या इनमें किसी प्रकार का उपदेश देने का प्रयत्न किया गया है। 'भारत-दुर्दशा' में भारत-वर्ष की वर्तमान अवस्था का अच्छा चित्र अंकित किया गया है पर यह दुःखांत कर दिया गया है। इससे अंत में नैराश्य का भाव उत्पन्न होता है, पर होना चाहिए भारतोदय करने की दृढ़ता का भाव। 'नीलदेवी' किस उद्देश्य से लिखी गई है इसे कवि ने स्वयं प्रकट कर दिया है। वे लिखते हैं—

"आज बड़ा दिन है। क्रिस्तान लोगों को इससे बढ़कर कोई आनंद का दिन नहीं है। किंतु मुझको आज उलटा

और दुःख है। इसका कारण मनुष्य-स्वभाव-सुलभ ईर्षा मात्र है। मैं कोई सिद्ध नहीं कि रागद्वेष से विहीन हूँ। जब मुझे अँगरेजी रमणी लोग मेदसिंचित केश-राशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविध वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटिदेश कसे, निज-निज पतिगण के साथ, प्रसन्न वदन इधर से उधर फर-फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगी युवती-समूह की भाँति हमारी कुल-लक्ष्मी-गण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें; किंतु और बातों में जिस भाँति अँगरेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की संपत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं, और इतने समुन्नत मनुष्य-जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोतीं, उसी भाँति हमारी गृह-देवियाँ भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति-पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुलपरंपरा-मात्र है और कुछ नहीं है। आर्य-जन-मात्र को विश्वास है कि हमारे यहाँ सर्वदा स्त्रीगण इस अवस्था में

थीं। इस विश्वास के भ्रम को दूर करने ही के हेतु यह ग्रंथ विरचित होकर आप लोगों के करकमलों में समर्पित है।"

कैसा महत् उद्देश्य है! अब देखना यह है कि इसकी पूर्ति वे कहाँ तक कर सके हैं। पंजाब का राजा सूर्यदेव, अब्दुश्शरीफ खाँ सूर से, लड़ाई में हारकर कैद हो जाता है। उसकी रानी नीलदेवी एक नर्तकी का वेष धारणकर मुसलमान अमीर के खेमे में जाती है। वह मुसलमान सरदार नीलदेवी के रूप-लावण्य तथा नृत्य-गीत पर मोहित हो जाता है। अवसर पाकर और उसे शराब में मस्त देखकर नीलदेवी उसको मार डालती है। यही संक्षेप में इस नाटक की कथा है। इसमें संदेह नहीं कि इस काव्य में देशहितैषिता के भाव भरे हुए हैं, पर जिस आदर्श को सामने रखकर भारतेंदुजी ने इसकी रचना की है उसकी सिद्धि इससे नहीं होती। इससे तो केवल प्रतिहिंसा के भाव को उत्तेजना मिलती है।

'अंधेर नगरी' का वस्तुविन्यास मध्यम कोटि का है और एक प्रचलित कहानी में किया गया है। इसमें हँसने-हँसाने की सामग्री थोड़ी है। यह छः अंकों में समाप्त किया जाता है। देश की वर्त्तमान स्थिति के चित्र इसमें स्थान-स्थान पर अंकित किए गए हैं, पर कथानक बिलकुल साधारण है। राजा की सब बातें अत्यंत अस्वाभाविक दिखाई गई हैं और अंत में बाबाजी के धोखे में आकर वह फाँसी पर चढ़ जाता है। इस प्रहसन का दूसरा अंक ही सबसे रोचक और शिक्षा-पूर्ण है।

भारतेंदुजी के अपूर्ण नाटकों में से 'प्रेमजोगिनी' की लोगों ने बड़ी प्रशंसा की है। इसके पहले अंक के केवल चार गर्भांक भारतेंदुजी लिख सके हैं। पहले गर्भांक में गोपाल-मंदिर का दृश्य, दूसरे में गैबी के पास 'बहरी तरफ़' का आनंद लेनेवाली गोष्ठी का, तीसरे में मुगलसरायँ स्टेशन पर दलालों और पंडों की कार्रवाइयों का और चौथे में काशीस्थ महाराष्ट्र ब्राह्मणों की स्थिति का चित्र अंकित किया गया है। हम नहीं कह सकते कि यह नाटक कितने अंकों तथा कितने गर्भांकों में समाप्त किया जाता तथा इसका वस्तु-विन्यास किस ढंग का होता। इसमें गर्भांक शब्द का बड़ा दुरुपयोग किया गया है। यह शब्द अँगरेजी के "सीन" शब्द का समानार्थी माना गया है, यद्यपि संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार किसी अंक के मध्य में आनेवाले अंक को गर्भांक कहा है और यह आदेश किया है कि रस, वस्तु और नायक का उत्कर्ष बढ़ाने के लिये इसका प्रयोग होना चाहिए। बँगला के आधुनिक नाटकों में गर्भांक सीन के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है और जान पड़ता है कि भारतेंदुजी ने भी इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है। हमारी समझ में 'दृश्य' शब्द से इसका काम भली भाँति चल सकता था। एक शास्त्रीय शब्द का दुरुपयोग वांछनीय नहीं है। इससे व्यर्थ भ्रम उत्पन्न होता है। अस्तु; 'प्रेम-जोगिनी' के पहले अंक के चारों गर्भांकों की कथा भिन्न-भिन्न है, एक दूसरे का परस्पर कोई संबंध नहीं। न यही समझ में

आता है कि किस उद्देश्य से अथवा किस मुख्य तत्त्व के विकास के लिये इस नाटक की रचना की गई है। इसे तो नाटक न कहकर भिन्न-भिन्न दृश्यों की समष्टि कहना चाहिए। हमारे एक मित्र का कहना है कि ये गर्भांक पहले "काशी के छाया-चित्र" शीर्षक में छपे थे। यदि यही बात हो तो उक्त नाम ही इसके लिये सबसे अधिक उपयुक्त हो सकता है। हमारी समझ में इस 'प्रेमजोगिनी' को भारतेंदुजी की प्रशंसनीय रचनाओं में नहीं गिना जा सकता। इसकी जो कुछ प्रशंसा है, वह संभवतः इसी लिये है कि इसमें भारतेंदुजी की निरीक्षण-शक्ति का अच्छा विकास देखने में आता है—वर्णन प्रायः यथातथ्य है।

सारांश यह कि भारतेंदुजी ने अपने नाटकों में न तो भारतीय पद्धति का अनुकरण किया है और न युरोपीय पद्धति का। दोनों की कुछ-कुछ बातों का यथारुचि, पारसी नाटक-कंपनियों और आधुनिक बँगला नाटकों के अनुकरण पर, उपयोग किया गया है। यह उपयोग यदि किसी सिद्धांत पर होता अथवा किसी नई पद्धति को प्रचलित करने के उद्देश्य से किया जाता तो अवश्य कुछ महत्त्व का हो सकता था। पर साथ ही यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वास्तव में भारतेंदुजी की कृतियों से ही हिंदी साहित्य में दृश्य काव्यों का आरंभ होता है। ऐसी अवस्था में इनके नाटकों की सूक्ष्म विवेचना करना और उनमें वर्त्तमान काल की उन्नत जातियों

के परम प्रसिद्ध नाटकों के गुण ढूँढ़ना विकासवाद के सिद्धांत को सर्वथा उलटने का प्रयत्न करना है। और-और भाषाओं में आरंभ में दृश्य काव्यों की जो दशा रही है, उससे कहीं अच्छे भारतेंदुजी के नाटक हैं। हमें इन नाटकों की समीक्षा उनके निर्माण-काल पर ध्यान रखकर करनी चाहिए। जो कुछ आक्षेप या दुःख की बात है, वह यही है कि संस्कृत के कई नाटकों के अनुवादक होने पर भी भारतेंदुजी ने अपने परम उन्नत नाट्यशास्त्र के ज्ञान का कोई उपयोग नहीं किया। पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध उत्पन्न करनेवाली प्रकाशमाला से मोहित होकर उन्होंने उसके आगे सिर झुका दिया। भारतेंदुजी के समय में जो और नाटक लिखे गए, वे भी इसी ढंग के थे। उनके रचयिताओं ने भारतेंदुजी को अपना आदर्श माना और उनका अनुकरण करने का प्रयत्न किया। भारतेंदुजी ने हिंदी में अनेक नाटक लिखकर हिंदी साहित्य के एक प्रधान अंग की पूर्त्ति का उद्योग किया और लोगों को इसका मार्ग दिखाया। उनके पीछे कुछ दिनों तक तो इस प्रकार के काव्य साहित्य की हिंदी में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई; केवल कुछ बँगला नाटकों के हिंदी में अनुवाद हुए। पर अब यह वृक्ष पल्लवित होने लगा है। अब इसमें 'वरमाला,' 'दुर्गावती,' 'अजातशत्रु,' 'जनमेजय का नागयज्ञ' आदि उच्च कोटि के नाटक निकलने लगे हैं। इस बीज के बोने का श्रेय भारतेंदुजी को प्राप्त है और इसके लिये उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है।

प्राय: संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना में कवि—सूत्रधार आदि के द्वारा—अपना, अपने वंश का तथा अपनी विद्या, योग्यता आदि का परिचय दे दिया करते हैं। भारतेंदुजी ने भी इस प्रथा का कहीं-कहीं अनुकरण किया है।

आत्म-क्षोभ

'सत्य-हरिश्चंद्र' में नटी (लंबी साँस लेकर) कहती है—"हा! प्यारे हरिश्चंद्र का संसार ने कुछ भी गुण-रूप न समझा। क्या हुआ 'कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि-भरि पाछे प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी'।"

'प्रेमजोगिनी' में यह बात कुछ विस्तार से लिखी गई है। उसमें सूत्रधार कहता है—"क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परमबंधु, पिता-मित्र-पुत्र सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एकमात्र मूर्त्ति, सत्य का एकमात्र आश्रय, सौजन्य का एकमात्र पात्र, भारत का एकमात्र हित, हिंदी का एकमात्र जनक, भाषा नाटकों का एकमात्र जीवनदाता हरिश्चंद्र ही दुखी हो। हा सज्जनशिरोमणे! कुछ चिंता नहीं। तेरा तो बाना है कि 'कितना भी दुख हो उसे सुख ही मानना', लोभ के परित्याग के समय नाम और कीर्ति तक का परित्याग कर दिया है और जगत् से विपरीत गति चलके तूने प्रेम की टकसाल खड़ी की है। क्या हुआ जो निर्दय ईश्वर तुझे प्रत्यक्ष आकर अपने अंक में रखकर आदर नहीं देता और खल लोग तेरी नित्य एक नई निंदा करते हैं और तू संसारी वैभव

से सूचित नहीं है; तुझे इससे क्या? प्रेमी लोग जो तेरे और तू जिन्हें सरबस है वे जब जहाँ उत्पन्न होंगे तेरे नाम को आदर से लेंगे और तेरी रहन-सहन को अपनी जीवनपद्धति समझेंगे। (नेत्रों से आँसू गिरते हैं) मित्र, तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनों भूल जाते हो; तुम्हें इनकी निंदा से क्या? इतना चित्त क्यों क्षुब्ध करते हो? स्मरण रक्खो ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोक-बहिष्कृत होकर भी इनके सिर पर पैर रखके विहार करोगे। क्या तुम अपना यह कवित्त भूल गए—'कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि-भरि पाछे प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी।' मित्र मैं जानता हूँ कि तुम पर सब आरोप व्यर्थ हैं, हा! बड़ा विपरीत समय है।"

इन क्षोभ-सूचक वचनों से भारतेंदुजी की एक विशेष भावना की सूचना मिलती है। इनका उद्‌गमसूत्र पाने के लिये यह जानना आवश्यक है कि संवत् १९३२ के लगभग भारतेंदुजी की पारिवारिक और सामाजिक आदि परिस्थितियाँ कैसी थीं। उस समय कुछ ऐसी घटनाएँ हुई थीं जिनसे उद्विग्न होकर अपने संबंध में ऐसे निराशापूर्ण वचन लिखने की उनको प्रवृत्ति हुई। संवत् १९३२ के पूर्व उनके 'विद्यासुंदर', 'पाखंड-विडंबन', 'धनंजय-विजय' तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' ग्रंथ प्रकाशित हो चुके थे और संवत् १९३२ में 'कर्पूर-मंजरी' प्रकाशित हुई थी, पर इन सबमें कहीं उनकी मानसिक

स्थिति में किसी प्रकार के विकार के उपस्थित होने का आभास तक नहीं मिलता। 'सत्य-हरिश्चंद्र', 'प्रेमजोगिनी' तथा 'चंद्रावली' में ही उन्होंने अपने संबंध में कुछ लिखा है। इनमें भी 'सत्य-हरिश्चंद्र' में बहुत साधारण वर्णन है, 'प्रेम-जोगिनी' में उसका कुछ विस्तार हुआ है और 'चंद्रावली' में तो उसका रूप ही कुछ और हो गया है। 'चंद्रावली' में उन्होंने अपने संबंध में यह लिखा है—

परम-प्रेम-निधि रसिक-बर, अति उदार गुन-खान।
जग-जन-रंजन आशु-कवि, को हरिचंद समान॥
जिन श्रीगिरिधरदास कवि, रचे ग्रंथ चालीस।
ता-सुत श्रीहरिचंद को, को न नवावै सीस॥
जग जिन तृन-सम करि तज्यौ, अपने प्रेम-प्रभाव।
करि गुलाब सों आचमन, लीजत वाको नांव॥
चंद टरै सूरज टरै, टरैं जगत के नेस।
यह दृढ़, श्रीहरिचंद को, टरै न अविचल प्रेम॥

इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इन ग्रंथों के निर्माण का क्रम इस प्रकार रहा होगा—पहले 'सत्य-हरिश्चंद्र,' फिर 'प्रेमजोगिनी' और तब 'चंद्रावली'। अब हमें यह देखना है कि वे कौन सी घटनाएँ थीं वा हो सकती हैं जिनके वश-वर्त्ती होकर उनके हृदय से इस प्रकार के उद्गार निकले।

भारतेंदुजी स्वभाव से ही बड़े उदार और दानी थे, इसमें संदेह नहीं पर साथ ही दुःख के साथ कहना पड़ता है कि वे

अपव्ययी और चरित्रहीन भी थे। एक ओर जहाँ वे उदारता-पूर्वक गुणी जनों का सम्मान करने में धन व्यय करते थे, वहाँ दूसरी ओर भोग-विलास तथा कुसंगति में भी उनका बहुत सा धन नष्ट होता था। धन-संपत्ति की ओर वे बड़ी उपेक्षा से देखते थे। उन्होंने महाराज काशिराज के समझाने पर यहाँ तक कह डाला था कि "इस संपति ने मेरे पूर्वजों को खा डाला है। अब मैं इसे खाकर छोड़ूँगा।" जिसके हृदय में ऐसे भाव हों, उसके लिये दोनों हाथों से रुपया-पैसा लुटाना कोई बड़ी बात नहीं। जान पड़ता है, ११ वर्ष की अवस्था में पितृहीन होने के उपरांत २० वर्ष की अवस्था तक पहुँचते न पहुँचते उन्होंने अपनी संपत्ति का एक बड़ा अंश लुटा डाला था। इस पर विरक्त होकर उनके छोटे भाई बाबू गोकुलचंद ने संपत्ति का बँटवारा करना चाहा। उदारचेता हरिश्चंद्र ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया और संवत् १९२७ में यह बँटवारा हो गया। ठीक ही है—

यौवनं धन-संपत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्?

जान पड़ता है कि भारतेंदुजी की स्थिति पर इस घटना का कोई तात्कालिक प्रभाव नहीं पड़ा। हाँ, पीछे से उन्हें अर्थ-संकोच के कारण बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। यद्यपि उन्हें कई स्थानों से सहायता प्राप्त होती रहती थी, पर जो रुपये को पानी की तरह बहाता हो, उसे छोटे-मोटे कार्यों के

लिये दूसरों का मुखापेक्षी होना बिल्कुल स्वाभाविक होने पर भी कितना कष्टदायक होता है, और जिसकी आदतें बिगड़ते-बिगड़ते स्थिर स्वभाव का रूप धारण कर चुकी थीं उसे चाहे कहीं से कितनी ही सहायता क्यों न मिले, उसकी आवश्यकता की पूर्ति कहाँ तक हो सकती है! इन सब बातों से तथा 'सत्य-हरिश्चंद्र' और 'प्रेमजोगिनी' के आत्मोल्लेखों से यह सहज में अनुमान किया जा सकता है कि बँटवारा होने के पाँच वर्ष के भीतर ही उनकी आर्थिक अवस्था बहुत बिगड़ गई थी और उन्हें अर्थ-संकोच के कारण बहुत अधिक कष्ट होने लगा था।

इसी समय की एक और भी घटना है, जिसका उन पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। संवत् १९२७ में वे आनरेरी मजिस्ट्रेट चुने गए। उस समय गवर्मेंट की उन पर विशेष कृपा थी, पर पीछे अपने स्वतंत्र विचारों तथा देशोन्नति के भावों के कारण वे उसकी आँखों में खटकने लगे। इस स्थिति को स्वार्थी चाटुकारों ने अपने ईर्ष्या-द्वेष के भावों के चरितार्थ करने का अच्छा अवसर समझा और अपना कार्य आरंभ कर दिया। उनके विरुद्ध अफसरों के कान भरे जाने लगे और उनकी अच्छी से अच्छी बातें भी रँग-रँगाकर विरूप बनाई जाने लगीं। जान पड़ता है कि इन्हीं सब बातों से चिढ़कर संवत् १९३१ में उन्होंने आनरेरी मजिस्ट्रेटी से इस्तीफा दे दिया। संवत् १९३२ के लगभग उन्होंने 'कविवचन-सुधा' को दूसरे

के हाथों में सौंप दिया। बाबू राधाकृष्णदास का यह कहना कि कई कारणों से "वे गवर्मेंट के क्रोध-भाजन हुए, अपने समाज में निंदित हुए, और समय-समय पर नव्य समाज में भी बुरे बने, परंतु जो व्रत उन्होंने धारण किया उसे अंत तक नहीं छोड़ा, यहाँ तक कि 'कविवचन-सुधा' से अपना संबंध छोड़ने पर भी आजन्म यही व्रत रखा" कुछ विशेष अर्थ रखता है। क्या 'कविवचन-सुधा' का संबंध उन्होंने अपनी इच्छा से नहीं छोड़ा? क्या इसमें भी कोई भीतरी रहस्य है? आश्चर्य नहीं कि गवर्मेंट के दबाव में पड़कर या उसके क्रोध से शंकित होकर ही उन्होंने उससे अपना संबंध तोड़ा हो। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि इन कई घटनाओं का उन पर अवश्य प्रभाव पड़ा और इसी से विरक्त होकर उन्होंने 'सत्य-हरिश्चंद्र' तथा 'प्रेमजोगिनी' में, जो दोनों ग्रंथ संवत् १९३२ के लिखे हैं, ऊपर उद्धृत किए हुए क्षोभ-सूचक वाक्य लिख डाले। ये वाक्य उनके आंतरिक भावों के सूचक हैं और बिना किसी विशेष घटना के घटित हुए हृदय से ऐसे उद्गार निकल ही नहीं सकते। क्या यह भी संभव नहीं है कि गवर्मेंट को शांत करने के लिये जैसे उन्होंने 'कविवचन-सुधा' से संबंध छोड़ा, वैसे ही उसी उद्देश्य से 'विषस्य विषमौषधम्' भी लिखकर अंत में प्रशस्ति-वाक्य में यह कह डाला "अँगरेजन को राज ईस इत थिर करि थापै"? पर यह आनंद और संतोष की बात है कि उनकी यह मानसिक स्थिति,

ये आत्मग्लानि और आत्मक्षोभ के भाव बहुत दिनों तक नहीं टिक सके। 'चंद्रावली' नाटिका में, जो संवत् १९३३ में बनी, सूत्रधार से कुछ उन्होंने अपने संबंध में कहलाया है और जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उनमें आत्म-गौरव और आत्माभिमान के भाव पुनः उत्पन्न हो गए थे। उनके स्वभाव में पुनः दृढ़ता आ गई थी और वे अपने वास्तविक स्वरूप को पुनः समझ गए थे। इस संसार में आपदाओं में पड़कर कौन विचलित नहीं हो जाता! पर उन्नत आत्माएँ शीघ्र ही अपने आपको उस झोंके से सँभाल लेती हैं। यही दशा भारतेंदुजी की भी समझनी चाहिए।

यह सब कुछ कह चुकने पर भी एक बात रह जाती है। उन्होंने विशेष कर उचित आदर न पाने पर विरक्ति प्रकट की है; तो क्या इससे यह माना जाय कि वे आदर के लोलुप थे? राजा शिवप्रसाद से उनसे नहीं बनती थी। राजा साहब ने जो कुछ उन्नति की थी वह गवर्मेंट के प्रियपात्र बनने तथा उसकी सब प्रकार की सेवा करने से की थी। भारतेंदुजी इससे दूर थे। यद्यपि राजा शिवप्रसाद ने स्कूलों में हिंदी का प्रचार करने में स्तुत्य उद्योग किया था, पर साधारणतः उनका जीवन स्वार्थमय था। उन्हें देश की उतनी चिंता नहीं रहती थी। भारतेंदुजी का जीवन देश के लिये था। उनका जो कुछ था

भारतेंदु-उपाधि

सब देश के ही लिये था। इसलिये दोनों के सिद्धांतों में आकाश-पाताल का अंतर था। गवर्मेंट की कृपा से राजा साहब तो सितारे-हिंद बने, पर भारतेंदुजी उसके कोप-भाजन हुए। इस स्थिति में राजा साहब को चिढ़ाने तथा अनादर के भाव को दूर करने के लिये किसी ऐसे उद्योग की आवश्यकता थी जो सर्वसाधारण की ओर से हो और जिसमें गवर्मेंट का कोई हाथ न हो। मेरी समझ में इन्हीं भावों से प्रेरित होकर भारतेंदुजी के अनन्य भक्त और परम सुहृद पंडित रामशंकर व्यास ने २७ सितंबर सन् १८८० (संवत् १९३७) के 'सार सुधानिधि' पत्र में यह प्रस्ताव किया कि बाबू हरिश्चंद्रजी की सेवाओं के उपलक्ष में उन्हें "भारतेंदु" की उपाधि दी जाय। यह "भारतेंदु" शब्द ही इस बात को सिद्ध करने के लियं यथेष्ट है कि इस उपाधि का आयोजन राजा साहब की प्रतिद्वंद्विता के कारण हुआ था। वे तो केवल 'हिंद के सितारे' हुए और इन्हें भारतवर्ष का इंदु बनाने का प्रयास किया गया। पंडित रामशंकर व्यास का इस प्रस्ताव को लेकर अग्रसर होना भी इस विचार की पुष्टि करता है। यह तो ज्ञात नहीं कि यह उपज किसके मस्तिष्क से हुई थी, पर इसमें संदेह नहीं कि इस उपाधि का चुनना किसी बड़ी ही विचक्षण बुद्धिवाले का काम था और इसके लिये उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। अस्तु, इस प्रस्ताव का समर्थन चारों ओर से हुआ और हिंदी-समाचार-

पत्रों ने भी इसे सहर्ष स्वीकार किया। इसी समय से सब लोग इनके नाम के साथ "भारतेंदु" शब्द का प्रयोग करने लगे। आगे चलकर यह उपाधि इतनी सर्वमान्य हुई कि गवर्मेंट ने भी इसका प्रयोग किया। चाहे किन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर इस उपाधि के प्राप्त करने या कराने का आयोजन किया गया हो, पर किसी को यह मानने में किसी प्रकार का संकोच नहीं हो सकता कि बाबू हरिश्चंद्रजी इसके सर्वथा उपयुक्त पात्र थे।

चंद्रास्त

इस उपाधि के मिलने के ४ वर्ष के अनंतर भारतेंदुजी, ३५ वर्ष की अवस्था में, इस धराधाम को छोड़कर ६ जनवरी सन् १८८५ को परलोकवासी हुए। बाबू राधाकृष्णदास ने इस घटना का वर्णन बड़े शोकपूर्ण शब्दों में किया है—

"धीरे-धीरे सन् १८८४ समाप्त हुआ। सन् १८८५ आरंभ हुआ। दूसरी जनवरी को एकाएक भयानक ज्वर आया। ज्वर आठ पहर भोगकर उतरा कि पसली में दर्द उठा। इस दर्द में डाक्तर लोग जीवन का संशय करते थे, परंतु राम-राम करते यह दर्द दूर हुआ। फिर आशा हुई। तीसरे दिन खाँसी बड़े जोर से आरंभ हुई, बलगम का बड़ा वेग रहा, कफ में रुधिर दिखाई पड़ा, बड़ा कष्ट हुआ, परंतु इससे भी छुटकारा मिला। तारीख ६ जनवरी को सबेरे शरीर बहुत

स्वस्थ रहा। जनाने से मज़दूरिन खबर पूछने आई, आपने हँसकर कहा 'हमारे जीवन-नाटक का प्रोग्राम नित्य नया-नया छप रहा है, पहले दिन ज्वर की, दूसरे दिन दर्द की, तीसरे दिन खाँसी की सीन हो चुकी, देखें लास्ट लाइट कब होती है।' उसी दिन दोपहर को एक दस्त आया, काला मल गिरा, उसी समय से कुछ श्वास बढ़ा। उसी समय से उन्होंने संसार की ओर से मन को फेरा, घर का कोई सामने आता तो मुँह फेर लेते। दो बजे दिन को अपने भ्रातुष्पुत्र कृष्णचंद्र को बुलाया; कहा, अच्छे कपड़े पहनकर आओ। कपड़े पहनकर आने पर कहा 'नहीं, इससे भी अच्छे कपड़े पहन आओ।' तुरंत आज्ञा का पालन हुआ। आप आरामकुर्सी पर लेटे और बच्चे को गोद में बैठाकर अंगूर खिलाए। फिर दोनों हाथ उसके सिर पर रख कुछ देर तक ध्यानावस्थित रहे और तब उसे विदा कर कहा 'जाओ खेलो।' इसके पीछे सांसारिक माया से कुछ वास्ता न रखा। श्वास बढ़ता ही गया, बेचैनी से नींद आने की इच्छा वैद्य-डाक्टरों से प्रकट करते रहे। धीरे-धीरे रात के नौ बज गए, समय आन पहुँचा, एकाएक पुकार उठे 'श्रीकृष्ण राधाकृष्ण, हे राम, आते हैं मुख दिखलाओ'। कंठ कुछ रुकने लगा, कुछ दोहा सा कहा, परंतु स्पष्ट समझाई न दिया, केवल इतना समझ में आया—'श्रीकृष्ण...सहित स्वामिनी'। 'बस गर्दन झुक गई, पौने दस बजे इस भारत का मुखोज्ज्वलकारी भारतेंदु अस्त हो गया।"

भारतेंदुजी का अंतिम पद यह है—

(डंका कूच का बज रहा मुसाफिर जागो रे भाई।
देखो लाद चले पंथी सब तुम क्यों रहे भुलाई॥
जब चलना ही निहचै है तो लै किन माल लदाई।
हरीचंद हरिपद भजु नहिँ तौ रहि जैहौ मुँह बाई॥)

मृत्यु के कोई डेढ़ दो महीना पहले से वे पद्माकर का यह कवित्त प्रायः नित्य पढ़ा करते और बहुत देर तक रोते रह जाते थे—

व्याध हूँ ते बिहद, असाधु हौं अजामिल लौं,
ग्राह ते गुनाही, कहौ तिनमें गिनाओगे।
स्योरी हौं, न सूद्र हौं, न केवट कहूँ को त्यों,
न गौतमी तिया हौं, जापै पग धारि आओगे।
राम सों कहत पदमाकर पुकारि तुम,
मेरे महा पापन को पार हूँ न पाओगे।
झूठे ही कलंक सुनि सीता ऐसी सती तजी,
हौं तो साँचो हूँ कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे॥

भारतेंदुजी की संतति केवल एक कन्या हुई जिसके पुत्र-पौत्रादि हैं। छोटे भाई गोकुलचंदजी के दो पुत्र कृष्णचंद्र और व्रजचंद्र हुए। ये दोनों भाई भी छोटी ही अवस्था में परलोकगामी हुए। कृष्णचंद्रजी के तीन पुत्र और चार कन्याएँ

तथा व्रजचंद्रजी के दो पुत्र और एक कन्या जीवित हैं। ईश्वर इन्हें दीर्घायु करके अपने वंश की उज्ज्वल कीर्ति को और भी उज्ज्वल करने में समर्थ करे। कुछ वर्ष हुए, कृष्णचंद्रजी के द्वितीय पुत्र लक्ष्मीचंद को हमने अभिमन्यु का अभिनय करते देखा था। वह अभिनय इतना उत्तम हुआ था कि उसे देखकर हमें सहसा भारतेंदुजी का स्मरण हो आया और मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि जो हिंदी के नाट्य साहित्य का जन्मदाता तथा उसकी उन्नति करनेवाला हो उसका पौत्र यदि ऐसा अच्छा अभिनय कर सके तो यह सर्वथा उपयुक्त ही है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

उपसंहार

भारतेंदुजी ने ३४ वर्ष और ४ महीने की आयु पाई और १६ वर्ष की आयु में उनके सार्वजनिक जीवन का आरंभ हुआ। इस हिसाब से वे लगभग १८ वर्ष तक अपने देश की सेवा तथा अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये कार्य कर सके। इस अल्प काल ही में उन्होंने जो कुछ कर दिखाया वह उनकी स्मृति को सदा बनाए रखने के लिये आवश्यकता से अधिक है। उत्तर भारत पाश्चात्य सभ्यता और पाश्चात्य शिक्षा के प्रवाह में बह चला था, उसमें यह इतना निमग्न हो चला था कि उसे अपने वास्तविक रूप का ज्ञान ही न रह गया था। इस प्रवाह में उसका पुराना साहित्य पीछे छूट गया था और एक प्रकार से देश की साधारण स्थिति से उसका संपर्क कम होता जाता था तथा

उसकी भाषा नए-नए भावों और विचारों को प्रकट करने में असमर्थ हो रही थी। ऐसी स्थिति में साहित्य के प्रवाह को देश-काल के अनुकूल बहाकर तथा भाषा को नया रूप देकर अपने देश की, अपने साहित्य की और अपनी भाषा की उन्होंने रक्षा कर ली। यद्यपि भारतेंदुजी की साहित्यिक सेवा अमूल्य थी पर उनका महत्त्व उसके कारण इतना नहीं है जितना हिंदी भाषा को संजीवनी शक्ति देकर उसे देश-काल के अनुकूल सामर्थ्य-युक्त बनाने और देश-हितैषिता के भावों को अपने देशवासियों के हृदयों में उत्पन्न करने में था। लल्लूजीलाल ने जिस भाषा को नया रूप दिया, लक्ष्मणसिंह ने जिसे सुधारा, उसको परिमार्जित और सुंदर साँचे में ढालने का श्रेय भारतेंदुजी को प्राप्त है। उनके समय में भी इस बात का झगड़ा चल रहा था कि हिंदी उर्दू-मिश्रित हो या नहीं। राजा शिवप्रसादजी उर्दू-मिश्रित भाषा के पक्षपाती और उर्दू शैली के पृष्ठपोषक थे। भारतेंदुजी ने इसके विरुद्ध शुद्ध हिंदी का पक्ष लिया और उसको नए साँचे में ढालकर एक नवीन शैली की स्थापना की। उनकी भाषा में माधुर्य गुण की प्रचुरता है तथा वह प्रौढ़ता और परिमार्जितता से संपन्न है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि 'हरिश्चंद्र मैगजीन' के उदय के साथ संवत् १९३० में हिंदी नए साँचे में ढली।

भारतेंदुजी के जीवन का उद्देश्य अपने देश की उन्नति के मार्ग को साफ-सुथरा और लंबा-चौड़ा बनाना था। उन्होंने

इसके काँटों और कंकड़ों को दूर किया, उसके दोनों ओर सुंदर-सुंदर क्यारियाँ बनाकर उनमें मनोरम फल-फूलों के वृक्ष लगाए। इस प्रकार उसे ऐसा सुरम्य बना दिया कि भारत-वासी उस पर आनंद-पूर्वक चलकर अपनी उन्नति के इष्ट स्थान पर पहुँच सकें। यद्यपि भारतेंदुजी अपने लगाए हुए वृक्षों को फल-फूलों से लदा न देख सके, फिर भी हमको यह कहने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता कि वे अपने जीवन के उद्देश्य में पूर्णतया सफल हुए। हिंदी भाषा और साहित्य की जो उन्नति आज देख पड़ रही है उसके मूल कारण भार-तेंदुजी हैं और उन्हें ही इस उन्नति के बीज को आरोपित करने का श्रेय प्राप्त है। यदि वे उसकी भावी उन्नति का मार्ग परिष्कृत न करते, उसे सुरम्य न बनाते, तो अब तक उसका अस्तित्व ही लुप्त हो जाता और साथ ही देश के रूप-रंग में ऐसा परिवर्त्तन हो जाता कि वह कठिनता से पहचाना जा सकता। उन्होंने अपने अध्यवसाय से, अपने स्वार्थत्याग से, अपनी प्रतिभा से, अपनी देशहितैषिता से अपने सर्वस्व को आहुति देकर उसे स्थायी रूप दे दिया और उसे अंधकूप में गिरने से बचा लिया। इस भारतीय आकाश के चंद्रमा को अस्त हुए आज ४२ वर्ष हो चुके पर उसकी यश-चंद्रिका ज्यों की त्यों चारों ओर अब तक छिटक रही है और जब तक इस भारत भूमि में हिंदी भाषा, हिंदी साहित्य और हिंदी-भाषा-भाषियों का नाम रहेगा तब तक यह चंद्रिका भी नित्य नई

उज्ज्वलता से छिटककर भारतीय इतिहास को उज्ज्वल और हिंदीसाहित्य-सेवियों के मार्ग को प्रकाशित कर उन्हें उत्साहित करती रहेगी—

जबलौं भारतभूमि मध्य आरजकुल वासा।
जबलौं आरज धर्म माहिँ आरज विश्वासा।
जबलौं गुन आगरी नागरी आरज बानी।
जबलौं आरजबानी के आरज अभिमानी।
तबलौं यह तुम्हरो नाम थिर चिरजीवी रहिहै अटल।
नित चंद सूर सम सुमिरिहैं, हरिचंदहु सज्जन सकल॥

[श्रीधर पाठक]

विद्यासुंदर

नाटक

संवत् १९२५

द्वितीय आवृत्ति का उपक्रम

विद्यासुंदर की कथा बंग देश में अति प्रसिद्ध है। कहते हैं कि चौर कवि जो संस्कृत में चौरपंचाशिका का कवि है यही सुंदर है। कोई इस चौरपंचाशिका को वररुचि की बनाई मानते हैं। जो कुछ हो, विद्यावती की आख्यायिका कामूल सूत्र वही चौरपंचाशिका है। प्रसिद्ध कवि भारतचंद्र राय ने इस उपाख्यान को बंगभाषा में काव्य स्वरूप में निर्माण किया है और उसकी कविता ऐसी उत्तम है कि बंग देश में आबाल वृद्ध वनिता सब उसको जानते हैं। महाराज यतींद्रमोहन ठाकुर ने उसी काव्य का अवलंबन करके जो विद्यासुंदर नाटक बनाया था उसी की छाया लेकर आज पंद्रह बरस हुए यह हिंदी भाषा में निर्मित हुआ है। विशुद्ध हिंदी भाषा के नाटकों के इतिहास में यह चौथा नाटक है। निवाज का शकुंतला या ब्रजवासीदास का प्रबोधचंद्रोदय नाटक काव्य नहीं है। इससे हिंदी भाषा में नाटकों की गणना की जाय तो महाराज रघुराजसिंह का आनंदरघुनंदन और मेरे पिता का नहुष नाटक यही दो प्राचीन ग्रंथ भाषा में वास्तविक नाटकाकार मिलते हैं, यों नाम को तो देवमायाप्रपंच, समय-सार इत्यादि कई भाषा ग्रंथों के पीछे नाटक शब्द लगा दिया

है। इनके पीछे शकुंतला का अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह ने किया है। यदि पूर्वोक्त दोनों ग्रंथों को ब्रजभाषा मिश्र होने के कारण हिंदी न मानो तो विद्यासुंदर नाटक गुणों में अद्वितीय न होने पर भी द्वितीय है। पश्चिमोत्तर देश की मान्य गवर्मेंट ने इसकी एक सौ पुस्तक लेकर इसका मान बढ़ाया है। पूर्व आवृत्ति का अत्यंताभाव ही इसकी पुनरावृत्ति का कारण है।

यह दूसरी आवृत्ति उसी को समर्पित है जिससे इस ग्रंथ से त्रिपथगासा घनिष्ठ संबंध है। प्रथम विद्या मानो उसकी द्वितीया संतति-संपत्ति है, द्वितीय एक देशी कथा-भाग और तृतीय हमारा संबंध।

काशी। चैत्र १९३९। हरिश्चंद्र।

विद्यासुंदर

प्रथम अंक

प्रथम गर्भांक

स्थान—वर्द्धमान नगर का राजभवन

(राजा और मंत्री का प्रवेश)

राजा—(चिंतासहित) यह तो बड़ा आश्चर्य है कि इतने राजपुत्र आए पर उनमें मनुष्य एक भी नहीं आया। इन सबों का केवल राजवंश में जन्म तो है पर वास्तव में ये पशु हैं। जो मैं ऐसा जानता तो अपनी कन्या को ऐसी कड़ी प्रतिज्ञा न करने देता, पर अब तो उसे मिटा भी नहीं सकता। अब निश्चय हुआ कि हमारी विद्या की विद्या केवल दोषकारिणी हो गई। हा! क्यों मंत्री, तुम कोई उपाय सोच सकते हो?

मंत्री—महाराज, आप जो आज्ञा करते हैं सो सच है। लक्ष्मी और सरस्वती दोनों एक स्थान पर नहीं रहतीं, इससे ऐसा भाग्यशील वर मिलना अत्यंत कठिन है। इन दिनों मैंने

सुना है कि कांचीपुर के राजा गुणसिंधु का पुत्र सुंदर, युवराज, अत्यंत सुंदर, अनेक शास्त्रों में शिक्षित और बड़ा कवि है और उसने अनेक पंडितों को शास्त्रार्थ में जीता है।

राजा—क्या गुणसिंधु राजा को ऐसा गुणवान पुत्र हो और उसका समाचार हम अब तक न जानें?

मंत्री—महाराज, मैंने निश्चय सुना है कि वह अपूर्व सुंदर और अद्वितीय पंडित है। इससे मैं अनुमान करता हूँ कि जिसने संसार की सब विद्या पाई है वही हमारी राजकुमारी विद्या को भी पावेगा। यद्यपि ईश्वर की इच्छा और होनहार अत्यंत प्रबल है तथापि हमको निश्चित हो के बैठ रहना उचित नहीं है। इस कहने का अभिप्राय यह है कि आप कांचीपुर में किसी को समाचार लेने के हेतु भेजिए।

राजा—ठीक है, तो अब विलंब क्यों करते हो? शीघ्र ही वहाँ किसी को भेजना चाहिए। (द्वार की ओर देखकर) कोई है? गंगा भाट को अभी बुला लाओ।

(प्रतिहारी आकर)

प्रतिहारी—जो आज्ञा, महाराज। (जाता है)

राजा—(खेदपूर्वक) विद्यावती का यह केवल अदृष्ट है कि अब तक कहीं विवाह नहीं ठहरता। देखें क्या होता है?

मंत्री—महाराज, आज तक कोई कन्या कारी नहीं रही। सीता और द्रौपदी इत्यादि जिनके बड़े कठिन प्रण थे

उनका तो विवाह हो ही गया। जब ईश्वर कन्या उत्पन्न करता है तो उसका वर भी उसी के साथ उत्पन्न कर देता है। अतएव आपको सोच करना ही न चाहिए।

(प्रतिहारी के सहित गंगा भाट का प्रवेश)

गंगा भाट—

वीरसिंह महराज को, दिन दिन ही जय होय।
तेज बुद्धि बल नित बढ़ै, शत्रु रहे नहिं कोय॥

राजा—कविराज, अब तक तुमने अनेक देशों में भ्रमण किया और अनेक राजपुत्रों को यहाँ ले आए, परंतु उनमें सुपात्र एक भी न आया। अब हम सुनते हैं कि कांचीपुर के राजा गुणसिंधु के पुत्र सुंदर ने अनेक विद्या उपार्जन की है, इससे हम सोचते हैं कि वही हमारी विद्या के योग्य भी होगा, इससे तुम वहाँ शीघ्र गमन करो और राजपुत्र को अपने संग ही लेते आओ तो अति उत्तम हो जिसमें विलंब न हो, क्योंकि राजकन्या विवाह-योग्य हो चुकी है।

भाट—महाराज, यह कौन बड़ी बात है, मैं अभी जाता हूँ।

[जाता है

राजा—(मंत्री से) गुणसिंधु राजा को एक पत्र भी देना उचित है। तुम यह सब वृत्तांत इस रीति से लिख दो कि जिसमें हमारा सब कार्य सिद्ध हो जाय और गंगा भाट की यात्रा की सब वस्तु शीघ्र ही सिद्ध कर दो जिसमें

उसे विलंब न हो। अब बेला ढल चली, हम भी रनवास को जाते हैं।

मंत्री—जो आज्ञा।

(जवनिका गिरती है)

द्वितीय गर्भांक

स्थान—वर्द्धमान नगर का एक उद्यान

(सुंदर आता है)

सुंदर—(स्वगत) वर्द्धमान की शोभा का वर्णन मैंने जैसा सुना था उससे कहीं बढ़कर पाया। आहा! कैसे सुंदर-सुंदर घर बने हैं, कैसी चौड़ी-चौड़ी सुंदर स्वच्छ सड़कें हैं, वाणिज्य की कैसी वृद्धि हो रही है, दुकानें अनेक स्थान की अनेक प्रकार की सब वस्तुओं से पूर्ण हो रही हैं, सब लोग अपने-अपने काम में लगे हैं और बहुतेरे लोग नदी के प्रवाह की भाँति इधर-उधर दौड़ रहे हैं, स्थान-स्थान पर पहरेदार लोग सावधानी से पहरा दे रहे हैं, प्रजा लोग सुख से अपना कालक्षेप करते हैं। निश्चय यहाँ का राजा बड़ा भाग्यमान है। यद्यपि हमारे पिता की राजधानी भी अत्यंत अपूर्व्व है परंतु इस स्थान सा तो मुझे पृथ्वी में कोई स्थान ही नहीं दिखाई देता। इसका वर्द्धमान नाम बहुत ठीक है, क्योंकि इसमें रूप और धन

दोनों की वृद्धि है। (हँसकर) परंतु हमारा अभिलाष भी वर्द्धमान हो तो हम जानें। (चारों ओर देखकर) वाह! यह उद्यान भी कैसा मनोहर है, इसके सब वृक्ष कैसे फले-फूले हैं और यह सरोवर कैसे निर्मल जल से भरा हुआ है, मानो सब वृक्षों ने अपने अनेक रंग के फूलों की शोभा देखने को इस उद्यान के बीच में एक सुंदर आरसी लगा दी है। पक्षी भी कैसे सुंदर स्वर से बोल रहे हैं, मानो पुकारते हैं कि इससे सुंदर संसार में और कोई उद्यान नहीं है। आहा! कैसा मनोहर स्थान है! हम इस बकुल के कुंज में थोड़ा विश्राम करेंगे। (बैठता है) अहा! शरीर कैसा शीतल हो गया। निश्चय यह पौन (साँस लेकर) हमारी प्राणप्यारी त्रिभुवनमोहिनी विद्या का अंग स्पर्श करके आता है, नहीं तो ऐसी मधुर सुगंध इसमें न होती। (कुछ सोचकर) यह तो सब ठीक है, परंतु जिस काम के हेतु मैं यहाँ आया हूँ उसका तो कुछ सोच ही नहीं किया! यहाँ मैं किसी को जानता भी नहीं कि उससे कुछ उपाय पूछूँ, क्योंकि मैं तो यहाँ छिपके आया हूँ। (चिंता-नाट्य करता है)

(एक चौकीदार आता है)

चौकीदार—(स्वगत) ई के हौ भाई? कोई परदेसी जान पड़ला, हमहन के कुछ घूस-फूस देई की नाहीं, भला देखीं तो सही। (प्रकाश) कौन है?

सुंदर—हम एक परदेशी हैं।

चौ०—सो क्या हमें नहीं सूझता, पर कहाँ रहते हो ?

सुं०—हमारा घर दक्षिण है।

चौ०—दक्षिण तो जमराज के घर तक सभी है। तुम किस दक्षिण में रहते हो ?

सुं०—सो नहीं, हमारा घर इतनी दूर नहीं है।

चौ०—तो फिर कहते क्यों नहीं कि तुम्हारा घर कहाँ है ?

सुं०—कांचीपुर।

चौ०—काशी कांची जो सुनते हैं सोई कांची ?

सुं०—काशी दूसरा नगर है, कांची दूसरा, काशी कांची एक ही कैसी ?

चौ०—तो फिर यहाँ क्यों आए हो ?

सुं०—यहाँ विद्याप्राप्ति के अर्थ आए हैं।

चौ०—कौन विद्या ?

सुं०—जो विद्या सबमें प्रधान है।

चौ०—सबमें प्रधान विद्या ? सबमें प्रधान विद्या तो चोरी है।

सुं०—(मुसक्याकर) तुम्हारे यहाँ यही विद्या प्रधान होगी।

चौ०—(सोंटा उठाकर पैंतरे से चलता हुआ) हाँ रे यही तो हमारा काम है कि जो इस विद्या के पंडित हों उन्हें हम वैसा पुरस्कार दें।

सुं०—क्या पुरस्कार देता है ?

चौ०—इस विद्या के पुरस्कार के हेतु एक यंत्र बना है जिसका नाम, काठ तुडुम, हर, और चोरशत्रु है।

सुं०—कैसा है?

चौ०—दो बड़े-बड़े काठ एकत्र करके चोर भाई का पाँव उसके भीतर डाल देते हैं। (सुंदर का दाहिना पैर बल से खींचकर अपने दोनों जाँघ में रखकर दबाता है) अब जब तक हमारी पूजा न दोगे तब तक न छूटोगे।

सुं०—(चौकीदार को बल-पूर्वक लात मारता है और चौकीदार पृथ्वी पर गिरता है) लो तुम्हारी यही पूजा है।

चौ०—(उठकर) हाँ-हाँ बचा, अभी तुमको दूसरा पुरस्कार नहीं दिया। चार-पाँच कोड़े तुम्हारी पीठ पर लगें तब जानो।

सुं०—बस अब बहुत भई, मुँह सम्हाल के बोलो, नहीं तो एक मुक्का ऐसा मारूँगा कि पृथ्वी पर लोटने लगोगे और दक्षिण दिशा में यमराज के घर की ओर गमन करोगे। जिसके हेतु तुम इतना उपद्रव करते हो सो मैं जानता हूँ, परंतु धमकी दिखाने से तो मैं एक कौड़ी भी न दूँगा और तुमको भी परदेशियों से झगड़ा करना उचित नहीं है। (कुछ देता है) इसे लो और अपने घर चल दो।

चौ०—(आनंद से लेकर) नहीं-नहीं, हमने आपको जाना नहीं, निस्संदेह आप बड़े योग्य पुरुष हैं, हम आशीर्वाद देते हैं कि आप अनेक विद्या लाभ करें, राजकुमारी विद्या भी आपको मिले। [हँसता हुआ जाता है

सुं०—आज बहुत बचे, नहीं तो यह दुष्ट बहुत कुछ दुख देता। जिस काम को चलो उसमें पहिले अनेक प्रकार के विघ्न होते हैं। देखें अब क्या होता है। (पेड़ के नीचे बैठ जाता है)

(हीरा मालिन आती है)

ही० मा०—(आश्चर्य से) अरे, यह कौन है? हाय-हाय, ऐसा सुंदर रूप तो न कभी आँखों देखा, न कानों सुना, इसकी दोनों हाथ से बलैया लेने को जी चाहता है। लोग सच कहते हैं कि चंद्रमा को सिंगार न चाहिए। हमको तो जान पड़ता है कि चंद्रमा ही पृथ्वी पर उतर के बैठा है। क्या कामदेव इस रूप की बराबरी कर सकता है? ऐसी कौन स्त्री है जो इसको देख के धीरज धरेगी। हम सोचते हैं कि यह कोई परदेशी है, क्योंकि इस नगर में ऐसा कोई नहीं है जिसको हीरा मालिन न जानती हो। हाय-हाय इसके मा-बाप का कलेजा पत्थर का है कि ऐसे सुकुमार सुंदर पुरुष को घर से निकलने दिया। निश्चय इसको स्त्री नहीं है, नहीं तो ऐसे पति को कभी न छोड़ती। जो कुछ हो, एक बेर इससे पूछना तो अवश्य चाहिए। (पास जाकर, हँसती हुई) क्यों जी तुम कौन हो? हमको तो कोई परदेशी जान पड़ते हो।

सुं०—(स्वगत) अब यह कौन आई? (प्रकाश) हमारा घर दक्षिण है और विद्या को खोजते-खोजते यहाँ तक आए हैं।

ही मा०—उतरे कहाँ हो?

सुं०—अभी कहाँ उतरे हैं, क्योंकि हम इस नगर में किसी को नहीं जानते। इसी हेतु अब तक उतरने का निश्चय नहीं किया और इसी वृक्ष की ठंढी छाया में विश्राम करते हैं और सोचते हैं कि अब कौन उपाय करें। तुम कौन हो?

ही० मा०—हम राजा के यहाँ की मालिन हैं, हमारा नाम हीरा है, हमारा घर यहाँ से बहुत पास है। भैया, हमारा दुख कुछ मत पूछो। (पास बैठ जाती है) हमारे दोनों कुल में कोई नहीं है, यमराज सबको तो ले गए पर न जानें हमको क्यों भूल गए। (लंबी साँस लेती है) पर रानी और राजकुमारी हम पर बड़ी दया रखती हैं और उन्हीं के पास जाकर हम अपना जी बहलाती हैं। अभी तो आपने अपने रहने का निश्चय कहीं नहीं किया है। (रुककर) हमें कहने में लाज लगती है, क्योंकि हमारे यहाँ बड़ी-बड़ी अटारी तो हैं नहीं, केवल एक झोपड़ी है, जो आप दु:खिनी जानकर हमसे बचना न चाहिए, तो चलिए, हम सेवा में सब भाँति लगी रहेंगी।

सुं०—(स्वगत) तो इसमें हमारी क्या हानि? जो रहने का ठिकाना होगा तो काम का भी ठिकाना हो रहेगा, क्योंकि यह रात-दिन रनिवास में आती-जाती है इससे वहाँ के सब समाचार मिलते रहेंगे और ऐसे कामों में जहाँ अच्छा बिचवई मिला तहाँ उसके सिद्ध होने में विलंब नहीं होता। (प्रकाश) अब इससे बढ़कर हमारा

क्या उपकार होगा कि इस परदेश में हमको आपसे आप रहने को घर मिले। तुमने हम पर बड़ी कृपा की, आज से तुम हमारी मौसी और हम तुम्हारे भांजे हुए।

ही० मा०—यह हमारे भाग्य की बात है कि आप ऐसा कहते हो और यों तो आप हमारे बाप के भी अन्नदाता हो। दया करके जो चाहो पुकारो, तो हम आज से तुमको बेटा कहेंगे। (स्वगत) हाय-हाय! इसका मुँह कैसा सूख गया है। (प्रकाश) तो अब बेटा अपने घर चलो, हमारा जो कुछ है सो सब तुम्हारा है।

सुं०—हाँ चलो।

(जवनिका गिरती है)

तृतीय गर्भांक

स्थान—हीरा मालिन का घर

(सुंदर और हीरा मालिन आती हैं)

सुं०—रनिवास का समाचार मैंने सब सुना। तो मौसी, राजा को क्या केवल एक ही कन्या है?

ही० मा०—हाँ बेटा, केवल एक ही कन्या है, पर वह कुछ सामान्य कन्या नहीं है, मानो कोई देवता की कन्या शाप से पृथ्वी पर जनमी है, और राजा-रानी दोनों उसको वैसा ही प्यार भी करते हैं। घर में सबसे विशेष उनको

वही प्यारी है, यहाँ तक कि उसको प्राण से भी अधिक समझते हैं।

सुं०—भला मौसी, वह राजकन्या कैसी है ?

हो० मा०—बेटा, उसकी कथा कोई एक मुँह से नहीं कह सकता। (गाती है)

(राग सोरठ तिताला)

कहो वह कैसे बरनैं रूप ?
नख सिख सों सब ही विधि सुंदर सोभा अतिहि अनूप ॥ १ ॥
नैन धरे को कौन सुफल जो नैन न देख्यौ वाहि।
कोटि चंदहू लाज करत हैं तनिक विलोकत जाहि ॥ २ ॥
घुँघुरारे सटकारे कारे बिथुरे सुथरे केस।
एड़ी लौं लाँबे अति सोभित नव जलधर के भेस ॥ ३ ॥
लचकीली कटि अतिहि पातरी चालत झोंका खाय।
अति सुकुमार सकल अँग वाके कवि सों नहिं कहि जाय ॥४॥
दिन दिन जोबन बढ़त उमँग अति पूरि रहे सब गात।
लाज भरी चितवत चित चोरति जब मुसुकाइ जँभात ॥५॥
तरुनाई अँगराई अँग अँग नैन रहत ललचाय।
मनु जग जुवजन जीतन एकहि बिधिना रची बनाय ॥६॥

बेटा, हम उसका क्या वर्णन करें, क्योंकि वह शोभा देखतेही बन आती है, कुछ कही नहीं जाती। उसकी प्रतिज्ञा तो तुमने सुनी ही होगी ? अब अधिक क्या कहें ?

सुं०—हाँ मौसी, यह सब बात तो हम जानते हैं, पर हम चाहते हैं कि एक बेर राजसभा में जाकर विद्या की विद्या की परीक्षा करें। जो जीत गए तो सब काम सिद्ध भया और जो हार गए तो कुछ लाज नहीं, क्योंकि हमें इस नगर में कोई पहिचानता नहीं। भला एक दिन मौसी हमारे हाथ की गूँथी माला तू वहाँ ले जा सकती है?

ही० मा०—(हँसकर) वाह बेटा, तुम क्या माला बनाना भी जानते हो? तुम लोगों का तो यह काम नहीं है। क्या माला गूँथकर राजकन्या के गले का हार हुआ चाहते हो?

सुं०—नहीं मौसी, हम केवल एक प्रकार की माला गूँथना जानते हैं, जिसे तुम देख लेना, जो अच्छी बने तो राज-कन्या के पास ले जाना।

ही० मा०—(हँसकर) अच्छा, कल तुम माला गूँथना। देखें कैसी बनती है। अब रात बहुत गई, उठो और कुछ भोजन करके सो रहो।

(जवनिका गिरती है)

चतुर्थ गर्भांक

स्थान—विद्या का मंदिर

(विद्या बैठी हुई है। डाली हाथ में लिए हीरा मालिन आती है।)

ही० मा०—(हँसकर) राजकुमारी कहाँ है? (सामने देखकर) अहा यहाँ बैठी है। (पास जाकर) आज मुझको इस माला के गूँथने में बड़ी देर लगी, इससे मैं दौड़ी आती हूँ। यह माला लीजिए और आज का अपराध क्षमा कीजिए।

विद्या—चल बहुत बातें न बना। जो रात भर चैन करेगी तो सबेरे जलदी कैसे आ सकेगी, तेरा शरीर बूढ़ा हो गया है पर चित्त अभी बारही बरस का है। इतना दिन आया अब तक मैंने पूजा नहीं की, पर तुझे क्या? तू तो अपने रंग में रँग रही है, मेरी पूजा हो या न हो।

ही० मा०—वाह वाह ! बाल पके, दाँत टूटे, पर अभी हम बारही बरस की बनी हैं। आप धन्य हैं, हमने तो आज बड़े परिश्रम से माला गूँथी कि राजकुमारी उसको देखकर अत्यंत प्रसन्न होगी, उसके बदले आपने हमको गाली दी, सच है अभागे को कहीं भी सुख नहीं है। अब हमने अपना कान पकड़ा। अब की बार क्षमा कीजिए, ऐसा अपराध फिर कभी न होगा। यह माला लीजिए।

वि०—(माला हाथ में लेती है) तभी! आज तो माला बड़ी सुंदर है (पत्ते की पुड़िया में फूल का धनुष-बाण देखकर) क्यों रे, इसमें यह फूल के धनुषबाण कहाँ से आए, क्या तू हमसे ठिठोली करती है। सच बतला यह माला किसने बनाई है?

ही० मा०—मेरे बिना कौन बनावेगा?

वि०—नहीं नहीं, तू तो नित्य ही बनाती थी, पर ऐसी माला तो किसी दिन नहीं बनी, आज निश्चय किसी दूसरे ने बनाई है।

ही० मा०—मैं तो एक बेर कह चुकी कि हमारे घर में दस-बीस देवर जेठ तो बैठे नहीं हैं कि बना देंगे। (आकाश की ओर देखकर) अब साँझ होती है, हमको आज्ञा दो।

वि०—वाह वाह! आज तो आप मारे अभिमान के फूली जाती हैं, ऐसा वर पर कौन बैठा है जिसके हेतु इतनी घबड़ाती है। बैठ, तुझे मेरी सौगंद है। बता यह माला किसने बनाई है? (मालिन का अँचरा पकड़ के खींचती है)

ही० मा०—नहीं भाई नहीं, मैं कुछ न कहूँगी। जड़ काट के पल्लव सींचने से क्या होगा, बैठे-बैठाए दुख कौन मोल ले, क्योंकि प्रीति करनी तो सहज है, पर निबाहना कठिन है, इसी हेतु इससे दूर ही रहना उचित है।

वि०—वाह वाह! तू बड़ा हठ करती है, एक छोटी सी बात मैंने पूछी सो नहीं बताती। क्या मुझसे भी छिपाने की कोई बात है जो नहीं बतलाती?

ही० मा०—मैं तो तुम्हारे लिये प्राण देती हूँ और भगवान से नित्त मनाती हूँ कि हमारी राजकुमारी को सुंदर वर मिले, जिसे देख-देख के मैं अपनी आँख ठंढी करूँ, और आप उसके बदले मुझ पर क्रोध करती हो। इसी के जतन में तो मैं रात-दिन लगी रहती हूँ।

वि०—तो खुलकर क्यों नहीं कहती? आधी बात कहती है आधी नहीं कहती, व्यर्थ देर करती है।

ही० मा०—सुनिए, दक्षिण देश के कांचीपुर के गुणसिंधु राजा का नाम आपने सुना ही होगा, उसका पुत्र सुंदर जिसे ले आने के हेतु राजा ने गंगा भाट को भेजा था, यहाँ आपसे आप आया है।

वि०—(घबड़ाकर) कहां, कहाँ? (फिर कुछ लज्जित होकर) नहीं, क्या सचमुच यहां आया है?

ही० मा०—(हँसकर) मैं उसको बड़े जतन से लाई हूँ क्योंकि मैं सर्व्वदा खोजा करती थी कि मेरी बेटी को दूल्हा चाँद का टुकड़ा मिले तो मैं सुखी होऊँ, सो मैंने कहीं से खोजकर उसे अपने घर में रखा है, पर यहां तो वही दशा है "जाके हित चोरी करो सोइ बनावै चोर"।

वि०—तो फिर वे छिप के क्यों आए हैं?

ही० मा०—आपकी प्रतिज्ञा तो संसार में सब पर विदित ही है, सो प्रत्यक्ष वाद करने में जो कोई हारे तो प्रेम भंग होय और परस्पर संकोच लगे इस हेतु छिप के आए हैं।

वि०—उनका रूप कैसा है ?

ही० मा०—उनका रूप वर्णन के बाहर है। (गाती है)

(राग—विहाग)

कहै को चंद वदन की शोभा ?
जाको देखत नगर नारि कों सहजहि तें मन लोभा ॥
मनु चंदा आकास छोड़ि कै भूमि लखन को आयो।
कैधौं काम बाम के कारन अपुनो रूप छिपायो ॥
भौंह कमान कटाच्छ बान से अलक भ्रमर घुँघुरारे।
देखत ही बेधत हैं मन मृग, नहिं बचि सकत बिचारे ॥

वि०—तो भला उनको एक बेर किसी उपाय से देखा भी सकती है ?

ही० मा०—वाह वाह! यह तुमने अच्छी कही। पहिले राजा-रानी से कहें, वह देख सुन के जाँच लें तो पीछे तुम देखना।

वि०—नहीं, ऐसा न होने पावे, पहिले मैं देख लूँ तब और कोई देखे।

ही० मा०—मैं कैसे पहिले तुम्हें दिखला दूँ। यह राजा का घर है, चारों ओर चौकी-पहरा रहता है। यहाँ मक्खी तो आही नहीं सकती। भला वह कैसे आ सकते हैं ? जो कोई जान जायगा तो क्या होगा ?

वि०—सो मैं कुछ नहीं जानती, जैसे चाहो वैसे एक बेर मुझको उनका दर्शन करा दो। तू आप चतुर है, कोई न कोई

उपाय सोच लेना और जो तू मेरा मनोरथ पूरा करेगी तो मैं भी तेरा मनोरथ पूरा कर दूँगी।

ही० मा०—यह तो मैं भी समझती हूँ, पर मैं सोचती हूँ कि किस रीति से उसे ले आऊँ। हाँ एक उपाय यह तो है कि वह इस वृक्ष के नीचे ठहरें और तुम अपनी अटारी पर से देख लो।

वि०—हाँ ठीक है। यह उपाय बहुत अच्छा है। पर कब, आज या कल ?

ही० मा०—कल उनको लाऊँगी। (हँसकर) एक बात मैं कह देती हूँ कि उनको एक बेर देख के फिर भूल न जाना।

वि०—भूल जाऊँगी? हाय! (गाती है)

(ठुमरी)

मेरे तन अति बाढ़ी बिरहपीर अब नहिं सहि जाई हो। अब कोउ उपाय मोहि नहिं लखाय, दुख कासों कहौं कछु कहि न जाय, मन हो बिरह की अगिन बरै, धुआँ न दिखाई हो। दईमारी लाज बैरिन सी आज, कहो आवत मेरे कौन काज, पिय बिन मेरा जियरा तड़पै कछु नहिं बसाई हो॥

(राग बिहाग)

चढ़ावत मो पैं काम कमान।
बेधत है जिय मारि गारि कै तानि श्रवन लगि बान॥

पिया विना निसिदिन डरपावत मोहि अकेली जान ।
तुमरे विनु को धीर धरावै पीतम चतुर सुजान ॥१॥

ही० मा०—(हँसकर) वाह-वाह ! यह अनुराग हम नहीं जानती थीं । (गाती है)

(राग कलिंगड़ा)

अहो तुम सोच करो मति प्यारी ।
तुम्हरो प्रीतम तुमहिं मिलैहैं करि अनेक उपचारी ॥
अति कुम्हिलाने कमल वदन कों प्रफुलित करिहौं वारी ।
चन्दहिं जौ चाहै तौ लाऊँ यह तो बात कहा री ॥

वि०—तो मैं आज छत पर उसकी आशा देखूँगी ।

(जवनिका गिरती है)

द्वितीय अंक

प्रथम गर्भांक

स्थान—विद्या का महल

(विद्या बैठी है और चपला पंखा हांकती है और सुलोचना पान का डब्बा लिए खड़ी है)

सुलो०—(बीड़ा देकर) राजकुमारी, एक बात पूछूँ, पर जो बताओ।

वि०—क्यों सखी क्यों नहीं पूछती? मेरी ऐसी कौन सी बात है जो तुम लोगों से छिपी है?

सुलो०—और कुछ नहीं, मुझे केवल इतना पूछना है कि कई दिन से तुम्हारी ऐसी दशा क्यों हो रही है, सर्वदा अनमनी सी बनी रहती हो, और खान-पान सब छूट गया है, और दिन-दिन शरीर गिरा पड़ता है, रात-दिन मुँह सूखा रहता है। इसका कारण क्या है?

(विद्या मुँह नीचा कर लाज से चुप रह जाती है)

सुलो०—(बीड़ा देकर) यह तो मैं पहिले ही जानती थी कि तुम न कहोगी।

वि०—नहीं सखी, मैं क्यों न कहूँगी? पर तू क्या उसका कारण अब तक नहीं जानती?

सुलो०—जो जानती तो क्यों पूछती ?

वि०—हीरा मालिन उस दिन जो माला लाई थी वह क्या तूने नहीं देखी थी ?

सुलो०—हाँ देखी तो थी। तो उससे क्या ?

वि०—और उस दिन छत पर से मैं जिसे वृक्ष तले देखने गई थी उसे तूने नहीं देखा था ?

सुलो०—हाँ, सो सब जानती हूँ।

वि०—तो अब नहीं क्या जानती ?

सुलो०—तो फिर उसमें इतना सोच-विचार क्यों चाहिए। केवल एक बेर बड़ी रानीजी से कहने से सब काम सिद्ध हो जायगा।

चपला—वाह वाह ! क्या इसी बात का इतना सोच-विचार था, तो मैं अभी जाती हूँ। (जाना चाहती है)

वि०—नहीं-नहीं, ऐसा काम कभी न करना, नहीं तो सब बात बिगड़ जायगी।

चप०—क्यों, इसमें दोष क्या है ?

सुलो०—और फिर यह न होगा तो होगा क्या ?

वि०—सखी मेरी प्रतिज्ञा ने सब बात बिगाड़ रखी है !

चप०—क्यों ?

वि०—मा से कह देने से फिर उनके संग विचार करना पड़ेगा; और उसमें जो मैं जीती तो भी अनुचित है; क्योंकि मैं अपना प्राण-धन सब उनसे हार चुकी हूँ

और फिर उनसे विवाह भी कैसे होगा, और वह जीते तो इस बात का लोगों को निश्चय कैसे होगा कि गुण-सिंधु राजा के पुत्र यही हैं और निश्चय बिना तो विवाह भी नहीं हो सकता, इससे मेरा जी दुविधे में पड़ा है। और जिस दिन से मैंने उन्हें देखा है उस दिन से अपने आपे में नहीं हूँ, क्योंकि उस मनमोहन रूप को देखकर मैं कुल और लाज दोनों छोड़ चुकी हूँ और उस विषय में जो-जो उमंग उठते हैं वह कहने के बाहर हैं। औ सखियो! तुम लोग भी तो स्त्री हो, अपने ऐसा जी सबका समझो। हाय, मुझे कोई उपाय नहीं दिखाता। (गाती है)

(राग सोरठ)

सखी हम कहा करैं कित जायँ ?
बिनु देखे वह मोहिनि मूरति नैना नाहिं अघायँ ॥१॥
कछु न सुहात धाम धन गृह सुख मात पिता परिवार।
बसति एक हिय मैं उनकी छवि नैनन वही निहार ॥२॥
बैठत उठत सयन सोवत निसि चलत फिरत सब ठौर।
नैनन तें वह रूप रसीलो टरत न इक पल और ॥३॥
हमरे तो तन मन धन प्यारे मन बच क्रम चित माँहिं।
पै उनके मन की गति, सजनी, जानि परत कछु नाँहिं ॥४॥
सुमिरन वही, ध्यान उनको ही, मुख मैं उनको नाम।
दूजी और नाहिं गति मेरी, बिनु पिय और न काम ॥५॥

नैना दरसन विनु नित तलफैं, श्रवन सुनन कों कान।
बात करन कों मुख तलफै, गर मिलिबे को ये प्रान ॥६॥

सुलो०—हाँ, इन वातों को तो मैं समझती हूँ, पर कर क्या सकती हूँ? क्योंकि कोई उपाय नहीं दिखाता। हम तो तेरे दुख से दुखी और तेरे सुख से सुखी हैं, जो किसी उपाय से यह सुख होय तो हम सब अपने शरीर बेंच-कर भी उसे कर सकती हैं, परंतु यह ऐसी कठिन बात है कि इसका उपाय ही नहीं है।

चप०—इसमें क्या संदेह। आज दिन राजा के प्रताप से सब देश थरथर काँपता है और द्वारों पर चौकीदार यमदूत की भाँति खड़े रहते हैं, तब फिर ऐसी भयानक बात कैसे हो सकती है।

वि०—(लंबी साँस लेकर) हाय सखी! अब मैं क्या करूँगी। जो शीघ्र ही कोई उपाय न होगा तो प्राण कैसे बचेंगे। यह प्रीत दईमारी बड़ी दुखद होती है। (गाती है)

(राग बिहाग)

बावरी प्रीति करौ मति कोय।
प्रीति किए कौने सुख पायो मोहि सुनाओ सोय ॥१॥
प्रीति कियो गोपिन माधव सों लोक लाज भय खोय।
उनकों छोड़ि गये मथुरा को बैठि रहीं सब रोय ॥२॥
प्रीति पतंग करत दीपक सों सुंदरता कहँ जोय।
सो उलटो तेहि दाह करत है पच्छ नसावत दोय ॥३॥

जानि बूझि के प्रीति करी हम कुल मरजादा धोय।
अब तो प्रीतम रंग रँगी मैं होनी होय सो होय ॥४॥

हीरा मालिन ने हमको वचन तो दिया है कि किसी भाँति उसे एक बेर तुझसे मिला दूँगी, पर देखूँ अब वह क्या उपाय करती है।

(एक सुरंग का मुँह खुलता है और उसमें से सुंदर निकलता है। सब सखी घबड़ाकर एक दूसरी का मुँह देखती हैं और विद्या लाज से मुँह नीचे कर लेती है।)

चप०—अरे यह कौन है और कहाँ चला आता है?

सुलो०—सोई तो मैं घबड़ाती हूँ कि यह कौन है और कहाँ से आया है। अब मैं चोर-चोर कहकर पुकारती हूँ जिसमें सब चौकीदार लोग दौड़कर हम लोगों को बचावें।

वि०—(हाथ से पुकारने का निषेध करके धीरे से) नहीं-नहीं, मैं समझती हूँ कि यह चोर नहीं है, मेरा चितचोर है कोई जाकर उससे पूछो।

चप०—भला देखो, मेरी छाती कैसी धड़कती है, इससे मैं तो नहीं पूछने की। (सुलोचना से) सुलोचना, तू जाकर पूछ आ यह कौन है।

सुलो०—(सुंदर से) तुम कौन हो और विराने घर में क्यों घुस आए हो; सच बतलाओ, क्योंकि हम लोगों का डर से कलेजा काँपता है, इससे कहो कि तुम देवता हो, या दानव हो, या मनुष्य हो ?

सुं०—(मुसुकाकर) नहीं सखी, डरने का क्या काम है? न मैं देवता हूँ न दानव, मैं तो साधारण मनुष्य हूँ, और कांचीपुर के महाराज गुणसिंधु का पुत्र हूँ, और मेरा नाम सुंदर है। भाट के मुख से तुम्हारी राजकन्या के विचार का समाचार सुन के यहाँ आया हूँ परंतु विचार तो दूर रहे, तुम्हारी सभा में अविचार बहुत है।

चप०—(धीरे से) सखी यह तो वही है।

सुलो०—क्यों हमारी सभा में अविचार कौन सा है?

सुं०—और अविचार किसको कहते हैं? जो कोई परदेशी अतिथि आवे तो न तो उसका आदर होता है और न कोई उसे बैठने को कहता है।

(विद्या संकेत से चपला से बैठाने को कहती है और सुंदर बैठता है, और विद्या लज्जा से वस्त्र से अपना सब शरीर ढांक लेती है।)

सुं०—(सुलोचना से) सखी, विद्यावती के गुण की मैंने जैसी प्रशंसा सुनी थी उससे भी अधिक आश्चर्य गुण देखने में आए।

सुलो०—ऐसे आपने कौन से आश्चर्य गुण देखे?

सुं०—जाल में चंद्रमा को फँसाना, बिजली को मेघ में छिपाना, और वस्त्र से कमल की सुगंधि को मिटाना, यह सब बात तुम्हारी राजकन्या कर सकती है।

सुलो०—(हँसकर) यह आप कैसी बातें कहते हैं, क्या ये बातें हो सकती हैं।

सुं०—जो नहीं हो सकतीं तो तुम्हारी राजकन्या ने अंचल से मुख क्यों छिपा लिया ?

सुलो०—(हँसकर) आप बड़े सुरसिक और पंडित हैं, इस से मैं आपकी बात का उत्तर नहीं दे सकती, "दीपक की रवि के उदय बात न पूछे कोय" पर हाँ, जो लज्जा न करती तो हमारी सखी कुछ उत्तर देती।

सुं०—(हँसकर) तो आज तुम्हारी राजकन्या हमसे हार गई।

सुलो०—क्यों, हार क्यों गई ?

सुं०—और हारने के माथे क्या सींग होते है ? मुझे देखकर लाज के मारे वह कुछ उत्तर नहीं दे सकती इसी से हार गई।

सुलो०—(हँसकर) आपको सब कहना शोभा देता है।

वि०—(सखी से) सुलोचने, तुझे कुछ उत्तर देने नहीं आता, तू क्यों नहीं कहती कि हमारी विद्यावती ने विद्या के विचार का प्रण किया था, कुछ चोरी-विद्या के विचार का प्रण नहीं किया था, आप सेंध देकर घुस आए और अब बातें बनाते हैं।

सुं०—(हँस के) हाँ इस देश के विचार की चाल ही यही है और उलटे हमी चोर बनाए जाते हैं। मैंने क्या अपराध किया था कि उस दिन वृक्ष के नीचे घंटों खड़ा किया गया और तुम्हारी राजकुमारी ने हमारा तन-मन-धन सब लूट लिया। अब कहो, पहिले चोरी का आरंभ

किसने किया, वही बात हुई कि "उलटा चोर कोतवाल को डाँटे"।

वि०—और सुनो! यह चोर नहीं हैं बड़े साधू हैं। सच है साधु न होते तो सेंध देने की विद्या कहाँ सीखते! यह कर्म साधुओं ही के तो हैं। सखियो, आज तुमने बड़े महात्मा का दर्शन किया। निश्चय तुम्हारे सब पाप कट गए, क्योंकि शंख बजानेवाले साधू तो बहुत देखे थे पर सेंध लगानेवाले आज ही देखने में आए।

सुं०—(हँसकर) इसमें क्या संदेह है! सखियो, तुम परीक्षा कर लो कि हममें सब साधुओं के लक्षण हैं कि नहीं? देखो, मैं अपने चोर को ढूँढ़ता-ढूँढ़ता यहाँ तक आया और उसे पाकर उसको पकड़ने और धन फेर लेने के बदले और भी जो कुछ मेरे पास बच गया है भेंट किया चाहता हूँ, परंतु जो यह लें।

वि०—(धीरे से) दीजिए।

सुं०—(प्रसन्न होकर) सखियो, तुम साक्षी रहना, मन और प्राण तो इन्होंने चोरी करके ले लिए, एक देह बच गई है, इसे मैं अपनी ओर से अर्पण करता हूँ। (विद्या से) प्यारी, मैं यहाँ केवल इसी हेतु आया था सो तुमने मुझे अपना कर लिया है, अब इसका निबाह करना। (हाथ बढ़ाता है)

वि०—(लाज से) यह मैंने कब कहा था?

सुलो०—(विद्या से हँसकर) सखी, अब तेरी ये बातें न चलेंगी। आज के विचार में तो तू हार गई।

चप०—इसमें क्या संदेह है, यहाँ न्याय के विचार का क्या काम है? जो रस के विचार में जीते सो जीता, क्योंकि न्याय का विचार करके स्त्री को जीतना यह भी एक अविचार है।

सुलो०—(हँसकर विद्या से) सखी, अब विलंब क्यों करती है, क्योंकि राजपुत्र तुझे अपना शरीर समर्पण करके पाणिग्रहण के हेतु हाथ फैलाए हुए हैं इससे या तो तुम उसकी बनो या उसे अपना करो, क्योंकि आज से हम उसमें और तुझमें कुछ भेद नहीं समझतीं और हस्तकमल के संग अपना हृदयकमल भी राजपुत्र के अर्पण करो, क्योंकि अच्छे काम में विलंब न करना चाहिए।

सुं०—(प्रसन्नता से विद्या का हाथ अपने हाथ में लेकर) अहाहा! ऐसा भी कोई दिन होगा?

सुलो०—अब होने में विलंब क्या है? परंतु मैं यह विनती करती हूँ कि हमारी राजकुमारी अत्यंत सीधी और सच्ची है, क्योंकि इसने पहिले ही जान-पहिचान में आपका विश्वास करके अपना तन-मन-धन आपके अर्पण किया, परंतु आप सुरसिक और पंडित हैं इससे इस धन की रक्षा का कोई उपाय कीजिए। (फूल की माला से दोनों का हाथ बाँधती है) हम भगवान् से प्रार्थना करती

हैं कि तुम दोनों सर्वदा इसी फूल की माला की भाँति आपस में प्रेम के डोरे में बँधे रहो।

सुं०—सखी, हम भी हृदय से एवमस्तु कहते हैं।

चप०—राजनंदिनी तो इस समय कुछ कहने ही की नहीं, पर मैं उसकी ओर से कहती हूँ कि ऐसा ही हो।

सुलो०—ऐसी नई बहू की प्रतिनिधि कौन नहीं होना चाहती ?

चप०—चल तुझे तो ऐसी ही बातें सूझती हैं।

सुलो०—अब नये दुलहे-दुलहिन को दूर-दूर बैठाना उचित नहीं है, इससे कृपा करके दोनों एक पास बैठो, जिसे देखकर हमारी आँखें सुखी हों।

सुंदर—(हँसकर) ठीक है। (विद्या के पास बैठता है और विद्या कटाक्ष से देखती है)

सुलो०—(हँसकर) सखी, सब बातें हो चुकीं तो अब गांधर्व विवाह की कुछ रीतें बची क्यों जाती हैं। और हमारी आज्ञा करने में तुझे क्या लज्जा है। अब तुम दोनों माला का अदला-बदला करो जिसे देखकर हम सुखी हों।

(सुंदर के यत्न से दोनों परस्पर माला बदलते हैं और सखी लोग आनंद से ताली बजाती हैं)

विद्या—(मन ही मन) विधाता क्या सचमुच आज ऐसा दिन हुआ है, या कि मैं सपना देखती हूँ ! नहीं, यह सपना है।

चप०—हमारे नेत्र आज सुफल हुए।

सुलो०—(आनंद से गाती है)।

३. आजु अति मोहि अनंद भयो।
बहुत दिवस की इच्छा पूजी सब दुख दूर गयो॥
यह सोहाग की राति रसीली सब मिलि मंगल गाओ।
जनम लिए को आज मिल्यो फल अँखियाँ निरखि सिराओ॥
दिन दिन प्रेम बढ़ो दोउन को सब अति ही सुख पावैं।
चिरजीवो दुलहा अरु दुलहिन दोउ कर जोरि मनावैं॥

सुंदर—अहाहा कैसा मधुर गीत है, सखी जो तुझे कष्ट न हो तो एक गीत और गा।

सुलो०—वाह, ऐसे आनंद के समय में मैं गीत न गाऊँ, उसमें नये जमाई की पहिली आज्ञा न माननी तो सर्वथा अनुचित है।

चप०—सखी, हमारी राजनंदिनी ने उस दिन जो गीत बनाया था सो क्यों नहीं गाती ? क्योंकि नये वर उस गीत से निश्चय बड़े प्रसन्न होंगे।

(विद्या आँखों से निषेध करती है)

सुलो०—हाँ सखी, बहुत ठीक कहा। (विद्या से) क्यों सखी, इसमें दोष क्या है ? तू क्यों निषेध करती है ? अब तो मैं निश्चय वही गीत गाऊँगी। (चपला ताल देती है और सुलोचना गाती है)

(राग देस)

जहाँ पिय तहीं सबै सुख साज।
बिनु पिय जीवन व्यर्थ सखी री यद्यपि सबै समाज॥
जो अपुनो पीतम सँग नाहीं सुरपुर कौने काज।
निरजन बनहू मैं पीतम के सँग सुरपुर को राज॥ १॥

सुं०—वाह वाह! बहुत अच्छा गीत गाया, जैसे मेरे कान में अमृत की धारा की वर्षा हुई। सखी, सुरपुर-सुख आज मुझे यथार्थ अनुभव होता है।

सुलो०—(हँसकर) क्या मेरे गाने से! जो हो अब रात बहुत गई और नई बहू के मिलाप में पहिले ही दिन बहुत विलंब करना योग्य नहीं।

सुं०—हाँ सखी, अब जाता हूँ। (अँगूठी उतारकर दोनों सखियों को देता है) यह हमारे संतोष का चिह्न सर्वदा अपने पास रखना।

सुलो०—(लेती है) यद्यपि यह अँगूठी सहज ही बहुमूल्य है परंतु आपके संतोष का चिह्न होने से और भी अमूल्य हो गई और इसे हम सर्वदा बड़े प्यार से अपने पास रखेंगी।

चप०—आपका प्रसादी फूल भी हमें रत्न के समान है।

सुलो०—तो अब उठिए।

सुं०—तुम आगे चलो हम लोग भी आते हैं।

सुलो०—(उठकर) इधर से आइए।

(सुलोचना और चपला आगे-आगे, उनके पीछे विद्या का हाथ पकड़े हुए सुंदर चलता है और जवनिका गिरती है)

द्वितीय गर्भांक

स्थान—विद्या का मंदिर

(विद्या और मालिन बैठी है)

वि०—कहो, उनके लाने का क्या किया, लंबी-चौड़ी बातें ही बनाने आती हैं कि कुछ करना भी आता है ?

ही० मा०—भला इसमें मेरा क्या दोष है। मैंने तो पहिले ही कहा था कि यह काम छिपाकर न होगा। जब मैंने कहा कि मैं रानी से कहूँ तो भी तुमने मना किया और उलटा दोष भी मुझी को देती हो। उस दिन तुमने कहा कि उनसे कहो वे कोई उपाय आप सोच लेंगे, उसका उनने यह उत्तर दिया कि "मौसी, मैं परदेशी हूँ, इस नगर की सब बातें नहीं जानता और राजा के घर में चोरी से घुसकर बच जाना भी साधारण कर्म नहीं है। जब तुम्हीं कोई उपाय नहीं सोच सकती तो मैं क्या सोचूँगा और अब मुझे मनुष्यों का कुछ भरोसा नहीं है, इससे मैं अब दैवकर्म्म करूँगा, सो तू घर में

एक अग्नि का कुंड बना दे और रात भर मेरा पहरा दिया कर" वे तो यों कहते हैं पर देखूँ उनका देवता कब सिद्ध होता है। भला वह तो चाहे जब हो एक नई बात और सुनने में आई है, जिससे जी में तो रुलाई आती है और ऊपर से हँसी आती है।

वि०—क्या कोई और भी नई बात सुनने में आई है?

ही० मा०—हाँ, मैंने सुना है कि राजसभा में कोई संन्यासी आया है।

वि०—तो फिर क्या?

ही० मा०—मैं सुनती हूँ कि वह विचार में सभा को तो जीत चुका है और अब कहता है कि मैं राजकुमारी से शास्त्रार्थ करूँगा।

वि०—ऐसा कभी हो सकता है कि मैं संन्यासी से विचार करूँ।

ही० मा०—क्यों नहीं, क्या प्रण करने के समय तुमने यह प्रतिज्ञा थोड़ी ही की थी कि संन्यासी को छोड़कर मैं प्रण करती हूँ, अब तो जैसा राजकुमार वैसा ही संन्यासी।

वि०—तो मैं तो उससे विचार नहीं करने की।

ही० मा०—अब नहीं करने से क्या होता है, विचार तो करना ही होगा और फिर इसमें दोष क्या है, जैसा तुम्हारा दिव्य राजा के कुल में जन्म है वैसा ही दिव्य संन्यासी वर मिल जायगा। मैंने तो चंद्रमा का टुकड़ा वर

खोज दिया था पर तू कहती है कि रानी से उसका समाचार ही मत कहो, तो अब मैं कौन उपाय करूँ। अच्छा है जैसी तुम्हारी चोटी है कुछ उससे भी लंबी उसकी डाढ़ी है, सिर पर बड़ी भारी जटा है और सब अंग में भभूत लगाए हैं, ऐसे जोगी नित्य-नित्य नहीं आते। अहाहा कैसा अद्भुत है! (गाती है)

(राग देस)

अरे यह जोगी सब मन मानै।
लंबी जटा रँगीले नैना जंत्र मंत्र सब जानै॥
कामदेव मनु काम छोड़ि कै जोगी ह्वै बौराने।
या जोगिया की मैं बलिहारी जग जोगिन कियो जानै॥
अरे यह जोगी०—॥ १ ॥

ऐसा रसिक योगी वर मिलता है अब और क्या चाहिए ?

वि०—चल तू भी चूल्हे में जा और योगी भी।

ही० मा०—ऐसा कभी न कहना, मैं भले चूल्हे में जाऊँ पर संन्यासी बेचारा क्यों चूल्हे में जायगा ? भला यह तो हुआ, पर अब मैं यह पूछती हूँ कि एक भलेमानस के लड़के को मैंने आस देकर घर में बैठा रखा है, उसकी क्या दशा होगी और मैं उसको क्या उत्तर दूँगी, क्योंकि तुम तो महादेवजी की सेवा में जाओगी पर वह बेचारा क्या करेगा। और क्या होगा ? तुम संन्यासी

को लेकर आनंद करना और वह बेचारा आप संन्यासी होकर हाथ में दंड-कमंडल लेकर तुम्हारे नाम से भीख माँग खायगा।

वि०—चल लुच्ची! ऐसी दशा शत्रु की होय! मैं तो उसे उसी दिन वर चुकी जिस दिन उसका आगमन सुना और उसी दिन उसे तन-मन-धन दे चुकी जिस दिन उसका दर्शन किया, इससे अब प्रण कहाँ रहा और विचार का क्या काम है?

ही० मा०—पर मन के लड्डू खाने से तो काम नहीं चलेगा, क्योंकि मन से हमने इंद्र का राज कर लिया, इससे क्या होता है, सपने की संपति किस काम की कि जब आँख खुली तो फिर वही टूटी खाट। राजा यह बात कैसे जानेंगे और रानी इस बात को क्या समझती हैं कि मेरी कन्या का गांधर्व विवाह हो चुका है और जब संन्यासी से व्याह देंगे तब तुम क्या करोगी और वह तब कहाँ जायगा?

वि०—हाँ तुम तो इस बात से बड़ी प्रसन्न हो। तुम्हारी क्या बात है! मैंने कई बार कहा कि उसको एक बार मुझसे और मिला दे पर तू उसे कब छोड़ती है। अरी पापिन, जमाई को तो छोड़ देती, पर तो भी तू धन्य है कि इतनी बूढ़ी हुई और अभी मद नहीं उतरा। जब बुढ़ापे में यह दशा है तो चढ़ते जोबन में न जाने क्या रही होगी!

ही० मा०—सच है उलटा उराहना तो मुझे मिलेहीगा, क्योंकि अब तो सब दोष मुझे लगेगा। तुमको सब बात में हँसी सूझती है, पर मुझे ऐसा दुख होता है कि उसका वर्णन नहीं होता।

जो विधि चंदहिं राहु बनायो।
सोइ तुम कहँ संन्यासी लायो॥

इस दुःख से प्राण त्याग करना अच्छा है। मेरी तो छाती फटी जाती है। यह मैंने जो सुना सो कहा। अब तुम जानो तुम्हारा काम जाने, मैंने जो सुना सो कहा।

वि०—नहीं नहीं, मैं तो तेरे भरोसे हूँ। जो तू करेगी सो होगा, भला उनसे भी एक बेर यह समाचार कह दे।

(चपला आती है)

चप०—राजकुमारी, पूजा का समय हुआ।

वि०—चलो सखी, मैं अभी आई।

(चपला जाती है)

ही० मा०—तो मैं आज जाकर उससे यह वृत्तांत कहती हूँ, इस पर वह जो कहेगा सो मैं कल तुमसे फिर कहूँगी।

वि०—ठीक है, कल अवश्य इसका कुछ उपाय करेंगे।

(जवनिका गिरती है)

तृतीय गर्भांक

स्थान—विद्या का मंदिर

(विद्या अकेली बैठी है और सुंदर आता है)

वि०—आज मेरे बड़े भाग्य हैं कि आप साँझ ही आए।

सुं०—(पास बैठकर) प्यारी, मुझे जब तेरे मुखचंद्र का दर्शन हो तभी साँझ है।

वि०—परंतु प्राणनाथ, यह दिन सर्व्वदा न रहेगा, चार दिन की चाँदनी है।

सुं०—हाँ, यह तो मैं भी कहता हूँ।

वि०—क्यों ?

सुं०—क्योंकि जब मैं "वैठिए" तो कभी नहीं सुनता और "जाइए" प्रायः सुनता हूँ तो अवश्य ऐसा होगा।

वि०—वाह वाह ! अब तो आप वहुत ही हँसी करना सीखे हैं। कहिए कै उपवास में यह विद्या आई है। (पान का डब्बा देती है) लीजिए इसे छूके शुद्ध कर दीजिए।

सुं०—पहिले आप तो मुझे पवित्र कीजिए, पीछे मैं जब आप शुद्ध हो जाऊँगा तब इसे भी पवित्र कर सकूँगा।

वि०—भला यह वात तो हुई। आज सबेरे मालिन आई थी उसका समाचार आप जानते हैं ?

सुं०—हाँ, वह तो नित्य सवेरे आती है। आज विशेष क्या हुआ? क्या उसको किसी ने एक-दो धौल लगाई?

वि०—भला, मेरे सामने ऐसा कभी हो सकता है और फिर वह ऐसी डरपोक है कि जो उसको कोई मारता तो वह तुरंत रानी से जाकर सब समाचार कह देती, तो भी तो बुरा होता।

सुं०—तो उससे बहुत चौकस रहना चाहिए।

वि०—नहीं, इसका कुछ भय नहीं है पर एक दूसरी बात जो मैंने सुनी है उसका बहुत भय है।

सुं०—क्या कोई दूसरा उपद्रव हुआ?

वि०—एक बड़े पंडित संन्यासी आए हैं वह मुझसे विचार किया चाहते हैं।

सुं०—(विषाद से) अरे! यह बड़ा उपद्रव हुआ। मैं उस संन्यासी को जानता हूँ क्योंकि जब मैं वर्द्धमान को आता था तो वह मुझे मार्ग में मिला था। वह निश्चय बड़ा पंडित है, इससे उसको विचार में जीतना कठिन है।

वि०—तब क्या होगा?

सुं०—होगा क्या "चोर का धन बटपार लूटै"।

वि०—भगवान् ऐसा न हो कि मुझे उससे विचार करना हो।

सुं०—जो महाराज विचार करने की आज्ञा दंगे तो करना ही होगा।

वि०—हाँ, यह तो ठीक है। हाय हाय, मैं बड़े द्विविधे में पड़ रही हूँ कि क्या करूँगी।

सुं०—तुम्हें किस बात का सोच है, पुराना कपड़ा उतारा नया पहिना, सोच तो मुझे है।

वि०—(उदास होकर) चलो, सब समय हँसी नहीं अच्छी होती। "पुराना उतारा नया पहिना" यह तो पुरुषों का काम है, स्त्री बेचारी तो एक बेर जिसकी हुई जन्म भर उसी की हो रहती है।

सुं०—(हँसकर) ऐसा मत कहो, क्योंकि स्त्रियों के चरित्र अत्यंत विलक्षण होते हैं।

वि०—मैं तो नये पुरुषों का मुख भी नहीं देखने पाती; मैं नई-पुरानी क्या जानूँ। आप ही नित्य नई-नई स्त्रियों को देखते हैं आप जानें।

सुं०—तो क्या हुआ इतने दिन तक राजसुख भोग किया, अब जोगिन का सुख भोग करना।

वि०—यह बात कैसे हो सकती है कि जिसके वियोग में एक पलक प्रलय सा जान पड़ता है उसको छोड़कर मैं जोगिन हूँगी। हा! मैं संन्यासिनी हूँगी! हे भगवान्! तूने कर्म्म में क्या-क्या लिखा है! (अत्यंत सोच करती है और लंबी साँसें लेती है)।

सुं०—(हँसकर) और जो वह संन्यासी हमीं होयँ।

वि०—यह बात कैसी ?

सुं०—नहीं, मैंने एक बात कही, जो वह संन्यासी हमीं होयँ।

वि०—तो फिर तुम्हारे लिये तो मैं जोगिन आप ही हो रही हूँ इसमें क्या कहना है। जो यह बात सच्च होय तो शीघ्र ही कहो तुम्हें मेरी सौगंद है। जब से मैंने उसका समाचार सुना है तबसे मुझे रात को नींद नहीं आती।

सुं०—(हँसकर) जो तुम्हें दुःख होता है तो मैं कहता हूँ, पर किसी से कहना मत, अपनी सखियों से भी न कहना। देखो, मैं राजसभा देखने को संन्यासी बनके गया था और मैंने विचारा कि यहाँ विचार की चरचा निकालें, देखें क्या फल होता है?

वि०—हाय हाय, अब मेरे प्राण में प्राण आए। अरे तू बड़ा बहुरुपिया है और तुझे बड़े-बड़े नखरे आते हैं। पुरुष में तो यह दशा है जो स्त्री होता तो न जाने क्या करता। चल, तू बड़ा छलिया है। हाय हाय, मुझे कैसा धोखा दिया, भला तूने यह विद्या कहाँ सीखी। (कुछ ठहरकर) हाँ तब—तब क्या हुआ?

सुं०—तब क्या हुआ सो तो तुम जानती होगी, पर राजा ने कुछ निश्चय नहीं किया।

वि०—यह बड़ा आनंद हुआ, मानो आज मेरी छाती पर से एक बोझा उतर गया, मुझे आज रात को नींद सुख से आवेगी। कल मैंने मालिन से हँसी में यह बात उड़ा तो

दो थी, पर भीतर मेरा जी ही जानता था और मैंने आपसे भी कई बेर कहना चाहा पर सोचती थी कि कैसे कहूँ।

(सुलोचना आती है)

सुला०—राजकुमारी, रात बहुत गई, जो बहुत जागोगी तो कल दिन को जी आलस में रहेगा।

वि०—नहीं सखी, अब जाती हूँ। (सुलोचना जाती है और विद्या-सुंदर भी उठकर चलते हैं) पर एक बेर मुझे भी उस रूप का दर्शन करा देना क्योंकि मुझे भी तो जोगिन बनना है।

सुं०—प्यारी, उस प्रेम के जोगी की जोगिन होना तुम्हीं को शोभा देता है।

वि०—नाथ, तुम जो कहो सो सब उचित है।

(जवनिका पतन)

तृतीय अंक

प्रथम गर्भांक

स्थान—राजमार्ग

(विमला और चपला आती हैं)

विमला—वाह रे-वाह रे, कैसी दौड़ी चली जाती है। देखकर भी वहाली दिए जाती है।

चपला—(देखकर) नहीं, बहिन, नहीं, मैंने तुम्हें नहीं देखा, क्षमा करना।

विम०—भला मैंने क्षमा तो किया, पर अपनी कुशल कहो ?

चप०—कुशल मैं क्या कहूँ, उस दिन के तो समाचार तूने सुने ही होंगे।

वि०—कौन समाचार ? राजकन्या के ? बड़े घर की बात !

चप०—अरे चुप चुप भाई धीरे-धीरे—जो कोई सुन ले तो कहे कि यह सब ऐसे ही रनवास की बातें कहती फिरती होंगी।

वि०—हाँ तो फिर रानी ने सब बात जानकर क्या कहा ?

चप०—कहेंगी क्या अपना सिर ? राजकुमारी को बुलाकर बड़ी ताड़ना की और हम लोगों पर जो क्रोध किया उसका तो कुछ पार ही नहीं है, और राजा से जाकर

सब कह दिया। राजा ने और भी दस-बीस बातें सुनाई, क्रोध से लाल होकर कोतवाल को आज्ञा दी कि नंगे शस्त्र लेकर रात भर राजकुमारी के महल के चारों ओर घूमा करो और किसी प्रकार से उस चोर को पकड़ो।

विम०—(घबड़ाकर) तब क्या हुआ ?

चप०—उसी समय से कोतवाल ने हम लोगों के महल में बड़ा उपद्रव मचा रखा है और कहाँ तक कहें कई चौकीदार स्त्री बन-बन के विद्या के सोने के महल में रात भर बैठे रहे, पर जिसके हेतु इतना उपद्रव हुआ वह अभी यह समाचार नहीं जानता और फिर उसकी क्या दशा होगी, इस सोच से विद्यावती रात भर रोती रही। यद्यपि हम लोगों ने बहुत समझाया परंतु उसको धीरज कहाँ। इसी विपत में सब रात कटी।

विम०—फिर सवेरे क्या हुआ सो कहो।

चप०—फिर क्या हुआ यह तो मैं ठीक-ठीक नहीं जानती, पर कोतवाल सबेरे उठके चले गए और विद्या ने मुझसे कहा कि तू सोध ले कि अब क्या होता है।

वि०—सो तूने कुछ सोध पाई ?

चप०—अब तक तो कुछ सोध नहीं मिली, लोगों के मुँह से ऐसा सुनती हूँ कि चोर पकड़ गया और एक आपत्ति यह भी न है कि मैं तो किसी से पूछ भी नहीं सकती,

परंतु कोतवाल इत्यादिक बड़े प्रसन्न हैं। इससे जाना जाता है कि चोर पकड़ गया। मैंने पहिले ही कहा था कि इस काम को छिपा के करना अच्छी बात नहीं है। (नेपथ्य में कोलाहल होता है) अरे यह क्या है? यह तो कोतवाल का शब्द जान पड़ता है और मानो सब इसी ओर आते हैं, तो अब हम लोग किनारे खड़ो हो जायँ जिससे वह सब हमको न देखें। (दोनों एक ओर खड़ी हो जाती हैं)

(नेपथ्य में फिर कोलाहल होता है और कोई गाता है। हाथ बँधे हुए सुंदर और मालिन को लेकर चौकीदार आते हैं।)

पहला चौ०—चल रे चल।

दू० चौ०—आज इसका पाँव फूल गया है, जिस दिन सुरंग खोदकर राजकुमारी के महल में गया था उस दिन पैर नहीं फूले थे, आज आप "गजगति" चलते हैं।

सुं०—क्यों व्यर्थ बकता है, राजा के पास तो सब चलते ही हैं, वह जो समझेगा सो उचित दंड देगा, फिर तुमको अपनी तीन छटाँक पकाए बिना क्या डूबी जाती है।

प० चौ०—अहा! मानो हमारे राजपुत्र आए हैं, देखो सब लोग मुँह सम्हाल के बोलो, कहीं अप्रसन्न न हो जायँ और उनकी अक्षत-चंदन से पूजा करो। लुच्चा, जिस दिन सेंध लगाया था उस दिन आदर कहाँ गया था, आज

आप बड़े पद्धती बने हैं, चल चुपचाप आगे चला चल नहीं तो—

दू० चौ०—सुनो भाई, बहुत शब्द मत करो, कोतवाल ने कह दिया है कि चुपचाप जाना, हम पीछे-पीछे आते हैं और सब लोग संग ही महाराज के यहाँ जायँगे, इससे जब तक वह न आवें तब तक यहाँ चुपचाप खड़े रहो।

ती० चौ०—अच्छा आइए चोर जी यहाँ ठहरिए। राजकन्या के महल में जाने का समय गया, अब कारागार में चलने का समय आया। (सब बैठते हैं)

दू० चौ०—देखो भाई भला यह तो परदेसी है पर इस राँड़ मालिन को क्या सूझी कि इसने ऐसा साहस किया!

प० चौ०—अरे यह छिनाल बड़ी छतीसी है, इसको तुमने समझा है क्या! ऐसा मन होता है कि इस राँड़ की जीभ पकड़ के खींच लें। (हीरा के पास जाता है)

ही० मा०—दोहाई महाराज की, दोहाई महाराज की, हे धर्मदेवता तुम साक्षी रहना, देखो यह सब मुझे अकेली पाकर मेरा धर्म लिया चाहते हैं, दोहाई राजा की।

प० चौ०—वाह वाह, चुप रह।

(धूमकेतु कोतवाल आता है)

धू० कं०—क्यों रे तुम लोगों ने क्या शब्द कर रखा है?

ही० मा०—दोहाई कोतवाल की, यह सब जो चाहते हैं सो गाली देते हैं, हाय इस राज्य में स्त्रियों का ऐसा अपमान!

महाराज धूमकेतु आप तो पंडित हैं, आप इसका विचार क्यों नहीं करते ?

प० चौ०—महाराज, यही राँड़ सब कुकर्म की जड़ है और तिस पर ऐसी-ऐसी बातें बनाती है।

ही० मा०—एक मैं ही दुष्कर्म करती हूँ और तुम सब साधु हो। देखो कोतवाल, हम तो कुछ नहीं करतीं और तुम सब हमारी प्रतिष्ठा बिगाड़ते हो।

धू० के०—(हँसकर) हाँ हाँ ! मैं तेरी सब प्रतिष्ठा समझता हूँ, पर यहाँ इससे क्या ? सब लोग महाराज के पास चलें जो वह चाहेंगे सो करेंगे।

ही० मा०—अरे कोतवाल, बाबा इस बुढ़िया को क्यों पकड़े लिए जाते हो, बुढ़िया के मारने से क्या लाभ होगा, मुझे अपने बाप की सौगंद जो मैं कुछ जानती हूँ। भगवान् साक्षी है कि मैं किसी पाप में रही हूँ।

सुं०—मौसी, इतनी शीघ्रता क्यों करती है? सब लोग महाराज के पास चलते हैं। जो महाराज उचित समझेंगे सो करेंगे।

ही० मा०—(क्रोध से) अरे दुष्ट, तेरी मौसी कौन है ? इसी के पीछे तो हमारा सब कुछ नाश हुआ, अब तेरा होमकुंड क्या हुआ और तेरे इष्ट देवता कहाँ गए ! अरे तू बड़ा जालिया है और तूने मुझे बड़ा धोखा दिया। अब मैं आज पीछे अपने घर में किसी परदेसी को न उतारूँगी।

धू० को०—अब भले ही न उतारना, पर इस उतारने का फल तो भुगतना ही पड़ेगा।

ही० मा०—(रोती है) हाय मैं हाथ जोड़ के कहती हूँ कि मैं इस विषय में कुछ नहीं जानती, दोहाई भगवान् की मैं कुछ नहीं जानती। (कोतवाल से) अरे बेटा! तुम्हारे मा-बाप मुझे बड़े प्यार से रखते थे, सो तुम अपने मा-बाप के पुण्य पर मुझे छोड़ दो और इसने जैसा कर्म किया है वैसा दंड दो। दोहाई कोतवाल की, मैं बिना अपराध मारी जाती हूँ।

धू० को०—इससे क्या होता है! अब तुम दोनों को महाराज के पास ले चलते हैं और उनकी आज्ञा से एक संग ही बंदीगृह में छोड़ देंगे।

(सुंदर का हाथ पकड़कर कोतवाल जाता है और हीरा को खींचकर चौकीदार लोग ले जाते हैं)

विम०—अब सचमुच चोर पकड़ा गया।

चप०—जो आँख से देखती है उसका पूछना क्या?

विम०—पर भाई, ऐसा रूप तो न आँखों देखा और न कानों सुना। यह तो राजकन्या के योग्य ही है। इसमें उसने अनुचित क्या किया, क्योंकि जैसी सुंदर वह है वैसा ही यह भी है, "उत्तम को उत्तम मिलै मिलै नीच को नीच"।

चप०—पर उस निर्दई विधाता से तो सही नहीं गई।

विम०—सोई तो, अहा जैसे चंद्रमा को राहु ग्रसै। हा! विधाता बड़ा कपटी है!

चप०—सखी, अब और कुछ मत कह, क्योंकि इस कथा के सुनने से मेरी छाती फटी जाती है और राजकन्या का दुख स्मरण करके मुझसे यहाँ खड़ा नहीं रहा जाता। देखें और क्या-क्या होता है।

विम०—तो फिर कब मिलेगी?

चप०—जो जीती रहूँगी तो शीघ्र ही फिर मिलूँगी।

[दोनों जाती हैं

(जवनिका गिरती है)

द्वितीय गर्भांक

स्थान—विद्या का मंदिर

(विद्या सोच में बैठी है। चपला और सुलोचना आती हैं)

चप०—(धीरे से) सखी, मुझसे तो यह दुख की कथा न कही जायगी, तूही आगे चलकर कह।

सुलो०—तो तुम मत कहना, पर संग चलने में क्या दोष है! जो विपत्ति आती है सो भोगनी ही पड़ती है।

चप०—चल।

(दोनों विद्या के पास जाती हैं)

वि०—(घबड़ाकर) कहो सखी कहो, क्या समाचार लाई हो?

सुलो०—सखी, क्या कहूँ कुछ कहा नहीं जाता, मेरे मुख से ऐसे दुख की बात नहीं निकलती। हाय! हम इसी दुख देखने को जीती हैं। सखी, जिस प्रीतम के सुख से तू सुखी रहती थी वह आज पकड़ा गया। हाय! उसके दोनों कोमल हाथों को निरदई कोतवाल ने बाँध रखा है। हाय! उसकी यह दशा देखकर मेरी छाती क्यों नहीं फट गई।

वि०—(घबड़ाकर) अरे सच ही ऐसा हुआ। हाय! फिर क्या हुआ होगा? (माथे पर हाथ मारकर) हा विधाता, तेरे मन में यही थी। (मूर्छा खाती है और फिर उठकर) हाय! प्राणनाथ बंधन में पड़े हैं और मैं जीती हूँ। हाय!

धिक है वह देह औ गेह सखी
जिहि के बस नेह को टूटनो है।
उन प्रानपियारे बिना यह जीवहि
राखि कहा सुख लूटनो है॥
हरिचंदजू बात ठनी जिय मैं
नित की कलिकानि ते छूटनो है।
तजि और उपाय अनेक सखी
अब तो हमको विष घूटनो है॥

सखी, अब मैं किस हेतु जीऊँगी। आओ हम-तुम मिल लें क्योंकि यह पिछला मिलना है, फिर मैं कहाँ

और तुम कहाँ ! सखी, जो प्राणप्यारे जीते बचें तो उनसे मेरा सँदेसा कह देना कि मैंने तुम्हारी प्रीति का निबाह किया कि अपना प्राण दिया, पर मुझे इतना सोच रह गया कि हाय मेरे हेतु प्राण-प्रीतम बाँधे गए, पर मेरी इस बात का निबाह करना कि मेरे दुख से तुम दुखी न होना। हाय! मेरी छाती बज्र की है कि अब भी नहीं फटती। (रोती है और मूर्छा खाकर गिरती है)

सुलो०—(उठाकर) सखी, इतनी उदास न हो और रो-रो कर प्राण न दे। यद्यपि जो तू कहती है सो सब सत्य है पर जब ईश्वर ही फिर जाय तो मेरा-तेरा क्या वश है? हाय! बादल से कोई बिजली भी नहीं गिरती कि हमको यह दुख न देखना पड़े। सखी धीरज धर, सखी धीरज धर।

वि०—(रोकर) सखी, मन नहीं मानता। हाय! बिसासी विधाता ने क्या दिखाकर क्या दिखाया? हाय! अब मैं क्या करूँगी, और कैसे दिन काटूँगी?

"मेलि गरे मृदु बेलि सी बाँहिन
कौन सी चाहन छाहन डोलिहौं।
कासो सुहास बिलास मुबारक
ही के हुलासन सों हँसि बोलिहौं॥
औनन प्याइहौं कौन सुधारस
कासों बिथा की कथा गढ़ि छोलिहौं।

प्यारे बिना हौं कहा लखिहौं
सखियाँ दुखियाँ अँखियाँ जब खोलिहौं" ॥

सखी, केवल दुख भोगने को जन्मी हूँ, क्योंकि आज तक एक भी सुख नहीं मिला। क्या विधाता की सब उलटी रीति है कि जिस वस्तु से मुझे सुख होता है उसी को हरण करता है। हाय! मैंने जाना था कि मुझे मनमाना प्रीतम मिला, अब मैं कभी दुखी न हूँगी सो आशा आज पूरी हो गई! हाय! अब मुझे जन्म भर दुख भोगना पड़ा।

सुलो०—सखी, यह सब कर्म के भोग हैं, नहीं तो तुम राजा की कन्या हो तुम्हारे तो दुख पास न आना चाहिए, पर क्या करें? सखी, तू तो आप बड़ी पंडित है, मैं तुझे क्या समझाऊँगी, पर फिर भी कहती हूँ कि धीरज धर।

वि०—सखी, मैं यद्यपि समझती हूँ पर मेरा जी धीरज नहीं धरता। कर्म्म के भोग न होते तो यह दिन क्यों देखना पड़ता। हाय! जो पिता-माता प्राण देकर संतान की रक्षा करते हैं उन्हीं पिता-माता ने मुझे जन्म भर रँड़ापे का दुख दिया। (रोती है)

चप०—सखी, अब इन बातों से और भी दुख बढ़ेगा इससे चित्त से यह बातें उतार दे और किसी भाँति धीरज धर के जी को समझा।

वि०—सखी, मैं तो समझती हूँ पर मन नहीं समझता। हाय! और जिसका सर्बस नाश हो जाय वह कैसे समझे और कैसे धीरज धरे! हाय! हाय!! प्राण बड़े अधम हैं कि अब भी नहीं निकलते। (लंबी साँस लेती है और रोती है)

सुलो०—पर एक बात यह भी तो है कि अभी राजा ने न जाने क्या आज्ञा दी। विना कुछ भए इतना दुख उचित नहीं, न जाने राजा छोड़ दें।

वि०—राजसभा में क्या होगा, केवल हमारे शोकानल में पूर्णाहुति दी जायगी और क्या होगा। हाय! प्राणनाथ, अभागिनी के हेतु तुम्हें बड़े दुख भोगने पड़े।

सुलो०—जो तू कहे तो मैं छत पर से देखूँ कि सभा में क्या होता है।

वि०—जो तेरे जी में आवे और जिससे मेरा भला हो सो कर।

सुलो०—चपला, चल हम देखें तो क्या होता है।

चप०—चल। [दोनों जाती हैं

वि०—अब मैं यहाँ बैठी-बैठी क्या करूँगी और मन को कैसे समझाऊँगी। हे भगवन्, मेरे अपराधों को क्षमा कर। मैं बड़ी दीन हूँ, मैंने क्या ऐसा अपराध किया है कि तू मुझे दुख दे रहा है। नहीं, भगवान् का क्या दोष है, सब दोष मेरे भाग्य का है। (हाथ जोड़कर) हे दीनानाथ, हे दीनबंधु, हे नारायण, मुझ अबला पर दया

करो। और जो मैं पतिव्रता हूँ, और जो मैंने सदा निश्छल चित्त से तुम्हारी आराधना की हो तो मुझे इस दुख से पार करो।

(नेपथ्य में)

अरे राजकाज के लोगों ने बड़ा बुरा किया कि विना पहिचाने कांचीपुरी के महाराज गुणसिंधु के पुत्र राजकुमार सुंदर को कारागार में भेज दिया। क्या किसी ने उसे नहीं पहिचाना? मैं अभी जाकर महाराज से कहता हूँ कि यह तो वही है जिसके बुलाने के हेतु आपने मुझे कांचीपुर भेजा था।

वि०—(हर्ष से) अरे यह कौन अमृत की धार बरसाता है? अहा भगवान् ने फिर दिन फेरे क्या? अब मैं भी छत पर चलकर देखूँ कि सभा में क्या होता है।

(जवनिका गिरती है)

तृतीय गर्भांक

स्थान—राजभवन

(राजा सिंहासन पर बैठा है। मंत्री पास है और कुछ दूर पर गंगा भाट खड़ा है।)

राजा—मंत्री, गंगा भाट ने जो कहा सो तुमने सुना?

मंत्री—महाराज, सब सुना।

रा०—तब फिर उनको चोर जानकर कारागार में भेज देना बुरा हुआ !

मं०—महाराज, पहिले यह कौन जानता था कि यह राजा गुणसिंधु का पुत्र है, केवल चोर समझकर दंड दिया गया।

रा०—पर जब से मैंने उसे देखा तभी से मुझको संदेह था कि आकार से यह कोई बड़ा तेजस्वी जान पड़ता है, और मैं सच कहता हूँ कि उसकी मधुर मूर्ति और तरुण अवस्था देखकर मुझे बड़ा मोह लगता था। जो कुछ हो, अब तो विलंब मत कर और शीघ्र ही आप जाकर उसे ले आ, क्योंकि कोतवाल अभी कारागार तक न पहुँचा होगा।

मं०—जो आज्ञा महाराज, मैं अभी जाता हूँ। (जाना चाहता है)

रा०—पर केवल सुंदर को लाना और कोतवाल इत्यादिक को मत लाना।

मं०—जो आज्ञा। [जाता है

रा०—क्यों कविराज, तुम उसे अच्छी भाँति पहिचानते हो कि नहीं ?

गंगा०—महाराज, मैं भली भाँति पहिचानता हूँ और पृथ्वी-नाथ, बिना जाने मैं कोई बात निवेदन भी तो नहीं कर सकता।

रा०—तो गुणसिंधु राजा का पुत्र वही है ?

गं०—महाराज, इसमें कोई संदेह नहीं।

रा०—तुम जो न कहते तो बड़ा अनर्थ होता। यह भी हमारे भाग्य की बात है कि ईश्वर ने धर्म बचा लिया। पर मंत्री के आने में इतना विलंब क्यों हुआ, इससे तुम जाकर देखो तो सही।

गं०—जो आज्ञा। [जाता है

रा०—(आप ही आप) इतना विलंब क्यों लगा ? (शरीर हिलाकर) विद्यावती के संग जो इसका गांधर्व-विवाह हुआ वह अच्छा ही हुआ, क्योंकि नीच कुल में विवाह करने से तो मरना अच्छा होता है, परंतु हमारी विद्यावती ने कुछ अयोग्य नहीं किया। यह एक भाग्य की बात है, नहीं तो मैं अपने हाथ से कन्या को जन्म भर का दुख दे चुका था, अहा भगवान ने बहुत बचाया। (द्वार की ओर देखकर) मंत्री अब तक नहीं आए। (नेपथ्य में पैर का शब्द सुनकर) जान पड़ता है कि सब आते हैं। (गंगा भाट आता है)

गं०—महाराज, कांचीराजपुत्र को मंत्री आदर-पूर्वक ले आते हैं। (मंत्री और सुंदर आते हैं)

रा०—(सुंदर का मुख चूमकर) यहाँ आओ पुत्र यहाँ। (हाथ पकड़कर अपने सिंहासन पर बैठाता है) बेटा, मैंने तुझको आज तक अनेक दुख दिए, इस दोष को

मैं स्वीकार करता हूँ और यह माँगता हूँ कि तुम आज से इन बातों को भूल जाओ।

सुं०—(हाथ जोड़कर) महाराज, आपका क्या दोष है? यह तो आपने मुझे उचित दंड दिया था। यह केवल मेरे यौवन का दोष था कि मैंने आपके यहाँ अनेक अपराध किए, सो मैं हाथ जोड़कर माँगता हूँ कि आप मुझे क्षमा करें।

रा०—(मंत्री से) मंत्री रनिवास में से विद्यावती को शीघ्र ही ले आओ।

मं०——जो आज्ञा। [जाता है

रा०—बेटा, मैंने तुमको जितना दुख दिया है उसके बदले तो मैं तुम्हारा कुछ भी संतोष नहीं कर सकता, पर मैं इतना कहता हूँ कि तूने विद्यावती से जो गांधर्व विवाह किया है उसमें मैं प्रसन्नतापूर्वक सम्मति प्रगट करता हूँ, जिससे अवश्य तुमको बड़ा संतोष होगा।

सुं०—(हाथ जोड़कर) महाराज, आपकी कृपा ही से मुझको बड़ा संतोष हुआ।

(मंत्री आता है)

रा०—मंत्री, क्या विद्यावती आई?

मं०—महाराज, अभी आती है।

रा०—(सुंदर से) बेटा, तुमने पकड़े जाने के समय अपना नाम क्यों नहीं बतलाया, नहीं तो इतना उपद्रव क्यों होता?

सुं०—महाराज, जो मैं नाम बतलाता तो भी मेरी बात कौन सुनता और सभासद जानते कि यह प्राण बचाने को झूठी बातें बनाता है, और फिर क्षत्री के निष्कलंक कुल में उत्पन्न होकर ऐसे बुरे कर्म में अपना नाम प्रगट करने से प्राणत्याग करना उत्तम है।

(सुलोचना और चपला के संग विद्या नीची आँख किए हुए आती है)

वि०—(धीरे से) सखी, मैं पिता को मुँह कैसे दिखाऊँगी ?

सुलो०—(धीरे से) जब पिता ने बुला भेजा है तो कौन सी लज्जा है।

रा०—आ मेरी प्यारी बेटी, इधर आ, आज तक मैंने तुझे अनेक दुख दिए थे, पर वे सब दुख आज संपूर्ण हो गए। (उठकर और विद्या का हाथ पकड़कर) प्यारे, यह लो वीरसिंह का सर्वस धन मैं तुम्हें आज समर्पण करता हूँ। (विद्या का हाथ सुंदर के हाथ में देता है और नेपथ्य में बाजा बजता है और आनंद के शब्द से रंगभूमि भर जाती है) यह बात तो कहना सर्वथा अनुचित है कि इस कन्या पर प्रीति रखना क्योंकि जो परस्पर अत्यंत नेह न होता तो इतना दुख क्यों सहते, परंतु ईश्वर से यह प्रार्थना करता हूँ कि आज से फिर तुम्हें कोई दुख न हो और सर्व्वदा अखंड सुख करो और शीघ्र ही एक बालक हो जिसके देखने से हमारा हृदय और आँखें शीतल हों।

(दोनों दंडवत् करते हैं)

सुं०—महाराज, आपकी दया से मेरे सब दुख दूर हुए, पर यह शंका है कि मैं आपकी प्रसन्नता के हेतु कोई योग्य सेवा नहीं कर सका।

गं०—आज अनंद भयो अति ही
बिपदा सब की दुरि दूरि नसाई।
मोद बढ़यो परजागन को
दुख को कहुँ नाम न नेकु लखाई॥
मंगल छाइ रह्यो चहुँ ओर
असीसत हैं सब लोग लुगाई।
जोरी जियो दुलहा-दुलही की
बधाई बधाई बधाई बधाई॥

सुं०—महाराज, आपने मुझे यद्यपि सब सुख दिया तथापि एक प्रार्थना और है।

राजा—कहो, ऐसी कौन वस्तु है जो तुमको अदेय है ?

सुं०—(हाथ जोड़कर) महाराज ने यद्यपि मालिन को प्राण-दान दिया है, परंतु देश से निकाल देने की आज्ञा है सो अब उसके सब अपराध क्षमा किए जायँ।

रा०—(हँसकर) जो तुम कहते हो सोई होगा। (मंत्री से) मंत्री, मालिन के सब अपराध क्षमा हुए, इससे अब उसे कोई दंड न दिया जाय।

मं०—जो आज्ञा।

रा०—(मंत्री से) मंत्री, अब तुम शीघ्र ही व्याह के सब मंगल साज सजो, जिसमें नगर में कहीं सोच का नाम न रहे, क्योंकि पुरवासियों को दुलहा-दुलहिन के देखने की बड़ी अभिलाषा है और मैं वर-वधू को लेकर रनिवास में जाता हूँ।

मं०—महाराज, हम लोगों का जीवन आज सुफल हुआ।

(मंत्री और भाट एक ओर से जाते हैं और राजा और विद्यासुंदर दूसरी ओर से और उनके पीछे सखी जाती हैं)

(जवनिका गिरती है)

नेपथ्य में मंगल का बाजा बजता है।

पाखंड-विडंबन

रूपक

संवत १९२९

पाखंड-विडंबन

(शांति और करुणा आती हैं)

शांति—(सोच से) मेरी प्यारी माँ कहाँ है ? जल्दी मुझे अपना मुखड़ा दिखा। हा !

जो बन मैं सरितान के तीर, जहाँ बहै सीतल पौन सुहाई।
देवन के घर मैं, ऋषि के घर मैं, जिन आपुनी आयु बिताई॥
सज्जन के चित में जो रही, हिय मैं जिन पुन्य की बेलि बढ़ाई।
सो परी जाय पखंडिन के कर, गाय ज्यों बाँधि कै राखै कसाई॥

अब मैं जी के क्या करूँगी ? क्योंकि,

मम देखे बिन न्हाय नहिं, नाहिं पियै, नहिं खाय।
मो बिन प्रान न राखिहै, प्यारी श्रद्धा माय॥

हा! तो अब श्रद्धा माता के बिना जीना तो दुख ही भोग करना है। सखी करुणा, तू मेरा सोच मत करियो, मैं तो आग में जल के अपनी माँ के पास पहुँचूँगी। (रोती है)

करु०—(सोच से) सखी, यह क्या करती है, तेरा यह दुख मुझसे सहा नहीं जाता। तू ऐसी बातें कहकर मुझे क्यों

अधमरी किए देती है। सखी, धीरज धर और प्राण मत दे, तब तक मैं उसको तीर्थों में, गंगाजी के किनारों पर, सूने बनों में, मुनि लोगों की कुटियों में और देवता के मंदिरों में ढूँढ़ती हूँ। ऐसा न हो कि वह महाराज महामोह के डर से कहीं छिप रही हो।

शां०—सखी, अकारथ क्यों खोज करती है? क्योंकि,

कूल मैं छाइ रहे हैं सिवार, घिरे हैं बिखानस के समुदाई।
त्यों घर ब्राह्मन के चरु सों कुश सों समिधान सों राखे छिपाई॥
चारहू आश्रम के इमि मूढ़न कामना की बहु बेलि बढ़ाई।
बातहू नाहिं कहूँ सुनिए कित श्रद्धा गई कछू जान न जाई॥

करु०—सखी, ऐसा कभी नहीं हो सकता' क्योंकि वह तो सतोगुनी श्रद्धा है, उसकी ऐसी दुर्गति तो सपने में भी नहीं हो सकती।

शां०—सखी, जब दैव फिर जाता है तो क्या-क्या नहीं होता, देख—

श्रीरघुनाथ की प्राण-प्रिया मिथिलेश-लली दससीस चही है।
वेद चुराय कै दानव के गन भागे पताल न जाय कही है॥
वाम मदालसा जो सुरलोक की सो छलकै खल दैत लही है।
जो विधि वाम भयो सजनी तब जो जो करै सो अचर्ज नहीं है॥

तो चल अब पाखंड ही के घर में चलकर खोज करें।

करु०—ठीक है, चल। (दोनों घूमती हैं)

करु०—(डर से) सखी, मुझे जल्दी बचा।

शां०—हैं! क्या कोई राक्षस है?

करु०—देख, इधर देख, यह शरीर में कीचड़ लगाकर अपने को मैला-कुचैला बनाए, नोचे-खसोटे बाल, नंगा-धिड़ंगा, खोंड़े-मैले दाँत, भोड़ा-भयावनी सूरत, राक्षस की मूरत हाथ में झाड़ू सा एक मोरछल लिए इधर चला आता है।

शां०—सखी यह राक्षस नहीं है, क्योंकि ऐसा बलवान् नहीं जान पड़ता।

करु०—तो सखी फिर यह कौन है?

शां०—सखी, हो न हो यह पिशाच है।

करु०—सखी, दिन में पिशाच का गम्य कहाँ।

शां०—तो कोई नरक से तुरत का ढकेला पापी होगा।

(पास से देखकर और जानकर)

अरे जाना! यह तो महाराज महामोह का भेजा दिगंबर सिद्धांत है, तो इससे दूर ही रहना चाहिए। (मुँह फेरती है)

करु०—सखी, एक-दो घड़ी यहीं ठहर तो श्रद्धा को खोजें।

(दोनों किनारे खड़ी हो जाती हैं, ऊपर कहे हुए भेष से दिगंबर सिद्धांत आता है)

दिगं०—नमो अर्हंत, नमो अर्हंत।

नवद्वारांरो देह धर तिसमां आतम दीप।
जिन-वररो सिद्धांत यह देसी मोच्छ समीप॥

(आकाश की ओर देखकर)

अरे सुणारे सरावगियो सुणौ अरे,

या मल रूपी देह माँ कसी जलारी सुद्धि।
आतम विमल स्वभाव छै यह रिषिआँरी बुद्धि॥

(ऊपर कान लगाकर)

क्या कह्या, कौण रिषिआँरी? अरे सुण—

जौ न करौ परनाम दै मिष्ट भोग सतकार।
तौ बैरहु तिनसों न कर जदपि रमत रिषि दार॥

सरधे इठे इठे।

(वैसा ही भेष बनाए श्रद्धा आती है)

श्र०—हुक्म, महाराज।

(शांति मूर्च्छा खाके गिरती है)

दिगं०—अरे सरावकाँरा कुल एक छिण मत छोड़िया।

श्र०—जो हुक्म, महाराज। [जाती है

करु०—सखी, धीरज धर, धीरज धर, तू इतना क्यों डरती है, क्योंकि मैंने अहिंसा से सुना है कि पाखंडियों को भी तमोगुण की बेटी श्रद्धा है, इससे यह तो तमोगुनी श्रद्धा है।

शां०—(उठकर और अपने को सँभालकर) सखी, ठीक है।

दुराचार मैं अति लपटाई। वेष कुरूप न देख्यौ जाई॥

सब बिधि हीन अहै गुन माहीं। माता की सरि कोउ बिधि नाहीं ॥

तो अब हम लोग बौद्धों के घर में उसे खोजें।

(शांति और करुणा घूमती हैं। हाथ में पोथी लिए भिक्षुक बुद्धागम (आता है)

भि०—(चिंता करके) अले अले उपाछको, छुनो-छुनो।

छन छन मैं बिगरत बनत जग ता भावहि मानि।
छोड़ि बासना सकल भे मुक्त तत्त्व हम जानि ॥

(फिरकर बड़े चाव से)

अले अले अहाहा! अले छावाछ-छावाछ, इछ धलम्म मैं दोनों लोअ का छुख है।

लहने को मिआ घल छुंदलछा, अलु भोअन को मिली छुंदल नाली।
लद्द अनेअन भोजन कों मिए, छैन के एत ऐ छेज छुखाली ॥
कै छलधा जुअती छव अंगन, लाओत तेअ फुएआ छुवाली।
दै गल मैं बइयाँ छुख छों इमि, बीअत है नित लात उजाली ॥

करु०—सखी, यह ताड़ सा लंबा, बड़ा गेरुआ काछे, सिरमुँडा कौन है जो इधर की ओर चला आता है?

शां०—सखी, यह बुद्धागम है।

भि०—(ऊँचे स्वर से) अले अले उपाछकओ, अले अले भिच्छुओ, अले सुनो, भगवान छौगत छुनो—

(पुस्तक पढ़ता है)

अले भिच्छुओ अम दिव्य चच्छ छे छव लोकों की दुलगइ छुलगइ छव देखते ऐं। अले छव छंछार छनिक ऐ, अले आंभी थायी नईऐ, अल्ले इन्छे जोऊ के दाछभिच्छुओछे जिय की लाअ अच्छो नई। अले वछ बछ इनकी लाअ छे। (नेपथ्य की ओर देखकर) छलधे, इधल आना इधल।

(श्रद्धा भिक्षुकी बनी आती है)

श्र०—आज्ञा, महाराज।

भि०—अले उपाछक औ भिच्छुओ छे छव्वदा लपती लहु।

श्र०—जो आज्ञा, महाराज। [जाती है

शां०—सखी, यह भी तामसी श्रद्धा होगी।

करु०—सखी, ऐसी ही है।

दिगं०—(भिक्षुक को देखकर बड़े ऊँचे शब्द से) अरे-अरे भिच्छुक इठे आ, इठे आ, म्हाँ तोसूँ कछू पूछाँगा।

भि०—(क्रोध से) हट पाप पिछाचकी मूअत, का बकताऐ।

दिगं०—अरे क्रोध क्यूँ करै है रे। हों शास्त्रेरो विचार पूछवावालोछूं।

भि०—अले छपनअ, तू छाछतल वो जानताए, अच्छा देखतेऐ। (बैठकर) पूछ, का पूछता ऐ।

दिगं०—अरे कहे छन-विनास वाला मतवारो तेरो कसो ब्रत छै।

भि०—[हिंदी] सुन छनछन में ज्ञान का नाश और उदय होता है इससे जब कोई विज्ञान दशा में प्राण त्याग करता है तो उसको मोक्ष होता है।

दिगं०—अरे मूरख, अरे जो कोई मन्वंतर मा कोई रो मोक्ष-होवावालो छे वा भयो तो वह तेरो उपकार कैसे करेगो और पूछूँ के यह धरमरो उपदेश काणने कियो छै।

भि०—अले छलवग्ग बुध भ ग्रान ने उपदेछ किया ऐ।

दिगं०—अरे बुद्ध सरवज्ञ छे यह थैने कहाँ सूँ काढो रे ?

भि०—अले उनके छाछतलै छे छिद्ध ऐ।

दिगं०—अरे थारो बुद्धि के, अरे जो वाही के कहेसुं सर्वज्ञता होती होय तो हूँ भी कहूँ छूँ के हूँ सर्वज्ञ छूँ, और हूँ भले जानूँ छूँ, जो हूँ सर्वज्ञांरो सर्वज्ञ छूँ. और थें और थारे बाप दादे सात पुरषा म्हारे दास छैं।

भि०—अले पाप पिछाच, अले मैंआ कुचैआ, अले हम तेए दाछ ऐं ले।

दिगं०—अरे दासियों के दास! यह तो मैंने एक दृष्टांत दियो। अरे अब तेरे हित की कहूँ सुन। बुद्ध का धरम छांड़ि और अर्हत को धरम लै।

भि०—अले पापी, आप नाछ ओकल दूछलों को वी नाछ कलता ऐ।

[हिं०] छोड़ि सबै घरबार को करि निंदित के कर्म।
भयो पिशाच समान तू लै जैनिन के धर्म॥

श्रौल वी जैन धलम्म को छलवग्गता तैने कैछै जानी ।

दिगं०—अरे ग्रह-नक्षत्र, चंद्र सूर्य्य ग्रहन के ज्ञान के संवाद का देख वाही सूं भगवान अरहंतग सर्व्वज्ञता प्रगटथायछै ।

भि०—(हँसकर) अले जोतिछ छाछतल तो अनादि ए, न जाने किछ ने तुम लोओ को धोखा देकल इछ धलम मै लखाछै।

[हिं०] है जितनो बड़ो देह को पिंडक जीवहू तैसई रूपहि धारिहै। तासों न जानिहै और कछू निज देह ही को सब बात सम्हारिहै॥ जाकी नहीं गति दूसरे लोक मैं सो किमि बात कहूँ को विचारिहै। कुंभ के भीतर दीप ढँक्यो सो न बाहर क्यौंहूँ प्रकाश पसारि है॥

इछछे दोनों लोअ-विलुद्ध जैनमत छे, छुगत भगवान ही का मत अच्छाऐ, इछमें छंदेअ कुछ नइ ऐ ।

शां०—सखी, चल उधर चलें ।

करु०—चल, सखी ।

(दोनों घूमती हैं)

शां०—सखी, देख यह सामने सोम सिद्धांत आता है तो चल इसके पीछे चलें ।

(कापालिक का रूप धारण किए सोम सिद्धांत आता है)

कापा०—(घूमकर)

हाड़ को कंठ मैं चारु माला धरे ।
मर्घटी खोपड़ी मैं अहारै करे॥

देखते जोग की दृष्ट मंझार से।
एक श्री संभु से भिन्न संसार से॥

दिगं०—अरे यह पुरुष कापालिक व्रत धारे है तौ यासूँ होहूँ कछु पूछूँ। (पास जाकर)

बोल रे बोल कापालिका तू रे।
हाड़ और मूड़ को कंठ माला धरे॥
कौन सो धर्म्म रे कौन सो धर्म्म है।
मोच्छ जामैं मिलै सो कसो कर्म्म है॥

कापा०—अरे छपनक, सुन जो हम लोगों का धर्म्म है।

नित सीस के काटे लहू सों भरे चरबी लगे मास को होम करैं।
पुनि खोपड़ी ब्राह्मण जात की लाइकै पारन कै हित मद्य भरैं॥
करु काटि कै कंठ कठोर तुरंत के रक्तन कुंभ भराइ धरैं।
मम देवता भैरवनाथ जू हैं, जिन्हैं पूजत लोग अनेक तरैं॥

भि०—(कान मूँदकर) वुद्ध वुद्ध अले वला कथिन धलम्म एं।

दिगं०—(कान मूँदकर) अर्हत अर्हत, अरे कोऊ बड़े पापी ठगिया ने या बिचारा कूँ ठगलियोछै!

कापा०—(क्रोध से) क्यों रे पाप पाखंडियों में नीच, मुड़मुंड, नोचे-खसोटे! अरे चौदहों भुवन के स्वामी, स्थिति उत्पत्ति प्रलय पालन करनेवाले, वेदांत भगवान भवानीनाथ का मत ठगों का है! क्यों रे? अरे सुन इस मत की महिमा।

हरि हर आदिक देव गनन को बाँधि मँगाऊँ।
नभ पथ मैं नच्छत्रन की गति रोकि थिराऊँ॥
परवत नदी समुद्र नगर नर सह यह धरनी।
इक प्याले मैं घोरि पिऊँ, यह सुनि मम करनी॥

दिगं०—अरे कपालिया सोई तो कहूँ छूँ कै काहू इंद्रजाल-वारे ने तोकूँ इंद्रजाल दिखाइ कै भरमाइ दियो छै।

कापा०—अरे पापी, फिर भी भगवान् पर इंद्रजालवाले का आक्षेप करता है? तो अब इसका घमंड दूर करना चाहिए। (खड्ग खींचकर) तो अब मैं

अहो खींच कै खड्ग की तीक्ष्ण धारैं।
गरौ काटि कै दुष्ट को मारि डारैं॥
लग्यौ फेन ताजो लहू यासु लैहौं।
अबै हौं भवानी भवै तृप्ति दैहौं॥

(खड्ग लेकर दौड़ता है)

दिगं०—(डर से) महाभाग "अहिंसा परमो धर्म्मः।"

(भिक्षुक की गोद में छिपता है)

भि०—(कापालिक को निवारण करके) महालाज, महालाज, हँछी की वकवाद में इछ तपच्छी को बध उचित नईऐ।

कापा०—(खड्ग मियान में रखता है)

दिगं०—(फिर उठकर) जो महाराजरो क्रोध शांत भयो होय तो हौं कछू पूछिवे की इच्छा करूँ छूँ।

कापा०—पूछ, क्या पृछता है ?

दिगं०—आपको धरम्म तो सुन्यौ पर मोच्छ को सुख कसो होय छे ?

कापा०—सुन

है न कछू बिन भोग के या जग, कौन जो दूसरो सुक्ख बतावै ।
मानि कै वेद न ज्ञानहिं छाँड़िकै ह्वै पथरा निज मुक्ति बनावै ॥
पारवती सम प्यारिन सों विहरै रति मैं मुख सों मुख लावै ।
ह्वै शिव नाचै अनंद भरो जग मैं सुख सों निज काल बितावै ॥

भि०—महालाज, वैलागिओं को तो ऐछी मुत्ति न अच्छी लएगी ।

दिगं०—अरे खप्परवारे, जो तू रीसै न तो हों यह पूछूँ जो शरीर और प्रेम दोऊ होते हू मुक्ति तो वेद में नहीं ।

कापा०—(आपही आप) अरे इनके चित्त में तनिक भी श्रद्धा नहीं है । अच्छा देखो । (प्रकाश) श्रद्धे, इधर तो आना ।

(कपालिनी बनी हुई श्रद्धा आती है)

करु०—सखी, देख यह रजोगुण की बेटी श्रद्धा है ।

दृगयुग अलसाने कंज से नील सोहै ।
जुवजनगलमाला अस्थि की देखि मोहै ॥
कुच अरु उरु भारैं चाल धीरी लई है ।
मुखछवि यह देखौ चंद की सी भई है ॥

श्र०—(घूमकर) रावलजी, मैं आई, कहिए क्या आज्ञा है ?

कापा०—प्यारी, पकड़ तो इस भिच्छुक को।

(श्रद्धा भिक्षुक को लपट जाती है)

भि०—(लपटकर और रोमांच दिखाकर) वाहले, कपालिनी का लपतने का छुख। [हिंदी में]

वार अनेकन रंडन के हम लै निज कंठ लगायो।
चूमि मुखै गल मैं भुज डालि सदा निज जन्म बितायो॥
औरहु भोग अनेक किए कुचवारिन कों लपटायो।
जो सुख मांहि कपालिनी दीन न सो कबहूँ हम पायो॥

अले कापालिक चलित्तलवाला पवित्तलए, अहाहा अले छोम छिद्धान्त इच्छा कलने के जोग ऐ, अले यह बला अचलज धलम ऐ। महालाज, हमने आजछं वुद्धा का मत छोआ और कौल धलम लिआ, आप हमाले आचालज ओ, हम आपके छिछ भए, छो अब हमको पलमेछुली दिच्छा दीजिए।

दिगं०—अरे भिच्छुक, तू अबी कपालिनी के संग सूँ दूषित होय गयो सो दूर हट।

भि०—अले दिगंवल तू अवी कपालिनी का छुख का जानै!

कापा०—प्यारी पकड़ इसको भी।

(श्रद्धा दिगंबर को लपटती है)

दिगं०—(रोमांचित होकर) अहाहा! वाह रे! कपालिनी, गल लाग वारो सुख अरी सुंदरी एक वार तो फेर गरे सूँ

लपटि जा, (स्वगत) अरे ऐसी समय नागो रहिबो उचित नहीं, तासूं लिंगोटी लगाय लेऊँ तो ठीक परै। (लिंगोटी कसकर) अहाहा! (गाता है)

अरे सुण पीण-पयोधर-वारी।
थारे इन नेणांरी सोभा मृगन लजावनहारी॥
री कपालिनी जौं तू म्हासूँ रमण करै मिलि प्यारी।
तौ सरावगिणि और जतिणरो काम कछु न यहां री॥
अरे कपालिक रो दरसन ही मोच्छ को सुख छै।
अरे आचारज, हूँ थारो सेव करूँ, हम कूँ भैरवी दिच्छा ध्यानसूँ दै।

कापा०—अच्छा बैठो।

(दोनों बैठते हैं। कापालिक हाथ में बोतल लेकर ध्यान करता है)

श्र०—रावलजी, बोतल मद से भर गया।

कापा०—(देखकर और कुछ पीकर, शेष भिक्षुक को देता है)

यह पवित्र भवभयहरण, अमृत पियो इक साथ।
करम पास यासों कटत, भाखत भैरवनाथ॥

(दोनों कुछ संकोच करते हैं)

दिगं०—अरे म्हारे अर्हतानुशासन में मद पीवारी आज्ञा तो कांई नहीं।

भि०—अले कापालिक की जूथी मदिला कैछे पियेंगे।

कापा०—क्या सोचते हो ? भद्रे, इन दोनों का पशुत्व अब भी नहीं गया। ये हमारे पीने से मदिरा को जूठी समझते हैं, इससे तू अपने अधर के रस से इसको पवित्र करके इन दोनों को दे, क्योंकि कथावाले भी कहते हैं "स्त्रीमुखं तु सदा शुचि।"

श्र०—महाराज की जो आज्ञा। (आप पीकर बोतल भिक्षुक को देती है)

भि०—महापसादे। (बोतल लेकर पीता है) अहा कैसी छुंदल दुधियाए।

बहु बार बारबधून के सँग पान हम मद को करयौ।
जो अधर मधु के संग मौलसिरी सुगंधन सों भरयौ॥
यह तो सुवासित आप जोगिनि वदन संगम जानही।
जेहि जानि दुरलभ देवगन लै अमृत वहु सुख मानही॥

दिगं०—अरे भिक्षुक, सब आप ही आप मत पी जा, कापालिनीरी जूठी मीठी मदिरा थोड़ी म्हारे कूं बी तो छोड़।

(भिक्षुक दिगंबर को बोतल देता है)

दिगं०—(पीकर) अहाहा ! वाह रे या मदिरा की मिठास, वाह रे स्वाद, वाह रे सुगंध, वाह रे मादकता, अरे मैं तो अर्हंत के मत में रह्यौ सो ऐसी मदिरा बिना बहुत ही ठग्यो गयो रे, अरे भिक्षुक मेरो तो माथो घूमै छै, तासों हूँ तो सोऊँगो।

भि०—बहुत थीक ऐ। (दोनों लेटते हैं)

कापा०—प्यारी, यह आज विना मोल के दो दास मिले हैं, तो उठ इस आनंद में हमलोग नृत्य करें। (दोनों नाचते हैं)

दिगं०—अरे भिक्षुक, यह कापालिक, अरे हौं भूल्यो, आचारज कापालिनी के संग नाच रह्यौ छै तो हम दोऊ क्यों न नाचैं।

भि०—थीक ऐ। (दोनों नाचते हैं)

दिगं०—("अरे सुण पीण-पयोधर-वारी..." यह गाता है और गिरता गिरता नृत्य करता है)

भि०—आचालज! इस मत में यह अचलज ऐ कि विना पलिछ्लम ही छब छिद्धि मिलती ऐ।

कापा०—अरे तूने इसमें आश्चर्य क्या समझा ?

जाहि विलोकौं बनै सोई सिद्ध, धरूँ निज चित्त जो सोई करौं।
अरु कामकलान की बातैं अनेक पढ़ाइ सिखाइ कै कष्ट हरौं॥
पुनि मोहन मारन कर्षन थंभन आदि अनेकन सिद्धि भरौं।
वह कौनसी कामना जो न मिले जिय यामें कछु न संदेह धरौं॥

दिगं०—अरे कापालिक, (कुछ ठहरकर) नहि आचारज वा आचार्ज रावलजी, श्री आचारजजी महाराज।

भि०—अले इछ विचाले तपछ्ली ने कवी मद-पान तो कियाई नई था, इच्छे वावला ओगया ऐ। महालाज, आप इछका मद उताल दीजिए।

कापा०—ठीक है। (अपने जूठे पान की सीठी देता है)

दिगं०—(खाकर और स्वस्थ होकर) आचार्य, हों यह पूछूँ के जैसी या मदिरा मैं आहरण सिद्धि छे वैसी स्त्री-पुरुष के आहरण मैं छे के नहीं ?

कापा०—अरे यह क्या पूछता है, देख—

सुर मुनि विद्याधर की नारी। यक्षरक्ष किन्नर की प्यारी ॥
स्वर्ग भूमि पाताल छिपाई। भोगैं सब विद्या बल लाई ॥

दिगं०—(कुछ उँगलियों पर गिनकर) सुणौ सुणौ अरे हमने गनित सूं जान्यौ के हम सब महामोह के किंकर हैं।

दोनों—(स्मरण आना नाट्य करके) ठीक है, आपने बहुत ठीक समझा है।

दिगं०—तो अब राजा का कछु काम करो।

कापा०—वह क्या ?

दिगं०—धर्म्मरी बेटी श्रद्धा कूं पकड़ कै म्हाराजरे पास ले चलो।

कापा०—बोल वह दासी की पुत्री कहाँ है, अभी उसको विद्या के बल से खींच मँगाता हूँ।

दिगं०—(खड़ी लेकर गणित करता है।)

शां०—सखी, देख यह सब माता की बात करते हैं, इससे कान लगाकर सुनना चाहिए।

करु०—सखी, ठीक है। (दोनों सुनती हैं)

दिगं०—(विचारकर)

नहिं जल थल पाताल मैं, गिरवर हूँ मैं नाहिं।
कृष्णभक्ति के संग वह, बसत साधु-चित माहिं।

करु०—सखी, बधाई है! सुन तेरी माँ श्रद्धा श्रीकृष्ण की भक्ति महारानी के संग है।

(शांति हर्ष नाट्य करती है)

कापा०—और कामदेव के डर से भागकर धर्म्म कहाँ छिपा है?

दिगं०—(गिनकर "नहिं जल थल..." फिर से पढ़ता है।)

कापा०—(सोच से) हा! महाराज के बुरे दिन आए।

हरिभक्ति सबै कछु सिद्ध करै। सरधा सतकन्यका दोष हरै॥
पुनि धर्म्महूँ सो कर छूट गयो। सबहू विधि हाय अनाथ भयो॥

जो होय। प्राण रहे तक तो स्वामी का काम साधना ही है, तो अब हम महाभैरवी विद्या का प्रयोग करके धर्म्म और श्रद्धा को खींचते हैं।

(चारों जाते हैं)

शां०—सखी, चल हमलोग भी इन पापियों का मनोरथ देवी वि[illegible]भक्ति से कहें। [दोनों जाती हैं

(जवनिका पतन)

इति श्रीप्रबोधचंद्रोदय नाटक में पाखंड-विडंबन नाम यह तीसरा खेल समाप्त हुआ।

धनंजय-विजय

व्यायोग

संवत् १९३०

प्यारे !

निश्चय इस ग्रंथ से तुम बड़े प्रसन्न होगे; क्योंकि अच्छे लोग अपनी कीर्त्ति से बढ़कर अपने जन की कीर्त्ति से संतुष्ट होते हैं। इस हेतु इस होली के आरंभ के त्योहार माघी-पूर्णिमा में हे धनंजय और निधनंजय के मित्र ! यह धनंजय-विजय तुम्हें समर्पित है, स्वीकार करो।

तुम्हारा

ह =

विदित हो कि यह जिस पुस्तक से अनुवाद किया गया है वह संवत् १५३७ की लिखी है और इसी से बहुत प्रामाणिक है, इससे इसके सब पाठ उसी के अनुसार रखे हैं।

धनंजय-विजय

व्यायोग

हरेर्लीलावराहस्य, द्रंष्ट्रादण्डः स पातु वः।
हेमाद्रिकलशा यत्र, धात्री छत्रश्रियं दधौ ॥

(सूत्रधार आता है)

सू०—(चारों ओर देखकर) वाह ! वाह ! प्रातःकाल की कैसी शोभा है !

(भैरव)

भोर भयो लखि काम-मातु, श्रीरुकमिनि महलन जागीं ।
विकसे कमल, उदय भयो रवि को, चकई अति अनुरागीं ॥
हंस हंसिनी पंख हिलावत, सोइ पटह सुखदाई ।
आँगन धाइ धाइ कै भँवरी, गावत केलि बधाई ॥

(आगे देखकर) अहा शरद ऋतु कैसी सुहावनी है !

(भैरव वा ठुमरी)

सब कों सुखदाई अति मन भाई शरद सुहाई आई।
कूजत हंस कोकिला, फूले कमल सरनि सुखदाई॥
सूखे पंक हरे भए तरुवर दुरे मेघ, मग भूले।
अमल इंदु तारे भए, सरिता-कूल कास-तरु फूले॥

निर्मल जल भयो, दिसा स्वच्छ भई, सो लखि अति अनुरागे।
जानि परत हरि शरद विलोकत रतिश्रम आलस जागे॥

(नेपथ्य की ओर देखकर) अरे! यह चिट्ठी लिए कौन आता है?

(एक मनुष्य चिट्ठी लाकर देता है, सूत्रधार खोलकर पढ़ता है)

"परम प्रसिद्ध श्रीमहाराज जयदेवजी—

दान देन में, समर में, जिन न लही कहुँ हारि।
केवल जग में विमुख किय, जाहि पराई नारि॥
जाके जिय में तूल सो, तुच्छ दोय निरधार।
खीझे अरि को प्रबल दल, रीझे कनक पहार॥

वह प्रसन्न होकर रंगमंडन नामक नट को आज्ञा करते हैं।

अलसाने कछु सुरत-श्रम, अरुन अधखुले नैन।
जगजीवन जागे लखहु, दैन रमा चित चैन॥
शरद देखि जब जग भयो, चहुँ दिसि महा उछाह।
तौ हमहूँ को चाहिए, मंगल करन सचाह॥

इससे तुम वीर रस का कोई अद्भुत रूपक खेलकर मेरे गदाधर इत्यादि साथियों को प्रसन्न करो।" ऐसा कौन सा रूपक है? (स्मरण करके) अरे जाना।

कवि मुनि के सब शिशुन कों, धारि धाय सी प्रीति।
सिखवत आप सरस्वती, नित बहु विधि की नीति॥
ताही कुल में प्रगट भे, नारायण गुणधाम।
लह्यो जीति बहु वादि गन, जिन वादीश्वर नाम॥
अभय दियो जिन जगत कों, धारि जोग-संन्यास।
पै भय इक रवि कों रह्यो, मंडल भेदन त्रास॥
तिनके सुत सब गुन भरे, कविवर कांचन नाम।
जाकी रसना मनु सकल, विद्या गन की धाम॥

तो उस कवि का बनाया धनंजय-विजय खेलैं। (नेपथ्य की ओर देखकर) यहां कोई है?

(पारिपार्श्वक आता है)

पा०—कौन नियोग है कहिए?

सू०—धनंजय-विजय के खेलने में कुशल नटवर्ग को बुलाओगे।

पा०—जो आज्ञा। [जाता है

सू०—(पश्चिम की ओर देखकर)

सत्य प्रतिज्ञा करन को, छिप्यो निसा अज्ञात।
तेजपुंज अरजुन सोई, रवि सों कढ़त लखात॥

(विराट के अमात्य के साथ अर्जुन आता है)

अ०—(उत्साह से) दैव अनुकूल जान पड़ता है क्योंकि—

जो औषध खोजत रहै, मिलै सु पगतल आइ।
विना परिश्रम तिमि मिल्यौ, कुरुपति आपुहि धाइ ॥

सू०—(हर्ष से देखकर) अरे यह शामलक तो अर्जुन का भेस लेकर आ पहुँचा, तो अब मैं और पात्रों को भी चलकर बनाऊँ। [जाता है

इति प्रस्तावना।

अ०—(हर्ष से)

गोरच्छन, रिपु-मान-वध, नृप विराट को हेत।
समर हेत इक बहुत सब, भाग मिल्यौ या खेत ॥

और भी।

वहै मनोरथ फल सुफल, वहै महोत्सव हेत।
जो मानी निज रिपुन सों, अपुनो बदलो लेत ॥

अमा०—देव, यह आपके योग्य संग्राम-भूमि नहीं है।

जिन निवात-कवचन वध्यौ, कालकेय दिय दाहि।
शिव तोष्यौ रनभूमि जिन, ये कौरव कहँ ताहि ॥

अ०—वाह सुयोधन वाह ! क्यों न हो।

लह्यौ बाहुबल जीति कै, जो तुव पुरुखन राज।
सो तुम जूआ खेलि कै, जीत्यौ सहित समाज ॥

अब भीलन की भाँति इमि, छिपि कै चोरत गाय।
कुल-गुरु-ससि, तुव नीचपन, लखि कै रह्यौ लजाय॥

अमा०—देव !

जदपि चरित कुरुनाथ के, ससि-सिर देत झुकाय।
तऊ रावरो विमल जस, राखत ताहि उचाय॥

अ०—(कुछ सोचकर) कुमार नगर के पास धरे हुए शस्त्रों को लेने रथ पर बैठकर गया है, सो अब तक क्यों नहीं आया ?

(उत्तर कुमार आता है)

कु०—देव, आपकी आज्ञानुसार सब कुछ प्रस्तुत है, अब आप रथ पर विराजिए।

अ०—(शस्त्र बाँधकर रथ पर चढ़ना नाट्य करता है)

अमा०—(विस्मय से अर्जुन को देखकर)

रनभूषन भूषित सुतन, गतदूषन सब गात।
सरद सूर सम घन-रहित, सूर प्रचंड लखात॥

(नायक से)

दच्छिन खुर महि मरदि हय, गरजहिं मेघ-समान।
उड़ि रथ-धुज आगे बढ़हिं, तुव बस विजय-निसान॥

अ०—अमात्य ! अब हमलोग गऊ छुड़ाने जाते हैं। आप नगर में जाकर गोहरण से व्याकुल नगरवासियों को धीरज दीजिए।

अमा०—महाराज जो आज्ञा। [जाता है

अ०—(कुमार से) देखो, गऊ दूर न निकल जाने पावैं, घोड़ों को कसके हाँको।

कु०—(रथ हाँकना नाट्य करता है)

अ०—(रथ का वेग देखकर)

लीकहु नहिं लखि परत चक्र की, ऐसे धावत।
दूर रहत तरु-वृंद छनक मैं आगे आवत॥
जदपि वायु-बल पाइ धूरि आगे गति पावत।
पै हय, निज-खुर-वेग पीछहीं मारि गिरावत॥
खुर-मरदित महि चूमहिं मनहु धाइ चलहिं जब वेगि गति।
मनु होड़ जीत-हित चरन सों आगेहि मुख बढ़ि जात अति॥

(नेपथ्य की ओर देखकर) अरे अरे अहीरो! सोच मत करो क्योंकि--

जब लौं बछरा करुना करि महि तृन नहिं खैहैं।
जब लौं जननी बाट देखि कै नहिं डकरैहैं॥
जब लौं पय पीयनहित वे नहिं व्याकुल ह्वैहैं।
ताके पहिलेहि गाय जीति कै हम ले ऐहैं॥

(नेपथ्य में) बड़ी कृपा है।

कु०—महाराज! अब ले लिया है कौरवों की सेना को, क्योंकि—

हय-खुर-रज सों नभ छयो, वह आगे दरसात।
मनु प्राचीन कपोत गल, सांद्र सुरुचि सरसात॥

करिवर मद-धारा तिया, रमत रसिक जो पौन।
सोई केलिमद गंध लै, करत इतैही गौन॥

अ०—वह देखो कौरवों की सेना दिखा रही है।

चपल चवँर चहुँ ओर चलहिं सित छत्र फिराहीं।
उड़हिं गीधगन गगन जबै भाले चमकाहीं॥
घोर संख के शब्द भरत बन मृगन डरावति।
यह देखौ कुरुसैन सामने धावति आवति॥

(बाँह की ओर देखकर उत्साह से)

बन-बन धावत सदा धूर धूसर जो साहीं।
पंचाली-गल-मिलन-हेतु अब लौं ललचाहीं॥
जो जुवती-जन-बाहु-बलय मिलि नाहिं लजाहीं।
रिपुगन! ठाढ़े रहौ सोई मम भुज फरकाहीं॥

(नेपथ्य में)

फेरत धनु टंकारि दरप शिव सम दरसावत।
साहस को मनु रूप काल सम दुसह लखावत॥
जय-लच्मी सम वीर धनुष धरि रोप बढ़ावत॥
को यह जो कुरुपतिहि गिनत नहिं इतही आवत।

(दोनों कान लगाकर सुनते हैं)

कु०—महाराज! यह किसके बड़े गंभीर वचन हैं?

अ०—हमारे प्रथम गुरु कृपाचार्य के।

(फिर नेपथ्य में)

शिव-तोषन खांडव-दहन, सोई पांडवनाथ।
धनु खींचत घट्टा पड़े, दूजे काके हाथ॥
छूटि गए सब शस्त्र तऊ धीरज उर धारे।
बाहु-मात्र अवशेष दुगुन हिय क्रोध पसारे॥
जाहि देखि निज कपट भूलि ह्वै प्रगट पुरारी।
साहस पै वहु रीझि रहे आपुनपौ हारी॥

अरे यह निश्चय अर्जुन ही है, क्योंकि—

सागर परम गँभीर नघ्यो, गोपद सम छिन मैं।
सीता-विरह-मिटावन की अद्भुत मति जिन मैं॥
जारी जिन तृन फूस हूस सी लंका सारी।
रावन-गरव मिटाइ हने निसिचर-बल भारी॥
श्रीराम-प्रान-सम, वीर-वर, भक्तराज, सुग्रीव-प्रिय।
सोइ वायुतनय धुज बैठि कै गरजि डरावत शत्रु-हिय॥

(दोनों सुनते हैं)

कु०—आयुष्मान्,

भरी बीर रस सों कहत, चतुर गूढ़ अति बात।
पच्छपात सुत सों करत, को यह तुम पैं तात॥

अ०—कुमार! यह तो ठीक ही है, पुत्र सा पच्छपात करता है, यह क्यों कहते हो! मैं आचार्य्य का तो पुत्र ही हूँ।

(नेपथ्य में)

करन ! गहौ धनु वेग, जाहु कृप ! आगें धाई ।
द्रोन ! अस्त्र भृगुनाथ-लहे सब रहौ चढ़ाई ॥
अश्वत्थामा ! काज सबै कुरुपति को साधहु ।
दुरमुख ! दुस्सासन ! विकर्ण ! निज व्यूहन बाँधहु ॥
गंगासुत शांतनु-तनय बर भीष्म क्रोध सों धनु गहत ।
लखि शिव-शिच्छित रिपु सामुहें तानि बान छाड़ों चहत ॥

अ०—(आनंद से) अहा ! यह कुरुराज अपनी सैन्य को बढ़ावा दे रहा है ।

कु०—देव ! मैं कौरव योधाओं का स्वरूप और बल जानना चाहता हूँ ।

अ०—देखो इसके ध्वजा के सर्प के चिह्न ही से इसकी टेढ़ाई प्रगट होती है ।

चंद्र-वंश को प्रथम कलह-अंकुर एहि मानो ।
जाके चित सौजन्य भाव नहिं नेकु लखानो ॥
विष जल अगिन अनेक भाँति हमको दुख दीनो ।
सो यह आवत ढीठ लखौ कुरुपति मतिहीनो ॥

कु०—और यह उसके दाहिनी ओर कौन है ?

अ०—(आश्चर्य से)

जिन हिडंब अरि रिसि भरे, लखत लाज भय खोय ।
कृष्णा-पट खींच्यौ निलज, यह दुस्सासन सोय ॥

कु०—अब इससे बढ़कर और क्या साहस होगा ?

अ०—इधर देखो (हाथ जोड़कर प्रणाम करके)

कंचन-वेदी बैठि बड़ापन प्रगट दिखावत।
सूरज को प्रतिबिंब जाहि मिलि जाल तनावत॥
अस्त्र उपनिषद भेद जानि भय दूर भजावत।
कौरव-कुल-गुरु पूज्य द्रौन आचारज आवत॥

कु०—यह तो बड़े महानुभाव से जान पड़ते हैं।

अ०—इधर देखो।

सिर पैं बाँकी जटा-जूट-मंडित, छवि धारी।
अस्त्र-रूप मनु आप, दूसरो दुसह पुरारी॥
शत्रुन कों नित अजय मित्र को पूरनकामा।
गुरु-सुत मेरो मित्र लखौ यह अश्वत्थामा॥

कु०—हाँ और बताइए।

अ०—धनुर्वेद को सार जिन, घट भरि पूरि प्रताप।
कनक-कलश धरि धुज धर्यो, सो कृप कुरु-गुरु आप॥

कु०—और यह कुरुराज के साभने लड़ाई के हेतु फेंट कसे कौन खड़ा है ?

अ०—(क्रोध से)

सब कुरुगन को अनय-बीज अनुचित अभिमानी।
भृगुपति छलि लहि अस्त्र वृथा गरजत अघखानी॥
सूत-सुअन बिनु बात दरप अपनो प्रगटावत।
इंद्रशक्ति लहि गर्व्व-भरो रन कों इत आवत॥

कु०—(हँसकर) इनका सब प्रभाव घोष-यात्रा में प्रगट हो चुका है। (दूसरी ओर दिखाकर) यह किसका ध्वज है ?

अ०—(प्रणाम करके)

परतिय जिन कबहूँ न लखी निज व्रतहिं दृढ़ाई।
श्वेत केस मिस सों कीरति मनु तन लपटाई॥
परशुराम को तोष भयो जा सर के त्यागे।
तौन पितामह भीष्म लखौ यह आवत आगे॥

सूत! घोड़ों को बढ़ाओ।

(नेपथ्य में)

समर विलोकन कों जुरे, चढ़ि विमान सुर धाइ।
निज-बल बाहु-विचित्रता, अरजुन देहु दिखाइ॥

(इंद्र, विद्याधर और प्रतिहारी आते हैं)

इंद्र—आश्चर्य से

बातहु सों झगरैं बली, तौ निबलन भय होय।
तौ यह दारुन युद्ध लखि, क्यों न डरैं जिय खोय॥
एक रथी इक ओर उत, बली रथी समुदाय।
तौहू सुत तू धन्य अरि, इकलो देत भजाय॥

कु०—(आगे देखकर) देव, कौरव-राज यह चले आते हैं।

अ०—तो सब मनोरथ पूरे हुए।

(रथ पर बैठा दुर्योधन आता है)

दु०—(अर्जुन को देखकर क्रोध से)

बहु दुख सहि बनवास करि, जीवन सों अकुलाय।
मरन-हेतु आयो इतै, इकलो गरब बढ़ाय ॥

अ०—(हँसकर)

कालकेय वधि कै, निवात-कवचन कहँ मार्यौ।
इकले खांडव दाहि, उमापति युद्ध प्रचार्यौ ॥
इकले ही बल कृष्ण लखत भगिनी हरि छीनी।
अरजुन की रन नाहिं नई इकली गति लीनी ॥

दु०—अब हँसने का समय नहीं है; क्योंकि अंधाधुंध घोर संग्राम का समय है।

अ०—(हँसकर)

दूर रहौ कुरुनाथ नाहिं यह छल जूआ इत।
पापीगन मिलि द्रौपदि को दासी कीनी जित ॥
यह रन-जूआ जहाँ बान-पासे हम डारैं।
रिपुगन सिर की गोंट जीति अपुने बल मारैं ॥

दु०—(क्रोध से)

चूड़ो पहिरन सों गयो, तेरो सर-अभ्यास।
नर्त्तनसाला जाव किन, इत पौरुष परकास ॥

कु०—(मुँह चिढ़ाकर) आर्य्य! यह आप ठीक कहते हैं कि इनका वहुत दिन से धनुष चलाने का अभ्यास छूट गया है।

जव वन मैं गंधर्व-गनन तुम कों कसि वाँध्यौ।
तव करि अग्रज-नेह गरजि जिन तहँ सर साध्यौ ॥

लीन्हें तुम्हैं छुड़ाइ जीति सुरगन छिन माहीं।
तब तुम शर-अभ्यास लख्यौ बिहवल ह्वै नाहीं॥

विद्या०—देव! यह बालक वड़ा ढीठा है।

इंद्र—क्यों न हो! राजा का लड़का है।

दु०—सूत! ब्राह्मणों की भांति इस कोरी बकवाद से फल क्या है? यह पृथ्वी ऊँची-नीची है इससे तुम अब समान पृथ्वी पर रथ ले चलो।

अ०—जो कुरुराज की इच्छा। (दोनों रथ जाते हैं)

विद्या०—(अर्जुन का रथ देखकर) देव!

तुव-सुत-रथ-हय-खुर-बढ़ी, समर-धूरि नभ जौन।
अरि-अरनी मंथन अगिनि, धूम-लेख सी तौन॥

इंद्र—क्यों न हो तुम महाकवि हो।

विद्या०—देव! देखिए अर्जुन के पास पहुँचते ही कौरवों में कैसा कोलाहल पड़ गया, देखिए—

हय हिनहिनात अनेक गज सर खाइ घोर चिकारहीं।
बहु बजहिं बाजे मारु धरु धुनि दपटि वीर उचारहीं॥
टंकार धनु की होत घंटा बजहिं सर संचारहीं।
सुनि सबद रन को बरन पति सुरबधू तन सिंगारहीं॥

प्रति०—देव! केवल कोलाहल ही नहीं हुआ वरन् आपके पुत्र के उधर जाते ही सब लोग लड़ने को भी एक संग उठ दौड़े। देव! देखिए, अर्जुन ने कान तक खींच-खींच-कर जो बान चलाए हैं, उनसे कौरव-सेना में किसी

के अंग-भंग हो गए हैं, किसी के धनुष दो टुकड़े हो गए हैं, किसी के सिर कट गए हैं, किसी की आँखें फूट गई हैं, किसी की भुजा टूट गई है, किसी की छाती घायल हो रही है।

इंद्र—(हर्ष से) वाह बेटा! अब ले लिया है।

विद्या०—देव! देखिए।

गज-जूथ सोई घन-घटा, मद-धार-धारा स्रवत जे।
तरवार चमकनि बीजु की दमकनि, गरज बाजन बजे॥
गोली चलें जुगनू सोई, बकवृंद ध्वज बहु सोहई।
कातर वियोगिन दुखद रन की भूमि पावस नभ भई॥
तुव सुत-सर सहि, मद-गलित, दंत केतकी खोय।
धावत गज, जिनके लखें, हथिनी को भ्रम होय॥

इंद्र—(संतोष से)

• हर-सिच्छित सर-रीति जिन, कालकेय दिय दाहि।
जो जदुनाथ सनाथ कहँ, कौरव जीतन ताहि॥

प्रति०—महाराज देखें।

कटे कुंड सुंडन के रुंड मैं लगाय तुंड, झुंड मुंड पान कै लोहू भूत चेटी हैं। घोड़न चबाइ, चरबीन सों अघाय, मेटी भूख सब मरे मुरदान मैं समेटी हैं॥ लाल अंग कीने सीस हाथन में लीने अस्थि, भूखन नवीने आंत जिन पै लपेटी हैं। हरष बढ़ाय आँगुरीन को नचाय पियैं, सोनित-पियासी सी पिसाचन की बेटी हैं॥

विद्या०—देव ! देखिए ।

हिलन धुजा सिर ससि चमक, मिलि कै व्यूह लखात ।
तुव सुत-सर लगि घूमि जब, गज-गन मंडल खात ॥

इंद्र—(आनंद से देखता है)

प्रति०—देव, देखिए ! देखिए ! आपके पुत्र के धनुष से छूटे हुए बानों से मनुष्य और हाथियों के अंग कटने से जो लहू की धारा निकलती है उसे पी-पीकर यह जोगिनिएँ आपके पुत्र ही की जीत मनाती हैं ।

इंद्र—तो जय ही है, क्योंकि इनकी असीस सच्ची है ।

विद्या०—(देखकर) देव ! अब तो बड़ा ही घोर युद्ध हो रहा है ; देखिए ।

विरचि नली गजसुंड की, काटि काटि भट सीस ।
रुधिर पान करि जोगिनी, विजयहि देहिं असीस ॥

टूटि गई दोउ भौंह स्वेद सों तिलक मिटाए ।
नयन पसारे लाल क्रोध सों ओठ चबाए ॥
कटे कुंडलन मुकुट विना श्रीहत दरसाए ।
वायु वेग बस केस मूछ दाढ़ो फहराए ॥

तुव तनय बान लगि बैरि सिर एहि विधि सों नभ में फिरत ।
तिन संग काक अरु कंक बहु ंक भए धावत गिरत ॥

(बड़े आश्चर्य से इधर-उधर देखकर) देव ! देखिए ।

सीस कटे भट सोहहीं, नैन जुगल बल लाल ।
बरहिं तिनहिं नाचहिं हँसहि, गावहिं नभ सुरबाल ॥

इंद्र—(हर्ष से) मैं क्या-क्या देखूँ? मेरा जी तो बावला हो रहा है।

इत लाखन कुरु सँग लरत, इकलो कुंतीनंद।
उत बीरन कों बरन कों, लरहिं अप्सरावृंद॥

विद्या०—ठीक है (दूसरी ओर देखकर) देव! इधर देखिए।

लपटि दपटि चहुँ दिसन बाग बन जीव जरावत।
ज्वाला-माला लोल लहर धुज सी फहरावत॥
परम भयानक प्रगट प्रलय सम समय लखावत।
गंगा-सुत कृत अगिनि-अस्त्र उमग्यो ही आवत॥

प्रति० – देव! मुझे तो इस कड़ी आँच से डर लगती है।

विद्या०—भद्र! व्यर्थ क्यों डरता है, भला अर्जुन के आगे यह क्या है? देख।

अर्जुन ने यह वरुन अस्त्र जो वेगि चलायो।
तासों नभ में घोर घटा को मंडल छायो॥
उमड़ि उमड़ि करि गरज बीजुरी चमकि डरायो।
मुसलधार जल बरसि छिनक मैं ताप बुझायो॥

इंद्र—बालक बड़ा ही प्रतापी है।

प्रति०—देव! राधेय ने यह भुजंगास्त्र छोड़ा है, देखिए अपने मुखों से आग सा विष उगलते हुए, अपने सिर के मणियों से चमकते हुए, इंद्रधनुष से पृथ्वी को व्याकुल करते हुए, देखने ही से वृक्षों को जलाते हुए, ये कैसे-कैसे डरावने साँप निकले चले आते हैं।

विद्या०—दुष्ट मनोरथ सरिस लसैं लांबे दुखदाई।
टेढ़े जिमि खल-चित्त भयानक रहत सदाई॥
वमत वदन विष निंदक सो मुख कारिख लाए।
अहिगन नभ में लखहु धाइ कै चहुँ दिस छाए॥

इंद्र—क्या खांडव वन का बैर लेने आते हैं?

विद्या०—आप सोच क्यों करते हैं; देखिए, अर्जुन ने गारुड़ास्त्र छोड़ा है।

निज कुल गुरु तुव पुत्र सारथिहि तोष बढ़ावत।
झपटि दपटि गहि अहिन टूक करि नास मिलावत॥
बादर से उड़ि खींचि खींचि दोउ पंख हिलावत।
गरुड़न को घन गगन छयो अहि हियो डरावत॥

इंद्र—(हर्ष से) हाँ तब।

प्रति०—देखिए, यह दुर्योधन के वाक्य से पीड़ित होकर द्रोणाचार्य ने आपके पुत्र पर वारुणास्त्र छोड़ा है।

विद्या०—(देखकर) वैनायक-अस्त्र चल चुका, देखिए।

रँगे गंड सिंदूर सों, घहरत घंटा घोर।
निज मद सों सींचत धरनि, गरजि चिकारहिं जोर॥
सूँड़ फिरावत सीकरन, धावत भरे उमंग।
छावत आवत घन सरिस, मरदत मनुज मतंग॥

इंद्र—तब, तब।

विद्या०—तब अर्जुन ने नरसिंहास्त्र छोड़ा है, देखिए।

गरजि गरजि जिन छिन मैं गर्भिनि गर्भ गिरायो
काल सरिस मुख खोलि दाँत बाहर प्रगटायो ।।
मारि थपेड़न गंड सुंड को मांस चबायो ।
उदर फारि चिक्कारि रुधिर पौसरा चलायो ।।
करि नैन अगिनि सम मोछ फहराइ पोंछ टेढ़ी करत ।
गल-केसर लहरावत चल्यौ क्रोधि सिंह-दल दल दलत ।।

इंद्र—तो अब जय होने में थोड़ी ही देर है ।

विद्या०—देव ! कहिए कि कुछ भी देर नहीं है ।

गंगा-सुत के बधि तुरग, द्रोन-सूत हति खेत ।
करन-रथहि करि खंड बहु, कृप कहँ कियो अचेत ।।
और भजाई सैन सब, द्रोनसुवन-धनु काट ।
तुव सुत जोहत अब खड़ो, दुरजोधन की बाट ।।

प्रति०—दुर्योधन का तो बुरा हुआ ।

विद्या०—नहीं ।

व्याकुल तुव सुत बान सों, विमुख भयो रन-काज ।
मुकुट गिरन सों क्रोध करि, फिर्‍यो फेर कुरुराज ।।

(नेपथ्य में)

सुन-सुन कर्ण के मित्र !

सभा माँहि लखि द्रौपदिहिं, क्रोध अतिहि जिय लेत ।
अग्रज परतिज्ञा करी, तुव उरु तोड़न हेत ।।
ताही सों तोहि नहिं वध्यो, न तरु अबै कुरु-ईस ।
जा सर सों तोर्‍यो मुकुट, तासों हरतो सीस ।।

प्रति०—देव अपने पुत्र का वचन सुना ?

इंद्र—(विस्मय से)

दैव भए अनुकूल तें, सब ही करत सहाय।
भीम-प्रतिज्ञा सों बच्यो, अनायास कुरुराय॥

विद्या०—देव ! दुर्योधन के मुकुट गिरने से सब कौरवों ने क्रोधित होकर अर्जुन को चारों ओर से घेर लिया है।

इंद्र—तो अब क्या होगा ?

विद्या०—देव अब आपके पुत्र ने प्रस्वप्नास्त्र चलाया है।

नाक बोलावत, धनु किए तकिया, मूँदे नैन।
सब अचेत सोए भई, मुरदा सी कुरु-सैन॥

इंद्र—युद्ध से थके वीरों को सोना योग्य ही है। हाँ फिर—

विद्या०—एक पितामह छाँड़ि कै सबको नाँगो कीन।
बाँधि अँधेरी आँख मैं, मूड़ि तिलक सिर दीन॥
अब जागे भागे लखौ, रह्यो न कोऊ खेत।
गोधन लै तुव सुत अवै, ग्वालन देखो देत॥
शत्रु जीति निज मित्र को, काज साधि सानंद।
पुरजन सों पूजित लखौ, पुर प्रविसत तुव नंद॥

इंद्र—जो देखना था वह देखा।

(रथ पर बैठे अर्जुन और कुमार आते हैं)

अ०—(कुमार से) कुमार !

जो मो कहँ आनँद भयो, करि कौरव बिनु सेस।
तुव तन को बिनु घाव लखि, तासों मोद बिसेस॥

कु०—जब आप सा रक्षक हो तो यह कौन बड़ी बात है।

इंद्र—(आनंद से) जो देखना था वह देख चुके।

(विद्याधर और प्रतिहारी समेत जाता है)

अ०—(संतोष से) कुमार !

करी बसन बिनु द्रौपदी, इन सब सभा बुलाय।
सो हम इनको वस्त्र हरि, बदलो लीन्ह चुकाय॥

कु०—आपने सब बहुत ठीक ही किया क्योंकि—

बरु रन मैं मरनो भलो, पाछे सब सुख सीव।
निज अरि सों अपमान हिय, खटकत जब लौं जीव॥

अ०—(आगे देखकर) अरे अपने भाइयों और राजा विराट समेत आर्य्य धर्म्मराज इधर ही आते हैं।

(तीनों भाई समेत धर्म्मराज और विराट आते हैं)

धर्म्म०—मत्स्यराज ! देखिए।

धूर धूसरित अलक सब, मुख श्रमकन झलकात।
असम समर करि थकित पै, जय सोभा प्रगटात॥

विरा०—सत्य है।

द्विज सोहत विद्या पढ़ें, छत्री रन जय पाय।
लक्ष्मी सोहत दान सों, तिमि कुलबधू लजाय॥

अ०—(घबड़ाकर) अरे क्या भैया आ गए ? (रथ से उतरकर दंडवत् करता है)

सब—(आनंद से एक ही साथ) कल्याण हो—जीते रहो।

धर्म्म०—

इकले सिव रिपुपुर दह्यो, निसचर मारे राम।
तुम इकले जीत्यो कुरुन, नहिं अब चौथे नाम ॥

अ०—(सिर झुकाकर हाथ जोड़कर) यह केवल आपकी कृपा है।

विरा०—(नेपथ्य की ओर हाथ से दिखाकर) राजपुत्र ! देखो।

मिलि बछरन सों धेनु सब, श्रवहिं दूध की धार।
तुव उज्जल कीरति मनहुँ, फैलत नगर मँझार ॥

और,

खींच्यो कृष्णाकेस जो, सभा माँहि कुरुराज।
सो तुम मुकुट गिराइ कै, बदलो लीन्हो आज ॥

भीम०—(सुनकर क्रोध से) राजन् ! अभी बदला नहीं चुका, क्योंकि—

तोरि गदा सों हृदय दुष्ट दुस्सासन केरो।
तासों ताजो सद्य रुधिर करि पान घनेरो ॥
ताही कर सों कृष्णा को वेनी बँधवाई।
भीमसेन ही सो बदलो लैहै चुकवाई ॥

धर्म०—बेटा, तुम्हारे आगे यह क्या बड़ी बात है।

सौगंधिक तोरयौ छनक, कियो हिडिंबहि घात।
हत्यौ बकासुर जिन सहज, तेहि केती यह बात॥

भीम०—(विनय से) महाराज सुनिए, अब हम क्षमा नहीं कर सकते।

धर्म०—बेटा, क्षमा के दिन गए, युद्ध के दिन आए, अब इतना मत घबड़ाओ।

विरा०—(युधिष्ठिर से)

तुव सरूप जाने बिना, लियो अनेकन काज।
जोग अजोग अनेक विधि, सो छमिए महराज॥

अ०—राजन्! यह उपकार ही हुआ, अपकार कभी नहीं हुआ। क्योंकि—

जो अजोग करते न हम, सेवा ह्वै तुव दास।
तो कोउ विधि छिपतौ न यह, मम अज्ञात निवास॥

विरा०—(अर्जुन से) राजपुत्र!

सात चरनहूँ सँग चले, मित्र भए हम दोय।
तासों माँगत—उत्तरा, पुत्रबधू तुव होय॥

अ०—आपकी जो इच्छा। क्योंकि—

आपु आवती लच्छमी, को मूरख नहिं लेत।
सोऊ बिन माँगे मिलै, तो केवल हरि हेत॥

विरा०—और भी मैं आपका कुछ प्रिय कर सकता हूँ?

अ०—अब इससे बढ़कर क्या होगा?

शत्रु सुजोधन सों लही, करन सहित रन जीत।
गाय फेरि लाए सबै, पायो तुम सो मीत॥
लही बधू सुत-हित भयो, सुख अज्ञात निवास।
तौ अब का नहिं हम लह्यो, जाकौ राखैं आस॥

तौ भी यह भरतवाक्य सत्य हो।

राजवर्ग मद छोड़ि निपुन विद्या में होई।
आलस मूरखतादि तजैं भारत सब कोई॥
पंडितगन पर-कृति लखि कै मति दोष लगावैं।
छुटै राज-कर, मेघ समै पै जल बरसावैं॥
कजरी ठुमरिन सों मोरि मुख सत कविता सब कोउ कहै।
हिय भोगवती सम गुप्त हरि प्रेम धार नितही बहै॥

और भी

"सौजन्यामृतसिन्धवः परहितप्रारम्भवीरव्रताः
वाचालाः परवर्णने निजगुणालापे च मौनव्रताः।
आपत्स्वप्यविलुप्तधैर्यनिचयाः सम्पत्स्वनुत्सेकिनो
मा भूवन् खलवक्त्रनिर्गतविषम्लानाननाःसज्जनाः"॥

विरा०—तथास्तु।

(सब जाते हैं)



कर्पूर-मंजरी

सट्टक

संवत १९३२

यह नाटक शुद्ध प्राकृत भाषा में राजशेखर कवि का बनाया हुआ है। इसकी केवल एक अति प्राचीन प्रति मिली थी। उसी प्रति के कथाभाग से यह नाटक निर्मित हुआ।

कर्पूर-मंजरी

सट्टक



दोहा।

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥

(सूत्रधार आता है)

सूत्रधार—(घूमकर) हैं क्या हमारे नटलोग गाने बजाने लगे ? यह देखो कोई सखी कपड़े चुनती है, कोई माला गूँथती है, कोई परदे बाँधती है, कोई चंदन घिसती है; यह देखो वंसी निकली, यह बीन की खोल उतरी, यह तीन मृदंग मिलाए गए, यह मँजीरा झनका, यह धुरपद गाया गया। (कुछ ठहरकर) किसी को बुलाकर पूछें तो। (नेपथ्य की ओर देखकर) अरे कोई है ?

(पारिपार्श्वक आता है)

पारि०—कहो, क्या आज्ञा है ?

सूत्र०—(सोचकर) क्या खेलने की तय्यारी हुई ?

पारि०—हाँ, आज सट्टक न खेलना है ।

सूत्र०—किसका बनाया ?

पारि०—राज्य की शोभा के साथ अंगों की शोभा का; और राजाओं में बड़े दानी का अनुवाद किया ।

सूत्र०—(विचारकर) यह तो कोई कूट सा मालूम पड़ता है। (प्रकट) हाँ हाँ राजशेखर का और हरिश्चंद्र का ।

पारि०—हाँ, उन्हीं का ।

सूत्र०—ठीक है, सट्टक में यद्यपि विष्कंभक प्रवेशक नहीं होते तो भी यह नाटकों में अच्छा होता है (सोचकर) तो भला कवि ने इसको संस्कृत ही में क्यों न बनाया, प्राकृत में क्यों बनाया* ?

पारि०—आपने क्या यह नहीं सुना है ?

जामैं रस कछु होत है, पढ़त ताहि सब कोय ।
बात अनूठी चाहिए, भाषा कोऊ होय ॥

और फिर

कठिन संस्कृत अति मधुर, भाषा सरस सुनाय ।
पुरुष नारि अंतर सरिस, इन में बीच लखाय ॥

सूत्र०—तो क्या उस कवि ने अपना कुछ वर्णन नहीं किया ?

पारि०—क्यों नहीं, उस समय के कवियों के चंद्रमा अपराजित ही ने उसका बड़ा बखान किया है ।

---

* कर्पूर-मंजरी नाटक संपूर्ण प्राकृत भाषा ही में है ।

निरभर बालक राज कवि, आदि अनेक कवीस।
जाके सिखए तें भए, अति प्रसिद्ध अवनीस॥
धवल करत चारहु दिसा, जाको सुजस अमंद।
सो शेखर कबि जग विदित, निज कुल कैरव चंद॥

सूत्र०—पर भला आज तुमको किसने खेलने की आज्ञा दी है?

पारि०—अवंती देश के राजा चारुधान की बेटी उसी कवि की प्यारी स्त्री ने, और यह भी जान रखो कि इस सट्टक में कुमार चंद्रपाल कुंतल देश की राजकुमारी को व्याहेगा। तो अब चलो अपने अपने स्वांग सजें। देखो तुम्हारा बड़ा भाई देर से राजा की रानी का भेस धरकर परदे की आड़ में खड़ा है।

(दोनों जाते हैं)

पहिला अंक

स्थान राजभवन

(राजा, रानी, विदूषक और दरबारी लोग दिखाई पड़ते हैं)

राजा—प्यारी, तुम्हें वसंत के आने की बधाई है, देखो अब पान बहुत नहीं खाया जाता, न सिर में तेल देकर चोटी कसके गूँधी जाती है, वैसे ही चोली भी कसके नहीं बाँधी जाती, न केसर का तिलक दिया जा सकता है, इसी से प्रकट है कि बसंत ने अपने बल से सरदी को अब जीत लिया।

रानी—महाराज! आपको भी बधाई है, देखिए, कामीजन चंदन लगाने और फूलों की माला पहिरने लगे, और दोहर पाँते रक्खी रहती है, तो भी अब ओढ़ने की नौबत नहीं आती।

(नेपथ्य में दो वैतालिक गाते हैं।)

जै पूरब दिसि कामिनी कंत।
चंपावति नगरी सुख समंत॥
खेलत जीत्यौ जिन राढ़ देस।
मोहत अनंग लखि जासु भेस॥
क्रीड़ा मृग जाको सारदूल।
तन बरन कांति मनु हेम फूल॥

सब अंग मनोहर महाराज।
यह सुखद होइ रितुराज साज॥
मंद मंद लै सिरिस सुगंधहि सरस पवन यह आवै।
करि संचार मलय पर्वत पैं बिरहिन ताप बढ़ावै॥
कामिनि जन के बसन उड़ावत काम-धुजा फहरावै।
जीवन प्रान दान सो बितरत वायु सबन मन भावै॥१॥
देखहु लहि रितुराजहि उपवन फूली चारु चमेली।
लपटि रहीं सहकारन सों बहु मधुर माधवी वेली॥
फूले बर बसंत बन बन मैं कहुँ मालती नवेली।
तापैं मदमाते से मधुकर गूँजत मधुरस रेली॥२॥

राजा—प्यारी, हम लोग तो आपस में वसंत की बधाई एक दूसरे को देते ही थे अब इन दोनों कांचनचंद्र और रत्नचंद्र बंदियों ने हम दोनों को बधाई दी। अब तुम इस वसंतोत्सव की ओर दृष्टि करो। देखो कोयल कैसे पंचम सुर में बोलती है, हवा के झोंके से लता कैसी नाच रही हैं, तरुन स्त्रियों के जी में कैसा इसका उत्साह छा रहा है और सारी पृथ्वी इस वसंत की वायु से कैसी सुहानी हो रही है!

रानी—महाराज! बंदी ने जैसा कहा है हवा वैसी ही बह रही है। देखिए यह पवन लंका के कँगूरों की पंगति में यद्यपि कैसा चंचल है पर अगस्त मुनि के आश्रम में उनके भय से धीरा चलता है, इसके झोंके से चंदन, कपूर,

कंकोल और केले के पत्ते कैसे झोंका खा रहे हैं; जंगलों में जहाँ तहाँ साँप नाचते हैं और ताम्रपर्णी नदी की लहरों को यह स्पर्श करता है तो उन्हें दूना कर देता है। देखिए, कोयल मानो कामदेव की आज्ञा से इस चैत के त्योहार में पुकार रही है कि तरुनिओ झूठा मान छोड़ो, अपने प्यारे को प्यार की चितवन से देखो, और दौड़-दौड़ के प्रीतम को गले लगाओ, यह चार दिन की जवानी तो बहती नदी है, फिर यह दिन कहाँ और यह समय कहाँ ?

विदूषक—अरे कोई मुझे भी पूछो, मैं भी बड़ा पंडित हूँ। जब मैंने अपना मकान बनाया था तो हज़ारों गदहों पर लाद-लादकर पोथियाँ नेव में भरवाई गई थीं और हमारे ससुर जनम भर हमारे यहाँ पोथी ही ढोते-ढोते मरे. काले अच्छर दूसरों को तो कामधेनु हैं पर हम को भैंस हैं।

विचक्षणा—इसी से तो तुम्हारा नाम लबार पाँड़े है।

विदू०—(क्रोध से) हत तेरी की, दाई माई कुटनी लुच्ची मूर्ख ! अब हम ऐसे हो गए कि मजदूरिनैं भी हमें हँसें !

विच०—तुम्हारी माई कुटनी है तभी तुम ऐसे सपूत हुए, तुमसे तो वे भाट अच्छे जो अभी गीत गा गए हैं, तुम्हें इतनी भी समझ नहीं है कि कुछ बनाओ और गाओ, यह सखी और तीन काने।

विदू०—अब हम इनके सामने गावेंगे, इनका मुँह है कि हमारी कविता सुनें, हाँ अगर हमारे दोस्त महाराज कुछ कहें तो अलबत्ते गाऊँ।

राजा—हाँ हाँ, मित्र पढ़ो, हम सुनते हैं।

विदू०—(लाठी पर तमूरा बजाकर गाता है)

आयो आयो वसंत आयो आयो बसंत। वन में महुआ टेसू फुलंत॥
नाचत है मोर अनेक भाँति, मनु भैंसा का पड़वा फूलफालि।
बेला फूले वन बीच बीच, मानो दही जमायो सींच सींच।
बहि चलत भयो है मंद पौन, मनु गदहा को छान्यो पैर।

तारीफ और वाह वाह करते जाइए नहीं न गाया जायगा, देखिए संगीत साहित्य दोनों एक ही साथ करना मेरा ही काम है।

(गाता है)

गेंदा फूले जैसे पकौरि। लड्डू से फले फल बौरि बौरि॥
खेतन में फूले भातदाल। घर में फूलें हम कुल के पाल॥
आयो आयो वसंत आयो आयो बसंत॥

हम वसंत, राजा वसंत, रानी वसंत, यह दाई भी वसंत॥

(सब लोग हँसते हैं)

राजा—भला इनकी कविता तो हो चुकी अब विचक्षणे! तुम भी कुछ पढ़ो।

विदू०—हाँ हाँ, हमारी बोली पर हँसती है तो यह पढ़े बड़ी बोलनेवाली। इसको सिवाय टें टें करने के और आता क्या है ? क्या ऐसी बदमाश स्त्री राजा के महल में रहने के योग्य है ? यह रात दिन महारानी का गहना चुरा कर अपने मित्रों को दिया करती है और उस पर हमारे काव्य पर हँसती है। सच है बंदर आदी का स्वाद क्या जाने। हमारे काव्य पर रीझनेवाले महाराज हैं, तू क्या रीझेगी, अब देखते न हैं तू कैसा काव्य पढ़ती है।

रानी—हाँ हाँ, सखी विचक्षणे ! हम लोगों के आगे तो तू-ने अपना बनाया काव्य कई बेर पढ़ा है, आज महाराज के सामने भी तो पढ़, क्योंकि विद्या वही जिसकी सभा में परीक्षा ली जाय और सोना वही जो कसौटी पर चढ़े और शस्त्र वही जो मैदान में निकले।

विच०—महारानी की जो आज्ञा। (पढ़ती है)

फूलैंगे पलास बन आगि सी लगाइ कूर,
कोकिल कुहूकि कल सबद सुनावैगो।
त्यौंही सखी लोक सबै गावैगो धमार धीर,
हरन अबीर बीर सब ही उड़ावैगो॥
सावधान होहु रे वियोगिनी सम्हारि तन,
अतन तनक ही में तापन तें तावैगो।
धीरज नसावत बढ़ावत बिरह काम,
कहर मचावत बसंत अब आवैगो॥

राजा—वाह वाह ! सचमुच विचक्षणा बड़ी ही चतुर है और कविता-समुद्र के पार हो गई है, यह तो सब कवियों की राजा होने योग्य है।

रानी—(हँसकर) इसमें कुछ संदेह है। हमारी सखी सब कवियों की सिरताज तो हुई।

विदू०—(क्रोध से) तो महारानी स्पष्ट क्यों नहीं कहतीं कि यह दासी विचक्षणा बहुत अच्छी है और कपिंजल ब्राह्मण बहुत निकम्मा है ?

विच०—हैं हैं ! एकबारगी इतने लाल पीले हो गए, जो जैसा है उसका गुण तो उसके काव्य ही से प्रगट हो गया। तुम्हारे काव्य की उपमा तो ठीक ऐसी है जैसे लंबस्तनी के गले में मोती की माला, बड़े पेटवाली को कामदार कुरती, सिर-मुँडी को फूलों की चोटी और कानी को काजल।

विदू०—सच है, और तुम्हारी कविता ऐसी है जैसे सफ़ेद फ़र्श पर गोबर का चोंथ, सोने की सिकड़ी में लोहे की घंटी और दरियाई की अँगिया में मूँज की बखिया।

विच०—खफा मत हो, अपनी ओर देखो, आप आप ही हो, एक अक्षर नहीं जानते तिस पर भी हीरा तौलते हो, और हम सब पढ़-लिखकर भी अब तक कपास ही तौलती हैं।

विदू०—बकबक किए ही जायगी तो तेरा दाहिना और बायाँ युधिष्ठिर का बड़ा भाई उखाड़ लेंगे।

विच०—श्रौर तुम भी जो टें टें किए ही जाओगे तो तुम्हारी भी स्वर्ग काट के एक ओर के पोंछ की अनुप्रास मूड़ देंगे श्रौर लिखने की सामग्री मुँह में पोतकर पान के मसाले का टीका लगा देंगे।

राजा—मित्र! इसके मुँह मत लगो, यह कविताई में बड़ी पक्की है।

विदू०—(क्रोध से) तो साफ-साफ क्यों नहीं कहते कि हरिश्चंद्र श्रौर पदमाकर इसके आगे कुछ नहीं हैं?

(क्रोध करके इधर-उधर घूमता है)

विच०—चल, उसी खूँटी पर लटक जिस पर मेरा लहँगा रखा है।

विदू०—(क्रोध कर श्रौर सिर हिलाके) श्रौर तू भी वहाँ जा जहाँ मेरी बुड्ढी माँ के दाँत गए। छिः! हम भी बड़े बड़े दरबार से निकाले गए पर ऐसी अंधेर नगरी श्रौर चौपट राजा कहीं नहीं देखा। यहाँ चरणामृत श्रौर शराब एक ही बरतन में भरे जाते हैं।

विच०—भगवान करे इस दरबार से तुझे वह मिले जो महादेवजी के सिर पर है श्रौर तुझे वह शास्त्र पढ़ाया जाय जो काँटों को मर्दन करता है।

विदू०—लौंडिया फिर टें टें किए ही जाती है, खजाना लूट लूट के खाली कर दिया, इस पर भी मोढ़े पर बैठने-

वाली और गलियों में मारी मारी फिरनेवाली, हम कुलीन ब्राह्मणों के मुँह लगती है। जा तुझको सर्वदा वही फांकना पड़े जो महादेवजी अंग में पोतते हैं और तेरे हाथ सदा वही लगे जिसमें धरम बँधता है।

विच०—तेरे इस बोलने पर तो ऐसा जी चाहता है कि पान के बदले चरनदासजी से तेरा मुँह लाल कर दूँ। फिट।

विदू०—(बड़े क्रोध से ऊँचे स्वर से) ऐसे दरबार को दूर ही से नमस्कार करना चाहिए जहाँ लौडियाँ पंडितों के मुँह आवें। यदि हमें इसी उचक्की की बातें सहनी हों तो हम बसुंधरा नाम की अपनी ब्राह्मणी ही की न चरन-सेवा करें जो अच्छा अच्छा और गर्म-गर्म खाने को खिलावे। (ऐसा कहता हुआ क्रोध से चला जाता है। सब लोग हँसते हैं)।

रानी—महाराज, कपिंजल बिना सभा ऐसी हो गई जैसे बिना काजल का शृंगार।

(नेपथ्य में)

नहीं नहीं, हम नहीं आवेंगे। विचक्षणा को खसम और राजा को मुसाहब कोई दूसरा खोज लो या आज से हमारा काम वही गलितयौवना और चिपटे नाक कान-वाली करेगी।

विच०—महारानी! आपके आग्रह से यह कपिंजल और भी अकड़ा जाता है, जैसे सन की गाँठ भिगाने से उलटी

कड़ी होती है। उसको जाने दीजिए। इधर देखिए यह गवांरिनों के गीतों और चाँचर से मोहित सूर्य्य यद्यपि धीरे चलता है तौ भी अब कितना पास आ गया है।

(विदूषक घबड़ाया हुआ आता है)

विदू०—आसन ! आसन !!

राजा—क्यों ?

विदू०—भैरवानंदजी आते हैं।

राजा—क्या वही भैरवानंद जो आजकल के बड़े प्रसिद्ध सिद्ध हैं ?

विदू०—हाँ, हाँ।

(भैरवानंद आते हैं)

भै०—जंत्र न मंत्र, न ज्ञान न ध्यान, न जोग न भोग, केवल गुरु का प्रसाद, पीने को मदिरा औ खाने को मांस, सोने को स्त्री, मसान का वास, लाख लाख दासी सब कड़े-कड़े अंग, सेवा में हाजिर रहें पीए मद्य भंग, भिच्छा का भोजन औ चमड़े का बिछौना, लंका-पलंका सातो दीप नवो खंड गौना, ब्रह्मा विष्णु महेश पीर पैगंबर जोगी जती सती वीर महावीर हनुमान रावन महिरावन अकाश पताॅल जहाँ बाँधू तहाँ रहे, जो जो कहूँ सो सो करे, मेरी भक्ति गुरु की शक्ति फुरो मंत्र ईश्वरोवाच, दोहाई पशुपति-नाथ की, दोहाई कामाच्छा की, दोहाई गोरखनाथ की।

राजा—महाराज ! प्रणाम।

भै०—राजा ! विष्णु और ब्रह्मा तप करते करते थक गए, पर सिद्धि मद्य और स्त्री ही में है यह महादेवजी ही ने जाना है सो वह कापालिकों के परम कुलगुरु शिव तेरा कल्याण करें।

राजा—महाराज, आसन पर विराजिए।

भै०—हम रमते लोगों को बैठने से क्या काम, तब भी तेरी खातिर से बैठते हैं। (बैठता है)—बोल, क्या दिखावें ?

राजा—महाराज ! कुछ आश्चर्य दिखाइए।

भै०—क्या आश्चर्य दिखावें ?

सूरज बाँधू चंदर बाँधू बाँधू अगिन पताल।
सेस समुंदर इंदर बाँधू औ बाँधू जमकाल॥
जच्छ रच्छ देवन की कन्या बल से लाऊँ बाँध।
राजा इंदर का राज डोलाऊँ तो मैं सच्चा साध॥

नहीं तो जोगड़ा। और क्या।

राजा—(विदूषक के कान में) मित्र, तुमने कहीं कोई बड़ी सुंदर स्त्री देखी हो तो बुलवावें ?

विदू०—(स्मरण करके) हाँ ! दक्षिण देश में विदर्भ नामक नगर है। वहाँ मैंने एक लड़की बड़ी सुंदर देखी थी, वही बुलाई जाय।

भै०—बोल ! बुलाई जाय ?

राजा—हाँ ! महाराज ! पूर्णमासी का चंद्रमा पृथ्वी पर उतारा जाय।

भै०—(ध्यान करता है)

(परदे के भीतर से खिंची हुई की भांति एक सुंदर स्त्री आती है और सब लोग बड़ा ही आश्चर्य करते हैं)

राजा—(आश्चर्य से) अहाहा ! जैसे रूप का खजाना खुल गया, नेत्र कृतार्थ हो गए, यह रूप, यह जोबन, यह चितवन, यह भोलापन, कुछ कहा नहीं जाता, मालूम होता है कि यह नहाकर बाल सुखा रही थी उसी समय पकड़ आई है। अहा ! धन्य है इसका रूप !!! इसकी चितवन कलेजे में से चित्त को जोराजोरी निकाले लेती है। इसकी सहज शोभा इस समय कैसी भली मालूम पड़ती है। अहा ! इसके कपड़े से जो पानी की बूँदें टपकती हैं वह ऐसी मालूम होती हैं मानो भावी वियोग के भय से वस्त्र रोते हैं। काजल आँखों से धो जाने से नेत्र कैसे सुहाने हो रहे हैं, और बहुत देर तक पानी में रहने से कुछ लाल भी हो गए हैं। बाल हाथों में लिए है उससे पानी की बूँदें ऐसी टपकती हैं मानो चंद्रमा का अमृत पी जाने से दो कमलों ने नागिनी को ऐसा दबाया है कि उनके पोंछ से अमृत बहा जाता है। भींगे वस्त्र से छोटे छोटे इसके कठोर कुच अपनी उँचाई और श्यामताई से

यद्यपि प्रत्यक्ष हो रहे हैं तो भी यह उन्हें बाँह से छिपाना चाहती है, और वैसे ही गोरी गोरी जाँघें इसकी चिपके हुए भींगे वस्त्र से यद्यपि चमकती हैं तो भी यह उनको दबाए देती है, वरंच इसी अंग उघरने से यह लजाकर सकपकानी सी भी हो रही है, और योगबल से खिंच आने से कुछ डर गई है, इससे और भी चौकन्नी हो होकर भूले हुए मृगछौने की भाँति अपने चंचल नेत्र नचाती है।

स्त्री—(चकपकानी सी होकर एक एक को देखती है) (आप ही आप) यह कौन पुरुष है जिसका देह गंभीर और मधुर छबि का मानो पुंज है। निश्चय यह कोई महाराज है, और यह भी महादेव के अंग में पार्वती की भाँति निश्चय इसकी प्यारी महारानी हैं, और यह कोई बड़ा जोगी है, हो न हो यह सब इसी का खेल है। (विचार करके) यद्यपि यह एक स्त्री के बगल में बैठा है तो भी मुझे ऐसी गहरी और तीखी दृष्टि से क्यों देखता है ? (राजा की ओर देखती है)

राजा—(विदूषक से कान में) मित्र ! अभी जो इसने अपने कानों को छूनेवाली चंचल चितवन से मुझे देखा तो ऐसा मालूम हुआ कि मानों मुझ पर किसी ने अमृत की पिचकारी चलाई वा कपूर बरसाया वा चाँदनी से एक साथ नहला दिया या मोती का बुका छिड़क दिया।

विदू०—सच है, अहाहा! वाह रे इसके रूप की छवि! इसकी कमर एक लड़का भी अपनी मुट्ठी में पकड़ सकता है, और नेत्र की चंचलता देखकर पुरुष क्या स्त्री भी मोह जाती हैं। देखो यद्यपि इसने स्नान के हेतु गहना उतार दिया है तो भी कैसी सुहानी दिखाई पड़ती है। सच है, सुंदर रूप को तो गहना ऐसा है जैसा निर्मल जल को काई।

राजा—ठीक है, इसकी छवि तो आप ही कुंदन की निंदा करती है तो गहने से इसे क्या। इसका दुबला शरीर काम की परतंचा उतारी हुई कमान है, और इसके गोरे गोरे गोल गालों में कनफूल की परछाहीं ऐसी दिखाती है जैसे चाँदी की थाली में भरे हुए मजीठ के रंग में चंद्रमा का प्रतिबिंब। इसके कर्णावलंबी नेत्र मेरे मन को अपनी ओर खींचे ही लेते हैं।

विदू०—(हँसकर) जाना जाना! बहुत बड़ाई मत करो।

राजा—(हँसकर) मित्र! हम कुछ झूठ नहीं कहते, तुम्हीं देखो, यह विना आभूषण भी अपने गुणों से भूषित है। जो स्त्रियाँ ऐसी सुंदर हैं उन पर पुरुष को आसक्त कराने में कामदेव को अपना धनुष नहीं चढ़ाना पड़ता। देखो इसकी चितवन में मिठास के साथ स्नेह भी झलकता है। इसके कान में नीले कमल के फूल झूलते हुए ऐसे सुहाते हैं मानो चंद्रमा में से दोनों ओर से कलंक निकला जाता है।

रानी—अजी कपिंजल ! इनसे पूछो तो यह कौन हैं या मैं ही पूछती हूँ। (स्त्री से) सुंदरी, यहां आओ, मेरे पास बैठो और कहो तुम कौन हो ?

राजा—आसन दो।

विदू०—यह मैंने अपना दुपट्टा बिछा दिया है, विराजो। (स्त्री बैठती है)

विदू०—हाँ, अब कहो।

स्त्री—कुंतल देश में जो विदर्भनगर है, वहां की प्रजा का वल्लभ, बल्लभराज नामक राजा है।

रानी—(आप ही आप) वह तो मेरा मौसा है।

स्त्री—उसकी रानी का नाम शशिप्रभा है।

रानी—(आप ही आप) और यही तो मेरी मौसी का भी नाम है।

स्त्री—(आँख नीची करके) मैं उन्हीं की बेटी हूँ।

रानी—(आप ही आप) सच है, बिना शशिप्रभा के और ऐसी सुंदर लड़की किसकी होगी। सीप बिना मोती और कहाँ हो। (प्रगट) तो क्या कर्पूरमंजरी तू ही है ?

स्त्री—(लाज से सिर झुकाकर चुप रह जाती है)।

रानी—तो आओ आओ बहिन मिल तो लें।

(कर्पूरमंजरी को गले लगाकर मिलती है)

कर्पूरमंजरी—बहिन, यह आज हमारी पहली भेंट है।

रानी--भैरवानंदजी की कृपा से कर्पूरमंजरी का देखना हमें बड़ा ही अलभ्य लाभ हुआ। अब यह पंद्रह दिन तक यहीं रहे, फिर आप जोगबल से पहुँचा दीजिएगा।

भै०--महारानी की जो इच्छा।

विदू०—मित्र! अब हम-तुम दो ही मनुष्य यहाँ बेगाने निकले, क्योंकि ये दोनों तो बहिन ही हैं और भैरवानंदजी इन दोनों के मिलानेवाले ठहरे, यह सरस्वती की दूसरी कुटनी भी एक प्रकार की रानी ही ठहरी, गए हम।

रानी—विचक्षणा! अपनी बड़ी बहन सुलक्षणा से कह कि भैरवानंदजी की पूजा करके उनको यथायोग्य स्थान दे।

विच०—जो आज्ञा।

रानी—महाराज! अब हम महल में जाते हैं, क्योंकि बहिन को अभी कपड़ा पहराना और सिंगार करना है।

राजा—इसको सिंगारना तो मानो चंपे के थाल में कस्तूरी भरना है, पर साँझ हो चुकी है अब हम भी तो चलते हैं।

(नेपथ्य में दो वैतालिक गाते हैं। राग गौरी)

प० वै०—भई यह साँझ सबन सुखदाई।

मानिक गोलक सम दिनमनि मनु संपुट दियो छिपाई॥
अलसानी दृग मूँदि मूँदि कै कमल लता मन भाई।
पच्छी निज निज चले बसेरन गावत काम बधाई॥

(राग पूरबी)

दू० वै०— देखो बीत चल्यो दिन प्यारे, आइ गई रतियाँ हो रामा। दीपक बरे निकस चले तारे हो, हिलत नहीं पतियाँ हो रामा॥ दासिन महलन सेज बिछाई हो, मान मई मतियाँ हो रामा। काम छोड़ि घर फिरै सबै नर हो, लगीं तिय छतियाँ हो रामा॥

(सब जाते हैं)

दूसरा अंक

स्थान-- राजभवन

(राजा और प्रतिहारी आते हैं)

प्रति०——इधर, महाराज, इधर।

राजा—(कुछ चलकर सोच से) हा! उस समय वह यद्यपि कुच-नितंब-भार से तनिक भी न हिली; परंतु त्रिवली के तरंग भय श्वास से चंचल थे, और गला तिरछा था, मुखचंद्र हिलने से वेणी ने कंचुकी का आलिंगन किया था, सो छवि तो भुलाए भी नहीं भूलती।

प्रति०—(आप ही आप) क्या अब तक वही गेंद वही चौगान! अच्छा देखो, हम इनका चित्त वसंत के वर्णन से लुभाते हैं। (प्रत्यक्ष) महाराज! इधर देखिए, कोकिल के कंठ खोलनेवाले भ्रमरों की झंकार में माधुर्य्य उत्पन्न करनेवाले और विरहियों के चित्त पंचम स्वर से घूर्णित करनेवाले चैत के दिन अब कुछ बड़े होने लगे।

राजा—(सुनकर अनुराग से) सच है, तभी न लावन्य-जल से पूरित, अनेक विलास हास से छके, सबकी सुंदरता जीतनेवाले उसके नील कमल से नेत्रों को

स्मरण करके शृंगार को जगाते हुए कामदेव ने वियोगियों पर यह कठिन धनु कान तक तानकर तीर चढ़ाया है; (पागल की भाँति) हा ! वह हरिननयनी मानो चित्त में घूमती है, उसके गुण नहीं भूलते, सेज पर मानो सोई हुई है, और मेरे साथ ही साथ चलती है, प्रति-शब्द में मानो बोलती है, और काव्यों से मानो मूर्तिमान प्रगट होती है। हा! जिसको उसने नेत्र भर नहीं देखा है जब वे वसंत ऋतु के पंचम गान से मरे जाते हैं तो जिन्हें उसने पूर्णदृष्टि से देखा है उन्हें तो तिलांजुलि ही देना योग्य है। हाय ! उसके दूध के धोए सफेद कोए में काली भँवरे सी पुतली कैसी शोभित हैं, जिनकी दृष्टि के साथ ही कामदेव भी हृदय में प्रविष्ट हो जाता है। (विचार करके) प्यारे मित्र ने क्यों देरी लगाई।

(विचक्षणा और विदूषक आते हैं)

विदू०—तो विचक्षणा तुम सच कहती हो न ?

विच०—हाँ हाँ सच है, वाह ! सच नहीं तो क्या झूठ कहेंगे ?

विदू०—हमको तुम्हारी बात का विश्वास इससे नहीं आता कि तुम बड़ी हँसोड़ हो।

विच०—वाह ! हँसी की जगह हँसी होती है, काम की बात में हँसी कैसी ?

विदू०—(राजा को देखकर) अहा ! प्यारे मित्र यह बैठे हैं, हा ! बिना हंस के मानस, बिना मद के हाथी, तुषार के

कमल, दिन के दीपक और प्रातःकाल के पूर्णचंद्र की भाँति महाराज कैसे तनछीन मनमलीन हो रहे हैं।

दोनों—(सामने जाकर) महाराज की जय हो।

राजा—कहो मित्र, तुम्हें विचक्षणा कहाँ मिली ?

विदू०—महाराज ! आज विचक्षणा मुझसे मित्रता करने आई थी, इन्हीं बातों में तो इतनी देर लगी।

राजा—क्यों विचक्षणा, तुमसे क्यों मित्रता करेगी ?

विदू०—क्योंकि आज यह किसी बड़े प्यारे मनुष्य की पत्री हाथ में लिए है।

राजा—और भला यह केवड़ा कहाँ से आया ?

विच०—केवड़े ही के पत्र पर पत्री लिखी है।

राजा—वसंत ऋतु में केवड़ा कहाँ से आया ?

विच०—भैरवानंदजी ने अपने मंत्र के प्रभाव से महारानी के महल के सामने एक लाठी को केवड़े का पेड़ बना दिया। महारानी ने भी आज हिंडोलनर्तनी चतुर्थी के पर्व्व में उन्हीं पत्तों से महादेवजी की पूजा की, और दो पत्ता अपनी छोटी बहिन कर्पूरमंजरी को दिया। उसने भी एक पत्ता मंगला गौरी को चढ़ाया, और दूसरे पत्ते की पुड़िया यह आपके भेंट है जिसमें कस्तूरी के अक्षरों से छंद लिखे हैं।

(पत्र राजा को देती है)

राजा—(खोलकर पढ़ता है)

जिमि कपूर के हंस सों, हंसी धोखा खाय ।
तिमि हम तुम सों नेह करि, रहे हाय पछिताय ॥

(इसको बारंबार पढ़कर) अहा ! यह वही मदन के रसायन अच्चर हैं ।

विच०—महाराज ! दूसरा छंद मैंने अपनी प्यारी सखी की दशा में वना के लिखा है, उसे भी पढ़िए ।

राजा—(पढ़ता है)

विरह अनल दहकत नित छाती ।
दुखद उसास बढ़त दिन राती ॥
गिरत आँसु सँग सखि कर चूरी ।
तन सम जिअन आस भई झूरी ॥

विच०—और अब मेरी बहिन ने जो उसका हाल लिखा है वह पढ़िए ।

राजा—(पढ़ता है)

तुम विन तासु उसास गुरु, भए हार के तार ।
तन चंदन तपि जात हैं, बिरह अनल संचार ॥
तन पीरो दिन चंद सम, निस दिन रोअत जात ।
कबहुँ न ताको मुख कमल, मृदु मुसकनि बिकसात ॥

राजा—(लंबी साँस लेकर) भला कविता में तो वह तुम्हारी वहिन ही है, इसका क्या कहना है ।

विदू०—महाराज ! विचक्षणा पृथ्वी की सरस्वती और इसकी बहिन त्रैलोक्य की सरस्वती, भला इसका क्या पूछना है, पर हम भी अपने मित्र के सामने कुछ पढ़ना चाहते हैं।

जब सों देखी मृगनयनि, भूल्यो भोजन पान।
निसदिन जिय चिंतत वहै, रुचत और नहिं आन ॥
मलय पवन तापत तनहि, फूल माल न सुहात।
चंदन लेप उसीर रस, उलटो जारत गात ॥
हार धार तरवार से, सूरज सों बढ़ि चंद।
सबही सुख दुख-मय भयो, परे प्रान हू मंद ॥

राजा—प्रान न मंद होंगे, अभी थोड़ी ही देर में लड्डू से जिला दिए जायँगे। अब यह कहो कि रनिवास में फिर क्या क्या हुआ ?

विदू०—विचक्षणा, कहो न क्या क्या हुआ ?

विच०—महाराज ! स्नान कराया, वस्त्र पहिनाया, तिलक लगाया, आभूषण साजे और मनाकर प्रसन्न किया।

राजा—कैसे ?

विच०—गोरे तन कुमकुम सुरँग, प्रथम न्हवाई बाल।
राजा—सो तो जनु कंचन तप्यो, होत पीत सों लाल ॥
विच०—इंद्रनीलमणि पैंजनी, ताहि दई पहिराय।
राजा—कमल कली जुग घेरि कै, अलि मनु बैठे आय ॥

विच०—सजी हरित सारी सरिस, जुगल जंघ कहँ घेरि।
राजा—सो मनु कदली पात निज, खंभन लपट्यो फेरि॥
विच०—पहिराई मनि किंकिनी, छीन सुकटि तट लाय।
राजा—सो सिंगार मंडप बँधी, वंदनमाल सुहाय॥
विच०—गोरे कर कारी चुरी, चुनि पहिराई हाथ।
राजा—सो साँपिन लपटी मनहुँ, चंदन साखा साथ॥
विच०—निज कर सों बाँधन लगी, चोली तब वह बाल।
राजा—सो मनु खींचत तीर भट, तरकस ते तेहि काल॥
विच०—लाल कंचुकी मैं उगे, जोबन जुगल लखात।
राजा—सो मानिक संपुट बने, मन चोरी हित गात॥
विच०—बड़े बड़े मुक्तान सों, गल अति सोभा देत।
राजा—तारागन आए मनौ, निज पति ससि के हेत॥
विच०—करनफूल जुग करन में, अतिही करत प्रकास।
राजा—मनु ससि लै द्वै कुमुदिनी, बैठ्यो उतरि अकास॥
विच०—बाला के जुग कान में, बाला सोभा देत।
राजा—स्रवत अमृत ससि दुहुँ तरफ, पियत मकर करि हेत॥
विच०—जिअ रंजन खंजन दृगनि, अंजन दियो बनाय।
राजा—मनहुँ सान फेर्यो मदन, जुगल बान निज लाय॥
विच०—चोटी गुथि पाटी सरस, करिके बाँधे केस।
राजा—मनहुँ सिंगार इकत्र ह्वै, बँध्यो बार के वेस॥
विच०—बहुरि उढ़ाई ओढ़नी, अतर सुवास बसाय।
राजा—फूल लता लपटी किरिन, रवि ससि की मनु आय॥

विच०—एहि विधि सो भूषित करी, भूषण वसन बनाय।
राजा—काम वाग झालरि लई, मनु वसंत ऋतु पाय॥
विदू०—महाराज! मैं सच कहता हूँ।

दृग काजर लहि हृदय वह, मनिमय हारन पाय।
कंचन किंकिनि सों सुभग, ता जुग जंघ सुहाय॥

राजा—(उसकी बात का अनादर करके) छिः।

दृग पग पोछन को किए, भूषन पायंदाज।

विदू०—(क्रोध से) वाह! हम तो गहने का वर्णन करते हैं और आप उसकी निंदा करते हैं।

अति सुंदर हू कामिनी, बिनु भूषन न सुहाय।
फूल विना चंपक लता, केहि भावत मन भाय॥

राजा—(हँसकर) मूढ़!

बिनु भूपन ही सोहही, चतुर नारि करि भाव।
चहियत नहिं अंगूर को, मिस्री मधुर मिलाव॥

विच०—महाराज ठीक है, जो नेत्र कान को छूए लेते हैं उनमें अंजन क्या, और जो मुख चंद्रमा की निंदा करता है उसको तिलक क्या, वैसे ही यद्यपि रूप के समुद्र से शरीर में कोई से गहनों की कौन आवश्यकता है, पर यह केवल लोक की चाल है, फूली हुई पीत चमेली को किसने गहने से सजाया है।

राजा—कपिंजल सुनो, गहना और कपड़ा तो नाचनेवालियों का भूपण है, रूप वही है जो सहज ही चित्त चुरावे.

सुभाव ही स्त्री की शोभा है, और गुण ही उसका भूषण है, रसिक लोग कभी ऊपर की बनावट नहीं देखते।

विच०—महाराज! मैं रानी की आज्ञा से केवल उसकी सेवा ही नहीं करती, कर्पूरमंजरी को मेरे प्रेम से मुझ पर विश्वास भी है इसी से मैं भी उसे बहुत चाहती हूँ और आपसे सच निवेदन करती हूँ कि वह निस्संदेह विरह से बहुत ही दुखी है। क्योंकि—

मदन दहन दहकत हिए, हाथ धरौ नहिं जात।
कर सों ससि की ओट कै, बितवत सो नित रात॥

मैं तो इतना ही कहे जाती हूँ बाकी सब कपिंजल कहेगा।

(जाती है)

राजा—कहो मित्र और कौन काम है?

विदू०—आज हिंडोल-चतुर्थी के दिन रानी और कर्पूरमंजरी झूला झूलने आवेंगी और महाराज इसी केले के कुंज में छिपकर देखेंगे यही काम है। (कुछ सोचकर) अहा! महारानी बड़ी चतुर हैं तो भी हमने कैसा छकाया, पुरानी बिल्ली को भी दूध के बदले मट्ठा पिलाया।

राजा मित्र तुम्हारे बिना और कौन हमारा काम ऐसा जी लगाके करे, समुद्र को चंद्रमा के सिवाय और कौन बढ़ा सकता है?

(दोनों केले के कुंज में जाते हैं)

विदू०—मित्र, इस ऊँचे चवूतरे पर बैठो।

राजा—अच्छा।

(दोनों बैठते हैं)

विदू०—कहो पूर्णिमा का चंद्र दिखाई पड़ा ? (एक ओर हाथ से दिखाता है)

राजा—(देख करके) अहा ! यह तो सचमुच प्यारी का मुखचंद्र दिखाई पड़ा।

गयो जगत रमनी गरव, परयो मंद नभ चंद।
सकुचि कमल जल मैं दुरे, भई कुमुद छवि मंद ॥
झूलनि मैं किंकिनि बजन, अंचल पट फहरान।
को जोहत मोहत नहीं, प्यारी छवि इहि आन ॥

विदू०—आप सूत्रकार थे इससे आपने बहुत थोड़े में कहा। हम भाष्यकार हैं इससे हम विस्तारपूर्वक कहते हैं।

फूली फूलवेली सी नवेली अलवेली बधू,
झूलत अकेली काम-केली सी बढ़ति है।
कहै पदमाकर झमंकी की झकोरन सों,
चारों ओर सोर किंकिनीन को कढ़ति है ॥
उर उचकाइ मचकीन की मचामच सों,
लंकहि लचाय चाय चौगुनी चढ़ति है।
रति विपरीत की पुनीत परिपाटी सु तौ,
हाँसनि हिंडोरे की सुपाटी मैं पढ़ति है ॥ १ ॥

गाइहौं मलारें और जनाइहौं हिये में छवि,
छाइहौं छिगुनि कुंज कुंजही के कोरे में।
कहै पदमाकर पियाइहौं पियाला मुख,
मुख सों मिलाइहौं सुगंध के झकोरे में ॥
नेह सरसाइहौं सिखाइहौं जो सासन में,
पाइहौं परी सो सुख मैन के मरोरे में।
उर उरझाइहौं हिए सों हिए लाइहौं,
झुलाइहौं कबैधों प्रानप्यारी को हिंडोरे में ॥२॥
रहसि रहसि हँसि हँसि के हिंडोरे चढ़ीं,
लेत खरी पेंगे छबि छाजें उसकन में।
उड़त दुकूल उघरत भुज-मूल बढ़ी,
सुखमा अतूल केस फूलन खसन में ॥
बोझल ह्वै देखि देखि भए अनिमेख लाल,
रीझत विसूर श्रम सीकर मसन में।
ज्यों ज्यों लचि लचि लंक लचकत आवती की,
त्यों त्यों पिअ प्यारो गहै आँगुरी दसन में ॥३॥
झूलत पाट की डोरी गहे, पटुली पर बैठन ज्यों उकुरू की।
देवजू दै मचकी कटि बाजत, किंकिनि केहर गोल उरू की ॥
सीखन को विपरीत मनों ऋतु पावस ही चटसार सुरू की।
खोंटी पटैं उचटैं तिय चोंटो चमोटी लगै मानों काम गुरू की ॥४॥
भूलति ना वह झूलनि बाल की, फूलनि भाल की लाल पटी की।
देव कहै लचकै कटि चंचल चोली दृगंचल चाल नटी की ॥

अंचल की फहरान हिये, रहि जान पयोधर पीन तटी की।
किंकिनि की झमकानि झुलावनी, झूकनि की झुकि जानि कटी की ५

राजा—हाय हाय! कर्पूरमंजरी झूले से क्यों उतरी? झूला क्या खाली हुआ, हमारे मन के साथ देखनेवालों के नेत्र भी खाली हुए।

विदू०—क्या बिजली की भाँति चमक कर छिप गई?

राजा—नहीं, बरन छलावे की भाँति दिखाई पड़ी और फिर अंतर्धान हो गई।

(स्मरण करके)

गोरो सो रंग उमंग भरो चित, अंग अनंग को मंत्र जगाए।
काजर रेख खुभी दृग मैं दोउ, भौंहन काम कमान चढ़ाए ॥
आवनि बोलनि डोलनी ताकी, चढ़ी चित में अति चोप बढ़ाए।
सुंदर रूप सो नैनन में बस्यो, भूलत नाहिनै क्योंहूँ भुलाए ॥

विदू०—मित्र, यही पन्ने का कुंज है, यहाँ बैठके आप आसरा देखिए, अब साँझ भी हुआ चाहती है।

(दोनों बैठते हैं)

राजा—मित्र, अब तो उसका विरह बहुत ही तपाता है।

विदू०—तो हमारी लाठी पकड़े दम भर बैठे रहो तब तक ठंडाई की तैयारी लावें।

(कुछ आगे बढ़कर) वाह! क्या विचक्षणा यहीं आती है?

राजा—ज्यों-ज्यों संकेत का समय पास आता है, त्यों-त्यों उत्कंठा कैसी बढ़ती जाती है !

(लंबी साँस लेकर)

ससि सम मुख दृग कुमुद से, कर पद कमल समान ।
चंपा सो तन तदपि वह, दाहत मोहि सुजान ॥

विदू०—अहा ! विचचणा तो ठंढाई लिए ही आती है ।

(विचचणा आती है)

विच०—अहा ! प्यारी सखी को विरह का ताप कैसा सता रहा है !

विदू०—(पास जाकर) यह क्या है ?

विच०—ठंढाई ।

विदू०—किसके लिए ?

विच०—प्यारी सखी के वास्ते ।

विदू०—तो आधी हमको दो ।

विच०—क्यों ?

विदू०—महाराज के वास्ते ।

विच०—कारण ?

विदू०—"कर्पूरमंजरी के वास्ते" कारण ।

विच०—तुम क्या नहीं जानते महाराज का वियोग ?

विदू०—तो तुम क्या नहीं जानती कर्पूरमंजरी का वियोग ?

(दोनों हँसते हैं)

विच०—तो महाराज कहाँ हैं ?

विदू०—तुम्हारो आज्ञानुसार पन्ने के कुंज में।

विच०—तो तुम भी वहाँ जाके बैठो ! दम भर में ठंढाई के बदले दोनों को दर्शन ही से तरावट पहुँच जायगी।

विदू०—तो वहाँ जाओ जहाँ से फिर न बहुरो।

(विचक्षणा को ढकेलता है। दोनों आपस में धक्का-मुक्की करते हैं)

विच०—छोड़ो-छोड़ो ! रानी की आज्ञानुसार कर्पूरमंजरी आती होगी।

विदू०—रानीजी की क्या आज्ञा है ?

विच०—महारानी ने तीन पेड़ लगाए हैं।

विदू०—किसके ?

विच०—कुरबक, तिलक और अशोक के।

विदू०—फिर ?

विच०—महारानी ने कहा है कि सुंदर स्त्रियों के आलिंगन से कुरबक, देखने से तिलक और पैर के छूने से अशोक फूलता है, इससे तुम जाकर मेरे कहे अनुसार सब काम अभी करो, सो वह आती होगी।

विदू०—तो पन्ने के कुंज से प्यारे मित्र को लाकर इन तमालों की आड़ में बैठावें।

(राजा को लाकर तमाल के पास बैठाता है)

विदू०—मित्र, सावधान होकर अपने मन रूपी समुद्र के चंद्रमा को देखो।

राजा—(देखता है)

(सजी-सजाई कर्पूरमंजरी आती है)

कर्पूर०—कहाँ से विचक्षणा ?

विच०—(पास जाकर) सखी, रानी की आज्ञा पूरी करो।

राजा—मित्र, कौन सी आज्ञा ?

विदू०—घबराओ मत, चुपचाप बैठे-बैठे देखा करो।

विच०—यह कुरबक का पेड़ है।

कर्पूर०—(आलिंगन करती है)

राजा—करत अलिंगन ही अहो, कुरबक तरु इक साथ।
फूल्यो उमगि अनंद सों, परसि पियारी हाथ॥

विदू०—मित्र, यह अद्भुत इंद्रजाल देखो, जिससे छोटा सा कुरबक का पेड़ कैसा एक साथ फूल उठा ! सच है, दोहद* के ऐसे ही विचित्र गुण होते हैं।

विच०—और सखी यह तिलक का पेड़ है।

कर्पूर०—(देर तक उसी की ओर देखती है)।

राजा—अहा ! काजर भीनी कामनिधि, दीठि तिरीछी पाय।
भरयो मंजरिन तिलक तरु, मनहु रोम उलहाय॥

* वृक्ष में विचित्र फूल फलादिक उत्पन्न करने का तंत्र।

विच०—सखी, अब इस अशोक की पारी है।

कर्पूर०—(वृक्ष को लात मारती है)।

विच०—नूपुर बाजत पद कमल, परसत तुरत अशोक।
फूल्यौ तजि सब सोक निज, प्रगटि कुसुम कल थोक॥

विदू०—मित्र, महारानी ने यह दोहद आप ही क्यों न किया, आप इसका कारण कुछ कह सकते हैं?

राजा—तुम्हीं जानो।

विदू०—मैं कहूँ, पर जो आप रूठ न जायँ?

राजा—भला इसमें रूठने की कौन बात है, निस्संदेह जो जी में आवे कह डालो।

विदू०—जदपि उतै रूपादि गुन, सुंदर मुख तन केस।
पै इत जोबन नृपति की, महिमा मिली बिसेस॥

राजा—जदपि इतै जोबन नवल, मधुर लरकई चारु।
पै उत चतुराई अधिक, प्रगटन रस ब्यौहारु॥

विदू०—सच है, जवानी और चतुराई में बड़ा बीच है।

(नेपथ्य में वैतालिक गाते हैं। राग चैती गौरी)

मन भावनि भई साँझ सुहाई।
दीपक प्रकट कमल सकुचाने प्रफुलित कुमुदिनि निसि ढिग आई॥
ससि प्रकाश पसरित तारागण उगन लगे नभ में अकुलाई।
साजत सेज सबै जुवती जन पीतम हित हिय हेत बढ़ाई॥

फूले रैन फूल बागन में सीतल पौन चली सुखदाई ।
गौरी राग सरस सुर सब मिलि गावत कामिनि काम बधाई ॥

राजा--मित्र, देखो संध्या हुई ।

विदू०—तभी न बंदियों ने साँझ के गीत गाए ।

कर्पूर०—सखी, अँधेरा होने लगा, अब चलो ।

विच०—हाँ, चलना चाहिए ।

(सब जाते हैं)

तीसरा अंक

स्थान—राजभवन

(राजा और विदूषक आते हैं)

राजा—(स्मरण करके) उसकी मधुर छवि के आगे नया चंद्रमा, चंपे की कली, हलदी की गाँठ, तपाया सोना और केसर के फूल कुछ नहीं हैं। पन्ने के हार और मालती की माला से शोभित उसका कंठ जी से नहीं भूलता और उसके कर्णावलंबी नेत्र मेरे जी में अब तक खटकते हैं।

विदू०--मित्र, स्त्रीजितों की भाँति तुम क्यों व्यर्थ बकते हो ?

राजा—मित्र, स्वप्न में हमने ऐसा ही मनुष्यरत्न देखा है।

विदू०—कैसा ?

राजा—मैंने देखा है कि वह कमलवदनी हँसती हुई मेरी सेज के पास आकर नीलकमल घुमाकर मुझे मारना चाहती है और जब मैंने उसका अंचल पकड़ा है तो वह चंचल नेत्रों को नचाकर अंचल छुड़ाकर भाग गई और मेरी नींद भी खुल गई।

विदू०—(आप ही आप) तो कुछ हम भी कहें। (प्रगट) मित्र, मैंने भी एक सपना देखा है।

राजा—(आशा से) हाँ मित्र, कहो-कहो।

विदू०—हमने देखा है कि देवगंगा के सोते में सोते-सोते हम महादेवजी के सिर पर खेलनेवाली नदी में जा पहुँचे हैं और फिर शरद ऋतु के मेघों ने हमको पेट भर के पीया है और तब हम हवा के घोड़े पर आकाश की सैर करते फिरते हैं।

राजा—(आश्चर्य से) हाँ, फिर ?

विदू०—फिर उसी मेघ में गुब्बारे की भाँति बैठे-बैठे ताम्र-पर्णी नदी में पहुँचे हैं और जब सूर्य्य चित्रा नक्षत्र में गए तब समुद्र के ऊपर जाके वह मेघ बड़ी-बड़ी बूँद से बरसने लगा और एक सीप ने मुँह खोलकर हमें भली भाँति पीया है और उसके पेट में जाते ही हम छ माशे के मोती हो गए।

राजा—(आश्चर्य्य से) फिर ?

विदू०—फिर हम समुद्र की लहरों से टक्कर लड़े और सैकड़ों सीपों में घूमते फिरे। अंत में घिस-घिसाकर सुंदर गोल मटोल चमकीले मोती बन गए और हमको पूर्व जन्म का स्मरण ज्यों का त्यों बना रहा।

राजा—(आश्चर्य्य से) फिर क्या हुआ ?

विदू०—फिर समुद्र से वह सीप निकालकर फाड़ी गई, तब हम एक दाने से चौंसठ होकर बाहर निकले और लाख अशरफी पर एक सेठ के हाथ बिके और जब उसने उन मोतियों को बिधवाया तो हमको बड़ी पीड़ा हुई।

राजा—(आश्चर्य से) हाँ तब ?

विदू०—फिर उस सेठ ने दस-दस छोटे मोतियों के बीच में हमें पिरोकर एक माला बनाई। तब हमारा दाम करोड़ों अशरफी से भी बढ़ गया और सोने के डिब्बे में रखके सागरदत्त सेठ ने पंजाब देश में कर्णउभ नगर के राजा श्री वज्रायुध के हाथ हमें बेच डाला।

राजा—(घबड़ाकर) फिर क्या हुआ ?

विदू०—फिर उसकी रानी के सुंदर गले में थोड़ी देर तक हम झूला झूलते रहे, पर जब राजा ने उसका आलिंगन किया तो कठोर स्तन के धक्कों से पिसकर हम ऐसे चिल्लाए कि नींद खुल गई।

राजा—(हँसता है) समझा, यह तुम हमारा परिहास करते हो।

विदू०—परिहास नहीं, ठीक कहते हैं। राज्य से छुटा हुआ राजा, कुटुंब में फँसी बालरंडा, भूखा गरीब ब्राह्मण, और विरह से पागल प्रेमी लोग मन के ही लड्डू से भूख बुझा लेते हैं। भला मित्र, हम यह पूछते हैं कि यह सब किसका प्रभाव है ?

राजा—प्रेम का।

विदू०—भला रानी से इतना स्नेह होते भी कर्पूरमंजरी पर इतना प्रेम क्यों करते हो और फिर रानी रूप आदिक में किससे कम है ?

राजा—यह मत कहो। किसी-किसी मनुष्य से ऐसी प्रेम की गाँठ बँध जाती है कि उसमें रूप कारण नहीं होता। ऐसे प्रेम में रूप और गुण तो केवल चवाइयों के मुँह बंद करने के काम आता है।

विदू०—तो प्रेम नाम आपके मत से किसका ?

राजा—नव योवनवाले स्त्री-पुरुषों के परस्पर अनेक मनोरथों से उत्पन्न सहज चित्त के विकार को प्रेम कहते हैं।

विदू०—और उसमें गुण क्या-क्या हैं ?

राजा—परस्पर सहज स्नेह अनुराग के उमंगों का बढ़ना, अनेक रसों का अनुभव, संयोग का विशेष सुख, संगीत, साहित्य और सुख की सामग्रीमात्र को सुहावना कर देना और स्वर्ग का पृथ्वी पर अनुभव करना।

विदू०—और वह जाना कैसे जाता है ?

राजा—लगावट की दृष्टि, नेत्रों का चंचल और चोर होना, अंग-अंग के अनेक भाव और मुख की आकृति से।

विदू०—हमारी जान में चित्त में जो विहार के उत्साह होते हैं उसी का नाम प्रेम है। और उसको रूप नहीं है तो भी मनुष्य में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। जहाँ कामदेव का इंद्रजाल यह प्रेम स्थिर है वहाँ आभूषण और द्रव्य से क्या ?

राजा—(हँसकर) इसको द्रव्य और आभूषण ही की पड़ी रहती है। अरे !

कहा अभूषन कह बसन, का अनेक सिंगार।
तिय तन सो कछु और ही, जो मोहत संसार॥
खंजन-मद-गंजन करन, जग-रंजन जे आहिं।
मदन-लुकंजन सरिस दृग, कह अंजन तिन माहिं॥
धन कुल की मरजाद कछु, प्रेमपंथ नहिं होत।
राव रंक सब एक से, लगत प्रनय-रस-सोत॥
धनिक-बधू जो छबि लहत, बेंदी रतन जराय।
ग्रामबधूटी हूँ सोई, कुंकुम तिलक लगाय॥
"अनियारे तीखे दृगनि, किती न तरुनि जहान।
वह चितवनि कछु और ही, जिहिं वस होत सुजान॥"

विदू०—यह ठीक है, पर लड़कई में जो रूप रहता है जवानी के सौंदर्य से उससे कोई संबंध नहीं। यह क्यों?

राजा—हमारे जान में जन्म देनेवाला विधि दूसरा है और उन्नत कुच उत्पन्न करनेवाला दूसरा है। सुंदरता से भरा अंग, कर्णावलंबी नेत्र, हारशोभी स्तन, क्षीण मध्य देश और गोल नितंब यही पाँच अंग कामदेव के मुख्य सहायक होते हैं।

(नेपथ्य में)

हाय! इस ठंढे घर में भी कर्पूरमंजरी पसीने से तर हुई जाती है इससे इसे पंखा झलें।

सखी कुरंगिके! यह हिम उपचार तो मुझ कमल की लता को और भी मुरझा देगा।

कमलनाल विषजाल सम, हार भार अहि भोग।
मलय प्रलय जल अनल मोहि, वायु आयुहर रोग॥

विदू०—प्यारे मित्र ने सुना! तो अब इस अमृत के प्याले की उपेक्षा कब तक करोगे, चलो धूप से सूखती कमलिनी, बिना पानी की केसर की क्यारी, बालक के हाथ में रोली की पुतली, हरने के सींग में फँसी हुई चंदन की डाल, और अनाड़ी के हाथ पड़ी मोती की सी कर्पूरमंजरी की दशा है, इससे चलकर शीघ्रही उसको प्राणदान दो, लो न तुम्हारा सपना तो सच हुआ, चलो काम की पताका उड़ाओ, मदनमंत्र के हुंकार के साथ हो स्वेद का अभिषेक भी होय, चलो इसी खिड़की से चलें।
(खिड़की की ओर चलना नाट्य करते हैं)

(भीतरी परदा उठता है और एक घर में कुरंगिका और कर्पूर-मंजरी बैठी दिखाई देती हैं)।

कर्पूर०—(राजा को देखकर घबड़ाके) अहा! क्या पूर्णिमा का चंद आकाश से उतर आया या भगवान् शिवजी ने रति की अधीनता पर प्रसन्न होकर फिर से कामदेव को जिला दिया, या वही छलिया आता है जिसने चित्त चुराकर ऐसा धोखा दिया। सखी! यह कुछ इंद्रजाल तो नहीं है?

विदू०—(राजा को दिखाकर) हाँ, सचमुच यह इंद्रजाल का तमाशा है।

कर्पूर०—(लाज से सिर नीचे कर लेती है)

कुरं०—सखी ! महाराज खड़े हैं और तू आदर करने को नहीं उठती ?

कर्पूर०—(उठा चाहती है)

राजा—बस बस, प्यारी, तुम अपने कोमल अंगों को क्यों दुख देती हो ? जहाँ की तहाँ बैठी रहो ।

कुच नितंब के भार सों, लचि न जाय कटि छीन ।
रहो रहो बैठी रहो, करौ न आज नवीन ॥

विदू०—हाय हाय ! कर्पूरमंजरी को बड़ा पसीना हो रहा है । अच्छा, पंखा झलें (अपने दुपट्टे से पंखा झलता हुआ जान-बूझकर दिया बुझा देता है) । हहहह ! बड़ा आनंद हुआ । दिया गुल पगड़ी गायब । अब बड़ा आनंद होगा । महाराज ! देखिए, कुछ अंधेर न हो ।

राजा—तो सब लोग छत्त पर चलें । आओ प्यारी, तुम हमारा हाथ पकड़ लो और अपनी मंद चाल से हंसों को लजाओ । (स्पर्श-सुख नाट्य करके) अहा ! तुम्हारे अंग से छू जाते ही कदंब की भाँति हमारा अंग पुष्पित हो गया ।

(सब लोग चलना दिखाते हैं)

(नेपथ्य में प्रथम वैतालिक)

नव ससि उदय होइ सुखदायक। कुमकुम मुख मंडित तिय मुख सम, देखहु उग्यो जामिनीनायक ॥ अरुन दिसा प्राची रँग राँची, तरुन करुन बिरही जन घायक। रजनी लखि सजनी अनंग अब, तजत किरिन मिस तकि तकि सायक ॥ पत्ररंध्र तें छनि छनि आवत, चाँदनि रस सिंगार की वायक। तारागन प्रगटित नभमंडल, ससि राजा के सँग जनु पायक। विहरत तरुनि सँजोगिन सों मिलि, लहि सब सुख रसिकन के लायक। प्रफुलित कुमुद देखि सरवर महँ, गावत काम बधाई गायक ॥

(नेपथ्य में चंद्रमा का प्रकाश होता है)

विदू०--कनकचंद्र गा चुका, अब माणिक्यचंद्र गावे।

(नेपथ्य में दूसरा वैतालिक गाता है)

रैन सँजोगिन कों सुखदाई।
तजत मानिनी मान चंद लखि, दूती तिन कहँ चलत लिवाई ॥
कोमल सेज तमोल फूल मधु, सुखद साज सब धरे सजाई।
विहरहिं कामिनि कामी जन सँग, लूटहिं सुख पीतम ढिग पाई ॥

विदू०—दिसावधू चंदन तिलक, नभ सरवर को हंस।
काम कंद सम नभ उदित, यह ससि जगत प्रसंस ॥

कुरं०--चंद उदय लखि कै मदन, कानन लों धनु तानि।
जीत्यौ जग जुव जन सबैं, निसि निज अति बल जानि ॥

(कर्पूरमंजरी से) सखी ! अब तेरा बनाया चंद्रमा का वर्णन महाराज को सुनाती हूँ।

कर्पूर०—(लज्जा नाट्य करती है)

कुरं०—ससि अति सुंदर ताहि कहुँ, दृष्टि नाहि लगि जाय।
तातें दैव कलंक मिस, दियौ दिठौना लाय॥

राजा—वाह-वाह ! जैसा छंद वैसे ही बनानेवाले। फिर क्या पूछना है, कोमल मुख से जो अक्षर निकलेंगे वह क्यों न कोमल होंगे, पर—

सिर दै कस्तूरी तिलक, सब विधि ससि छवि धारि।
तुमहू तौ मम मन कुमुद, विकसावति सुकुमारि॥

(चंद्रमा की ओर)

तजौ गरब अब चंद तुम, भूलौ मत मन माहिं।
क्रोध हँसनि भ्रूभंग छबि, तुम मैं सपनेहु नाहिं॥

(नेपथ्य में कोलाहल)

राजा—यह क्या कोलाहल है ?

कर्पूर०—(भय से) कुरंगिके ! देखो तो यह क्या है ?

(कुरंगिका बाहर होकर आती है)

विदू०—जान पड़ता है कि यह सब बात रानी ने जान ली।

कुरं०—हाँ ठीक है, महारानी हमलोगों को पकड़ने यहाँ आती हैं वही कोलाहल है।

कर्पूर०--(डरकर) तो हमलोग अब इस सुरंग की राह से महल में जाते हैं जिसमें महारानी महाराज के साथ हमें न देखें।

(सब जाना चाहते हैं।)

चौथा अंक

(राजा और विदूषक आते हैं)

राजा—अहा ! ग्रीष्म ऋतु भी कैसी भयानक होती है ! इस ऋतु में दो बातें अत्यंत असह्य हैं--एक तो दिन की प्रचंड धूप, दूसरे प्यारे मनुष्य का वियोग ।

विदू०—संसार में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं—एक सुखी एक दुखी । हम अच्छे न सुखी न दुखी, न संयोगी न वियोगी ।

(नेपथ्य में मैना बोलती है)

तो तेरा सिर टूट बेल सा क्यों नहीं गिर पड़ता ?

राजा—मित्र खिलवाड़िन मैना क्या कहती है, सुनो ।

विदू०--(क्रोध से) अच्छा दुष्ट दासी देख अभी तुझको पकड़कर मरोड़ डालते हैं ।

(नेपथ्य में मैना बोलती है)

हाँ हाँ, निपूते जो हमें पर न होते तू सब करता ।

राजा—(देखकर) क्या मैना उड़ गई ? (विदूषक से) कामी जनों की प्यारी इस गरमी की ऋतु में जब निशारूपी मैना जल्दी से उड़ जाती है तो यह मैना क्यों न उड़े । क्यों न हो, वा संयोगियों को तो ग्रीष्म भी

सुखद ही है। दो पहर तक ठंढे चंदन का लेप, तीसरे पहर महीन गीले कपड़े, फुहारे, खसखाने और साँझ को जलविहार और हिम से ठंढी की हुई मदिरा और पिछली रात की ठंढी हवा में विहार इत्यादि इस ऋतु में भी सुख के सभी साज हैं, पर जो करनेवाला हो।

विदू०—ऐसा नहीं, मुँह भर के पान, पानी से फूली हुई सुपारी, कपूर की धूर और मीठा-मीठा भोजन ही गरमी में सुखद होता है।

राजा—छिः, इस गरमी में भी तुझे पान और मीठे भोजन की पड़ी है। गरमी में तो वायु के संयोग से जल, हिम में रखने से मदिरा, चंदनलेप करने से स्त्री, सुंदर कंठ पाकर फूल और पंचम स्वर से पूरित होकर वंशी यही पाँच वस्तु ठंढी हैं। तथा सिरीस के फूल के गहने, बेले की चोटी, मोतिया के हार, चंपे की चंपाकली, नेवारी के गजरे, जल भरी कुमुद की बिना डोरे की माला और हाथ में कमलनाल के कंकण यही सुंदरियों को रत्नाभरण के बदले योग्य शृंगार हैं।

विदू०—हम तो यही कहेंगे कि दो पहर को चंदन लगाए, साँझ को नहाए, मंद वायु से कान का फूल हिलानेवाली स्त्री ही गरमी में सुखद होती है।

राजा—(याद करके) देखो, जिनके प्यारे पास हैं उनको गरमी के बड़े-बड़े दिन एक क्षण से बीतते हैं, पर जो अपने

प्यारे से दूर पड़े हैं उनको तो ये दिन पहाड़ से भी बड़े हो जाते हैं। (विदूषक से) मित्र, कुछ उसी की बात कहो।

विदू०—हाँ मित्र, सुनो, बहुत अच्छी अच्छी बात कहेंगे। जब से कर्पूरमंजरी को गुप्त घर की सुरंग के दरवाजे पर महारानी ने देख लिया है तब से सुरंग का मुँह बंद करके अनंगसेना, कलिंगसेना, वसंतसेना और विभ्रमसेना, नामक चार सखियों को नंगी तलवार लेकर पूरब में; अनंगलेखा, चंदनलेखा, चित्रलेखा, मृगांकलेखा, और विभ्रमलेखा इन पाँच सखियों को धनुष देकर दक्षिण में; और कुंदमाला, चंदनमाला, कुवलयमाला, कांचनमाला वकुलमाला, मंगलमाला और माणिक्यमाला इन सात सखियों को चोखे भाले देकर पश्चिम दरवाजे पर; और अनंगकेलि, कर्पूरकेलि, कंदर्पकेलि और सुंदरकेलि, इन चार सखियों को खड्ग देकर उत्तर की ओर पहरे के वास्ते रखा है। और भी हजारों हथियारबंद सखी चारों ओर फिरा करती हैं, और मदिरावती, केलिवती, कल्लोलवती, तरंगवती और तांबूलवती ये पाँच सोने की छड़ी हाथ में लेकर उस सेना की रक्षा करती हैं।

राजा—वाह रे ठाट-बाट! महारानी सचमुच अपने महारानीपन पर आ गईं।

विदू०—मित्र, महारानी के यहाँ से सारंगिका नाम की सखी कुछ कहने को आती है।

(सारंगिका आती है)

सारंगिका—महाराज की जय हो। महाराज! महारानी ने निवेदन किया है कि आज बटसावित्रो का उत्सव होगा सो महाराज छत पर से देखें।

राजा—महारानी की जो आज्ञा।

(सारंगिका जाती है। राजा और विदूषक छत पर चढ़ना नाट्य करते हैं)

विदू०—देखिए, मोतियों के गहने से लदी हुई नृत्य में वस्त्र फहरानेवाली स्त्रियाँ हीरे के नगीने से जलकणों से कैसा परस्पर खेल रही हैं, इधर विचित्र प्रबंध से घूमनेवाली, फिरकी की भाँति नाचनेवाली और सम पर पाँव रखनेवाली स्त्रियाँ कैसा परस्पर नाच रही हैं, कोई मंडल बाँध कर पंक्ति से, कोई दूसरी का हाथ पकड़कर और कोई अकेली ही नाचती है। नृत्य के श्रम-श्वास से कुचों पर हार कंपित होकर देखनेवालों के नेत्र और मन को अपनी ओर बुलाते हैं। सब देश की स्त्रियों के स्वाँग बनकर कुछ स्त्रियाँ अलग ही कौतुक कर रही हैं। यह देखिए जिसने भीलनी का स्वाँग लिया है वह कैसी निर्लज्ज और मत्तचेष्टा करती है! वैसे ही जो गँवारिन बनी है वह अपनी सहज सीधी और भोली चितवन से अलग चित्त चुराती है; कोई गाती है, कोई हँसती है, कोई नकल करती है, सब अपने-अपने रंग में मस्त हैं।

(सारंगिका आती है)

सारं०—(आप ही आप) अहा ! महाराज तो छत पर पन्ने के बँगले में बैठे हैं। (प्रगट) महाराज की जय हो। महाराज ! महारानी कहती हैं कि हम साँझ को महाराज का व्याह करेंगे।

विदू०—ह हा ह हा ! वाह ! क्या अच्छी बे-समय की रागिनी छेड़ी गई है।

राजा—सारंगिके ! सविस्तर कहो, तुम्हारी बात हमारी समझ में नहीं आती।

सारं०—विगत चतुर्दशी को महारानी ने मानिक्य की गौरी बनाकर भैरवानंदजी के हाथ से प्रतिष्ठा कराई थी, सो जब महारानी ने भैरवानंदजी से कहा कि आप कुछ गुरु-दक्षिणा माँगिए तब उन्होंने कहा "ऐसी गुरुदक्षिणा दो जिसमें महाराज का कल्याण भी हो और वे प्रसन्न भी हों अर्थात् लाट देश के राजा चंद्रसेन की कन्या घनसारमंजरी को ज्योतिषियों ने बताया है कि जिससे इसका विवाह होगा वह चक्रवर्ती होगा। उसका महाराज से विवाह कर दो। यही हमें गुरुदक्षिणा दो।" महारानी ने भी स्वीकार किया और इसी हेतु मुझे आपके पास भेजा है।

विदू०—वाह वाह ! सिर पर साँप और काबुल में वैद्य, आज व्याह और लाट देश में घनसारमंजरी !

राजा—इससे क्या ? भैरवानंद के प्रभाव से सब निकट है।

सारं०—महाराज, आम की वारीवाले चामुंडा के मंदिर में महारानी और भैरवानंदजी आपका व्याह करेंगे सो आप यहाँ से कहीं मत टलिएगा।

(जाती है)

राजा—यह सब भैरवानंदजी का प्रभाव है।

विदू०—सच है, चंद्र बिना चंद्रकांतमणि को और कौन द्रवावे ?

(एक ओर बगीचे और मंदिर का दृश्य। भैरवानंद आता है)

भैरवानंद—इस वट के मूल में सुरंग के दरवाजे पर चामुंडा की मूर्ति है तो यहीं ठहरें। (हाथ जोड़कर) कल्पांत महाश्मशान-रूपी क्रीड़ा-मंदिर में ब्रह्मा की खोपड़ी के कटोरे में राक्षसों का उष्ण रुधिर रूपी मद्य-पान करनेवाली कराली काली को नमस्कार है। (आगे बढ़कर) अभी तक कर्पूरमंजरी नहीं आई ?

(सुरंग का मुँह खुलता है और उसमें से कर्पूरमंजरी निकलती है)

कर्पूर०—महाराज, प्रणाम करती हूँ।

भै०—योग्य वर पाओ ! आओ, यहाँ बैठो।

कर्पूर०—(बैठती है)

भै०—अब तक रानी नहीं आईं ?

(रानी आती हैं)

रानी—(आगे देखकर) अरे यही चामुंडा हैं ? और कर्पूरमंजरी भी बैठी है ? (भैरवानंद से) महाराज, व्याह की सामग्री ले आवें ?

भै०—हाँ रानी।

रानी—(आगे बढ़ती है)

भै०—(हँसकर) यह खोजने गई है कि हमारे पहरे में से कर्पूरमंजरी कैसे चली आई ? तो अच्छा बेटी कर्पूर-मंजरी, तुम सुरंग की राह से जाकर अपनी जगह पर बैठो, जब रानी देख ले तब चली आना।

कर्पूर०—जो आज्ञा। (उसी भाँति जाती है)

रानी—(आगे एक घर में झाँककर) अरे कर्पूरमंजरी तो यहीं है, वह कोई दूसरी होगी। बेटी कर्पूरमंजरी, जी कैसा है ?

(नेपथ्य में) सिर में कुछ दर्द है।

रानी—तो चलें। (आगे बढ़कर) लाओ जल्दी तयारी करो।

(कर्पूरमंजरी सुरंग की राह से आकर अपनी जगह पर बैठती है)

रानी—(देखकर) अरे ! यहाँ भी कर्पूरमंजरी !

भै०—बेटी विभ्रमलेखे ! व्याह की सामग्री ले आई ?

रानी—हाँ लाई सही, पर कर्पूरमंजरी के लायक आभूषण लाना भूल गई।

भै०—तो जाओ जल्दी ले आओ।

रानी—जो आज्ञा। (आगे बढ़कर उसी घर की ओर जाती है)

भै०—बेटी कर्पूरमंजरी, फिर वैसा ही करो।

कर्पूर०—जो आज्ञा। (वैसे ही जाती है)

रानी—(उसी घर के दरवाजे से झांककर) आहा! मैं निस्संदेह ठगी गई,। (प्रगट) अरे व्याह की सामग्री लाओ। (कर्पूरमंजरी वैसे ही आती है। फिर भैरवानंद के पास आकर और कर्पूरमंजरी को देखकर) यह क्या चरित्र है! हा! हमारी चेष्टा इस योगीश्वर ने ध्यान से सब जानी होगी।

भै०—रानी! बैठो, महाराज भी आते होंगे।

(राजा और विदूषक ऊपर से उतरते हैं और कुरंगिका आती है)

भै०—महाराज विराजिए। (सब बैठते हैं)

राजा—(कर्पूरमंजरी को देखकर) यह कामदेव की मूर्त्तिमान शक्ति है, वा शृंगार की साक्षात् लता है, वा सिमटी हुई चंद्रमा की चाँदनी है, वा हीरे की पुतली है, वा वसंतऋतु की मूल कला है, जिसको इसने एक बार देखा उसके चित्तरूपी देश में कामदेव का निष्कंटक राज हुआ।

विदू०—(धीरे से) वाह रे जल्दी! अरे अब तो क्षण भर में गोद ही में आई जाती है। अब क्या बक-बक लगाए हो, कोई सुनेगा तो क्या कहेगा?

रानी—(कुरंगिका से) तुम महाराज को गहिना पहिनाओ और सुरंगिका घनसारमंजरी को। (दोनों सखियाँ वैसा ही करती हैं)

भै०—उपाध्याय को बुलाओ।

रानी—महाराज का पुरोहित आर्य्य कपिंजल बैठा ही है फिर किसकी देर है ?

विदू०—हाँ हाँ, हम तो तय्यार ही हैं। मित्र, हम गँठबंधन करते हैं, तुम कर्पूरमंजरी का हाथ पकड़ो और कर्पूरमंजरी तुम महाराज का पकड़ो। (झूठमूठ के अशुद्ध मंत्र पढ़ता है और वैदिकों सी चेष्टा करता है)

भै०—तुम निरे वही हो, कर्पूरमंजरी का घनसार मंजरी नाम हुआ।

राजा—(कर्पूरमंजरी का हाथ पकड़कर आप ही आप) आहा! इसके कोमल करस्पर्श से कदंब और केवड़े की भाँति मेरा शरीर एक साथ रोमांचित हो गया।

विदू०—अग्नि प्रगटाओ और लावा का होम करो। (राजा और कर्पूरमंजरी अग्नि की फेरी करते हैं। कर्पूरमंजरी धुएँ से मुँह फेरना नाट्य करती है)

रानी—अब विवाह हो गया, हम जाते हैं। [जाती है

भै०—विवाह की आचार्य्य-दक्षिणा दीजिए।

राजा—(विदूषक से) हाँ मित्र! सौ गाँव तुमको दिया।

विदू०—स्वस्ति, स्वस्ति। (उठकर बगल बजाकर नाचता है)

भै०—महाराज, कहिए और क्या होय ?

राजा—(हाथ जोड़कर) महाराज ! अब क्या बाकी है ?

कुंतल नृपकन्या मिली, चक्रवर्त्ति पद साथ ।
सब पूरे मनकाज मम, तुम पद-बल ऋषिनाथ ॥

तब भी यह भरतवाक्य सत्य हो—

उन्नत चित ह्वै आर्य परस्पर प्रीति बढ़ावैं ।
कपट नेह तजि सहज सत्य ब्यौहार चलावैं ॥
जवन-संसरग-जात दोसगन इनसों छूटैं ।
सबै सुपथ पथ चलैं नितहि सुख सम्पति लूटैं ॥
तजि-विविध देव-रति कर्म-मति एक भक्ति पथ सब गहैं ।
हिय भोगवती सम गुप्त हरिप्रेम धार नितही बहै ॥

॥ इति ॥

मुद्राराक्षस

नाटक

संवत् १९३५

परमश्रद्धास्पद

श्रीयुक्त राजा शिवप्रसाद बहादुर, सी० एस० आई०

के

चरण-कमलों में

केवल उन्हीं के उत्साहदान से

उनके

वात्सल्यभाजन छात्र-द्वारा बना हुआ

यह ग्रंथ

सादर समर्पित हुआ।

पूर्व्व कथा



पूर्व्व काल में भारतवर्ष में मगधराज्य एक बड़ा भारी जनस्थान था। जरासंध आदि अनेक प्रसिद्ध पुरुवंशी राजा यहाँ बड़े प्रसिद्ध हुए हैं। इस देश की राजधानी पाटलिपुत्र अथवा पुष्पपुर थी। इन लोगों ने अपना प्रताप और शौर्य्य इतना बढ़ाया था कि आज तक इनका नाम भूमंडल पर प्रसिद्ध है। किंतु कालचक्र बड़ा प्रबल है कि किसी को भी एक अवस्था में रहने नहीं देता। अंत में नंदवंश* ने पौरवों को निकालकर वहाँ अपनी जयपताका उड़ाई। वरंच सारे भारतवर्ष में अपना प्रबल प्रताप विस्तारित कर दिया।

इतिहास ग्रंथों में लिखित है कि एक सौ अड़तीस बरस नंदवंश ने मगध देश का राज्य किया। इसी वंश में महानंद का जन्म हुआ। यह बड़ा प्रसिद्ध और अत्यंत प्रतापशाली राजा हुआ। जब जगद्विजयी सिकंदर (अलक्षेंद्र) ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की थी तब असंख्य हाथी, बीस हजार सवार और दो लाख पैदल लेकर महानंद ने उसके

* नंदवंश सम्मिलित क्षत्रियों का वंश था। ये लोग शुद्ध क्षत्री नहीं थे।

विरुद्ध प्रयाण किया था* । सिद्धांत यह कि भारतवर्ष में उस समय महानंद सा प्रतापी और कोई राजा न था।

महानंद के दो मंत्री थे। मुख्य का नाम शकटार और दूसरे का राक्षस था। शकटार शूद्र और राक्षस† ब्राह्मण था। ये दोनों अत्यन्त बुद्धिमान् और महा प्रतिभासंपन्न थे। केवल भेद इतना था कि राक्षस धीर और गंभीर था, उसके विरुद्ध शकटार अत्यंत उद्धतस्वभाव था, यहाँ तक कि अपने प्राचीनपने के अभिमान से कभी-कभी यह राजा पर भी अपना प्रभुत्व जमाना चाहता। महानंद भी अत्यंत उग्रस्वभाव, असहनशील और क्रोधी था, जिसका परिणाम यह हुआ कि महानंद ने अंत को शकटार को क्रोधांध होकर बड़े निविड़ बंदीखाने में कैद किया और सपरिवार उसके भोजन को केवल दो सेर सत्तू देता था‡।

* सिकंदर के कान्यकुब्ज से आगे न बढ़ने से महानंद से उससे मुकाबिला नहीं हुआ।

† बृहत्कथा में राक्षस मंत्री का नाम कहीं नहीं है, केवल वररुचि ने एक सच्चे राक्षस से मैत्री की कथा यों लिखी है—एक बड़ा प्रचंड राक्षस पाटलिपुत्र में फिरा करता था। वह एक रात्रि वररुचि से मिला और पूछा कि "इस नगर में कौन स्त्री सुंदर है ?" वररुचि ने उत्तर दिया—"जो जिसको रुचे वही सुंदर है।" इस पर प्रसन्न होकर राक्षस ने उससे मित्रता की और कहा कि हम सब बात में तुम्हारी सहायता करेंगे और फिर सदा राजकाज में ध्यान में प्रयत्त होकर राक्षस वररुचि की सहायता करता।

‡ बृहत्कथा में यह कहानी और ही चाल पर लिखी है। वररुचि, व्याड़ि और इंद्रदत्त तीनों को गुरुदक्षिणा देने के हेतु करोड़ों रुपए

शकटार ने बहुत दिन तक महामात्य का अधिकार भोगा था, इससे यह अनादर उसके पक्ष में अत्यंत दुखदाई हुआ। नित्य सत्तू का बरतन हाथ में लेकर अपने परिवार से कहता कि जो एक भी नंदवंश के जड़ से नाश करने में समर्थ हो वह यह सत्तू खाय। मंत्री के इस वाक्य से दुखित होकर उसके परिवार का कोई भी सत्तू न खाता। अंत में कारागार की पीड़ा से एक-एक करके उसके परिवार के सब लोग मर गए।

के सोने की आवश्यकता हुई। तब इन लोगों ने सलाह की कि नंद (सत्यनंद) राजा के पास चलकर उससे सोना लें। उन दिनों राजा का डेरा अयोध्या में था, ये तीनों ब्राह्मण वहाँ गए, किंतु संयोग से उन्हीं दिनों राजा मर गया। तब आपस में सलाह करके इंद्रदत्त योगबल से अपना शरीर छोड़कर राजा के शरीर में चला गया, जिससे राजा फिर जी उठा। तभी से उसका नाम योगानंद हुआ। योगानंद ने वररुचि को करोड़ रुपए देने की आज्ञा की। शकटार बड़ा बुद्धिमान् था; उसने सोचा कि राजा का मरकर जीना और एकबारगी एक अपरिचित को करोड़ रुपया देना इसमें हो न हो कोई भेद है। ऐसा न हो कि अपना काम करके फिर राजा का शरीर छोड़कर यह चला जाय, यह सोचकर शकटार ने राज्य भर में जितने मुरदे मिले उनको जलवा दिया, उसी में इंद्रदत्त का भी शरीर जल गया। जब व्याडि ने यह वृत्तांत योगानंद से कहा तो यह सुनकर पहिले तो दुखी हुआ फिर वररुचि को अपना मंत्री बनाया। परंतु अंत में शकटार की उग्रता से संतप्त होकर उसको अंधे कुएँ में कैद किया। बृहत्कथा में शकटार के स्थान पर शकटाल नाम लिखा है।

एक तो अपमान का दुःख, दूसरे कुटुंब का नाश, इन दोनों कारणों से शकटार अत्यंत तनछीन मनमलीन दीन-हीन हो गया। किंतु अपने मनसूबे का ऐसा पक्का था कि शत्रु से बदला लेने की इच्छा से अपने प्राण नहीं त्याग किए और थोड़े-बहुत भोजन इत्यादि से शरीर को जीवित रखा। रात दिन इसी सोच में रहता कि किस उपाय से वह अपना बदला ले सकेगा।

कहते हैं कि राजा महानंद एक दिन हाथ-मुँह धोकर हँसते-हँसते जनाने में आ रहे थे। विचक्षणा नाम की एक दासी, जो राजा के मुँह लगने के कारण कुछ धृष्ट हो गई थी, राजा को हँसता देखकर हँस पड़ी। राजा उसकी ढिठाई से बहुत चिढ़े और उससे पूछा—तू क्यों हँसी? उसने उत्तर दिया—"जिस बात पर महाराज हँसे उसी पर मैं भी हँसी।" महानंद इस बात पर और भी चिढ़ा और कहा कि अभी बतला मैं क्यों हँसा, नहीं तो तुझको प्राण-दंड होगा। दासी से और कुछ उपाय न बन पड़ा और उसने घबड़ाकर इसके उत्तर देने को एक महीने की मुहलत चाही। राजा ने कहा—आज से ठीक एक महीने के भीतर जो उत्तर न देगी तो कभी तेरे प्राण न बचेंगे।

विचक्षणा के प्राण उस समय तो बच गए, परंतु महीने के जितने दिन बीतते थे, मारे चिंता के वह मरी जाती थी। कुछ सोच-विचारकर वह एक दिन कुछ खाने-पीने की सामग्री

लेकर शकटार के पास गई और रो-रोकर अपनी सब विपत्ति कहने लगी। मंत्री ने कुछ देर तक सोचकर उस अवसर की सब घटना पूछी और हँसकर कहा—"मैं जान गया राजा क्यों हँसे थे। कुल्ला करने के समय पानी के छोटे छींटों पर राजा को वटबीज की याद आई, और यह भी ध्यान हुआ कि ऐसे बड़े बड़ के वृक्ष इन्हीं छोटे बीजों के अंतर्गत हैं। किंतु भूमि पर पड़ते ही वह जल के छींटे नाश हो गए। राजा अपनी इसी भावना को याद करके हँसते थे।" विचक्षणा ने हाथ जोड़कर कहा—"यदि आपके अनुमान से मेरे प्राण की रक्षा होगी तो मैं जिस तरह से होगा आपको कैदखाने से छुड़ाऊँगी और जन्म भर आपकी दासी होकर रहूँगी।"

राजा ने विचक्षणा से एक दिन फिर हँसने का कारण पूछा, तो विचक्षणा ने शकटार से जैसा सुना था कह सुनाया। राजा ने चमत्कृत होकर पूछा—"सच बता, तुझसे यह भेद किसने कहा?" दासी ने शकटार का सब वृत्त कहा और राजा को शकटार की बुद्धि की प्रशंसा करते देख अवसर पाकर उसके मुक्त होने की प्रार्थना भी की। राजा ने शकटार को बंदी से छुड़ाकर राक्षस के नीचे मंत्री बनाकर रखा।

ऐसे अवसर पर राजा लोग बहुत चूक जाते हैं। पहले तो किसी की अत्यंत प्रतिष्ठा बढ़ानी ही नीतिविरुद्ध है। यदि संयोग से बढ़ जाय तो उसकी बहुत सी बातों को तरह

देकर टालना चाहिए, और जो कदाचित् बड़े प्रतिष्ठित मनुष्य का राजा अनादर करे तो उसकी जड़ काटकर छोड़े, फिर उसका कभी विश्वास न करे। प्राय: अमीर लोग पहले तो मुसाहिब या कारिंदों को बेतरह सिर चढ़ाते हैं, और फिर छोटी-छोटी बातों पर उनकी प्रतिष्ठा हीन कर देते हैं। इसी से ऐसे लोग राजाओं के प्राण के गाहक हो जाते हैं और अंत में नंद की भाँति उनका सर्वनाश होता है।

शकटार यद्यपि बंदीखाने से छूटा और छोटा मंत्री भी हुआ, किंतु अपनी अप्रतिष्ठा और परिवार के नाश का शोक उसके चित्त में सदा पहिले ही सा जागता रहा। रात-दिन वह यही सोचता कि किस उपाय से ऐसे अव्यवस्थित-चित्त उद्धत राजा का नाश करके अपना बदला लें। एक दिन वह घोड़े पर हवा खाने जाता था। नगर के बाहर एक स्थान पर देखता है कि एक काला सा ब्राह्मण अपनी कुटी के सामने मार्ग की कुशा उखाड़-उखाड़कर उसकी जड़ में मठा डालता जाता है। पसीने से लथपथ है, परंतु कुछ भी शरीर की ओर ध्यान नहीं देता। चारों ओर कुशा के बड़े-बड़े ढेर लगे हुए हैं। शकटार ने आश्चर्य से ब्राह्मण से इस श्रम का कारण पूछा। उसने कहा—"मेरा नाम विष्णुगुप्त चाणक्य है। मैं ब्रह्मचर्य में नीति, वैद्यक, ज्योतिष, रसायन आदि संसार की उपयोगी सब विद्या पढ़कर विवाह की इच्छा से नगर की ओर आया था, किंतु कुश गड़ जाने से मेरे मनोरथ

में विघ्न हुआ, इससे जब तक इन बाधक कुशाओं का सर्वनाश न कर लूँगा और काम न करूँगा। मठा इस वास्ते इनकी जड़ में देता हूँ जिससे पृथ्वी के भीतर इनका मूल भी भस्म हो जाय।"

शकटार के जी में यह बात आई कि ऐसा पक्का ब्राह्मण जो किसी प्रकार राजा से क्रुद्ध हो जाय तो उसका जड़ से नाश करके छोड़े। यह सोचकर उसने चाणक्य से कहा कि जो आप नगर में चलकर पाठशाला स्थापित करें तो मैं अपने को बड़ा अनुगृहीत समझूँ। मैं इसके बदले बेलदार लगाकर यहाँ की सब कुशाओं को खुदवा डालूँगा। चाणक्य इस पर सम्मत हुआ और उसने नगर में आकर एक पाठशाला स्थापित की। बहुत से विद्यार्थी लोग पढ़ने आने लगे और पाठशाला बड़े धूमधाम से चल निकली।

अब शकटार इस सोच में हुआ कि चाणक्य से राजा से किस चाल से बिगाड़ हो। एक दिन राजा के घर में श्राद्ध था। उस अवसर को शकटार अपने मनोरथ सिद्ध होने का अच्छा समय सोचकर चाणक्य को श्राद्ध का न्योता देकर अपने साथ ले आया और श्राद्ध के आसन पर बिठलाकर चला गया, क्योंकि वह जानता था कि चाणक्य का रंग काला, आँखें लाल और दाँत काले होने के कारण नंद उसको आसन पर से उठा देगा, जिससे चाणक्य अत्यंत क्रुद्ध होकर उसका सर्वनाश करेगा।

और ठीक ऐसा ही हुआ—जब राक्षस के साथ नंद श्राद्धशाला में आया और एक अनिमंत्रित ब्राह्मण को आसन पर बैठा हुआ और श्राद्ध के अयोग्य देखा तो चिढ़कर आज्ञा दी कि इसको बाल पकड़कर यहाँ से निकाल दो। इस अपमान से ठोकर खाए हुए सर्प की भाँति अत्यंत क्रोधित होकर शिखा खोलकर चाणक्य ने सबके सामने प्रतिज्ञा की कि जब तक इस दुष्ट राजा का सत्यानाश न कर लूँगा तब तक शिखा न बाँधूँगा। यह प्रतिज्ञा करके बड़े क्रोध से राज-भवन से चला गया।

शकटार अवसर पाकर चाणक्य को मार्ग में से अपने घर ले आया और राजा की अनेक निंदा करके उसका क्रोध और भी बढ़ाया और अपनी सब दुर्दशा कहकर नंद के नाश में सहायता करने की प्रतिज्ञा की। चाणक्य ने कहा कि जब तक हम राजा के घर का भीतरी हाल न जानें कोई उपाय नहीं सोच सकते। शकटार ने इस विषय में विचक्षणा की सहायता देने का वृत्तांत कहा और रात को एकांत में बुला-कर चाणक्य के सामने उससे सब बात का करार ले लिया।

महानंद को नौ पुत्र थे। आठ विवाहिता रानी से और एक चंद्रगुप्त मुरा नाम की नाइन स्त्री से। इसी से चंद्रगुप्त को मौर्य और वृषल भी कहते हैं। चंद्रगुप्त बड़ा बुद्धिमान् था इसी से और आठो भाई इससे भीतरी द्वेष रखते थे। चंद्र-गुप्त की बुद्धिमानी की बहुत सी कहानियाँ हैं। कहते हैं कि

एक बेर रूम के बादशाह ने महानंद के पास एक कृत्रिम सिंह लोहे की जाली के पिंजड़े में बंद करके भेजा और कहला दिया कि पिंजड़ा टूटने न पावे और सिंह इसमें से निकल जाय। महानंद और उसके आठ औरस पुत्रों ने इसको बहुत कुछ सोचा, परंतु बुद्धि ने कुछ काम न किया। चंद्रगुप्त ने विचारा कि यह सिंह अवश्य किसी ऐसे पदार्थ का बना होगा जो या तो पानी से या आग से गल जाय, यह सोचकर पहले उसने उस पिंजड़े को पानी के कुंड में रखा और जब वह पानी से न गला तो उस पिंजड़े के चारों तरफ आग बलवाई, जिसकी गर्मी से वह सिंह, जो लाह और राल का बना था, गल गया। एक बेर ऐसे ही किसी बादशाह ने एक अँगीठी में दहकती हुई आग * एक बोरा सरसों और

* दहकती आग की कथा—"जरासंधमहाकाव्य" में लिखा है कि जरासंध ने उग्रसेन के पास अँगीठी भेजी थी शायद उसी से यह कथा निकाली गई हो।

सवैया—रूप की रूपनिधान अनूप अँगीठी नई गढ़ि मोल मँगाई।
ता मधि पावकपुंज धर्‌यो गिरिधारन जामें प्रभा अधिकाई॥
तेज सों ताके ललाई भई रज मैं मिलि आसु सबै रजताई।
माना प्रबाल की थाल बनाय के लाल की रास बिसाल लगाई॥ १॥
ढांकि कै पावक दूत के हाथ दै बात कही इहि भाँति बुझाय कै।
भैम भुआल सभा महँ संमुख राखि के यों कहियो सिर नाय कै॥
याहि पठायो जरासुत नै अवलोकहु नीके अधीरज लाय कै।
पुत्र खपाय कै नातिन पाय कै जी हो जै पाय कै कौन उपाय कै॥२॥

एक मीठा फल महानंद के पास अपने दूत के द्वारा भेज दिया। राजा की सभा का कोई भी मनुष्य इसका आशय न समझ सका; किंतु चंद्रगुप्त ने सोचकर कहा कि अँगीठी यह दिखलाने को भेजी है कि मेरा क्रोध अग्नि है और सरसों यह सूचन कराती है कि मेरी सेना असंख्य है और फल भेजने का आशय यह है कि मेरी मित्रता का फल मधुर है। इनके उत्तर में चंद्रगुप्त ने एक घड़ा जल और एक पिंजड़े में थोड़े से तीतर और एक अमूल्य रत्न भेजा, जिसका आशय यह था कि तुम्हारी सेना कितनी भी असंख्य क्यों न हो हमारे बीर उसको भक्षण करने में समर्थ हैं और तुम्हारा क्रोध हमारी नीति से

दोहा—सुनत चार तिहि हाथ लै, गयो भैम दरबार।
वासम ऐसे केक सत्र, जहँ बैठे सरदार ॥ ३ ॥

अडिल्ल—जाय जरासुत दूत भैमपति पद परयौ।
देखि जराऊ जगह हिये संभ्रम भरयौ ॥
जगत जरावन द्रव्यपात आगे धरयौ।
सोच जरा है अभय हाल बरनन करयौ ॥ ४ ॥
सुनि बिहँसे जदुबीर जीत की चाय सों।
हँसि बोले गोविंद कहहु यह राय सों ॥
उचित ससुरपन कीन छत्रकुल न्याय सों।
चही दमाद सहाय सुता की हाय सों ॥ ५ ॥

सोरठा—इमि कहि द्रुत गहि चाप, आप आप सिखि में दियो।
तुरतहि गयो बुझाय, ज्ञान पाय मन भ्रांत जिमि ॥ ६ ॥
बिदा कियो नृप दूत, उर में सर को अंक करि।
निरखि बृहदरथ पूत, सत्रन सहित कोप्यो अतिहि ॥ ७ ॥

सहज ही बुझाया जा सकता है और हमारी मित्रता सदा अमूल्य और एक रस है। ऐसे ही तीन पुतलीवाली कहानी भी इसी के साथ प्रसिद्ध है। इसी बुद्धिमानी के कारण चंद्रगुप्त से उसके भाई लोग बुरा मानते थे; और महानंद भी अपने औरस पुत्रों का पक्ष करके इससे कुढ़ता था। यह यद्यपि शूद्रा के गर्भ से था, परंतु ज्येष्ठ होने के कारण अपने को राज का भागी समझता था; और इसी से इसका राजपरिवार से पूर्ण वैमनस्य था। चाणक्य और शकटार ने इसी से निश्चय किया कि हम लोग चंद्रगुप्त को राज का लोभ देकर अपनी ओर मिला लें और नंदों का नाश करके इसी को राजा बनावें।

यह सब सलाह पक्की हो जाने के पीछे चाणक्य तो अपनी पुरानी कुटी में चला गया और शकटार ने चंद्रगुप्त और विचक्षणा को तब तक सिखा-पढ़ाकर पक्का करके अपनी ओर फोड़ लिया। चाणक्य ने कुटी में जाकर हलाहल विष मिले हुए कुछ ऐसे पकवान तैयार किए जो परीक्षा करने में न पकड़े जायँ, किंतु खाते ही प्राण नाश हो जाय। विचक्षणा ने किसी प्रकार से महानंद को पुत्रों समेत यह पकवान खिला दिया, जिससे बेचारे सबके सब एक साथ परमधाम को सिधारे *।

---

* भारतवर्ष की कथाओं में लिखा है कि चाणक्य ने अभिचार से मारण का प्रयोग करके इन सभों को मार डाला। विचक्षणा ने उस अभिचार का निर्माल्य किसी प्रकार इन लोगों के अंग में छुला दिया

चंद्रगुप्त इस समय चाणक्य के साथ था। शकटार अपने दुःख और पापों से संतप्त होकर निविड़ वन में चला गया और अनशन करके प्राण त्याग किए। कोई-कोई इतिहासलेखक

था। किंतु वर्तमान काल के विद्वान् लोग सोचते हैं कि उस निर्माल्य में मंत्र का बल नहीं था, चाणक्य ने कुछ औषधि ऐसे विषमिश्रित बनाए थे कि जिनके भोजन वा स्पर्श से मनुष्य का सद्यः नाश हो जाय। भट्ट सोमदेव के कथा-सरित्सागर के पीठलंब के चौथे तरंग में लिखा है—योगानंद को ऊँची अवस्था में नए प्रकार की कामवासना उत्पन्न हुई। वररुचि ने यह सोचकर कि राजा को तो भोगविलास से छुट्टी ही नहीं है, इससे राजकाज का काम शकटार से निकाला जाय तो अच्छी तरह से चले। यह विचार कर और राजा से पूछकर शकटार को अंधे कुएँ से निकालकर वररुचि ने मंत्रीपद पर नियत किया। एक दिन शिकार खेलने में गंगा में राजा ने अपनी पाँचों उँगली की परछाईं वररुचि को दिखलाई। वररुचि ने अपनी दो उँगलियों की परछाईं ऊपर से दिखाई, जिससे राजा के हाथ की परछाईं छिप गई। राजा ने इन संज्ञाओं का कारण पूछा। वररुचि ने कहा—आपका यह आशय था कि पाँच मनुष्य मिल कर सब कार्य्य साध सकते हैं। मैंने यह कहा कि जो दो चित्त एक हो जायँ तो पाँच का बल व्यर्थ है। इस बात पर राजा ने वररुचि की बड़ी स्तुति की। एक दिन राजा ने अपनी रानी को एक ब्राह्मण से खिड़की में से बात करते देखकर उस ब्राह्मण को मारने की आज्ञा की, किंतु अनेक कारणों से वह बच गया। वररुचि ने कहा कि आपके सब महल की यही दशा है। अनेक स्त्री-वेषधारी पुरुष महल में रहते हैं और उन सबों को पकड़कर दिखला दिया। इसी से उस ब्राह्मण के प्राण बचे। एक दिन योगानंद की रानी के एक चित्र में, जो महल में लगा हुआ था, वररुचि ने जांघ में तिल बना दिया। योगानंद को गुप्त स्थान

कहते हैं कि चाणक्य ने अपने हाथ से शस्त्रद्वारा नंद का वध किया और फिर क्रम से उसके पुत्रों को भी मारा, किंतु इस

में वररुचि के तिल बनाने से उस पर भी संदेह हुआ और शकटार को आज्ञा दी कि तुम वररुचि को आज ही रात को मार डालो। शकटार ने उसको अपने घर में छिपा रखा और किसी और को उसके बदले मार कर उसका मारना प्रकट किया। एक बेर राजा का पुत्र हिरण्यगुप्त जंगल में शिकार खेलने गया था, वहां रात को सिंह के भय से एक पेड़ पर चढ़ गया। उस वृक्ष पर एक भालू था, किंतु इसने उसको अभय दिया। इन दोनों में यह बात ठहरी कि आधी रात तक कुँवर सोवें भालू पहरा दे, फिर भालू सोवे कुँवर पहरा दें। भालू ने अपना मित्रधर्म्म निबाहा और सिंह के बहकाने पर भी कुँवर की रक्षा की। किंतु अपनी पारी में कुँवर ने सिंह के बहकाने से भालू को ढकेलना चाहा, जिस पर उसने जागकर मित्रता के कारण कुँवर को मारा तो नहीं किंतु कान में मूत दिया, जिससे कुँअर गूँगा और बहिरा हो गया। राजा को बेटे की इस दुर्दशा पर बड़ा सोच हुआ और कहा कि वररुचि जीता होता तो इस समय उपाय सोचता। शकटार ने यह अवसर समझकर राजा से कहा कि वररुचि जीता है और लाकर राजा के सामने खड़ा कर दिया। वररुचि ने कहा—कुँवर ने मित्रद्रोह किया है उसका फल है। यह वृत्त कहकर उसको उपाय से अच्छा किया। राजा ने पूछा—तुमने यह सब वृत्तांत किस तरह जाना? वररुचि ने कहा—योगबल से, जैसे रानी का तिल। (ठीक यही कहानी राजा भोज, उसकी रानी भानुमती और उसके पुत्र और कालिदास की भी प्रसिद्ध है) यह सब कहकर और उदास होकर वररुचि जंगल में चला गया। वररुचि से शकटार ने राजा को मारने को कहा था, किंतु वह धर्मिष्ठ था इससे सम्मत न हुआ। वररुचि के चले जाने पर शकटार ने अवसर पाकर चाणक्य द्वारा कृत्या से नंद को मारा।

विषय का कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है। चाहे जिस प्रकार से हो चाणक्य ने नंदों का नाश किया, किंतु केवल पुत्र सहित राजा के मारने ही से वह चंद्रगुप्त को राजसिंहासन पर न बैठा सका, इससे अपने अंतरंग मित्र जीवसिद्धि को क्षपणक के वेष में राक्षस के पास छोड़कर आप राजा लोगों से सहायता लेने की इच्छा से विदेश निकला। अंत में अफगानिस्तान वा उसके उत्तर ओर के निवासी पर्वतक नामक लोभपरतंत्र एक राजा से मिलकर और उसको जीतने के पीछे मगध राज्य का आधा भाग देने के नियम पर उसको पटने पर चढ़ा लाया। पर्वतक के भाई का नाम वैरोधक * और पुत्र का मलयकेतु था। और भी पाँच म्लेच्छ राजाओं को पर्वतक अपनी सहायता को लाया था।

इधर राक्षस मंत्री राजा के मरने से दुखी होकर उसके भाई सर्वार्थसिद्धि को सिंहासन पर बैठाकर राजकाज चलाने लगा। चाणक्य ने पर्वतक की सेना लेकर कुसुमपुर को चारों ओर से घेर लिया। पंद्रह दिन तक घोरतर युद्ध हुआ। राक्षस की सेना और नागरिक लोग लड़ते-लड़ते शिथिल हो गए; इसी समय में गुप्त रीति से जीवसिद्धि के बहकाने से राजा सर्वार्थसिद्धि वैरागी होकर वन में चला गया। इस कुसमय में राजा के चले जाने से राक्षस और भी उदास हुआ। चंदनदास

* लिखी पुस्तकों में यह नाम विरोधक, वैरोधक, वैरोचक, वैवोधक विरोध, वैराध इत्यादि कई चाल से लिखा है।

नामक एक बड़े धनी जौहरी के घर में अपने कुटुंब को छोड़कर और शकटदास कायस्थ तथा अनेक राजनीति जाननेवाले विश्वासपात्र मित्रों को और कई आवश्यक काम सौंपकर राजा सर्वार्थसिद्धि के फेर लाने को आप तपोवन की ओर गया।

चाणक्य ने जीवसिद्धि-द्वारा यह सब सुनकर राक्षस के पहुँचने के पहले ही अपने मनुष्यों से राजा सर्वार्थसिद्धि को मरवा डाला। राक्षस जब तपोवन में पहुँचा और सर्वार्थसिद्धि को मरा देखा तो अत्यंत उदास होकर वहीं रहने लगा। यद्यपि सर्वार्थसिद्धि के मार डालने से चाणक्य की नंदकुल के नाश की प्रतिज्ञा पूरी हो चुकी थी, किंतु उसने सोचा कि जब तक राक्षस चंद्रगुप्त का मंत्री न होगा तब तक राज्य स्थिर न होगा। वरंच बड़े विनय से तपोवन में राक्षस के पास मंत्रित्व स्वीकार करने का संदेसा भेजा, परंतु प्रभुभक्त राक्षस ने उसको स्वीकार नहीं किया।

तपोवन में कई दिन रहकर राक्षस ने यह सोचा कि जब तक पर्वतक को हम न फोड़ेंगे, काम न चलेगा। यह सोचकर वह पर्वतक के राज्य में गया और वहाँ उसके बूढ़े मंत्री से कहा कि चाणक्य बड़ा दगाबाज है, वह आधा राज कभी न देगा। आप राजा को लिखिए, वह मुझसे मिले तो मैं सब राज्य उनको दूँ। मंत्री ने पत्रद्वारा पर्वतक को यह सब वृत्त और राक्षस की नीतिकुशलता लिख भेजा और यह भी लिखा कि मैं अत्यंत वृद्ध हूँ, आगे से मंत्री का काम राक्षस को

दीजिए। पाटलिपुत्र विजय होने पर भी चाणक्य आधा राज्य देने में विलंब करता है, यह देखकर सहज लोभी पर्वतक ने मंत्री की बात मान ली और पत्रद्वारा राक्षस को गुप्त रीति से अपना मुख्य अमात्य बनाकर इधर ऊपर के चित्त से चाणक्य से मिला रहा।

जीवसिद्धि के द्वारा चाणक्य ने राक्षस का सब हाल जानकर अत्यंत सावधानतापूर्वक चलना आरंभ किया। अनेक भाषा जाननेवाले बहुत से धूर्त पुरुषों को वेष बदल-बदलकर भेद लेने को चारों ओर नियुक्त किया। चंद्रगुप्त को राक्षस का कोई गुप्तचर धोखे से किसी प्रकार की हानि न पहुँचावे इसका भी पक्का प्रबंध किया और पर्वतक की विश्वासघातकता का बदला लेने का दृढ़ संकल्प से, परंतु अत्यंत गुप्त रूप से, उपाय सोचने लगा।

राक्षस ने केवल पर्वतक की सहायता से राज के मिलने की आशा छोड़कर कुलूत*, मलय, काश्मीर, सिंधु और पारस इन पाँच देशों के राजा से सहायता ली। जब इन पाँचों देश के राजाओं ने बड़े आदर से राक्षस को सहायता देना स्वीकार किया तो वह तपोवन के निकट फिर से लौट आया और वहाँ से चंद्रगुप्त के मारने को एक विषकन्या†

* कुलूत देश किलात वा कुलू देश।

† विषकन्या शास्त्रों में दो प्रकार की लिखी है। एक तो थोड़े से ऐसे बुरे योग हैं कि उस लग्न में उस प्रकार के ग्रहों के समय जो कन्या

भेजी और अपना विश्वासपात्र समझकर जीवसिद्धि को उसके साथ कर दिया। चाणक्य ने जीवसिद्धि द्वारा यह सब बात जानकर और पर्वतक की धूर्तता और विश्वासघातकता से कुढ़कर प्रकट में इस उपहार को बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण किया और लानेवाले को बहुत सा पुरस्कार देकर बिदा किया। साँझ होने के पीछे धूर्ताधिराज चाणक्य ने इस कन्या को पर्वतक के पास भेज दिया और इंद्रियलोलुप पर्वतक उसी रात को उस कन्या के संग से मर गया। इधर चाणक्य ने यह सोचा कि मलयकेतु यहाँ रहेगा तो उसको राज्य का हिस्सा देना पड़ेगा, इससे किसी तरह इसको यहाँ से भगावें तो काम चले। इस कार्य्य के हेतु भागुरायण नामक एक प्रतिष्ठित विश्वासपात्र पुरुष को मलयकेतु के पास सिखा-पढ़ाकर भेज दिया। उसने पिछली रात को मलयकेतु से जाकर उसका बड़ा हितू बनकर उससे कहा कि आज चाणक्य ने विश्वासघातकता करके आपके पिता को विषकन्या के प्रयोग से मार डाला और अवसर पाकर आपको भी मार डालेगा। मलयकेतु बेचारा इस बात के सुनते ही सन्न हो

उत्पन्न हो उसके साथ जिसका विवाह हो वा जो उसका साथ करे वह साथ ही वा शीघ्र ही मर जाता है। दूसरे प्रकार की विषकन्या वैद्यक रीति से बनाई जाती थी। छोटेपन से बरन गर्भ से कन्या को दूध में वा भोजन में थोड़ा-थोड़ा विष देते-देते बड़ी होने पर उसका शरीर ऐसा विषमय हो जाता था कि जो उसका अंग-संग करता वह मर जाता।

गया और पिता के शयनागार में जाकर देखा तो पर्वतक को बिछौने पर मरा हुआ पाया। इस भयानक दृश्य के देखते ही मुग्ध मलयकेतु के प्राण सूख गए और वह भागुरायण की सलाह से उस रात को छिपकर वहाँ से भागकर अपने राज्य की ओर चला गया। इधर चाणक्य के सिखाए भद्रभट इत्यादि चंद्रगुप्त के कई बड़े-बड़े अधिकारी प्रगट में राजद्रोही बनकर मलयकेतु और भागुरायण के साथ ही भाग गए।

राक्षस ने मलयकेतु से पर्वतक के मारे जाने का समाचार सुनकर अत्यंत सोच किया और बड़े आग्रह और सावधानी से चंद्रगुप्त और चाणक्य के अनिष्टसाधन में प्रवृत्त हुआ।

चाणक्य ने कुसुमपुर में दूसरे दिन यह प्रसिद्ध कर दिया कि पर्वतक और चंद्रगुप्त दोनों समान बंधु थे, इससे राक्षस ने विषकन्या भेजकर पर्वतक को मार डाला और नगर के लोगों के चित्त पर, जिनको कि यह सब गुप्त अनुसंधि न मालूम थी, इस बात का निश्चय भी करा दिया।

इसके पीछे चाणक्य और राक्षस के परस्पर नीति की जो चोटें चली हैं, उसी का इस नाटक में वर्णन है।

महाकवि विशाखदत्त का बनाया

मुद्राराक्षस

स्थान—रंगभूमि

रंगशाला में नांदी-मंगलपाठ

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥
'कौन है सीस पै' 'चंद्रकला' 'कहा याको है नाम यही त्रिपुरारी'।
'हाँ यही नाम है, भूल गई किमि जानत हू तुम प्रान-पियारी'॥
'नारिहि पूछत चंद्रहिं नाहिं' 'कहै विजया जदि चंद्र लबारी'।
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईस हरौ सब पीर तुम्हारी॥
पाद-प्रहार सों जाइ पताल न भूमि सबै तनु-बोझ के मारे।
हाथ नचाइबे सों नभ मैं इत के उत टूटि परैं नहिं तारे॥
देखन सों जरि जाहिं न लोक न खोलत नैन कृपा उर धारे।
यों थल के बिनु कष्ट सों नाचत शर्व हरौ दुख सर्व तुम्हारे॥*

---

* संस्कृत का मंगलाचरण—
धन्या केयं स्थिता ते शिरसि शशिकला, किन्नु नामैतदस्याः
नामैवास्यास्तदेतत्; परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः।
नारीं पृच्छामि नेन्दुं; कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु-
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः॥ १॥

नांदी-पाठ के अनंतर*

सूत्रधार—बस! बहुत मत बढ़ाओ, सुनो, आज मुझे सभासदों की आज्ञा है कि सामंत वटेश्वरदत्त के पौत्र और महाराज पृथु के पुत्र विशाखदत्त कवि का बनाया मुद्राराक्षस नाटक खेलो। सच है, जो सभा काव्य के गुण

और भी

पादस्याविर्भवन्तीमवनतिमवनेरक्षतः स्वैरपातैः
संकोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्व्वलोकातिगानाम्।
दृष्टिं लक्ष्येषु नोग्रज्वलनकणमुचं बध्नतो दाहभीते-
रित्याधारानुरोधात् त्रिपुरविजयिनः पातु वो दुःखनृत्तम् ॥२॥

अर्थ

'यह आपके सिर पर कौन बड़भागिनी है?' 'शशिकला' है। 'क्या इसका यही नाम है?' 'हाँ, यही तो, तुम तो जानती हो फिर क्यों भूल गई?' 'अजी हम स्त्री को पूछती हैं, चंद्रमा को नहीं पूछतीं', 'अच्छा चंद्र की बात का विश्वास न हो तो अपनी सखी विजया से पूछ लो।' योंही बात बनाकर गंगाजी को छिपाकर देवी पार्वती को ठगने की इच्छा करनेवाले महादेवजी का छल तुमलोगों की रक्षा करै।

दूसरा

पृथ्वी झुकने के डर से इच्छानुसार पैर का बोझ नहीं दे सकते, ऊपर के लोकों के इधर-उधर हो जाने के भय से हाथ भी यथेच्छ नहीं फेंक सकते, और उसके अग्निकण से जल जायँगे इसी ध्यान से किसी की ओर भर दृष्टि देख भी नहीं सकते, इससे आधार के सकोच से महादेवजी का कष्ट से नृत्य करना तुम्हारी रक्षा करै।

*नाटकों में पहले मंगलाचरण करके तब खेल आरंभ करते हैं।

और दोष को सब भाँति समझती है, उसके सामने खेलने में मेरा भी चित्त संतुष्ट होता है।

उपजै आछे खेत में, मूरखहू के धान।
सघन होन मैं धान के, चहिय न गुनी किसान॥

तो अब मैं घर से सुघर घरनी को बुलाकर कुछ गाने-बजाने का ढंग जमाऊँ। (घूमकर) यही मेरा घर है, चलूँ। (आगे बढ़कर) अहा! आज तो मेरे घर में कोई उत्सव जान पड़ता है, क्योंकि घरवाले सब अपने-अपने काम में चूर हो रहे हैं।

पीसत कोऊ सुगंध कोऊ जल भरि कै लावत।
कोऊ बैठि कै रंग रंग की माल बनावत॥
कहुँ तिय-गन हुंकार सहित अति स्रवन सोहावत।
होत मुशल को शब्द सुखद जिय को सुनि भावत॥

जो हो घर से स्त्री को बुलाकर पूछ लेता हूँ (नेपथ्य की ओर)

री गुनवारी सब उपाय की जाननवारी।
घर की राखनवारी सब कुछ साधनवारी॥
मो गृह नीति सरूप काज सब करन सँवारी।
वेगि आउ री नटी विलंब न करु सुनि प्यारी॥

इस मंगलाचरण को नाटकशास्त्र में नांदी कहते हैं। किसी का मत है कि नांदी पहले ब्राह्मण पढ़ता है, कोई कहता है सूत्रधार ही और किसी का मत है कि परदे के भीतर से नांदी पढ़ी या गाई जाय।

(नटी आती है)

नटी—आर्य्यपुत्र*! मैं आई, अनुग्रहपूर्वक कुछ आज्ञा दीजिए।

सूत्र०—प्यारी, आज्ञा पीछे दी जायगी, पहिले यह बता कि आज ब्राह्मणों का न्यौता करके तुमने इस कुटुंब के लोगों पर क्यों अनुग्रह किया है? या आप ही से आज अतिथि लोगों ने कृपा किया है कि ऐसे धूम से रसोई चढ़ रही है?

नटी—आर्य्य! मैंने ब्राह्मणों को न्यौता दिया है।

सूत्र०—क्यों? किस निमित्त से?

नटी—चंद्रग्रहण लगनेवाला है।

सूत्र०—कौन कहता है?

नटी—नगर के लोगों के मुँह सुना है।

सूत्र०—प्यारी! मैंने ज्योतिःशास्त्र के चौंसठों † अंगों में बड़ा परिश्रम किया है। जो हो, रसोई तो होने दो‡ पर आज तो गहन है यह तो किसी ने तुझे धोखा ही दिया है क्योंकि—

चंद्र§ बिंब पूर न भए क्रूर केतु|| हठ दाप।

---

* संस्कृत मुहाविरे में पति को स्त्रियां आर्य्यपुत्र कहकर पुकारती हैं।

† होरा मुहूर्त्त जातक ताजक रमल इत्यादि।

‡ अर्थात् ग्रहण का योग तो कदापि नहीं है। खैर रसोई हो।

§ केतु अर्थात् राक्षस मंत्री। राक्षस मंत्री ब्राह्मण था और केवल नाम उसका राक्षस था किंतु गुण उसमें देवताओं के थे।

|| इस श्लोक का यथार्थ तात्पर्य्य जानने को काशी संस्कृत विद्यालय के अध्यक्ष जगद्विख्यात पंडितवर बापूदेव शास्त्री को मैंने पत्र लिखा। क्योंकि टीकाकारों ने "चंद्रमा पूर्ण होने पर" यही अर्थ किया है और इस अर्थ से मेरा जी नहीं भरा। कारण यह कि पूर्ण चंद्र में तो ग्रहण

बल सों करि हैं ग्रास कह—

(नेपथ्य)

हैं ! मेरे जीते चंद्र को कौन बल से ग्रस सकता है ?

सूत्र०— जेहि बुध रच्छत आप ॥

लगता ही है, इसमें विशेष क्या हुआ ? शास्त्रीजी ने जो उत्तर दिया है वह यहाँ प्रकाशित होता है।

श्रीयुत बाबू साहिब को बापूदेव का कोटिशः आशीर्वाद, आपने प्रश्न लिख भेजे उनका संक्षेप से उत्तर लिखता हूँ।

१ सूर्य्य के अस्त हो जाने पर जो रात्रि में अंधकार होता है यही पृथ्वी की छाया है और पृथ्वी गोलाकार है और सूर्य्य से छोटी है इसलिये उसकी छाया सूच्याकार शंकु के आकार की होती है और यह आकाश चंद्र के भ्रमणमार्ग को लाँघ के बहुत दूर तक सदा सूर्य्य से छ राशि के अंतर पर रहती है और पूर्णिमा के अंत में चंद्रमा भी सूर्य्य से छ राशि के अंतर पर रहता है। इसलिए जिस पूर्णिमा में चंद्रमा पृथ्वी की छाया में आ जाता है अर्थात् पृथ्वी की छाया चंद्रमा के बिम्ब पर पड़ती है तभी वह चंद्र का ग्रहण कहलाता है और छाया जो चंद्रबिंब पर देख पड़ती है वही ग्रास कहलाता है। और राहु नामक एक दैत्य प्रसिद्ध है वह चंद्रग्रहणकाल में पृथ्वी की छाया में प्रवेश करके चंद्र की और प्रजा को पीड़ा करता है, इसी कारण से लोक में राहुकृत ग्रहण कहलाता है और उस काल में स्नान, दान, जप, होम इत्यादि करने से वह राहुकृत पीड़ा दूर होती है और बहुत पुण्य होता है।

२ पूर्णिमा में चंद्रग्रहण होने का कारण ऊपर लिखा ही है और पूर्णिमा में चंद्रबिंब भी संपूर्ण उज्ज्वल होता है तभी चंद्रग्रहण होता है।

३ जब कि पूर्णिमा के दिन चंद्रग्रहण होता है, इससे पूर्णिमा में चंद्रमा का और बुध का योग कभी नहीं होता (क्योंकि बुध सर्वदा

नटी—आर्य्य ! यह पृथ्वी ही पर से चंद्रमा को कौन बचाना चाहता है ?

सूर्य्य के पास रहता है और पूर्णिमा के दिन सूर्य्य चंद्रमा से छ राशि के अंतर पर रहता है, इसलिये बुध भी उस दिन चंद्र से दूर ही रहता है)। यों बुध के योग में चंद्रग्रहण कभी नहीं हो सकता। इति शिवम् संवत् १९३७ ज्येष्ठ शुक्ल १५ मंगल दिने, मंगलं मंगले भूयात्।

शास्त्रीजी से एक दिन मुझे इस विषय में फिर वार्त्ता हुई। शास्त्री जी को मैंने मुद्राराक्षस की पुस्तक भी दिखलाई। इस पर शास्त्रीजी ने कहा कि मुझको ऐसा मालूम होता है कि यदि उस दिन उपराग का संभव होगा तो सूर्यग्रहण का क्योंकि बुधयोग अमावस्या के पास होता भी है। पुराणों में स्पष्ट लिखा है कि राहु चंद्रमा का ग्रास करता है और केतु सूर्य्य का, और इस श्लोक में केतु का नाम भी है। इससे भी संभव होता है कि सूर्य्य-उपराग रहा हो। तो चाणक्य का कहना भी ठीक हुआ कि केतु हठपूर्वक क्यों चंद्र को ग्रसा चाहता है अर्थात् एक तो चंद्रग्रहण का दिन नहीं, दूसरे केतु का चंद्रमा ग्रास का विषय नहीं क्योंकि नंद-वीर्य्यजात होने से चंद्रगुप्त राक्षस का वध्य नहीं है। इस अवस्था में 'चंद्रम् असंपूर्णमंडलं' चंद्रमा का अधूरा मंडल यह अर्थ करना पड़ेगा। तब छंद में 'चंद्र बिंब पूरन भए' के स्थान पर 'बिना चंद्र पूरन भए' पढ़ना चाहिए।

बुध का बिंब प्राचीन भास्कराचार्य्य के मतानुसार छ कला पंद्रह विकला के लगभग है। परंतु नवीनों के मत से केवल दश विकला परम है।

परंतु इसमें कुछ संदेह नहीं कि यह ग्रह बहुत छोटा है क्योंकि प्राचीनों को इसका ज्ञान बहुत कठिनता से हुआ है, इसी लिये इसका नाम ही बुध, ज्ञ, इत्यादि हो गया। यह पृथ्वी से ६८६३७७ इतने

सूत्र०—प्यारी, मैंने भी नहीं लखा, देखो, अब फिर से वही पढ़ता हूँ और अब जब वह फिर बोलैगा तो मैं उसकी बोली से पहिचान लूँगा कि कौन है।

योजन की दूरी पर मध्यम मान से रहता है और सदा सूर्य्य के अनुचर के समान सूर्य्य के पास ही रहता है, एक पाद अर्थात् तीन राशि भी सूर्य्य से आगे नहीं जाता। विल्सन ने केतु शब्द से मलयकेतु का ग्रहण किया है। इसमें भी एक प्रकार का अलंकार अच्छा रहता है।

चमत्कृत-बुद्धिसंपन्न पंडित सुधाकरजी ने इस विषय में जो लिखा है, वह विचित्र ही है। वह भी प्रकाश किया जाता है—

करत अधिक अँधियार वह, मिलि मिलि करि हरिचंद।
द्विजराजहु विकसित करत, धनि धनि यह हरिचंद॥

श्री बाबू साहब को हमारे अनेक आशीर्वाद,

महाशय!

चंद्रग्रहण का संभव भूछाया के कारण प्रति पूर्णिमा के अंत में होता है और उस समय में केतु और सूर्य्य साथ रहते हैं। परंतु केतु और सूर्य्य का योग यदि नियत संख्या के अर्थात् पाँच राशि सोलह अंश से लेकर छ राशि चौदह अंश के वा ग्यारह राशि सोलह अंश से लेकर बारह राशि चौदह अंश के भीतर होता है तब ग्रहण होता है और यदि योग नियत संख्या के बाहर पड़ जाता है तब ग्रहण नहीं होता। इसलिये सूर्य्य केतु के योग ही के कारण से प्रत्येक पूर्णिमा में ग्रहण नहीं होता। तब

क्रूरग्रहः स केतुश्चन्द्रमसं पूर्णमण्डलमिदानीम्।
अभिभवितुमिच्छति बलाद्रक्षत्येनं तु बुधयोगः॥

इस श्लोक का यथार्थ अर्थ यह है कि क्रूरग्रह सूर्य्य केतु के साथ चंद्रमा के पूर्णमंडल को न्यून करने की इच्छा करता है परंतु हे बुध!

'अहो चंद्र पूर न भए' फिर से पढ़ता है)

(नेपथ्य में)

हैं ! मेरे जीते चंद्र को कौन बल से ग्रस सकता है ?

सूत्र०—(सुनकर) जाना ।

अरे अहै कौटिल्य

नटी—(डर नाट्य करती है)

सूत्र०— दुष्ट टेढ़ी मतिवारो ।
नंदवंश जिन सहजहि निज क्रोधानल जारो ॥
चंद्रग्रहण को नाम सुनत निज नृप को मानी ।
इतही आवत चंद्रगुप्त पैं कछु भय जानी ॥

तो अब चलो हम लोग चलैं ।

(दोनों जाते हैं)

योग जो है वही बल से उस चंद्रमा की रक्षा करता है। यहाँ बुध शब्द पंडित के अर्थ में संबोधन है, ग्रहवाची कदापि नहीं है। बुध शब्द को ग्रहार्थ में ले जाने से जो-जो अर्थ होते हैं वे सब बनौआ हैं। इति

सं० १९३७ वैशाख शुक्ल ५

ऊँचे गुरु बुध कवी मिलि टरि होत विरूप ।
करत समागम सबहि सों, यह द्विजराज अनूप ॥

आपका

पं० सुधाकर ।

प्रथम अंक

स्थान—चाणक्य का घर

(अपनी खुली शिखा को हाथ से फटकारता हुआ चाणक्य आता

चाणक्य—बता ! कौन है जो मेरे जीते चंद्रगुप्त को बल से ग्रसना चाहता है ?

सदा दंति के कुंभ को जो बिदारै ।
ललाई नए चंद सी जौन धारै ।।
जँभाई समै काल सो जौन बाढ़ै ।
भलो सिंह को दाँत सो कौन काढ़ै ?

और भी

कालसर्पिणी नंद-कुल, क्रोध धूम सी जौन ।
अबहूँ बाँधन देत नहिं, अहो शिखा मम कौन ?
दहन नंदकुल-बन सहज, अति प्रज्वलित प्रताप ।
को मम क्रोधानल-पतँग, भयो चहत अब पाप ।।

शारंगरव ! शारंगरव !!

(शिष्य आता है)

शिष्य—गुरुजी ! क्या आज्ञा है ?

चाणक्य—बेटा ! मैं बैठना चाहता हूँ ।

शिष्य—महाराज! इस दालान में वेंत की चटाई पहिले ही से विछी है, आप विराजिए।

चाणक्य—वेटा! केवल कार्य्य में तत्परता मुझे व्याकुल करती है, न कि और उपाध्यायों के तुल्य शिष्यजन से दुःशीलता*। (वैठकर आप ही आप) क्या सव लोग यह वात जान गए कि मेरे नंदवंश† के नाश से क्रुद्ध होकर राक्षस, पितावध से दुखी मलयकेतु‡ से मिलकर यवनराज की सहायता लेकर चंद्रगुप्त पर चढ़ाई किया चाहता है। (कुछ सोचकर) क्या हुआ, जव मैं नंदवंश की वड़ी प्रतिज्ञा-रूपी नदी से पार उतर चुका, तव यह वात प्रकाश होने ही से क्या मैं इसको न पूरा कर सकूँगा? क्योंकि—

दिसि सरिस रिपु-रमनी-वदन-शशि शोक कारिख लाय कै।
लै नीति पवनहि सचिव-विटपन छार डारि जराय कै॥
विनु पुर निवासी पच्छिगन नृप वंसमूल नसाय कै।
भो शांत मम क्रोधाग्नि यह कछु दहन हित नहिं पाय कै§॥

और भी

जिन जनन ने अति सोच सों नृप-भय प्रगट धिक नहिं कह्यो।

---

* अर्थात् कुछ तुम लोगों पर दुष्टता से नहीं, अपने काम की, घवराहट से विछी हुई चटाई नहीं देखी।

† नंदवंश अर्थात् नव नंद—एक नंद और उसके आठ पुत्र।

‡ पर्वतेश्वर राजा का पुत्र।

§ अग्नि विना आधार नहीं जलती।

पै मम अनादर को अतिहि वह सोच जिय जिनके रह्यो*॥
ते लखहिं आसन सों गिरायो नंद सहित समाज कों।
जिमि शिखर तें बनराज क्रोधि गिरावई गजराज कों॥

सो यद्यपि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर चुका हूँ, तौ भी चंद्रगुप्त के हेतु शस्त्र अब भी धारण करता हूँ। देखो मैंने—

नव नंदन कों मूल सहित खोद्यो छन भर में।
चंद्रगुप्त मैं श्री राखी नलिनी जिमि सर में॥
क्रोध प्रीति सों एक नासि कै एक बसायो।
शत्रु मित्र को प्रगट सबन फल लै दिखलायो॥

अथवा जब तक राक्षस नहीं पकड़ा जाता तब तक नंदों के मारने से क्या और चंद्रगुप्त को राज्य मिलने से ही क्या? (कुछ सोचकर) अहा! राक्षस की नंदवंश में कैसी दृढ़ भक्ति है! जब तक नंदवंश का कोई भी जीता रहेगा तब तक वह कभी शूद्र का मंत्री बनना स्वीकार न करेगा, इससे उसके पकड़ने में हम लोगों को निरुद्यम रहना अच्छा नहीं। यही समझकर तो नंदवंश का सर्वार्थ-सिद्धि विचारा तपोवन में चला गया तौ भी हमने मार डाला। देखो, राक्षस मलयकेतु को मिलाकर हमारे बिगाड़ने में यत्न करता ही जाता है। (आकाश में देख-

* नंद ने कुरूप होने के कारण चाणक्य को अपने श्राद्ध से निकाल दिया था।

कर) वाह राक्षस मंत्री वाह! क्यों न हो! वाह मंत्रियों में बृहस्पति के समान वाह! तू धन्य है, क्योंकि—

जब लों रहै सुख राज को तब लौं सबै सेवा करैं।
पुनि राज बिगड़े कौन स्वामी तनिक नहिं चित में धरैं॥
जे बिपतिहूँ में पालि पूरब प्रीति काज सँवारहीं।
ते धन्य नर तुम सारिखे दुरलभ अहैं संसय नहीं॥

इसी से तो हम लोग इतना यत्न करके तुम्हें मिलाया चाहते हैं कि तुम अनुग्रह करके चंद्रगुप्त के मंत्री बनो, क्योंकि—

मूरख कातर स्वामिभक्ति कछु काम न आवै।
पंडित हूँ बिन भक्ति काज कछु नाहिं बनावै॥
निज स्वारथ की प्रीति करैं ते सब जिमि नारी।
बुद्धि भक्ति दोउ होय तबै सेवक सुखकारी॥

सो मैं भी इस विषय में कुछ सोता नहीं हूँ, यथाशक्ति उसी के मिलाने का यत्न करता रहता हूँ। देखो, पर्वतक को चाणक्य ने मारा यह अपवाद न होगा, क्योंकि सब जानते हैं कि चंद्रगुप्त और पर्वतक मेरे मित्र हैं तो मैं पर्वतक को मारकर चंद्रगुप्त का पक्ष निर्बल कर दूँगा ऐसी शंका कोई न करेगा, सब यही कहेंगे कि राक्षस ने विष-कन्या-प्रयोग करके चाणक्य के मित्र पर्वतक को मार डाला। पर एकांत में राक्षस ने मलयकेतु के जी में यह निश्चय करा दिया है कि तेरे पिता को मैंने नहीं मारा, चाणक्य ही ने मारा। इससे मलयकेतु मुझसे बिगड़

रहा है। जो हो, यदि यह राक्षस लड़ाई करने को उद्यत होगा तो भी पकड़ जायगा। पर जो हम मलयकेतु को पकड़ेंगे तो लोग निश्चय कर लेंगे कि अवश्य चाणक्य ही ने अपने मित्र इसके पिता को मारा और अब मित्रपुत्र अर्थात् मलयकेतु को मारना चाहता है। और भी, अनेक देश की भाषा, पहिरावा, चाल-व्यवहार जाननेवाले अनेक वेषधारी बहुत से दूत मैंने इसी हेतु चारों ओर भेज रखे हैं कि वे भेद लेते रहें कि कौन हम लोगों से शत्रुता रखता है, कौन मित्र है। और कुसुमपुर-निवासी नंद के मंत्री और संबंधियों के ठीक-ठीक वृत्तांत का अन्वेषण हो रहा है, वैसे ही भद्रभटादिकों को बड़े-बड़े पद देकर चंद्रगुप्त के पास रख दिया है और भक्ति की परीक्षा लेकर बहुत से अप्रमादी पुरुष भी शत्रु से रक्षा करने को नियत कर दिए हैं। वैसे ही मेरा सहपाठी मित्र विष्णुशर्म्मा नामक ब्राह्मण जो शुक्रनीति और चौसठों कला से ज्योतिषशास्त्र में बड़ा प्रवीण है, उसे मैंने पहिले ही योगी बनाकर नंदवध की प्रतिज्ञा के अनंतर ही कुसुमपुर में भेज दिया है, वह वहाँ नंद के मंत्रियों से मित्रता करके, विशेष करके राक्षस का अपने पर बड़ा विश्वास बढ़ाकर सब काम सिद्ध करेगा, इससे मेरा सब काम बन गया है परंतु चंद्रगुप्त सब राज्य का भार मेरे ही ऊपर रखकर सुख करता है। सच है, जो अपने बल बिना और अनेक

दुःखों के भोगे बिना राज्य मिलता है वही सुख देता है।

क्योंकि—

अपने बल सों लावहीं, यद्यपि मारि सिकार।
तदपि सुखी नहिं होत हैं, राजा सिंह कुमार॥

(*यम का चित्र हाथ में लिए योगी का वेप धारण किए दूत आता है)

दूत—अरे, और देव को काम नहिं, जम को करो प्रनाम।
जो दूजन के भक्त को, प्रान हरत परिनाम॥

और

उलटे ते हूँ बनत हैं, काज किए अति हेत।
जो जम जी सबको हरत, सोई जीविका देत॥

तो इस घर में चलकर जमपट दिखाकर गावें। (घूमता है)

शिष्य—रावलजी! ड्योढ़ी के भीतर न जाना।

दूत—अरे ब्राह्मण! यह किसका घर है?

शिष्य—हम लोगों के परम प्रसिद्ध गुरु चाणक्यजी का।

दूत—(हँसकर) अरे ब्राह्मण, तब तो यह मेरे गुरुभाई ही का घर है; मुझे भीतर जाने दे, मैं उसको धर्मोपदेश करूँगा।

शिष्य—(क्रोध से) छिः मूर्ख! क्या तू गुरुजी से भी धर्म्म विशेप जानता है?

दूत—अरे ब्राह्मण! क्रोध मत कर, सभी सब कुछ नहीं जानते, कुछ तेरा गुरु जानता है, कुछ मेरे से लोग जानते हैं।

---

* उस काल में एक चाल के फकीर जम का चित्र दिखलाकर संसार की अनित्यता के गीत गाकर भीख मांगते थे।

शिष्य—(क्रोध से) मूर्ख ! क्या तेरे कहने से गुरुजी की सर्वज्ञता उड़ जायगी ?

दूत—भला ब्राह्मण ! जो तेरा गुरु सब जानता है तो बतलावे कि चंद्र किस को नहीं अच्छा लगता ?

शिष्य—मूर्ख ! इसको जानने से गुरु को क्या काम ?

दूत—यही तो कहता हूँ कि यह तेरा गुरु ही समझेगा कि इसके जानने से क्या होता है ? तू तो सूधा मनुष्य है, तू केवल इतना ही जानता है कि कमल को चंद्र प्यारा नहीं है। देख—

जदपि होत सुंदर कमल, उलटो तदपि सुभाव।
जो नित पूरन चंद सों, करत बिरोध बनाव॥

चाणक्य—(सुनकर आप ही आप) अहा ! "मैं चंद्रगुप्त के वैरियों को जानता हूँ" यह कोई गूढ़ वचन से कहता है।

शिष्य—चल मूर्ख ! क्या बेठिकाने की बकवाद कर रहा है।

दूत—अरे ब्राह्मण ! यह सब ठिकाने की बातें होंगी।

शिष्य—कैसे होंगी ?

दूत—जो कोई सुननेवाला और समझनेवाला होय।

चाणक्य—रावलजी ! बेखटके चले आइए, यहाँ आपको सुनने और समझनेवाले मिलेंगे।

दूत—आया। (आगे बढ़कर) जय हो महाराज की।

चाणक्य—(देखकर आप ही आप) कामों की भीड़ से यह नहीं निश्चय होता कि निपुणक को किस बात के

जानने के लिये भेजा था। अरे जाना, इसे लोगों के जी का भेद लेने को भेजा था। (प्रकाश) आओ, आओ, कहो, अच्छे हो ? बैठो।

दूत—जो आज्ञा। (भूमि में बैठता है)

चाणक्य— कहो, जिस काम को गए थे उसका क्या किया ? चंद्रगुप्त को लोग चाहते हैं कि नहीं ?

दूत—महाराज ! आपने पहिले ही से ऐसा प्रबंध किया है कि कोई चंद्रगुप्त से विराग न करे; इस हेतु सारी प्रजा महाराज चंद्रगुप्त में अनुरक्त है, पर राक्षस मंत्री के दृढ़ मित्र तीन ऐसे हैं जो चंद्रगुप्त की वृद्धि नहीं सह सकते।

चाणक्य—(क्रोध से) अरे ! कह, कौन अपना जीवन नहीं सह सकते, उनके नाम तू जानता है ?

दूत—जो नाम न जानता तो आपके सामने क्योंकर निवेदन करता ?

चाणक्य—मैं सुना चाहता हूँ कि उनके क्या नाम हैं ?

दूत—महाराज सुनिए। पहिले तो शत्रु का पक्षपात करनेवाला क्षपणक है।

चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) हमारे शत्रुओं का पक्षपाती क्षपणक है ? (प्रकाश) उसका नाम क्या है ?

दूत—जीवसिद्धि नाम है।

चाणक्य—तूने कैसे जाना कि क्षपणक मेरे शत्रुओं का पक्षपाती है ?

दूत—क्योंकि उसने राक्षस मंत्री के कहने से देव पर्वतेश्वर पर विषकन्या का प्रयोग किया।

चाणक्य—(आप ही आप) जीवसिद्धि तो हमारा गुप्त दूत है। (प्रकाश) हाँ, और कौन है?

दूत—महाराज! दूसरा राक्षस मंत्री का प्यारा सखा शकट-दास कायथ है।

चाणक्य—(हँसकर आप ही आप) कायथ कोई बड़ी बात नहीं है तो भी क्षुद्र शत्रु की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, इसी हेतु तो मैंने सिद्धार्थक को उसका मित्र बनाकर उसके पास रखा है। (प्रकाश) हाँ, तीसरा कौन है?

दूत—(हँसकर) तीसरा तो राक्षस मंत्री का मानो हृदय ही पुष्पपुरवासी चंदनदास नामक वह बड़ा जौहरी है जिसके घर में मंत्री राक्षस अपना कुटुंब छोड़ गया है।

चाणक्य—(आप ही आप) अरे! यह उसका बड़ा अंतरंग मित्र होगा; क्योंकि पूरे विश्वास विना राक्षस अपना कुटुंब यों न छोड़ जाता। (प्रकाश) भला, तूने यह कैसे जाना कि राक्षस मंत्री वहाँ अपना कुटुंब छोड़ गया?

दूत—महाराज! इस 'मोहर' की अँगूठी से आपको विश्वास होगा। (अँगूठी देता है)।

चाणक्य—(अँगूठी लेकर और उसमें राक्षस का नाम बाँच-कर प्रसन्न होकर आप ही आप) अहा! मैं समझता हूँ

कि राक्षस ही मेरे हाथ लगा। (प्रकाश) भला, तुमने यह अँगूठी कैसे पाई? मुझसे सब वृत्तांत तो कहो।

दूत—सुनिए, जब मुझे आपने नगर के लोगों का भेद लेने भेजा तब मैंने यह सोचा कि विना भेस बदले मैं दूसरे के घर में न घुसने पाऊँगा, इससे मैं जोगी का भेस करके जमराज का चित्र हाथ में लिए फिरता-फिरता चंदन-दास जौहरी के घर में चला गया और वहाँ चित्र फैला-कर गीत गाने लगा।

चाणक्य—हाँ, तब?

दूत—तब महाराज! कौतुक देखने को एक पाँच बरस का बड़ा सुंदर बालक एक परदे के आड़ से बाहर निकला। उस समय परदे के भीतर स्त्रियों में बड़ा कलकल हुआ कि "लड़का कहाँ गया।" इतने में एक स्त्री ने द्वार के बाहर मुख निकालकर देखा और लड़के को झट पकड़ ले गई, पर पुरुष की उँगली से स्त्री की उँगली पतली होती है, इससे द्वार ही पर यह अँगूठी गिर पड़ी, और मैं उस पर राक्षस मंत्री का नाम देखकर आपके पास उठा लाया।

चाणक्य—वाह-वाह! क्यों न हो। अच्छा जाओ, मैंने सब सुन लिया! तुम्हें इसका फल शीघ्र ही मिलेगा।

दूत—जो आज्ञा। [जाता है

चाणक्य—शारंगरव! शारंगरव!!

शिष्य—(आकर) आज्ञा, गुरुजी ।

चाणक्य—बेटा ! कलम, दावात, कागज तो लाओ ।

शिष्य—जो आज्ञा । (बाहर जाकर ले आता है) गुरुजी ! ले आया ।

चाणक्य—(लेकर आप ही आप) क्या लिखूँ? इसी पत्र से राक्षस को जीतना है ।

(प्रतिहारी आती है)

प्रतिहारी—जय हो, महाराज की जय हो !

चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) वाह-वाह ! कैसा सगुन हुआ कि कार्य्यारंभ ही में जय शब्द सुनाई पड़ा । (प्रकाश) कहो, शोणोत्तरा, क्यों आई हो ?

प्रति०—महाराज ! राजा चंद्रगुप्त ने प्रणाम कहा है और पूछा है कि मैं पर्वतेश्वर की क्रिया किया चाहता हूँ इससे आपकी आज्ञा हो तो उनके पहिरे आभरणों को पंडित ब्राह्मणों को दूँ ।

चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) वाह चंद्रगुप्त वाह, क्यों न हो; मेरे जी की बात सोचकर संदेशा कहला भेजा है । (प्रकाश) शोणोत्तरा ! चंद्रगुप्त से कहो कि "वाह ! बेटा वाह ! क्यों न हो, बहुत अच्छा विचार किया ! तुम व्यवहार में बड़े ही चतुर हो, इससे जो सोचा है सो करो, पर पर्वतेश्वर के पहिरे हुए आभरण

गुणवान् ब्राह्मणों को देने चाहिएँ, इससे ब्राह्मण मैं चुन के भेजूँगा।"

प्रति०—जो आज्ञा महाराज ! [जाती है

चाणक्य—शारंगरव ! विश्वावसु आदि तीनों भाइयों से कहो कि जाकर चंद्रगुप्त से आभरण लेकर मुझसे मिलें।

शिष्य— जो आज्ञा। [जाता है

चाणक्य—(आप ही आप) पीछे तो यह लिखें पर पहिले क्या लिखें। (सोचकर) अहा ! दूतों के मुख से ज्ञात हुआ है कि उस म्लेच्छराज-सेना में से प्रधान पाँच राजा परम भक्ति से राक्षस की सेवा करते हैं।

प्रथम चित्रवर्म्मा कुलूत को राजा भारी।
मलयदेशपति सिंहनाद दूजो बलधारी॥
तीजो पुसकरनयन अहै कश्मीर देश को।
सिंधुसेन पुनि सिंधु नृपति अति उग्र भेष को॥
मेघाक्ष पाँचवों प्रबल अति; बहु हय जुत पारस नृपति।
अब चित्रगुप्त इन नाम कों मेटहिं हम जब लिखहिं हति* ॥

(कुछ सोचकर) अथवा न लिखूँ, अभी सब बात योंही रहे। (प्रकाश) शारंगरव ! शारंगरव !!

शिष्य—(आकर) आज्ञा गुरुजी !

---

* अर्थात् अब जब हम इनका नाम लिखते हैं तो निश्चय ये सब मरेंगे। इससे अब चित्रगुप्त अपने खाते से इनका नाम काट दें, न ये जीते रहेंगे न चित्रगुप्त को लेखा रखना पड़ेगा।

चाणक्य—बेटा ! वैदिक लोग कितना भी अच्छा लिखें तो भी उनके अक्षर अच्छे नहीं होते; इससे सिद्धार्थक से कहो (कान में कहकर) कि वह शकटदास के पास जाकर यह सब बात यों लिखवाकर और "किसी का लिखा कुछ कोई आप ही बाँचे" यह सरनामे पर नाम बिना लिखवाकर हमारे पास आवे और शकटदास से यह न कहे कि चाणक्य ने लिखवाया है।

शिष्य—जो आज्ञा। [जाता है

चाणक्य—(आप ही आप) अहा ! मलयकेतु को तो जीत लिया।

(चिट्ठी लेकर सिद्धार्थक आता है)

सिद्धा०—जय हो महाराज की, जय हो, महाराज ! यह शकटदास के हाथ का लेख है।

चाणक्य—(लेकर देखता है) वाह कैसे सुंदर अक्षर हैं ! (पढ़कर) बेटा, इस पर यह मोहर कर दो।

सिद्धा०—जो आज्ञा। (मोहर करके) महाराज, इस पर मोहर हो गई, अब और कहिए क्या आज्ञा है।

चाणक्य—बेटाजी ! हम तुम्हें एक अपने निज के काम में भेजा चाहते हैं।

सिद्धा०—(हर्ष से) महाराज, यह तो आपकी कृपा है। कहिए, यह दास आपके कौन काम आ सकता है ?

चाणक्य—सुनो, पहिले जहाँ सूली दी जाती है वहाँ जाकर फाँसी देनेवालों को दाहिनी आँख दबाकर समझा देना* और जब वे तेरी बात समझकर डर से इधर-उधर भाग जायँ तब तुम शकटदास को लेकर राक्षस मंत्री के पास चले जाना। वह अपने मित्र के प्राण बचाने से तुम पर बड़ा प्रसन्न होगा और तुम्हें पारितोषिक देगा, तुम उसको लेकर कुछ दिनों तक राक्षस ही के पास रहना और जब और भी लोग पहुँच जायँ तब यह काम करना। (कान में समाचार कहता है)

सिद्धा०—जो आज्ञा महाराज।

चाणक्य—शारंगरव ! शारंगरव !!

शिष्य—(आकर) आज्ञा गुरुजी !

चाणक्य—कालपाशिक और दंडपाशिक से यह कह दो कि चंद्रगुप्त आज्ञा करता है कि जीवसिद्धि क्षपणक ने राक्षस के कहने से विषकन्या का प्रयोग करके पर्वतेश्वर को मार डाला, यही दोष प्रसिद्ध करके अपमानपूर्वक उसको नगर से निकाल दें।

शिष्य—जो आज्ञा। (घूमता है)

चाणक्य—बेटा ! ठहर—सुन, और वह जो शकटदास कायस्थ है वह राक्षस के कहने से नित्य हमलोगों की बुराई

---

* चांडालों को पहले से समझा दिया था कि जो आदमी दाहिनी आँख दबावे उसको हमारा मनुष्य समझकर तुम लोग झटपट हट जाना।

करता है। यही दोष प्रगट करके उसको सूली दे दें और उसके कुटुंब को कारागार में भेज दें।

शिष्य—जो आज्ञा महाराज। [जाता है

चाणक्य—(चिंता करके आप ही आप) हा! क्या किसी भाँति यह दुरात्मा राक्षस पकड़ा जायगा?

शिष्य—महाराज! लिया।

चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) अहा! क्या राक्षस को ले लिया? (प्रकाश) कहो, क्या पाया?

सिद्धा०—महाराज! आपने जो संदेशा कहा, वह मैंने भली भाँति समझ लिया, अब काम पूरा करने जाता हूँ।

चाणक्य—(मोहर और पत्र देकर) सिद्धार्थक! जा तेरा काम सिद्ध हो।

सिद्धा०—जो आज्ञा। (प्रणाम करके जाता है)

शिष्य—(आकर) गुरुजी, कालपाशिक, दंडपाशिक आपसे निवेदन करते हैं कि महाराज चंद्रगुप्त की आज्ञा पूर्ण करने जाते हैं।

चाणक्य—अच्छा, बेटा! मैं चंदनदास जौहरी को देखा चाहता हूँ।

शिष्य—जो आज्ञा। (बाहर जाकर चंदनदास को लेकर आता है) इधर आइए सेठजी!

चंदन०—(आप ही आप) यह चाणक्य ऐसा निर्दय है कि यह जो एकाएक किसी को बुलावे तो लोग बिना अप-

राध भी इससे डरते हैं, फिर कहाँ मैं इसका नित्य का अपराधी, इसी से मैंने धनसेनादिक तीन महाजनों से कह दिया है कि दुष्ट चाणक्य जो मेरा घर लूट ले तो आश्चर्य्य नहीं, इससे स्वामी राक्षस का कुटुंब और कहीं ले जाओ, मेरी जो गति होनी है वह हो।

शिष्य—इधर आइए साहजी !

चंदन०—आया। (दोनों घूमते हैं)

चाणक्य—(देखकर) आइए साहजी ! कहिए, अच्छे तो हैं ? बैठिए, यह आसन है।

चंदन०—(प्रणाम करके) महाराज ! आप नहीं जानते कि अनुचित सत्कार अनादर से भी विशेष दु:ख का कारण होता है, इससे मैं पृथ्वी ही पर बैठूँगा।

चाणक्य—वाह ! आप ऐसा न कहिए, आपको तो हम लोगों के साथ यह व्यवहार उचित ही है; इससे आप आसन ही पर बैठिए।

चंदन०—(आप ही आप) कोई बात तो इस दुष्ट ने जानी। (प्रकाश) जो आज्ञा। (बैठता है)

चाणक्य—कहिए साहजी ! चंदनदासजी ! आपको व्यापार में लाभ तो होता है न ?

चंदन०—महाराज, क्यों नहीं, आपकी कृपा से सब वनज-व्यापार अच्छी भाँति चलता है।

चाणक्य—कहिए साहजी ! पुराने राजाओं के गुण, चंद्रगुप्त के दोषों को देखकर, कभी लोगों को स्मरण आते हैं ?

चंदन०—(कान पर हाथ रखकर) राम ! राम! शरद ऋतु के पूर्ण चंद्रमा की भाँति शोभित चंद्रगुप्त को देखकर कौन नहीं प्रसन्न होता ?

चाणक्य—जो प्रजा ऐसी प्रसन्न है तो राजा भी प्रजा से कुछ अपना भला चाहते हैं।

चंदन०—महाराज ! जो आज्ञा। मुझसे कौन और कितनी वस्तु चाहते हैं ?

चाणक्य—सुनिए साहजी ! यह नंद का राज* नहीं है, चंद्रगुप्त का राज्य है, धन से प्रसन्न होनेवाला तो वह लालची नंद ही था, चंद्रगुप्त तो तुम्हारे ही भले से प्रसन्न होता है।

चंदन०—(हर्ष से) महाराज, यह तो आपकी कृपा है।

चाणक्य—पर यह तो मुझसे पूछिए कि वह भला किस प्रकार से होगा ?

चंदन०—कृपा करके कहिए।

चाणक्य—सौ बात की एक बात यह है कि राजा के विरुद्ध कामों को छोड़ो।

---

* यहाँ तुच्छता प्रगट करने के लिये 'राज्य' का अपभ्रंश "राज" लिखा गया है।

चंदन०—महाराज ! वह कौन अभागा है जिसे आप राज-विरोधी समझते हैं ?

चाणक्य—उसमें पहिले तो तुम्हीं हो।

चंदन०—(कान पर हाथ रखकर) राम ! राम ! राम ! भला तिनके से और अग्नि से कैसा विरोध ?

चाणक्य—विरोध यही है कि तुमने राजा के शत्रु राक्षस मंत्री का कुटुंब अब तक घर में रख छोड़ा है।

चंदन०—महाराज ! यह किसी दुष्ट ने आपसे झूठ कह दिया है।

चाणक्य—सेठजी ! डरो मत। राजा के भय से पुराने राजा के सेवक लोग अपने मित्रों के पास बिना चाहे भी कुटुंब छोड़कर भाग जाते हैं, इससे इसके छिपाने ही में दोष होगा।

चंदन०—महाराज ! ठीक है। पहिले मेरे घर पर राक्षस मंत्री का कुटुंब था।

चाणक्य—पहिले तो कहा कि किसी ने झूठ कहा है। अब कहते हो था, यह गबड़े की बात कैसी ?

चंदन०—महाराज ! इतना ही मुझसे बातों में फेर पड़ गया।

चाणक्य—सुनो, चंद्रगुप्त के राज्य में छल का विचार नहीं होता, इससे राक्षस का कुटुंब दो, तो तुम सच्चे हो जाओगे।

चंदन०—महाराज ! मैं कहता हूँ न, पहिले राक्षस का कुटुंब था।

चाणक्य—तो अब कहाँ गया ?

चंदन०—न जानें कहाँ गया।

चाणक्य—(हँसकर) सुनो सेठजी ! तुम क्या नहीं जानते कि साँप तो सिर पर बूटी पहाड़ पर। और जैसा चाणक्य ने नंद को···(इतना कहकर लाज से चुप रह जाता है।)

चंदन०—(आप ही आप)

प्रिया दूर घन गरजहीं, अहो दुःख अति घोर।
औषधि दूर हिमाद्रि पै, सिर पै सर्प कठोर॥

चाणक्य—चंद्रगुप्त को अब राक्षस मंत्री राज पर से उठा देगा यह आशा छोड़ो, क्योंकि देखो—

नृप नंद जीवत नीतिवल सों, मति रही जिनकी भली।
ते "वक्रनासादिक" सचिव नहिं, थिर सके करि नसि चली॥
सो श्री सिमिटि अब आय लिपटी, चंद्रगुप्त नरेस सों।
तेहि दूर को करि सकै ? चाँदनि छुटत कहुँ राकेस सों ? ॥

और भी

"सदा दंति के कुंभ को" इत्यादि फिर से पढ़ता है।

चंदन०—(आप ही आप) अब तुझको सब कहना फवता है।

(नेपथ्य में) हटो हटो—

चाणक्य—शारंगरव ! यह क्या कोलाहल है देख तो ?

शिष्य—जो आज्ञा (बाहर जाकर फिर आकर) महाराज, राजा चंद्रगुप्त की आज्ञा से राजद्वेषी जीवसिद्धि क्षपणक निरादरपूर्वक नगर से निकाला जाता है।

चाणक्य—क्षपणक ! हा ! हा ! अथवा राजविरोध का फल भोगै। सुनो चंदनदास ! देखो, राजा अपने द्वेषियों को कैसा कड़ा दंड देता है। मैं तुम्हारे भले की कहता हूँ, सुनो, और राक्षस का कुटुंब देकर जन्म भर राजा की कृपा से सुख भोगो !

चंदन०—महाराज ! मेरे घर राक्षस मंत्री का कुटुंब नहीं है।

(नेपथ्य में कलकल होता है)

चाणक्य—शारंगरव ! देख तो यह क्या कलकल होता है ?

शिष्य—जो आज्ञा। (बाहर जाकर फिर आता है) महाराज ! राजा की आज्ञा से राजद्वेषी शकटदास कायस्थ को सूली देने ले जाते हैं।

चाणक्य—राजविरोध का फल भोगे। देखो, सेठजी ! राजा अपने विरोधियों को कैसा कड़ा दंड देता है, इससे राक्षस का कुटुंब छिपाना वह कभी न सहेगा; इसी से उसका कुटुंब देकर तुमको अपना प्राण और कुटुंब बचाना हो तो बचाओ।

चंदन०—महाराज ! क्या आप मुझे डर दिखाते हैं ! मेरे यहाँ अमात्य राक्षस का कुटुंब हई नहीं है, पर जो होता तो भी मैं न देता।

चाणक्य—क्या चंदनदास ! तुमने यही निश्चय किया है ?

चंदन०—हाँ ! मैंने यही दृढ़ निश्चय किया है।

चाणक्य—(आप ही आप) वाह चंदनदास ! वाह !! क्यों न हो !!!

दूजे के हित प्राण दै, करै धर्म प्रतिपाल।
को ऐसो शिवि के बिना, दूजो है या काल॥

(प्रकाश) क्या चंदनदास, तुमने यही निश्चय किया है ?

चंदन०—हाँ ! हाँ ! मैंने यही निश्चय किया है।

चाणक्य—(क्रोध से) दुरात्मा दुष्ट बनिया ! देख राजकोप का कैसा फल पाता है !

चंदन०—(बाँह फैलाकर) मैं प्रस्तुत हूँ, आप जो चाहिए अभी दंड दीजिए।

चाणक्य—(क्रोध से) शारंगरव ! कालपाशिक, दंडपाशिक से मेरी आज्ञा कहो कि अभी इस दुष्ट बनियें को दंड दें। नहीं, ठहरो, दुर्गपाल विजयपाल से कहो कि इसके घर का सारा धन ले लें और इसको कुटुंब-समेत पकड़कर बाँध रखें, तब तक मैं चंद्रगुप्त से कहूँ, वह आप ही इसके सर्वस्व और प्राणहरण की आज्ञा देगा।

शिष्य—जो आज्ञा महाराज। सेठजी इधर आइए।

चंदन०—लीजिए महाराज ! यह मैं चला। (उठकर चलता है, आप ही आप) अहा ! मैं धन्य हूँ कि मित्र के हेतु मेरे प्राण जाते हैं, अपने हेतु तो सभी मरते हैं।

(दोनों बाहर जाते हैं)

चाणक्य—(हर्ष से) अब ले लिया है राक्षस को, क्योंकि

जिमि इन तृन सम प्रान तजि, कियो मित्र को त्रान।
तिमि सोहू निज मित्र अरु, कुल रखि है दै प्रान॥

(नेपथ्य में कलकल)

चाणक्य—शारंगरव !

शिष्य—(आकर) आज्ञा गुरुजी !

चाणक्य—देख तो यह कैसी भीड़ है।

शिष्य—(बाहर जाकर फिर आश्चर्य से आकर) महाराज ! शकटदास को सूली पर से उतारकर सिद्धार्थक लेकर भाग गया।

चाणक्य—(आप ही आप) वाह सिद्धार्थक ! काम का आरंभ तो किया। (प्रकाश) हैं क्या ले गया ? (क्रोध से) बेटा ! दौड़कर भागुरायण से कहो कि उसको पकड़े।

शिष्य—(बाहर जाकर आता है, विषाद से) गुरुजी ! भागुरायण तो पहिले ही से कहीं भाग गया है।

चाणक्य—(आप ही आप) निज काज साधने के लिये जाय। (क्रोध से प्रकाश) भद्रभट, पुरुषदत्त, हिंगुराज, बलगुप्त, राजसेन, रोहिताक्ष और विजयवर्म्मा से कहो कि दुष्ट भागुरायण को पकड़ें।

शिष्य—जो आज्ञा। (बाहर जाकर फिर आकर विषाद से) महाराज ! बड़े दुःख की बात है कि सब बेड़े का बेड़ा हलचल हो रहा है। भद्रभट इत्यादि तो सब पिछली ही रात भाग गए।

चाणक्य—(आप ही आप) सब काम सिद्ध करें। (प्रकाश) बेटा, सोच मत करो।

जे बात कछु जिय धारि भागें भले सुख सों भागहीं।
जे रहे तेहू जाहिं, तिनको सोच मोहि जिय कछु नहीं॥
सत सैन हूँ सो अधिक साधिनि, काज की जेहि जग कहै।
सो नंदकुल की खननहारी, बुद्धि नित मो मैं रहै॥

(उठकर और आकाश की ओर देखकर) अभी भद्रभटादिकों को पकड़ता हूँ। (आप ही आप) राक्षस ! अब मुझसे भाग के कहाँ जायगा, देख—

एकाकी मदगलित गज, जिमि नर लावहिं बाँधि।
चंद्रगुप्त के काज में, तिमि तोहि धरि हैं साधि॥

(सब जाते हैं—जवनिका गिरती है)

द्वितीय अंक

स्थान—राजपथ

(मदारी आता है)

मदारी—अललललललल, नाग लाए साँप लाए!

तंत्र युक्ति सब जानहीं, मंडल रचहिं विचार।
मंत्र रक्तहीं ते करहिं, अहि नृप को उपचार॥

(* आकाश में देखकर) महाराज! क्या कहा? तु कौन है? महाराज! मैं जीर्णविष नाम सँपेरा हूँ। (फिर आकाश की ओर देखकर) क्या कहा कि मैं भी साँप का मंत्र जानता हूँ खेलूँगा? तो आप काम क्या करते हैं, यह तो कहिए? (फिर आकाश की ओर देखकर) क्या कहा—मैं राजसेवक हूँ? यों आप तो साँप के साथ खेलते ही हैं। (फिर ऊपर देखकर) क्या कहा, कैसे? मंत्र और जड़ी बिन मदारी और आँकुस बिन मतवाले हाथी का हाथीवान, वैसे ही नए अधिकार के संग्राम-विजयी राजा के सेवक—ये तीनों अवश्य नष्ट होते हैं। (ऊपर देखकर) यह देखते-देखते कहाँ चला गया? (फिर ऊपर देखकर) क्या महाराज! पूछते हो कि

---

* 'आकाश में देखकर' या 'ऊपर देखकर' का आशय यह है कि मानो दूसरे से बात करता है।

इन पिटारियों में क्या है ? इन पिटारियों में मेरी जीविका के सर्प हैं। (फिर ऊपर देखकर) क्या कहा कि मैं देखूँगा ? वाह-वाह महाराज! देखिए-देखिए, मेरी बोहनी हुई, कहिए इसी स्थान पर खोलूँ ? परंतु यह स्थान अच्छा नहीं है; यदि आपको देखने की इच्छा हो तो आप इस स्थान में आइए मैं दिखाऊँ। (फिर आकाश की ओर देखकर) क्या कहा कि यह स्वामी राक्षस मंत्री का घर है, इसमे मैं घुसने न पाऊँगा, तो। आप जायँ, महाराज! मैं तो अपनी जीविका के प्रभाव से सभी के घर जाता-आता हूँ। अरे क्या वह गया ? (चारों ओर देखकर) अहा, बड़े आश्चर्य की बात है, जब मैं चाणक्य की रक्षा में चंद्रगुप्त को देखता हूँ तब समझता हूँ कि चंद्रगुप्त ही राज्य करेगा, पर जब राक्षस की रक्षा में मलयकेतु को देखता हूँ तब चंद्रगुप्त का राज गया सा दिखाई देता है। क्योंकि—

चाणक्य ने लै जदपि बाँधी बुद्धिरूपी डोर सों।
करि अचल लक्ष्मी मौर्यकुल में नीति के निज जोर सों।
पै तदपि राक्षस चातुरी करि हाथ में ताकों करै।
गहि ताहि खींचत आपुनी दिसि मोहि यह जानी परै।

सो इन दोनों परम नीतिचतुर मंत्रियों के विरोध में नंद-कुल की लक्ष्मी संशय में पड़ी है।

दोऊ सचिव-विरोध सों, जिमि वन जुग गजराय।
हथिनी सी लक्ष्मी विचल, इत उत झोंका खाय॥

तो चलूँ, अब मंत्री राक्षस से मिलूँ।

(जवनिका उठती है और आसन पर बैठा राक्षस और पास प्रियंबदक नामक सेवक दिखाई देते हैं)

राक्षस—(ऊपर देखकर आँखों में आँसू भरकर) हा! बड़े कष्ट की बात है—

गुन नीति बल सों जीति अरि, जिमि आपु जादवगन हयो।
तिमि नंद को यह बिपुल कुल, बिधि बाम सों सब नसि गयो॥
एहि सोच में मोहि दिवस अरु निसि, नित्य जागत बीतहीं।
यह लखौ चित्र विचित्र मेरे भाग के बिनु भीतहीं॥

अथवा

बिनु भक्ति भूले, बिनहिं स्वारथ हेतु, हम यह पन लियो।
बिनु प्रान के भय, बिनु प्रतिष्ठा-लाभ, सब अब लौं कियो॥
सब छोड़ि कै परदासता एहि हेत नित प्रति हम करैं।
जो स्वर्ग में हूँ स्वामि मम निज शत्रु हत लखि सुख भरैं॥

(आकाश की ओर देखकर दुःख से) हा! भगवती लक्ष्मी! तू बड़ी अगुणज्ञा है क्योंकि—

निज तुच्छ सुख के हेतु तजि, गुनरासि नंद नृपाल कों।
अब शूद्र में अनुरक्त ह्वै लपटी सुधा मनु व्याल कों॥
ज्यों मत्त गज के मरत मद की धार ता साथहिं नसै।
त्यों नंद के साथहिं नसी किन निलज अजहूँ जग बसै॥

अरे पापिन!

का जग में कुलवंत नृप, जीवत रह्यौ न कोय।
जो तू लपटी शूद्र सों, नीच-गामिनी होय? ॥

अथवा

बारबधू जन को अहै, सहजहिं चपल सुभाव।
तजि कुलीन गुनियन करहिं, ओछे जन सों चाव॥

तो हम भी अब तेरा आधार ही नाश किए देते हैं। (कुछ सोचकर) हम मित्रवर चंदनदास के घर अपना कुटुंब छोड़कर बाहर चले आए सो अच्छा ही किया। क्योंकि एक तो अभी कुसुमपुर को चाणक्य घेरा नहीं चाहता, दूसरे यहाँ के निवासी महाराज नंद में अनुरक्त हैं, इससे हमारे सब उद्योगों में सहायक होते हैं। वहाँ भी विषादिक से चंद्रगुप्त के नाश करने को और सब प्रकार से शत्रु का दाँव-घात व्यर्थ करने को बहुत सा धन देकर शकटदास को छोड़ ही दिया है। प्रतिक्षण शत्रुओं का भेद लेने को और उनका उद्योग नाश करने को भी जीवसिद्धि इत्यादि सुहृद नियुक्त ही हैं। सो अब तो—

विष-वृक्ष, अहिसुत, सिंहपोत समान जो दुखरास कों।
नृपनंद निज सुत जानि पाल्यौ, सकुल निज असु-नास कों॥
तो चंद्रगुप्तहि बुद्धि-सर मम तुरत मारि गिराइहै।
जो दुष्ट दैव न कवच बनिकै असह आड़े आइहै॥

(कंचुकी आता है)

कंचुकी—(आप ही आप)

नृपनंद काम-समान चानक-नीति-जर जरजर भयो।
पुनि धर्म्म-सम पुर देह सों नृप चंद्र क्रम सों बढ़ि लयो।
अवकास लहि तेहि लोभ राक्षस जदपि जीतन जाइहै।
पै सिथिल बल भे नाहिं कोउ बिधि चंद्र पै जय पाइहै॥

(देखकर) यह मंत्री राक्षस है। (आगे बढ़कर) मंत्री! आपका कल्याण हो।

राक्षस—जाजलक! प्रणाम करता हूँ। अरे प्रियंवदक! आसन ला।

प्रियंवदक—(आसन लाकर) यह आसन है, आप बैठें।

कंचुकी—(बैठकर) मंत्री, कुमार मलयकेतु ने आपको यह कहा है कि "आपने बहुत दिनों से अपने शरीर का सब शृंगार छोड़ दिया है इससे मुझे बड़ा दुःख होता है। यद्यपि आपको अपने स्वामी के गुण नहीं भूलते और उनके वियोग के दुःख में यह सब कुछ नहीं अच्छा लगता तथापि मेरे कहने से आप इनको पहिरें।" (आभरण दिखाता है) मंत्री! ये आभरण कुमार ने अपने अंग से उतारकर भेजे हैं, आप इन्हें धारण करें।

राक्षस—जाजलक! कुमार से कह दो कि तुम्हारे गुणों के आगे मैं स्वामी के गुण भूल गया। पर—

इन दुष्ट बैरिन सों दुखी निज अंग नाहिं सँवारिहौं ।
भूषन बसन सिंगार तब लौं हौं न तन कछु धारिहौं ॥
जब लौं न सब रिपु नासि, पाटलिपुत्र फेर बसाइहौं ।
हे कुँवर! तुमको राज दै, सिर अचल छत्र फिराइहौं ॥

कंचुकी—अमात्य! आप जो न करो सो थोड़ा है, यह बात कौन कठिन है? पर कुमार की यह पहिली विनती तो मानने ही के योग्य है।

राक्षस—मुझे तो जैसी कुमार की आज्ञा माननीय है वैसी ही तुम्हारी भी, इससे मुझे कुमार की आज्ञा मानने में कोई विचार नहीं है।

कंचुकी—(आभूषण पहिराता है) कल्याण हो महाराज! मेरा काम पूरा हुआ।

राक्षस—मैं प्रणाम करता हूँ।

कंचुकी—मुझको जो आज्ञा हुई थी सो मैंने पूरी की। [जाता है

राक्षस—प्रियंवदक! देख तो मेरे मिलने को द्वार पर कौन खड़ा है।

प्रियं०—जो आज्ञा। (आगे बढ़कर सँपेरे के पास आकर) आप कौन हैं?

सँपेरा—मैं जीर्णविष नामक सँपेरा हूँ और राक्षस मंत्री के साम्हने मैं साँप खेलना चाहता हूँ। मेरी यही जीविका है।

प्रियं०—तो ठहरो, हम अमात्य से निवेदन कर लें। (राक्षस के पास जाकर) महाराज! एक सँपेरा है, वह आपको अपना करतब दिखलाया चाहता है।

राक्षस—(बाईं आँख का फड़कना दिखाकर, आप ही आप) हैं, आज पहिले ही साँप दिखाई पड़े। (प्रकाश) प्रियंवदक! मेरा साँप देखने को जी नहीं चाहता सो इसे कुछ देकर बिदा कर।

प्रियं०—जो आज्ञा। (सँपेरे के पास जाकर) लो, मंत्री तुम्हारा कौतुक बिना देखे ही तुम्हें यह देते हैं, जाओ।

सँपेरा—मेरी ओर से यह बिनती करो कि मैं केवल सँपेरा ही नहीं हूँ किंतु भाषा का कवि भी हूँ, इससे जो मंत्रीजी मेरी कविता मेरे मुख से न सुना चाहें तो यह पत्र ही दे दो पढ़ लें। (एक पत्र देता है)

प्रियं०—(पत्र लेकर राक्षस के पास आकर) महाराज! वह सँपेरा कहता है कि मैं केवल सँपेरा ही नहीं हूँ, भाषा का कवि भी हूँ। इससे जो मंत्रीजी मेरी कविता मेरे मुख से सुनना न चाहें तो यह पत्र ही दे दो, पढ़ लें। (पत्र देता है)

राक्षस—(पत्र पढ़ता है)

सकल कुसुम-रस पान करि, मधुप रसिक-सिरताज।
जो मधु त्यागत ताहि लै, होत सबै जगकाज॥

(आप ही आप) अरे!!—"मैं कुसुमपुर का वृत्तांत जाननेवाला आपका दूत हूँ" इस दोहे से यह ध्वनि निकलती है। अह! मैं तो कामों से ऐसा घबड़ा रहा हूँ कि अपने भेजे भेदिया लोगों को भी भूल गया। अब

स्मरण आया। यह तो सँपेरा बना हुआ विराधगुप्त कुसुमपुर से आया है। (प्रकाश) प्रियंवदक! इसको बुलाओ यह सुकवि है, मैं भी इसकी कविता सुना चाहता हूँ।

प्रियं०—जो आज्ञा। (सँपेरे के पास जाकर) चलिए, मंत्रीजी आपको बुलाते हैं।

सँपेरा—(मंत्री के साम्हने जाकर और देखकर आप ही आप) अरे यही मंत्री राक्षस है! अहा!—

लै वाम बाहु-लताहि राखत कंठ सौं खसि खसि परै।
तिमि धरै दच्छिन बाहु कोहू गोद में बिचलै गिरै॥
जा बुद्धि के डर होइ संकित नृप हृदय कुच नहिं धरै।
अजहूँ न लच्छमी चंद्रगुप्तहि गाढ़ आलिंगन करै॥

(प्रकाश) मंत्री की जय हो।

राक्षस—(देखकर) अरे विराध—(संकोच से बात उड़ाकर) प्रियंवदक! मैं जब तक सर्पों से अपना जी बहलाता हूँ तब तक सबको लेकर तू बाहर ठहर।

प्रियं०—जो आज्ञा।

(बाहर जाता है)

राक्षस—मित्र विराधगुप्त! इस आसन पर बैठो।

विराधगुप्त—जो आज्ञा। (बैठता है)

राक्षस—(खेद-सहित निहारकर) हा! महाराज नंद के आश्रित लोगों की यह अवस्था! (रोता है)

विराध०—आप कुछ सोच न करें, भगवान की कृपा से शीघ्र ही वही अवस्था होगी।

राक्षस—मित्र विराधगुप्त! कहो, कुसुमपुर का वृत्तांत कहो।

विराध०—महाराज! कुसुमपुर का वृत्तांत बहुत लंबा-चौड़ा है, इससे जहाँ से आज्ञा हो वहाँ से कहूँ।

राक्षस—मित्र! चंद्रगुप्त के नगर-प्रवेश के पीछे मेरे भेजे हुए विष देनेवाले लोगों ने क्या-क्या किया यह सुना चाहता हूँ।

विराध०—सुनिए—शक, यवन, किरात, कांबोज, पारस, वाह्लीकादिक देश के चाणक्य के मित्र राजों की सहायता से, चंद्रगुप्त और पर्वतेश्वर के बलरूपी समुद्र से कुसुमपुर चारों ओर से घिरा हुआ है।

राक्षस—(कृपाण खींचकर क्रोध से) हैं! मेरे जीते कौन कुसुमपुर घेर सकता है? प्रवीरक! प्रवीरक!

चढ़ौ लै सरैं धाइ घेरौ अटा कों।
धरौ द्वार पै कुंजरैं ज्यों घटा कों॥
कहौ जोधनै मृत्यु को जीति धावैं।
चलैं संग भै छाँड़ि कै कीर्ति पावैं॥

विराध०—महाराज! इतनी शीघ्रता न कीजिए, मेरी बात सुन लीजिए।

राक्षस—कौन बात सुनूँ? अब मैंने जान लिया कि इसी का समय आ गया है। (शस्त्र छोड़कर आँखों में आँसू भर-कर) हा! देव नंद! राक्षस को तुम्हारी कृपा कैसे भूलेगी?

हैं जहँ झुंड खड़े गज मेघ के अज्ञा करौ तहाँ राक्षस! जायकै।
त्यों ये तुरंग अनेकन हैं, तिनहूँ के प्रबंधहि राखौ बनायकै॥
पैदल ये सब तेरे भरोसे हैं, काज करौ तिनको चित लायकै।
यों कहि एक हमैं तुम मानत हे, निज काज हजार बनायकै॥

हाँ फिर?

विराध०—तब चारों ओर से कुसुमनगर घेर लिया और नगरवासी विचारे भीतर ही भीतर घिरे-घिरे घबड़ा गए, उनकी उदासी देखकर सुरंग के मार्ग से सर्व्वार्थ-सिद्धि तपोवन में चला गया, और स्वामी के विरह से आपके सब लोग शिथिल हो गए। तब अपने जय की डौंड़ी सब नगर में शत्रु लोगों ने फिरवा दी, और आपके भेजे हुए लोग सुरंग में इधर-उधर छिप गए, और जिस विषकन्या को आपने चंद्रगुप्त के नाश-हेतु भेजा था उससे तपस्वी पर्वतेश्वर मारा गया।

राक्षस—अहा मित्र! देखो, कैसा आश्चर्य हुआ—

जो विषमयी नृप-चंद्र-वध-हित नारि राखी लाइ कै।
तासों हत्यो पर्वत उलटि चाणक्य बुद्धि उपाइ कै॥
जिमि करन शक्ति अमोघ अर्जुन हेतु धरी छिपाइ कै।
पै कृष्ण के मत सो घटोत्कच पै परी घहराइ कै॥

विराध०—महाराज! समय की सब उलटी गति है—क्या कीजिएगा?

राक्षस—हाँ! तब क्या हुआ?

विराध०—तब पिता का वध सुनकर कुमार मलयकेतु नगर से निकलकर चले गए, और पर्वतेश्वर के भाई वैरोधक पर उन लोगों ने अपना विश्वास जमा लिया। तब उस दुष्ट चाणक्य ने चंद्रगुप्त का प्रवेश-मुहूर्त्त प्रसिद्ध करके नगर के सब बढ़ई और लोहारों को बुलाकर एकत्र किया और उनसे कहा कि महाराज के नंद-भवन में गृहप्रवेश का मुहूर्त्त ज्योतिषियों ने आज ही आधी रात का दिया है, इससे बाहर से भीतर तक सब द्वारों को जाँच लो। तब उससे बढ़ई-लोहारों ने कहा कि "महाराज! चंद्रगुप्त का गृह-प्रवेश जानकर दारुवर्म्म ने प्रथम द्वार तो पहले ही सोने की तोरनों से शोभित कर रखा है, भीतर के द्वारों को हम लोग ठीक करते हैं।" यह सुनकर चाणक्य ने कहा कि बिना कहे ही दारुवर्म्म ने बड़ा काम किया इससे उसको चतुराई का पारितोषिक शीघ्र ही मिलेगा।

राक्षस—(आश्चर्य से) चाणक्य प्रसन्न हो यह कैसी बात है? इससे दारुवर्म्म का यत्न या तो उलटा होगा या निष्फल होगा, क्योंकि इसने बुद्धि मोह से या राजभक्ति से बिना समय ही चाणक्य के जी में अनेक संदेह और विकल्प उत्पन्न कराए। हाँ फिर?

विराध०—फिर उस दुष्ट चाणक्य ने बुलाकर सबको सहेज दिया कि आज आधी रात को प्रवेश होगा, और उसी

समय पर्वतेश्वर के भाई वैरोधक और चंद्रगुप्त को एक आसन पर बिठाकर पृथ्वी का आधा-आधा भाग कर दिया।

राक्षस—क्यों पर्वतेश्वर के भाई वैरोधक को आधा राज मिला, यह पहले ही उसने सुना दिया?

विराध०—हाँ, तो इससे क्या हुआ?

राक्षस—(आप ही आप) निश्चय यह ब्राह्मण बड़ा धूर्त है, कि इसने उस सीधे तपस्वी से इधर-उधर की चार बात बनाकर पर्वतेश्वर के मारने के अपयश-निवारण के हेतु यह उपाय सोचा। (प्रकाश) अच्छा कहो—तब?

विराध०—तब यह तो उसने पहले ही प्रकाश कर दिया था कि आज रात को गृह-प्रवेश होगा, फिर उसने वैरोधक को अभिषेक कराया और बड़े-बड़े बहुमूल्य स्वच्छ मोतियों का उसको कवच पहिराया और अनेक रत्नों से जड़ा सुंदर मुकुट उसके सिर पर रखा और गले में अनेक सुगंध के फूलों की माला पहिराई, जिससे वह एक ऐसे बड़े राजा की भाँति हो गया कि जिन लोगों ने उसे सर्वदा देखा है वे भी न पहिचान सकें, फिर उस दुष्ट चाणक्य की आज्ञा से लोगों ने चंद्रगुप्त की चंद्रलेखा नाम की हथिनी पर बिठाकर बहुत से मनुष्य साथ करके बड़ी शीघ्रता से नंद-मंदिर में उसका प्रवेश कराया। जब वैरोधक मंदिर में घुसने लगा तब आपका

भेजा दारुवर्म्म बढ़ई उसको चंद्रगुप्त समझकर उसके ऊपर गिराने को अपनी कल की बनी तोरन लेकर सावधान हो बैठा। इसके पीछे चंद्रगुप्त के अनुयायी राजा सब बाहर खड़े रह गए और जिस बर्बर को आपने चंद्रगुप्त के मारने के हेतु भेजा था वह भी अपनी सोने की छड़ी की गुप्ती जिसमें एक छोटी कृपाण थी लेकर वहाँ खड़ा हो गया।

राक्षस—दोनों ने बेठिकाने काम किया। हाँ फिर ?

विराध०—तब उस हथिनी को मारकर बढ़ाया और उसके दौड़ चलने से कल की तोरण का लक्ष, जो चंद्रगुप्त के धोखे वैरोधक पर किया गया था, चूक गया और वहाँ बर्बर जो चंद्रगुप्त का आसरा देखता था, वह बेचारा उसी कल की तोरन से मारा गया। जब दारुवर्म्मा ने देखा कि लक्ष तो चूक गए, अब मारे जायहींगे तब उसने उस कल के लोहे की कील से उस ऊँचे तोरन के स्थान ही पर से चंद्रगुप्त के धोखे तपस्वी वैरोधक को हथिनी ही पर मार डाला।

राक्षस—हाय! दोनों बात कैसे दुःख की हुई कि चंद्रगुप्त तो काल से बच गया और दोनों बिचारे बर्बर और वैरोधक मारे गए। (आप ही आप) दैव ने इन दोनों को नहीं मारा हम लोगों को मारा!! (प्रकाश) और वह दारुवर्म्म बढ़ई क्या हुआ ?

विराध०—उसको वैरोधक के साथ के मनुष्यों ने मार डाला।

राक्षस—हाय! बड़ा दुःख हुआ! हाय प्यारे दारुवर्म्म का हम लोगों से वियोग हो गया। अच्छा! उस वैद्य अभयदत्त ने क्या किया?

विराध०—महाराज! सब कुछ किया।

राक्षस—(हर्ष से) क्या चंद्रगुप्त मारा गया?

विराध०—दैव ने न मरने दिया।

राक्षस—(शोक से) तो क्या फूलकर कहते हो कि सब कुछ किया?

विराध०—उसने औषधि में विष मिलाकर चंद्रगुप्त को दिया, पर चाणक्य ने उसको देख लिया और सोने के बरतन में रखकर उसका रंग पलटा जानकर चंद्रगुप्त से कह दिया कि इस औषधि में विष मिला है, इसको न पीना।

राक्षस—अरे वह ब्राह्मण बड़ा ही दुष्ट है। हाँ, तो वह वैद्य क्या हुआ?

विराध०—उस वैद्य को वही औषधि पिलाकर मार डाला।

राक्षस—(शोक से) हाय हाय! बड़ा गुणी मारा गया। भला शयनघर के प्रबंध करनेवाले प्रमोदक ने क्या किया?

विराध०—उसने सब चौका लगाया।

राक्षस—(घबड़ाकर) क्यों?

विराध०—उस मूर्ख को जो आपके यहाँ से व्यय को धन मिला सो उससे उसने अपना वड़ा ठाट-बाट फैलाया। यह देखते ही चाणक्य चौकन्ना हो गया और उससे अनेक प्रश्न किए, जब उसने उन प्रश्नों के उत्तर अंडबंड दिए तो उस पर पूरा संदेह करके दुष्ट चाणक्य ने उसको बुरी चाल से मार डाला।

राक्षस—हा! क्या दैव ने यहाँ भी उलटा हमीं लोगों को मारा! भला वह चंद्रगुप्त को सोते समय मारने के हेतु जो राजभवन में वीभत्सकादिक वीर सुरंग में छिपा रखे थे उनका क्या हुआ?

विराध०—महाराज! कुछ न पूछिए।

राक्षस—(घबड़ाकर) क्यों-क्यों! क्या चाणक्य ने जान लिया?

विराध०—नहीं तो क्या?

राक्षस—कैसे?

विराध०—महाराज! चंद्रगुप्त के सोने जाने के पहिले ही वह दुष्ट चाणक्य उस घर में गया और उसको चारों ओर से देखा तो भीतर की एक दरार से चिउँटियाँ चावल के कने लाती हैं। यह देखकर उस दुष्ट ने निश्चय कर लिया कि इस घर के भीतर मनुष्य छिपे हैं। बस, यह निश्चय कर उसने उस घर में आग लगवा दिया और धूआँ से घबड़ाकर निकल तो सके ही नहीं, इस से वे वीभत्सकादिक वहीं भीतर ही जलकर राख हो गए।

राक्षस—(सोच से) मित्र ! देख, चंद्रगुप्त का भाग्य कि सबके सब मर गए। (चिंता सहित) अहा ! सखा ! देख दुष्ट चंद्रगुप्त का भाग्य !

कन्या जो विष की गई, ताहि हतन के काज।
तासों मार्‍यौ पर्वतक, जाको आधो राज॥
सबै नसे कलबल सहित, जे पठए बध हेत।
उलटी मेरी नीति सब, मौर्य्यहि को फल देत॥

विराध०—महाराज ! तब भी उद्योग नहीं छोड़ना चाहिए—

प्रारंभ ही नहिं विघ्न के भय अधम जन उद्यम सजैं।
पुनि करहिं तौ कोउ विघ्न सों डरि मध्य ही मध्यम तजैं॥
धरि लात विघ्न अनेक पै निरभय न उद्यम ते टरैं।
जे पुरुष उत्तम अंत में ते सिद्ध सब कारज करैं॥

और भी—

का सेसहि नहिं भार पै धरती देत न डारि।
कहा दिवसमनि नहिं थकत पै नहिं रुकत विचारि॥
सज्जन ताको हित करत जेहि किय अंगीकार।
यहै नेम सुकृतीन को निज जिय करहु विचार॥

राक्षस—मित्र ! यह क्या तू नहीं जानता कि मैं प्रारब्ध के भरोसे नहीं हूँ ? हां, फिर।

विराध०—तब से दुष्ट चाणक्य चंद्रगुप्त की रक्षा में चौकन्ना रहता है और इधर-उधर के अनेक उपाय सोचा करता है और पहिचान-पहिचान के नंद के मित्रों को पकड़ता है।

राक्षस—(घबड़ाकर) हाँ ! कहो तो, मित्र ! उसने किसे-किसे पकड़ा है ?

विराध०—सबके पहिले तो जीवसिद्धि क्षपणक को निरादर करके नगर से निकाल दिया।

राक्षस—(आप ही आप) भला, इतने तक तो कुछ चिंता नहां, क्योंकि वह योगी है उसका घर विना जी न घबड़ायगा। (प्रकाश) मित्र ! उस पर अपराध क्या ठहराया ?

विराध०—कि इसी दुष्ट ने राक्षस की भेजी विषकन्या से पर्वतेश्वर को मार डाला।

राक्षस—(आप ही आप) वाह रे कौटिल्य वाह ! क्यों न हो ?

निज कलंक हम पै धर्यौ, हत्यौ अर्द्ध बटवार।
नीतिबीज तुव एक ही, फल उपजवत हजार ॥

(प्रकाश) हाँ, फिर ?

विराध०—फिर चंद्रगुप्त के नाश को इसने दारुवर्म्मादिक नियत किए थे यह दोष लगाकर शकटदास को शूली दे दी।

राक्षस—(दुःख से) हा मित्र शकटदास ! तुम्हारी बड़ी अयोग्य मृत्यु हुई। अथवा स्वामी के हेतु तुम्हारे प्राण गए। इससे कुछ सोच नहीं है, सोच हमीं लोगों का है कि स्वामी के मरने पर भी जीना चाहते हैं।

विराध०—मंत्री ! ऐसा न सोचिए, आप स्वामी का काम कीजिए।

राक्षस—मित्र !

केवल है यह सोक, जीव लोभ अब लौं बचे।
स्वामि गयो परलोक, पै कृतघ्न इतही रहे॥

विराध०—महाराज! ऐसा नहीं। (केवल यह ऊपर का छंद फिर से पढ़ता है) *

राक्षस—मित्र! कहो, और भी सैकड़ों मित्रों का नाश सुनने को ये पापी कान उपस्थित हैं।

विराध०—यह सब सुनकर चंदनदास ने बड़े कष्ट से आपके कुटुंब को छिपाया।

राक्षस—मित्र! उस दुष्ट चाणक्य के तो चंदनदास ने विरुद्ध ही किया।

विराध०—तो मित्र का बिगाड़ करना तो अनुचित ही था।

राक्षस—हाँ, फिर क्या हुआ?

विराध०—तब चाणक्य ने आपके कुटुंब को चंदनदास से बहुत माँगा पर उसने नहीं दिया, इस पर उस दुष्ट ब्राह्मण ने—

राक्षस—(घबड़ाकर) क्या चंदनदास को मार डाला?

विराध०—नहीं, मारा तो नहीं, पर स्त्री-पुत्र-धन-समेत बाँधकर बंदीघर में भेज दिया।

---

* अर्थात् जो लोग जीवलोभ से बचे हैं, वे कृतघ्न हैं, आप तो स्वामी के कार्य्य-साधन को जीते हैं, आप क्यों कृतघ्न हैं।

राक्षस—तो क्या ऐसे सुखी होकर कहते हो कि बंधन में भेज दिया? अरे! यह कहो कि मंत्री राक्षस को कुटुंब-सहित बाँध रक्खा है।

(प्रियंबदक आता है)

प्रियंबदक—जय-जय महाराज! बाहर शकटदास खड़े हैं।

राक्षस—(आश्चर्य से) सच ही!

प्रियं०—महाराज! आपके सेवक कभी मिथ्या बोलते हैं?

राक्षस—मित्र विराधगुप्त! यह क्या?

विराध०—महाराज! होनहार जो बचाया चाहे तो कौन मार सकता है?

राक्षस—प्रियंबदक! अरे जो सच ही कहता है तो उनको झटपट लाता क्यों नहीं?

प्रियं०—जो आज्ञा। [जाता है

(सिद्धार्थक के संग शकटदास आता है)

शकटदास—देखकर (आप ही आप)

वह सूली गड़ी जो बड़ी दृढ़ कै,
सोइ चंद्र को राज थिरयो प्रन तें।
लपटी वह फाँस की डोर सोई,
मनु श्री लपटी वृषलै मन तें॥

बजी डौंड़ी निरादर की नृप नंद के,
सोऊ लख्यो इन आँखन तें।
नहिं जानि परै इतनोहूँ भए,
केहि हेत न प्रान कढ़े तन तें ॥

(राक्षस को देखकर) यह मंत्री राक्षस वैठे हैं। अहा !

नंद गए हू नहिं तजत, प्रभुसेवा को स्वाद।
भूमि वैठि प्रगटत मनहुँ, स्वामिभक्त मरजाद ॥

(पास जाकर) मंत्री की जय हो।

राक्षस—(देखकर आनंद से) मित्र शकटदास ! आओ, मुझसे मिल लो, क्योंकि तुम दुष्ट चाणक्य के हाथ से बच के आए हो।

शकट०—(मिलता है)

राक्षस—(मिलकर) यहाँ वैठो।

शकट०—जो आज्ञा। (वैठता है)

राक्षस—मित्र शकटदास ! कहो तो यह आनंद की बात कैसे हुई ?

शकट०—(सिद्धार्थक को दिखाकर) इस प्यारे सिद्धार्थक ने सूली देनेवाले लोगों को हटाकर मुझको बचाया।

राक्षस—(आनंद से) वाह सिद्धार्थक ! तुमने काम तो अमूल्य किया है, पर भला ! तब भी यह जो कुछ है सो लो। (अपने अंग से आभरण उतारकर देता है)

सिद्धा०—(लेकर आप ही आप) चाणक्य के कहने से मैं सब करूँगा। (पैर पर गिरके प्रकाश) महाराज! यहाँ मैं पहिले-पहल आया हूँ, इससे मुझे यहाँ कोई नहीं जानता कि मैं उसके पास इन भूषणों को छोड़ जाऊँ। इससे आप इसी अँगूठी से इस पर मोहर करके अपने ही पास रखें; मुझे जब काम होगा ले जाऊँगा।

राक्षस—क्या हुआ? अच्छा शकटदास! जो यह कहता है वह करो।

शकट०—जो आज्ञा। (मोहर पर राक्षस का नाम देखकर धीरे से) मित्र! यह तो तुम्हारे नाम की मोहर है।

राक्षस—(देखकर बड़े सोच से आप ही आप) हाय-हाय इसको तो जब मैं नगर से निकला था तो ब्राह्मणी ने मेरे स्मरणार्थ ले लिया था, वह इसके हाथ कैसे लगी? (प्रकाश) सिद्धार्थक! तुमने यह कैसे पाई?

सिद्धा०—महाराज! कुसुमपुर में जो चंदनदास जौहरी हैं उनके द्वार पर पड़ी पाई।

राक्षस—तो ठीक है।

सिद्धा०—महाराज! ठीक क्या है?

राक्षस—यही कि ऐसे धनिकों के घर विना यह वस्तु और कहाँ मिले?

शकट०—मित्र ! यह मंत्रीजी के नाम की मोहर है, इससे तुम इसको मंत्री को दे दो, तो इसके बदले तुम्हें बहुत पुरस्कार मिलेगा।

सिद्धा०—महाराज ! मेरे ऐसे भाग्य कहाँ कि आप इसे लें। (मोहर देता है)

राक्षस—मित्र शकटदास ! इसी मुद्रा से सब काम किया करो।

शकट०—जो आज्ञा।

सिद्धा०—महाराज ! मैं कुछ विनती करूँ ?

राक्षस—हाँ हाँ ! अवश्य करो।

सिद्धा०—यह तो आप जानते ही हैं कि उस दुष्ट चाणक्य की बुराई करके फिर मैं पटने में घुस नहीं सकता, इससे कुछ दिन आप ही के चरणों की सेवा किया चाहता हूँ।

राक्षस—बहुत अच्छी बात है। हम लोग तो ऐसा चाहते ही थे, अच्छा है, यहीं रहो।

सिद्धार्थक—(हाथ जोड़कर) बड़ी कृपा हुई।

राक्षस—मित्र शकटदास ! ले जाओ, इसको उतारो और सब भोजनादिक का ठीक करो।

शकट०—जो आज्ञा।

(सिद्धार्थक को लेकर जाता है)

राक्षस—मित्र विराधगुप्त ! अब तुम कुसुमपुर का वृत्तांत जो छूट गया था सो कहो। वहाँ के निवासियों को मेरी बातें अच्छी लगती हैं कि नहीं ?

विराध०—बहुत अच्छी लगती हैं, वरन वे सब तो आप ही के अनुयायी हैं।

राक्षस—ऐसा क्यों ?

विराध०—इसका कारण यह है कि मलयकेतु के निकलने के पीछे चाणक्य को चंद्रगुप्त ने कुछ चिढ़ा दिया और चाणक्य ने भी उसकी बात न सहकर चंद्रगुप्त की आज्ञा भंग करके उसको दुःखी कर रखा है, यह मैं भली भाँति जानता हूँ।

राक्षस—(हर्ष से) मित्र विराधगुप्त ! तो तुम इसी सँपेरे के भेस से फिर कुसुमपुर जाओ और वहाँ मेरा मित्र स्तन-कलस नामक कवि है उससे कह दो कि चाणक्य के आज्ञाभंगादिकों के कवित्त बना-बनाकर चंद्रगुप्त को बढ़ावा देता रहे और जो कुछ काम हो जाय वह करभक से कहला भेजे।

विराध०—जो आज्ञा। [जाता है

(प्रियंवदक आता है)

प्रियं०—जय हो महाराज ! शकटदास कहते हैं कि यह तीन आभूषण बिकते हैं, इन्हें आप देखें।

राक्षस—(देखकर) अहा यह तो बड़े मूल्य के गहने हैं। अच्छा शकटदास से कह दो कि दाम चुकाकर ले लें।

प्रियं०—जो आज्ञा। [जाता है

राक्षस—तो अब हम भी चलकर करभक को कुसमपुर भेजें। (उठता है) अहा ! क्या उस मृतक चाणक्य से चंद्रगुप्त से बिगाड़ हो जायगा ? क्यों नहीं ? क्योंकि सब कामों को सिद्ध ही देखता हूँ।

चंद्रगुप्त निज तेज बल, करत सबन को राज।
तेहि समझत चाणक्य यह, मेरो दियो समाज॥
अपनो अपनो करि चुके, काज रह्यो कछु जौन।
अब जौ आपुस में लड़ैं, तौ बड़ अचरज कौन॥

[जाता है

तृतीय अंक

स्थान—राजभवन की अटारी

(कंचुकी आता है)

कंचुकी—हे रूप आदिक विषय जो राखे हिये बहु लोभ सों।
सो मिटे इंद्रीगन सहित ह्वै सिथिल अतिही छोभ सों।।
मानत कह्यो कोउ नाहिं सब अँग अंग ढीले ह्वै गए।
तौहू न तृश्ने! क्यौं तजत तू मोहि बूढ़ोहू भए।।

(आकाश की ओर देखकर) अरे! अरे! सुगांगप्रासाद के लोगो! सुनो। महाराज चंद्रगुप्त ने तुम लोगों को यह आज्ञा दी है कि कौमुदी-महोत्सव के होने से परम शोभित कुसुमपुर को मैं देखना चाहता हूँ, इससे उस अटारी को बिछौने इत्यादि से सज रखो, देर क्यों करते हो! (आकाश की ओर देखकर) क्या कहा? कि क्या महाराज चंद्रगुप्त नहीं जानते कि कौमुदी-महोत्सव अब की न होगा? दुर बदमारो! क्या मरने को लगे हो? शीघ्रता करो।

सवैया

बहु फूल की माल लपेट कै खंभन धूप सुगंध सों ताहि धुपाइए।
तापैं चहूँ दिस चंद छपा से सुसोभित चौंर घने लटकाइए।।

भार सों चारु सिंहासन के मुरछा में धरा परी धेनु सी पाइए।
छाँटि के तापैं गुलाब मिल्यौ जल चंदन ताकहँ जाइ जगाइए॥

(आकाश की ओर देखकर) क्या कहते हो कि हम लोग अपने काम में लग रहे हैं? अच्छा-अच्छा झटपट सब सिद्ध करो। देखो! वह महाराज चंद्रगुप्त आ पहुँचे।

बहु दिन श्रम करि नंद नृप, बह्यो राज-धुर जौन।
बालेपन ही में लियौ, चंद सीस निज तौन॥
डिगत न नेकहु विषम पथ, दृढ़ प्रतिज्ञ दृढ़ गात।
गिरन चहत सम्हरत बहुरि, नेकु न जिय घबरात॥

(नेपथ्य में—इधर महाराज इधर। राजा और प्रतिहारी आते हैं)

राजा—(आप ही आप) राज उसी का नाम है जिसमें अपनी आज्ञा चले, दूसरे के भरोसे राज करना भी एक बोझा ढोना है। क्योंकि—

जो दूजे को हित करै, तौ खोवै निज काज।
जो खोयो निज काज तौ, कौन बात को राज॥
दूजे ही को हित करै, तौ वह परवस मूढ़।
कठपुतरी सो स्वाद कछु, पावै कबहुँ न कूढ़॥

और राज्य पाकर भी इस दुष्ट राजलक्ष्मी को सम्हालना बहुत कठिन है। क्योंकि—

क्रूर सदा भाखत पियहि, चंचल सहज सुभाव।
नर गुन औगुन नहिं लखत, सज्जन खल सम भाव॥

डरत सूर सों भीरु कहँ, गिनत न कछु रति-हीन।
बारनारि अरु लच्छमी, कहौ कौन बस कीन ?॥

यद्यपि गुरु ने कहा है कि तू झूठी कलह करके स्वतंत्र होकर अपना प्रबंध आप कर ले, पर यह तो बड़ा पाप सा है। अथवा गुरुजी के उपदेश पर चलने से हम लोग तो सदा ही स्वतंत्र हैं।

जब लौं बिगारै काज नहिं तब लौं न गुरु कछु तेहि कहै।
पै शिष्य जाइ कुराह तौ गुरु सीस अंकुस ह्वै रहै॥
तासों सदा गुरु-वाक्य-वश हम नित्य पर-आधीन हैं।
निर्लोभ गुरु से संत जन ही जगत में स्वाधीन हैं॥

(प्रकाश) अजी वैहीनर! "सुगांगप्रासाद" का मार्ग दिखाओ।

कंचुकी—इधर आइए, महाराज, इधर।

(राजा आगे बढ़ता है)

कंचुकी—महाराज! सुगांगप्रासाद की यही सीढ़ी है।

राजा—(ऊपर चढ़कर) अहा! शरद ऋतु की शोभा से सब दिशाएँ कैसी सुंदर हो रही हैं!

सरद विमल ऋतु सोहई, निरमल नील अकास।
निसानाथ पूरन उदित, सोलह कला प्रकास॥
चारु चमेली बन रही, महमह महँकि सुबास।
नदी तीर फूले लखौ, सेत सेत बहु कास॥
कमल कुमोदिनि सरन में, फूले सोभा देत।
भौंर बृंद जापैं लखौ, गूँजि गूँजि रस लेत॥

बसन चाँदनी चंदमुख, उडुगन मोती माल।
कास फूल मधु हास यह, सरद किधौं नव बाल॥

(चारों ओर देखकर) कंचुकी! यह क्या? नगर में "चंद्रिकोत्सव" कहीं नहीं मालूम पड़ता; क्या तूने सब लोगों से ताकीद करके नहीं कहा था कि उत्सव हो?

कंचुकी—महाराज! सबसे ताकीद कर दी थी।

राजा—तो फिर क्यों नहीं हुआ? क्या लोगों ने हमारी आज्ञा नहीं मानी?

कंचुकी—(कान पर हाथ रखकर) राम राम! भला नगर क्या, इस पृथ्वी में ऐसा कौन है जो आपकी आज्ञा न माने?

राजा—तो फिर चंद्रिकोत्सव क्यों नहीं हुआ? देख न—

गज रथ बाजि सजे नहीं, बँधी न बंदनवार।
तने बितान न कहुँ नगर, रंजित कहूँ न द्वार॥
नर नारी डोलत न कहुँ, फूल माल गल डार।
नृत्य वाद धुनि गीत नहिं, सुनियत श्रवन मँझार॥

कंचुकी—महाराज! ठीक है, ऐसा ही है।

राजा—क्यों ऐसा ही है?

कंचुकी—महाराज योंही है।

राजा—स्पष्ट क्यों नहीं कहता?

कंचुकी—महाराज! चंद्रिकोत्सव बंद किया गया है।

राजा—(क्रोध से) किसने बंद किया है?

कंचुकी—(हाथ जोड़कर) महाराज ! यह मैं नहीं कह सकता।

राजा—कहीं आर्य चाणक्य ने तो नहीं बंद किया ?

कंचुकी—महाराज ! और किसको अपने प्राणों से शत्रुता करनी थी ?

राजा—(अत्यंत क्रोध से) अच्छा, अब हम बैठेंगे।

कंचुकी—महाराज ! यह सिंहासन है, बिराजिए।

राजा—(बैठकर क्रोध से) अच्छा, कंचुकी ! आर्य चाणक्य से कह कि "महाराज आपको देखा चाहते हैं।"

कंचुकी—जो आज्ञा। [बाहर जाता है

(एक ओर परदा उठता है और चाणक्य बैठा हुआ दिखाई पड़ता है)

चाणक्य—(आप ही आप) दुष्ट राक्षस हमारी बराबरी करता है, वह जानता है कि—

जिमि हम नृप अपमान सों, महा क्रोध उर धारि।
करी प्रतिज्ञा नंद नृप, नासन की निरधारि॥
सो नृप नंदहि पुत्र सह, नासि करी हम पूर्ण।
चंद्रगुप्त राजा कियो, करि राक्षस मद चूर्ण॥
तिमि सोऊ मोहि नीति-बल, छलन चहत हति चंद।
पै मो आछत यह जतन, वृथा तासु अति मंद॥

(ऊपर देखकर क्रोध से) अरे राक्षस ! छोड़-छोड़ यह व्यर्थ का श्रम; देख—

जिमि नृप नंदहि मारि कै, वृषलहि दीनों राज।
आइ नगर चाणक्य किय, दुष्ट सर्प सों काज॥
तिमि सोऊ नृप चंद्र को, चाहत करन विगार।
निज लघु मति लाँघ्यौ चहत, मो बल वुद्धि पहार॥

(आकाश की ओर देखकर) अरे राक्षस ! मेरा पीछा छोड़। क्योंकि—

राज काज मंत्री चतुर, करत विना अभिमान।
जैसो तुव नृप नंद हो, चंद्र न तौन समान॥
तुम कछु नहिं चाणक्य जो, साधौ कठिनहु काज।
तासों हम सों वैर करि, नहिं सरिहै तुव राज॥

अथवा इसमें तो मुझे कुछ सोचना ही न चाहिए। क्योंकि—

मम भागुरायन आदि भृत्यन मलय राख्यौ घेरि कै।
तिमि गए सिद्धारथक ऐहैं तेउ काज निवेरि कै॥
अव लखहु करि छल कलह नृप सों भेद वुद्धि उपाइ कै।
पर्वत जनन सों हम विगारत राक्षसहिं उलटाइ कै॥

कंचुकी—हा ! सेवा बड़ी कठिन होती है।

नृप सों सचिव सों सव मुसाहेव-गनन सों डरते रहौ।
पुनि विटहु जे अति पास के तिनकों कह्यौ करते रहौ॥
मुख लखत वीतत दिवस निसि भय रहत संकित प्रान है।
निज उदर-पूरन हेतु सेवा श्वान-वृत्ति समान है॥

(चारों ओर घूमकर देखकर)

अहा ! यही आर्य्य चाणक्य का घर है तो चलूँ। (कुछ आगे बढ़कर और देखकर) अहाहा ! यह राजाधिराज श्रीमंत्रीजी के घर की संपत्ति है। जो—

कहुँ परे गोमय शुष्क कहुँ सिल परी सोभा है रही।
कहुँ तिल कहूँ जव-रासि लागी बटुन जो भिक्षा लही ॥
कहुँ कुस परे कहुँ समिध सूखत भार सों ताके नयो।
यह लखौ छप्पर महा जरजर होइ कैसो झुकि गयो ॥

महाराज चंद्रगुप्त के भाग्य से ऐसा मंत्री मिला है—

बिन गुनहूँ के नृपन कों, धन हित गुरुजन धाइ।
सूखो मुख करि झूठहीं, बहु गुन कहहिं बनाइ ॥
पै जिनको तृष्णा नहीं, ते न लवार समान।
तिनसों तृन सम धनिक जन, पावत कबहुँ न मान ॥

(देखकर डर से) अरे आर्य्य चाणक्य यहाँ बैठे हैं, जिन्होंने—

लोक धरषि चंद्रहि कियो, राजा नंद गिराइ।
होत प्रात रवि के कढ़त, जिमि ससि तेज नसाइ ॥

(प्रगट दंडवत करके) जय हो ! आर्य्य की जय हो !!

चाणक्य—(देखकर) कौन है वैहीनर ! क्यों आया है ?

कंचुकी—आर्य्य ! अनेक राजगणों के मुकुट-माणिक्य से सर्वदा जिनके पदतल लाल रहते हैं उन महाराज चंद्र-

गुप्त ने आपके चरणों में दंडवत् करके निवेदन किया है कि "यदि आपके किसी कार्य्य में विघ्न न पड़े तो मैं आपका दर्शन किया चाहता हूँ।"

चाणक्य—वैहीनर ! क्या वृषल मुझे देखा चाहता है ? क्या मैंने कौमुदी-महोत्सव का प्रतिषेध कर दिया है यह वृषल नहीं जानता ?

कंचुकी—आर्य्य, क्यों नहीं।

चाणक्य—(क्रोध से) हैं ? किसने कहा बोल तो ?

कंचुकी—(भय से) महाराज प्रसन्न हों, जब सुगांगप्रासाद की अटारी पर गए थे तो देखकर महाराज ने आप ही जान लिया कि कौमुदी-महोत्सव अब की नहीं हुआ।

चाणक्य—अरे ठहर, मैंने जाना यह तुम्हीं लोगों ने वृषल का जी मेरी ओर से फेरकर उसे चिढ़ा दिया है, और क्या।

(कंचुकी भय से नीचा मुँह करके चुप रह जाता है)

चाणक्य—अरे राज के कारबारियों का चाणक्य के ऊपर बड़ा ही विद्वेष पक्षपात है। अच्छा, वृषल कहाँ है ? बता।

कंचुकी—(डरता हुआ) आर्य्य ! सुगांगप्रासाद की अटारी पर से महाराज ने मुझे आपके चरणों में भेजा है।

चाणक्य—(उठकर) कंचुकी ! सुगांगप्रासाद का मार्ग बता।

कंचुकी—इधर, महाराज। (दोनों घूमते हैं)

कंचुकी—महाराज ! यह सुगांगप्रासाद की सीढ़ियाँ हैं, चढ़ें।

(दोनों सुगांगप्रासाद पर चढ़ते हैं और चाणक्य के घर का परदा गिरके छिप जाता है)

चाणक्य—(चढ़कर और चंद्रगुप्त को देखकर प्रसन्नता से आप ही आप) अहा ! वृषल सिंहासन पर बैठा है—

हीन नंद सो रहित नृप, चंद्र करत जेहि भोग।
परम होत संतोष लखि, आसन राजा जोग॥

(पास जाकर) जय हो वृषल की !

चंद्रगुप्त—(उठकर और पैरों पर गिरकर) आर्य्य ! चंद्रगुप्त दंडवत् करता है।

चाणक्य—(हाथ पकड़कर उठाकर) उठो बेटा ! उठो।

जहँ लौं हिमालय के शिखर सुरधुनी-कन सीतल रहै।
जहँ लौं विविध मणिखंड-मंडित समुद दच्छिण दिसि बहै॥
तहँ लौं सबै नृप आइ भय सों तोहि सीस झुकावहीं।
तिनके मुकुट-मणि-रँगे तुव पद निरखि हम सुख पावहीं॥

चंद्र०—आर्य्य ! आपकी कृपा से ऐसा ही हो रहा है। बैठिए।

(दोनों यथास्थान बैठते हैं)

चाणक्य—वृषल ! कहो, मुझे क्यों बुलाया है ?

चंद्र०—आर्य्य के दर्शन से कृतार्थ होने को।

चाणक्य—(हँसकर) भया, बहुत शिष्टाचार हुआ, अब बताओ क्यों बुलाया है ? क्योंकि राजा लोग किसी को बेकाम नहीं बुलाते।

चंद्र०—आर्य्य ! आपने कौमुदी-महोत्सव के न होने में क्या फल सोचा है ?

चाणक्य—(हँसकर) तो यही उलाहना देने को बुलाया है न ?

चंद्र०—उलाहना देने को कभी नहीं ।

चाणक्य—तो क्यों ?

चंद्र०—पूछने को ।

चाणक्य—जब पूछना ही है तब तुमको इससे क्या ? शिष्य को सर्व्वदा गुरु की रुचि पर चलना चाहिए ।

चंद्र०—इसमें कोई संदेह नहीं पर आपकी रुचि बिना प्रयोजन नहीं प्रवृत्त होती, इससे पूछा ।

चाणक्य—ठीक है, तुमने मेरा आशय जान लिया, बिना प्रयोजन के चाणक्य की रुचि किसी ओर कभी फिरती ही नहीं ।

चंद्र०—इसी से तो सुनने बिना मेरा जी अकुलाता है ।

चाणक्य—सुनो, अर्थशास्त्रकारों ने तीन प्रकार के राज्य लिखे हैं—एक राजा के भरोसे, दूसरा मंत्री के भरोसे, तीसरा राजा और मंत्री दोनों के भरोसे; सो तुम्हारा राज तो केवल सचिव के भरोसे है, फिर इन बातों के पूछने से क्या ? व्यर्थ मुँह दुखाना है, यह सब हम लोगों के भरोसे है, हम लोग जानें ।

(राजा क्रोध से मुँह फेर लेता है ; नेपथ्य में दो वैतालिक गाते हैं)

(राग बिहाग)

प्रथम वै०—अहो यह शरद शंभु ह्वै आई ।
कास फूल फूले चहुँ दिसि तें सोइ मनु भस्म लगाई ॥
चंद उदित सोइ सीस अभूषन सोभा लगति सुहाई ।
तासों रंजित घन-पटली सोइ मनु गज खाल बनाई ॥
फूले कुसुम मुंड माला सोइ सोहत अति धवलाई ।
राजहंस सोभा सोइ मानों हास विभव दरसाई ॥
अहो यह शरद शंभु बनि आई ।

(राग कलिंगड़ा)

हरौ हरि-नैन तुम्हारी बाधा ।
सरदागम लखि सेस-अंक तें जगे जगत सुभ साधा ॥
कछु कछु खुले मुँदे कछु सोभित आलस भरि अनियारे ।
अरुन कमल से मद के माते थिर भे जदपि ढरारे ॥
सेस-सीस-मनि-चमक-चकौंधन तनिकहुँ नहिं सकुचाहीं ।
नींद भरे श्रम जगे चुभत जे नित कमला उर माहीं ॥
हरौ हरि-नैन तुम्हारी बाधा ।

दूसरा वै०—(कड़खे की चाल में)
अहो, जिनकों विधि सब जीव सों, बढ़ि दीनो जग काज ।
अरे, दान सलिल वारे सदा, जे जीतहिं गजराज ॥
अहो, झुक्यो न जिनको मान ते नृपवर जग सिरताज ।
अरे, सहहिं न आज्ञा-भंग जिमि दंतपात मृगराज ॥

अरे, केवल बहु गहिना पहिरि राजा होइ न कोय।
अहो, जाकी नहिं आज्ञा टरै, सो नृप तुम सम होय॥

चाणक्य—(सुनकर आप ही आप) भला पहिले ने तो देवता रूप शरद के वर्णन में आशीर्वाद दिया, पर इस दूसरे ने क्या कहा ? (कुछ सोचकर) अरे जाना, यह सब राक्षस की करतूत है। अरे दुष्ट राक्षस ! क्या तू नहीं जानता कि अभी चाणक्य सो नहीं गया है ?

चंद्र०--अजी वैहीनर ! इन दोनों गानेवालों को लाख-लाख मोहर दिलवा दो।

वैहीनर—जो आज्ञा महाराज। (उठकर जाना चाहता है)

चाणक्य—वैहीनर, ठहर अभी मत जा। वृषल, यह अर्थ कुपात्र को इतना क्यों देते हो ?

चंद्र०—आप मुझे सब बातों में योंही रोक दिया करते हैं, तब यह मेरा राज क्या है बरन उलटा बंधन है।

चाणक्य—वृषल ! जो राजा आप असमर्थ होते हैं उनमें इतना ही तो दोष है, इससे जो ऐसी इच्छा हो तो तुम अपने राज का प्रबंध आप कर लो।

चंद्र०—बहुत अच्छा, आज से मैंने सब काम सम्हाला।

चाणक्य—इससे अच्छी और क्या बात है तो मैं भी अपने अधिकार पर सावधान हूँ।

चंद्र०—जब यही है तो पहिले मैं पूछता हूँ कि कौमुदी-महोत्सव का निषेध क्यों किया गया ?

चाणक्य—मैं भी यही पूछता हूँ कि उसके होने का प्रयोजन क्या था ?

चंद्र०—पहिले तो मेरी आज्ञा का पालन।

चाणक्य—मैंने भी आपकी आज्ञा के अपालन के हेतु ही कौमुदी-महोत्सव का प्रतिषेध किया, क्योंकि

आइ चारहू सिंधु के, छोरहु के भूपाल।
जो सासन सिर पैं धरें, जिमि फूलन की माल॥
तेहि हम जौ कछु टारहीं, सोउ तुव हित उपदेस।
जासों तुमरो विनय गुन, जग मैं बढ़ै नरेस॥

चंद्र०—और जो दूसरा प्रयोजन है वह भी सुनूँ।

चाणक्य—वह भी कहता हूँ।

चंद्र०—कहिए।

चाणक्य—शोणोत्तरे! अचलदत्त कायस्थ से कहो कि तुम्हारे पास जो भद्रभट इत्यादिकों का लेखपत्र है वह माँगा है।

प्रतिहारी—जो आज्ञा। (बाहर से पत्र लाकर देती है)

चाणक्य—वृषल, सुनो।

चंद्र०—मैं उधर ही कान लगाए हूँ।

चाणक्य—(पढ़ता है) स्वस्ति परम प्रसिद्ध नाम महाराज श्री चंद्रगुप्त देव के साथी जो अब उनको छोड़कर कुमार मलयकेतु के आश्रित हुए हैं उनका यह प्रतिज्ञापत्र है।

पहिला गजाध्यक्ष, भद्रभट, अश्वाध्यक्ष, पुरुषदत्त, महाप्रतिहार चंद्रभानु का भानजा हिंगुरात, महाराज के नातेदार महाराज बलगुप्त, महाराज के लड़कपन का सेवक राजसेन, सेनापति सिंहबलदत्त का छोटा भाई भागुरायण, मालव के राजा का पुत्र रोहिताक्ष और क्षत्रियों में सबसे प्रधान विजयवर्म्मा (आप ही आप) ये हम सब लोग यहाँ महाराज का काम सावधानी से साधते हैं (प्रकाश) यही इस पत्र में लिखा है ! सुना ?

चंद्र०—आर्य्य ! मैं इन सबों के उदास होने का कारण सुनना चाहता हूँ ।

चाणक्य—वृषल ! सुनो—वह जो गजाध्यक्ष और अश्वाध्यक्ष थे वह रात-दिन मद्य, स्त्री और जूआ में डूबकर अपने काम से निरे बेसुध रहते थे। इससे मैंने उनसे अधिकार लेकर केवल निर्वाह के योग्य जीविका कर दी थी, इससे उदास होकर कुमार मलयकेतु के पास चले गए और वहाँ अपना-अपना कार्य्य सुनाकर फिर उसी पद पर नियुक्त हुए हैं, और हिंगुरात और बलगुप्त ऐसे लालची हैं कि कितना भी दिया पर अंत में मारे लालच के कुमार मलयकेतु के पास इस लोभ से जा रहे कि यहाँ बहुत मिलेगा, और जो आपका लड़कपन का सेवक राजसेन था उसने आपकी थोड़ी ही कृपा से हाथी, घोड़ा, घर और धन सब पाया, पर इस भय से भागकर मलयकेतु के पास

चला गया कि यह सब छिन न जाय, और वह जो सिंह-बलदत्त सेनापति का छोटा भाई भागुरायण है उससे पर्वतक से बड़ी प्रीति थी सो उसने कुमार मलयकेतु से यह कहा कि "जैसे विश्वासघात करके चाणक्य ने तुम्हारे पिता को मार डाला वैसे ही तुम्हें भी मार डालेगा, इससे यहाँ से भाग चलो", ऐसे ही बहकाकर कुमार मलयकेतु को भगा दिया और जब आपके वैरी चंदनदासादिकों को दंड हुआ तब मारे डर के मलयकेतु के पास जा रहा, उसने भी यह समझकर कि इसने मेरे प्राण बचाए और मेरे पिता का परिचित भी है उसको कृतज्ञता से अपना अंतरंगी मंत्री बनाया है, और वह जो रोहिताक्ष और विजयवर्म्मा थे वह ऐसे अभिमानी थे कि जब आप उनके और नातेदारों का आदर करते थे तब वह कुढ़ते थे, इसी से वे भी मलयकेतु के पास चले गए. बस, यही उन लोगों की उदासी का कारण है।

चंद्र०—आर्य्य! जब इन सबके भागने का उद्यम जानते ही थे तो क्यों न रोक रखा?

चाणक्य—ऐसा कर नहीं सके।

चंद्र०—क्या आप इसमें असमर्थ हो गए वा कुछ उसमें भी प्रयोजन था?

चाणक्य—असमर्थ कैसे हो सकते हैं? उसमें भी कुछ प्रयोजन ही था।

चंद्र०—आर्य! वह प्रयोजन मैं सुना चाहता हूँ।

चाणक्य—सुनो और भूल मत जाओ।

चंद्र०—आर्य! मैं सुनता हई हूँ, भूलूँगा भी नहीं, कहिए।

चाणक्य—अब जो लोग उदास हो गए हैं या बिगड़ गए हैं उनके दो ही उपाय हैं, या तो फिर से उन पर अनुग्रह करें या उनको दंड दें और भद्रभट, पुरुषदत्त से जो अधिकार ले लिया गया है तो अब उन पर अनुग्रह यही है कि फिर उनको उनका अधिकार दिया जाय; और यह हो नहीं सकता, क्योंकि उनको मृगया, मद्यपानादिक का जो व्यसन है इससे इस योग्य नहीं हैं कि हाथी, घोड़ों को सम्हालें और सब सेना की जड़ हाथी, घोड़े ही हैं। वैसे ही हिंगुरात, बलगुप्त को कौन प्रसन्न कर सकता है, क्योंकि उनको सब राज्य पाने से भी संतोष न होगा, और राजसेन और भागुरायण तो धन और प्राण के डर से भागे हैं; ये तो प्रसन्न होई नहीं सकते, और रोहिताक्ष, विजयवर्म्मा का तो कुछ पूछना ही नहीं है, क्योंकि वे तो और नातेदारों के मान से जलते हैं और उनका कितना भी मान करो, उन्हें थोड़ा ही दिखलाता है; तो इसका क्या उपाय है। यह तो अनुग्रह का वर्णन हुआ, अब दंड का सुनिए, कि यदि हम इन सबों को प्रधान पद पाकर के जो बहुत दिनों से नंदकुल के सर्वदा शुभाकांक्षी और साथी रहे दंड देकर दुखी करें तो नंदकुल के

साथियों का हम पर से विश्वास उठ जाय, इससे छोड़ ही देना योग्य समझा, सो इन्हीं सब हमारे भृत्यों के पक्षपाती बनकर राक्षस के उपदेश से म्लेच्छराज की बड़ी सहायता पाकर और अपने पिता के वध से क्रोधित होकर पर्वतक का पुत्र कुमार मलयकेतु हम लोगों से लड़ने को उद्यत हो रहा है, सो यह लड़ाई के उद्योग का समय है उत्सव का समय नहीं। इससे गढ़ के संस्कार के समय कौमुदी-महोत्सव क्या होगा, यही सोच कर उसका प्रतिषेध कर दिया।

चंद्र०—आर्य्य! मुझे अभी इसमें बहुत कुछ पूछना है।

चाणक्य—भली भाँति पूछो, क्योंकि मुझे भी बहुत कुछ कहना है।

चंद्र०—यह पूछता हूँ—

चाणक्य—हाँ! मैं भी कहता हूँ।

चंद्र०—यह कि हम लोगों के सब अनर्थों की जड़ मलयकेतु है; उसे आपने भागते समय क्यों नहीं पकड़ा?

चाणक्य—वृषल! मलयकेतु के भागने के समय भी दो ही उपाय थे—या तो मेल करते या दंड देते, जो मेल करते तो आधा राज देना पड़ता और जो दंड देते तो फिर यह हम लोगों की कृतघ्नता सब पर प्रसिद्ध हो जाती कि इन्हीं लोगों ने पर्वतक को भी मरवा डाला और जो आधा राज देकर अब मेल कर लें तो भी उस बिचारे

पर्वतक के मारने का पाप ही पाप हाथ लगे। इससे मलयकेतु को भागते समय छोड़ दिया।

चंद्र०--और भला राक्षस इसी नगर में रहता था, उसको भी आपने कुछ न किया इसका क्या उत्तर है?

चाणक्य—सुनो, राक्षस अपने स्वामी की स्थिर भक्ति से और यहां के बहुत दिन के रहने से यहाँ के लोगों का और नंद के सब साथियों का विश्वासपात्र हो रहा है और उसका स्वभाव सब लोग जान गए हैं और उसमें बुद्धि और पौरुष भी है, वैसे ही उसके सहायक भी हैं और कोपबल भी है, इससे जो वह यहाँ रहे तो भीतर के सब लोगों को फोड़कर उपद्रव करे और जो यहां से दूर रहे तो वह ऊपरी जोड़-तोड़ लगावे पर उनके मिटाने में इतनी कठिनाई न हो। इससे उसके जाने के समय उपेक्षा कर दी गई।

चंद्र०—तो जब वह यहां था तभी उसको वश में क्यों नहीं कर लिया?

चाणक्य—वश क्या कर लें, अनेक उपायों से तो वह छाती में गड़े कांटे की भाँति निकालकर दूर किया गया है! उसे दूर करने में और कुछ प्रयोजन ही था।

चंद्र०—तो बल से क्यों नहीं पकड़ रखा?

चाणक्य--वह राक्षस ऐसा नहीं है, उस पर जो बल किया जाय तो या तो वह आप मारा जाय या तुम्हारा नाश कर दे।

और—

हम खोवैं इक महत नर जो वह पावै नास।
जो वह नासै सैन तुव तौहू जिय अति त्रास॥
तासों कल बल करि बहुत अपने बस करि वाहि।
जिमि गज पकरैं सुघर तिमि बाँधैंगे हम ताहि॥

चंद्र०—मैं आपकी बात तो नहीं काट सकता, पर इससे तो मंत्री राक्षस ही बढ़-चढ़ के जान पड़ता है।

चाणक्य—(क्रोध से) 'आप नहीं' इतना क्यों छोड़ दिया? ऐसा कभी नहीं है। उसने क्या किया है कहो तो?

चंद्र०—जो आप न जानते हों तो सुनिए कि वह महात्मा—

जदपि आपु जीती पुरी तदपि धारि कुशलात।
जब लौं जित चाह्यौ रह्यौ धारि सीस पैं लात॥
डौंड़ी फेरन के समय निज बल जय प्रगटाय।
मेरे दल के लोग कों दीनों तुरत हराय॥
मोहे परिजन रीति सों जाके सब बिनु त्रास।
जौ मो पैं निज लोकहू आनहिँ नहिँ विश्वास॥

चाणक्य—(हँसकर) वृषल! राक्षस ने यह सब किया?

चंद्र०—हाँ! हाँ! अमात्य राक्षस ने यह सब किया।

चाणक्य—तो हमने जाना, जिस तरह नंद का नाश करके तुम राजा हुए वैसे ही अब मलयकेतु राजा होगा।

चंद्र०—आर्य! यह उपालंभ आपको नहीं शोभा देता; करने-वाला सब दैव है।

चाणक्य—रे कृतघ्न!

अतिहि क्रोध करि खोलिकै, सिखा प्रतिज्ञा कीन।
सो सब देखत भुव करी, नव नृप नंद विहीन॥
घिरी स्वान अरु गोध सों, भय उपजावनिहारि।
जारि नंदहू नहिं भई, सांत मसान दवारि॥

चंद्र०—यह सब किसी दूसरे ने किया।

चाणक्य—किसने?

चंद्र०—नंदकुल के द्वेषी दैव ने।

चाणक्य—दैव तो मूर्ख लोग मानते हैं।

चंद्र०—और विद्वान् लोग भी यद्वा तद्वा करते हैं।

चाणक्य—(क्रोध नाट्य करके) अरे वृषल! क्या नौकरों की तरह मुझ पर आज्ञा चलाता है?

खुली सिखाहूँ बाँधिबे चंचल भे पुनि हाथ।
(क्रोध से पैर पृथ्वी पर पटककर)
घोर प्रतिज्ञा पुनि चरन करन चहत कर साथ॥
नंद नसे सों निरुज ह्वै तू फूल्यौ गरबाय।
सो अभिमान मिटाइहौं तुरतहि तोहिं गिराय॥

चंद्र०—(घबड़ाकर) अरे! क्या आर्य को सचमुच क्रोध आ गया!

फर फर फरकत अधर पुट, भए नयन युग लाल।
चढ़ी जाति भौंहैं कुटिल, स्वाँस तजत जिमि व्याल ॥
मनहुँ अचानक रुद्रदृग खुल्यौ त्रितिय दिखरात।
(आवेग सहित)
धरनी धार्‌यौ बिनु धँसे हा हा किमि पदघात ॥

चाणक्य—(नकली क्रोध रोककर) तो वृषल! इस कोरी बक-वाद से क्या लाभ है! जो राक्षस चतुर है तो यह शस्त्र उसी को दे। (शस्त्र फेंककर और उठकर—आप ही आप) ह ह ह! राक्षस! यही तुमने चाणक्य को जीतने का उपाय किया।

तुम जानौ चाणक्य सों नृप चंदहि लरवाय।
सहजहि लैहैं राज हम निज बल बुद्धि उपाय ॥
सो हम तुमही कहँ छलन कियो क्रोध परकास।
तुमरोई करिहै उलटि यह तुव भेद बिनास ॥

(क्रोध प्रकट करता हुआ चला जाता है)

चंद्र०—आर्य्य वैहीनर! "चाणक्य का अनादर करके आज से हम सब काम-काज आप ही सम्हालेंगे," यह लोगों से कह दो।

कंचुकी—(आप ही आप) अरे! आज महाराज ने चाणक्य के पहले आर्य्य शब्द नहीं कहा! क्यों? क्या सचमुच अधिकार छीन लिया? वा इसमें महाराज का क्या दोष है!

सचिव-दोष सों होत हैं, नृपहु बुरे ततकाल।
हाथीवान प्रमाद सों, गज कहवावत व्याल॥

चंद्र०—क्यों जी? क्या सोच रहे हो?

कंचुकी—यही कि महाराज को महाराज शब्द अब यथार्थ शोभा देता है।

चंद्र०—(आप ही आप) इन्हीं लोगों के धोखा खाने से आर्य्य का काम होगा। (प्रगट) शोणोत्तरे! इस सूखी कलह से हमारा सिर दुखने लगा, इससे शयनगृह का मार्ग दिखलाओ।

प्रतिहारी—इधर आवें, महाराज, इधर आवें।

चंद्र०—(उठकर चलता हुआ आप ही आप)

गुरु आयसु छल सों कलह, करिहू जीय डराय।
किमि नर गुरुजन सों लरहिं, यहै सोच जिय हाय॥

(सब जाते हैं—जवनिका गिरती है)

चतुर्थ अंक

स्थान—मंत्री राक्षस के घर के बाहर का प्रांत

(करभक घबड़ाया हुआ आता है)

रभक—अहाहा हा ! अहाहा हा !

अतिशय दुरगम ठाम मैं सत जोजन सों दूर।
कौन जात है धाइ बिनु प्रभु निदेश भरपूर॥

अब राक्षस मंत्री के घर चलूँ। (थका सा घूमकर) अरे कोई चौकीदार है ? स्वामी राक्षस मंत्री से जाकर कहो कि 'करभक काम पूरा करके पटने से दौड़ा आता है'।

(दौवारिक आता है)

दौवारिक—अजी ! चिल्लाओ मत, स्वामी राक्षस मंत्री को राजकाज सोचते-सोचते सिर में ऐसी विथा हो गई है कि अब तक सोने के बिछौने से नहीं उठे, इससे एक घड़ी भर ठहरो, अवसर मिलता है तो मैं निवेदन किए देता हूँ।

(परदा उठता है और सोने के बिछौने पर चिंता में भरा राक्षस और शकटदास दिखाई पड़ते हैं)

राक्षस—(आप ही आप)

कारज उलटो होत है, कुटिल नीति के जोर।
का कीजै सोचत यही, जागि होयहै भोर॥

और भी

आरंभ पहिले सोचि रचना वेश की करि लावहीं।
इक बात में गर्भित बहुत फल गूढ़ भेद दिखावहीं॥
कारन अकारन सोचि फैली क्रियन कों सकुचावहीं।
जे करहिं नाटक बहुत दुख हम सरिस तेऊ पावहीं॥

और भी वह दुष्ट ब्राह्मण चाणक्य—

दौवा०—जय जय।

राक्षस—किसी भाँति मिलाया या पकड़ा जा सकता है ?

दौवा०—अमात्य—

राक्षस—(बाएँ नेत्र के फड़कने का अपशकुन देखकर आप ही आप) 'ब्राह्मण चाणक्य जय जय' और 'पकड़ा जा सकता है अमात्य' यह उलटी बात हुई और उसी समय असगुन भी हुआ। तो भी क्या हुआ, उद्यम नहीं छोड़ेंगे। (प्रकाश) भद्र! क्या कहता है ?

दौवा०—अमात्य! पटने से करभक आया है सो आपसे मिला चाहता है।

राक्षस—अभी लाओ।

दौवा०—जो आज्ञा। (करभक के पास जाकर, उसको संग ले आकर) भद्र! मंत्रीजी वह बैठे हैं, उधर जाओ।
[जाता है

कर०—(मंत्री को देखकर) जय हो, जय हो।

राक्षस—अजी करभक ! आओ-आओ, अच्छे हो ?—बैठो।

कर०—जो आज्ञा। (पृथ्वी पर बैठ जाता है)

राक्षस—(आप ही आप) अरे ! मैंने इसको किस काम का भेद लेने को भेजा था यह भूला जाता है। (चिंता करता है)

(बेंत हाथ में लेकर एक पुरुष आता है)

पुरुष—हटे रहना, बचे रहना—अजी दूर रहो—दूर रहो, क्या नहीं देखते ?

नृप द्विजादि जिन नरन को, मंगल रूप प्रकास।
ते न नीच मुखहू लखहिं, कैसो पास निवास ॥*

(आकाश की ओर देखकर) अजी क्या कहा, कि क्यों हटाते हो ? अमात्य राक्षस के सिर में पीड़ा सुनकर कुमार मलयकेतु उनको देखने को इधर ही आते हैं।

[जाता है

(भागुरायण और कंचुकी के साथ मलयकेतु आता है)

मलयकेतु—(लंबी साँस लेकर—आप ही आप) हा ! देखो पिता को मरे आज दस महीने हुए और व्यर्थ वीरता का अभिमान करके अब तक हम लोगों ने कुछ भी नहीं किया, बरन तर्पण करना भी छोड़ दिया। या क्या हुआ, मैंने तो पहिले यही प्रतिज्ञा की है।

* प्राचीन काल में आचार्य, राजा आदि नीचों को नहीं देखते थे।

कर वलय उर ताड़त गिरे, आँचरहु की सुधि नहिं परी।
मिलि करहिं आरतनाद हाहा, अलक खुलि रज सों भरी॥
जो शोक सों भइ मात गन की दशा सो उलटाइहैं।
करि रिपु जुवतिगन की सोई गति पितहिं तृप्ति कराइहैं॥

और भी—

रन मरि पितु ढिग जात हम, वीरन की गति पाइ।
कै माता दृग-जल धरत, रिपु-जुवती मुख लाइ॥

(प्रकाश) अजी जाजले! सब राजा लोगों से कहो कि "मैं बिना कहे-सुने राक्षस मंत्री के पास अकेला जाकर उनको प्रसन्न करूँगा" इससे वे सब लोग उधर ही ठहरें।

कंचुकी—जो आज्ञा। (घूमते-घूमते नेपथ्य की ओर देखकर) अजी राजा लोग! सुनो, कुमार की आज्ञा है कि मेरे साथ कोई न चले। (देखकर आनंद से) महाराजकुमार! आप देखिए। आपकी आज्ञा सुनते ही सब राजा रुक गए—

अति चपल जे रथ चलत, ते सुनि चित्र से तुरतहि भए।
जे खुरन खोदत नभ-पथहि, ते वाजिगन झुकि रुकि गए॥
जे रहे धावत, ठिठकि ते गज मूक घंटा सह सधे।
मरजाद तुव नहिं तजहिं नृपगण, जलधि से मानहुँ बँधे॥

मलय०—अजी जाजले! तुम भी सब लोगों को लेकर जाओ, एक केवल भागुरायण मेरे संग रहे।

कंचुकी—जो आज्ञा। [सबको लेकर जाता है

मलय०—मित्र भागुरायण! जब मैं यहाँ आता था तो भद्रभट प्रभृति लोगों ने मुझसे निवेदन किया कि "हम राक्षस मंत्री के द्वारा कुमार के पास नहीं रहा चाहते, कुमार के सेनापति शिखरसेन के द्वारा रहेंगे। दुष्ट मंत्री ही के डर से तो चंद्रगुप्त को छोड़कर यहाँ सब बात का सुबीता जानकर कुमार का आश्रय लिया है।" सो उन लोगों की बात का मैंने आशय नहीं समझा।

भागु०—कुमार! यह तो ठीक ही है, क्योंकि अपने कल्याण के हेतु सब लोग स्वामी का आश्रय हित और प्रिय के द्वारा करते हैं।

मलय०—मित्र भागुरायण! तो फिर राक्षस मंत्री तो हम लोगों का परमप्रिय और बड़ा हित है।

भागु०—ठीक है, पर बात यह है कि अमात्य राक्षस का बैर चाणक्य से है, कुछ चंद्रगुप्त से नहीं है, इससे जो चाणक्य की बातों से रूठकर चंद्रगुप्त उससे मंत्री का काम ले ले और नंदकुल की भक्ति से "यह नंद ही के वंश का है" यह सोचकर राक्षस चंद्रगुप्त से मिल जाय और चंद्रगुप्त भी अपने बड़े लोगों का पुराना मंत्री समझकर उसको मिला ले, तो ऐसा न हो कि कुमार हम लोगों पर भी विश्वास न करें।

मलय०—ठीक है, मित्र भागुरायण! राक्षस मंत्री का घर कहाँ है?

भागु०—इधर, कुमार, इधर। (दोनों घूमते हैं) कुमार! यही राक्षस मंत्री का घर है—चलिए।

मलय०—चलें। [दोनों राक्षस के निकट जाते हैं

राक्षस—अहा! स्मरण आया। (प्रकाश) कहो जी! तुमने कुसुमपुर में स्तनकलस वैतालिक को देखा था?

कर०—क्यों नहीं?

मलय०—मित्र भागुरायण! जब तक कुसुमपुर की बातें हों तब तक हम लोग इधर ही ठहरकर सुनें कि क्या बात होती है; क्योंकि—

भेद न कछु जामैं खुलै, याही भय सब ठौर।
नृप सों मंत्री जन कहहिं, बात और की और॥

भागु०—जो आज्ञा। (दोनों ठहर जाते हैं)

राक्षस—क्यों जी! काम सिद्ध हुआ?

कर०—अमात्य की कृपा से सब काम सिद्ध ही हैं।

मलय०—मित्र भागुरायण! वह कौन सा काम है?

भागु०—कुमार! मंत्री के जी की बातें बड़ी गुप्त हैं। कौन जाने? इससे देखिए अभी सुन लेते हैं कि क्या कहते हैं।

राक्षस—अजी, भली भाँति कहो।

कर०—सुनिए—जिस समय आपने आज्ञा दिया कि करभक, तुम जाकर वैतालिक स्तनकलस से कह दो कि

जब-जब चाणक्य चंद्रगुप्त की आज्ञा भंग करे तब-तब तुम ऐसे श्लोक पढ़ो जिससे उसका जी और भी फिर जाय।

राक्षस—हाँ, तब ?

कर०—तब मैंने पटने में जाकर स्तनकलस से आपका संदेसा कह दिया।

राक्षस—तब ?

कर०—इसके पीछे नंदकुल के विनाश से दुःखी लोगों का जी बहलाने के हेतु चंद्रगुप्त ने कुसुमपुर में कौमुदीमहोत्सव होने की डौंड़ी पिटा दी और उसको बहुत दिन से बिछुड़े हुए मित्रों के मिलाप की भाँति पुर के निवासियों ने बड़ी प्रसन्नतापूर्व्वक स्नेह से मान लिया।

राक्षस—(आँसू भरकर) हा देव नंद !

यदपि उदित कुमुदन सहित, पाइ चाँदनी चंद।
तदपि न तुम बिन लसत है, नृपससि ! जगदानंद ॥

हाँ, फिर क्या हुआ ?

कर०—तब चाणक्य दुष्ट ने सब लोगों के नेत्र के परमानंददायक उस उत्सव को रोक दिया और उसी समय स्तनकलस ने ऐसे-ऐसे श्लोक पढ़े कि राजा का भी मन फिर जाय।

राक्षस—वाह मित्र स्तनकलस, वाह क्यों न हो ! अच्छे समय में भेदबीज बोया है, फल अवश्य होगा। क्योंकि—

नृप रूठे अचरज कहा, सकल लोग जा संग।
छोटे हू मानैं बुरो, परे रंग में भंग॥

मलय०—ठीक है। (नृप रूठे यह दोहा फिर पढ़ता है)

राक्षस—हां, फिर क्या हुआ ?

कर०—तब आज्ञाभंग से रुष्ट होकर चंद्रगुप्त ने आपकी बड़ी प्रशंसा की और दुष्ट चाणक्य से अधिकार ले लिया।

मलय०—मित्र भागुरायण! देखो प्रशंसा करके राक्षस में चंद्रगुप्त ने अपनी भक्ति दिखाई।

भागु०—गुण-प्रशंसा से बढ़कर चाणक्य का अधिकार लेने से।

राक्षस—क्यों जी, एक कौमुदीमहोत्सव के निषेध ही से चाणक्य चंद्रगुप्त में बिगाड़ हुआ कि कोई और कारण भी है ?

मलय०—क्यों मित्र भागुरायण! अब और बैर में यह क्या फल निकालेंगे ?

भागु०—यह फल निकाला है कि चाणक्य बड़ा बुद्धिमान है, वह व्यर्थ चंद्रगुप्त को क्रोधित न करावेगा और चंद्रगुप्त भी उसकी बात जानता है, वह भी बिना बात चाणक्य का ऐसा अपमान न करेगा, इससे उन लोगों में बहुत झगड़े से जो बिगाड़ होगा तो पक्का होगा।

कर०—आर्य्य! और भी कई कारण हैं।

राक्षस—कौन ?

कर०—कि जब पहिले यहाँ से राक्षस और कुमार मलयकेतु भागे तब उसने क्यों नहीं पकड़ा ?

राक्षस—(हर्ष से) मित्र शकटदास ! अब तो चंद्रगुप्त हाथ में आ जायगा।

शकट०—अब चंदनदास छूटेगा, और आप कुटुंब से मिलेंगे, वैसे ही जीवसिद्धि इत्यादि लोग क्लेश से छूटेंगे।

भागु०—(आप ही आप) हाँ, अवश्य जीवसिद्धि का क्लेश छूटा।

मलय०—मित्र भागुरायण ! अब मेरे हाथ चंद्रगुप्त आवेगा, इसमें इनका क्या अभिप्राय है ?

भागु०—और क्या होगा ? यही होगा कि यह चाणक्य से छूटे चंद्रगुप्त के उद्धार का समय देखते हैं।

राक्षस—अजी, अब अधिकार छिन जाने पर वह ब्राह्मण कहाँ है ?

कर०—अभी तो पटने ही में है।

राक्षस—(घबड़ाकर) हैं ! अभी वहीं है ? तपोवन नहीं चला गया ? या फिर कोई प्रतिज्ञा नहीं की ?

कर०—अब तपोवन जायगा—ऐसा सुनते हैं।

राक्षस—(घबड़ाकर) शकटदास, यह बात तो काम की नहीं,

देव नंद को नहिं सह्यौ जिन भोजन अपमान।
सो निज कृत नृप चंद की बात न सहिहै जान॥

मलय०—मित्र भागुरायण ! चाणक्य के तपोवन जाने वा फिर प्रतिज्ञा करने में कौन कार्य्य-सिद्धि निकाली है ?

भागु०—कुमार ! यह तो कोई कठिन बात नहीं है, इसका आशय तो स्पष्ट ही है कि चंद्रगुप्त से जितनी दूर चाणक्य रहेगा उतनी ही कार्य्यसिद्धि होगी।

शकट०—अमात्य ! आप व्यर्थ सोच न करें, क्योंकि देखें

सबहि भाँति अधिकार लहि, अभिमानी नृप चंद।
नहिं सहिहै अपमान अब, राजा होइ स्वच्छंद॥
तिमि चाणक्यहु पाइ दुख, एक प्रतिज्ञा पूरि।
अब दूजो करिहैं न कछु, उद्यम निज मद चूरि॥

राक्षस—ऐसा ही होगा। मित्र शकटदास ! जाकर करभक को डेरा इत्यादि दो।

शकट०—जो आज्ञा।

(करभक को लेकर जाता है)

राक्षस—इस समय कुमार से मिलने की इच्छा है।

मलय०—(आगे बढ़कर) मैं आप ही आपसे मिलने को आया हूँ।

राक्षस—(संभ्रम से उठकर) अरे कुमार आप ही आ गए ! आइए, इस आसन पर वैठिए।

मलय०—मैं वैठता हूँ आप विराजिए।

(दोनों वैठते हैं)

मलय०—इस समय सिर की पीड़ा कैसी है ?

राक्षस—जब तक कुमार के बदले महाराज कहकर आपको नहीं पुकार सकते तब तक यह पीड़ा कैसे छूटेगी।

मलय०—आपने जो प्रतिज्ञा की है तो सब कुछ होईगा। परंतु सब सेना सामंत के होते भी अब आप किस बात का आसरा देखते हैं?

राक्षस—किसी बात का नहीं, अब चढ़ाई कीजिए।

मलय०—अमात्य! क्या इस समय शत्रु किसी संकट में है?

राक्षस—बड़े।

मलय०—किस संकट में?

राक्षस—मंत्री-संकट में।

मलय०—मंत्री-संकट तो कोई संकट नहीं है।

राक्षस—और किसी राजा को न हो तो न हो, पर चंद्रगुप्त को तो अवश्य है।

मलय०—आर्य्य! मेरी जान में चंद्रगुप्त को और भी नहीं है।

राक्षस—आपने कैसे जाना कि चंद्रगुप्त को मंत्री-संकट संकट नहीं है?

मलय०—क्योंकि चंद्रगुप्त के लोग तो चाणक्य के कारण उससे उदास रहते हैं, जब चाणक्य ही न रहेगा तब उसके सब कामों को लोग और भी संतोष से करेंगे।

राक्षस—कुमार, ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ दो प्रकार के लोग हैं—एक चंद्रगुप्त के साथी, दूसरे नंदकुल के

मित्र, उनमें जो चंद्रगुप्त के साथी हैं उनको चाणक्य ही से दुःख था; नंदकुल के मित्रों को कुछ दुःख नहीं है, क्योंकि वह लोग तो यही सोचते हैं कि इसी कृतघ्न चंद्रगुप्त ने राज के लोभ से अपने पितृकुल का नाश किया है, पर क्या करें उनका कोई आश्रय नहीं है इससे चंद्रगुप्त के आसरे पड़े हैं। जिस दिन आपको शत्रु के नाश में और अपने पक्ष के उद्धार में समर्थ देखेंगे उसी दिन चंद्रगुप्त को छोड़कर आपसे मिल जायँगे, इसके उदाहरण हमी लोग हैं।

मलय०—आर्य्य! चंद्रगुप्त के हारने का एक यही कारण है कि कोई और भी है?

राक्षस—और बहुत क्या होंगे एक यही बड़ा भारी है।

मलय०—क्यों आर्य्य! यही क्यों प्रधान है? क्या चंद्रगुप्त और मंत्रियों से आप अपना काम करने में असमर्थ है?

राक्षस—निरा असमर्थ है।

मलय०—क्यों?

राक्षस—यों कि जो आप राज्य सँभालते हैं या जिनका राज राजा और मंत्री दोनों करते हैं वह राजा ऐसे हों तो हों; परंतु चंद्रगुप्त तो कदापि ऐसा नहीं है। चंद्रगुप्त एक तो दुरात्मा है, दूसरे वह तो सचिव ही के भरोसे सब काम करता है, इससे वह कुछ व्यवहार जानता ही नहीं, तो फिर वह सब काम कैसे कर सकता है? क्योंकि—

लक्ष्मी करत निवास अति, प्रबल सचिव नृप पाय।
पै निज बाल-सुभाव सों, इकहिं तजत अकुलाय ॥

और भी—

जो नृप बालक सो रहत, सदा सचिव के गोद।
बिन कछु जग देखे सुने, सो नहिं पावत मोद ॥

मलय०—(आप ही आप) तो हम अच्छे हैं कि सचिव के अधिकार में नहीं। (प्रकाश) अमात्य ! यद्यपि यह ठीक है तथापि जहाँ शत्रु के अनेक छिद्र हैं तहाँ एक इसी सिद्धि से सब काम न निकलेगा।

राक्षस—कुमार के सब काम इसी से सिद्ध होंगे। देखिए,

चाणक्य को अधिकार छूट्यौ चंद्र हैं राजा नए।
पुर नंद में अनुरक्त तुम निज बल सहित चढ़ते भए ॥
जब आप हम—(कहकर लज्जा से कुछ ठहर जाता है)
तुव बस सकल उद्यम सहित रन मति करी।
वह कौन सी नृप ! बात जो नहिं सिद्धि ह्वैहै ता घरी ॥

मलय—अमात्य ! जो अब आप ऐसा लड़ाई का समय देखते हैं तो देर करके क्यों बैठे हैं ? देखिए—

इनको ऊँचो सीस है, वाको उच्च करार।
श्याम दोऊ वह जल स्रवत, ये गंडन मधु धार ॥
उतै भँवर को शब्द इत, भँवर करत गुंजार।
निज सम तेहि लखि नासिहैं, दंतन तोरि कछार ॥

सीस सोन सिंदूर सों, ते मतंग बल दाप ।
सोन सहज ही सोखिहैं, निश्चय जानहु आप ॥

और भी—

गरजि गरजि गंभीर रव, बरसि बरसि मधु धार ।
सत्रु नगर गज घेरिहैं, घन जिमि विविध पहार ॥

(शस्त्र उठाकर भागुरायण के साथ जाता है)

राक्षस—कोई है ?

(प्रियंबदक आता है)

प्रियंवदक—आज्ञा ।

राक्षस—देख तो द्वार पर कौन भिक्षुक खड़ा है ?

प्रियं०—जो आज्ञा । (बाहर जाकर फिर आता है) अमात्य ! एक क्षपणक भिक्षुक ।

राक्षस—(असगुन जानकर आप ही आप) पहिले ही क्षपणक का दर्शन हुआ ।

प्रियं०—जीवसिद्धि है ।

राक्षस—अच्छा बोलाकर ले आ ।

प्रियं०—जो आज्ञा । [जाता है

(क्षपणक आता है)

क्षपणक—पहिले कटु परिणाम मधु, औषध सम उपदेस ।
मोह व्याधि के वैद्य गुरु, तिनको सुनहु निदेस ॥

(पास जाकर) उपासक ! धर्म लाभ हो !

राक्षस—ज्योतिषीजी, बताओ, अब हम लोग प्रस्थान किस दिन करें ?

क्षप०—(कुछ सोचकर) उपासक! मुहूर्त्त तो देखा। आज भद्रा तो पहर पहिले ही छूट गई है और तिथि भी संपूर्णचंद्रा पौर्णमासी है और आप लोगों को उत्तर से दक्षिण जाना है और नक्षत्र भी दक्षिण ही है।

अथए सूरहि चंद के, उदए गमन प्रशस्त।
पाइ लगन बुध केतु तौ, उदयो हू भो अस्त ॥*

* भद्रा छूट गई अर्थात् कल्याण को तो आपने जब चंद्रगुप्त का पक्ष छोड़ा तभी छोड़ा और संपूर्ण-चंद्रा पौर्णमासी है अर्थात् चंद्रगुप्त का प्रताप पूर्ण व्याप्त है। उत्तर नाम, प्राचीन पक्ष छोड़कर दक्षिण अर्थात् यम की दिशा को जाना है। नक्षत्र दक्षिण है अर्थात् आपका वाम (विरुद्ध पक्ष) नक्षत्र और आपका दक्षिण पक्ष (मलयकेतु) नक्षत्र (विना छत्र के) है। अथए इत्यादि, तुम जो सूर हो उसकी बुद्धि के अस्त के समय और चंद्रगुप्त के उदय के समय जाना अच्छा है अर्थात् चाणक्य की ऐसे समय में जय होगी। लग्न अर्थात् कारण भाव में बुध चाणक्य पड़ा है इससे केतु अर्थात् मलयकेतु का उदय भी है तौ भी अस्त ही होगा। अर्थात् इस युद्ध में चंद्रगुप्त जीतेगा और मलयकेतु हारेगा। सूर अथए–इस पद से जीवसिद्धि ने अमंगल भी किया। आश्विन पूर्णिमा तिथि, भरणी नक्षत्र, गुरुवार, मेष के चंद्रमा मीन लग्न में उसने यात्रा बतलाई। इसमें भरणी नक्षत्र गुरुवार, पूर्णिमा तिथि यह सब दक्षिण की यात्रा में निषिद्ध हैं। फिर सूर्य मृत है, चंद्र जीवित है यह भी बुरा है। लग्न में मीन का बुध पड़ने से नीच का होने से बुरा है। यात्रा में नक्षत्र दक्षिण होने ही से बुरा है।

राक्षस—अजी, पहिले तो तिथि ही नहीं शुद्ध है।

क्षप०—उपासक !

एक गुनी तिथि होत है, त्यौं चौगुन नक्षत्र।
लगन होत चौंतिस गुनो, यह भाखत सब पत्र॥
लगन होत है शुभ लगन, छोड़ि क्रूर ग्रह एक।
जाहु चंद बल देखि कै, पावहु लाभ अनेक॥*

राक्षस—अजी, तुम और जोतिषियों से जाकर झगड़ो।

क्षप०—आप ही झगड़िए, मैं जाता हूँ।

राक्षस—क्या आप रूस तो नहीं गए ?

क्षप०—नहीं, तुमसे जोतिषी नहीं रूसा है।

राक्षस—तो कौन रूसा है ?

क्षप०—(आप ही आप) भगवान्, कि तुम अपना पक्ष छोड़कर शत्रु का पक्ष ले बैठे हो। [जाता है

राक्षस—प्रियंवदक! देख तो कौन समय है।

प्रियं०—जो आज्ञा। (बाहर से हो आता है) आर्य्य ! सूर्य्यास्त होता है।

राक्षस—(आसन से उठकर और देखकर) अहा! भगवान् सूर्य्य अस्ताचल को चले—

---

* अर्थात् मलयकेतु का साथ छोड़ दो तो तुम्हारा भला हो। वास्तव में चाणक्य के मित्र होने से जीवसिद्धि ने साइत भी उलटी दी। ज्योतिष के अनुसार अत्यंत क्रूर बेला, क्रूर ग्रहवेध में युद्ध आरंभ होना चाहिए। उसके विरुद्ध सौम्य समय में युद्धयात्रा कही, जिसका फल पराजय है।

जब सूरज उदयो प्रवल, तेज धारि आकास ।
तब उपवन तरुवर सबै, छायाजुत भे पास ॥
दूर परे ते तरु सबै, अस्त भए रवि ताप ।
जिमि धन बिन स्वामिहि तजै, भृत्य स्वारथी आप ॥

(दोनों जाते हैं)

पंचम अंक

(हाथ में मोहर, गहिने की पेटी और पत्र लेकर सिद्धार्थक आता है)

सिद्धार्थक—अहाहा !

देशकाल के कलश में, सिंची बुद्धि-जल जौन।
लता-नीति चाणक्य की, बहु फल दैहै तौन ॥

अमात्य राक्षस की मोहर का, आर्य्य चाणक्य का लिखा हुआ यह लेख और मोहर तथा यह आभूषण की पेटिका लेकर मैं पटने जाता हूँ। (नेपथ्य की ओर देखकर) अरे ! यह क्या क्षपणक आता है ? हाय हाय ! यह तो बुरा असगुन हुआ। तो मैं सूरज को देखकर इसका दोष छुड़ा लूँ।

(क्षपणक आता है)

क्षप०—नमो नमो अर्हंत कों, जो निज बुद्धि प्रताप।
लोकोत्तर की सिद्धि सब, करत हस्तगत आप ॥

सिद्धा०—भदंत ! प्रणाम।

क्षप०—उपासक ! धर्म्म लाभ हो। (भली भाँति देखकर) आज तो समुद्र पार होने का बड़ा भारी उद्योग कर रखा है।

सिद्धा०—भदंत ! तुमने कैसे जाना ?

क्षप०—इसमें छिपी कौन बात है ? जैसे समुद्र में नाव पर सबके आगे मार्ग दिखलानेवाला माँझी रहता है, वैसे ही तेरे हाथ में यह लखौटा है।

सिद्धा०—अजी भदंत ! भला यह तुमने ठीक जाना कि मैं परदेश जाता हूँ, पर यह कहो कि आज दिन कैसा है?

क्षप०—(हँसकर) वाह श्रावक वाह ! तुम मूँड़ मुड़ाकर भी नक्षत्र पूछते हो ?

सिद्धा०—भला अब क्या बिगड़ा है ? कहते क्यों नहीं ? दिन अच्छा होगा जायँगे, न अच्छा होगा फिर आवेंगे।

क्षप०—चाहे दिन अच्छा हो या न अच्छा हो, मलयकेतु के कटक से बिना मोहर भए कोई जाने नहीं पाता।

सिद्धा०—यह नियम कब से हुआ ?

क्षप०—सुनो, पहिले तो कुछ भी रोक-टोक नहीं थी, पर जब से कुसुमपुर के पास आए हैं तब से यह नियम हुआ है कि बिना मोहर के न कोई जाय न आवे। इससे जो तुम्हारे पास भागुरायण की मोहर हो तो जाओ नहीं तो चुप बैठ रहो, क्योंकि पीछे से तुम्हें हाथ-पैर न बँधवाना पड़े।

सिद्धा०—क्या यह तुम नहीं जानते कि हम राक्षस के अंतरंग खेलाड़ी मित्र हैं? हमें कौन रोक सकता है ?

क्षप०—चाहे राक्षस के मित्र हो चाहे पिशाच के, बिना मोहर के कभी न जाने पाओगे।

सिद्धा०—भदंत ! क्रोध मत करो, कहो कि काम सिद्ध हो।

क्षप०—जाओ, काम सिद्ध होगा, हम भी पटने जाने के हेतु मलयकेतु से मोहर लेने जाते हैं।

(दोनों जाते हैं)

इति प्रवेशक

(भागुरायण और सेवक आते हैं)

भागु०—(आप ही आप) चाणक्य की नीति भी बड़ी विचित्र है।

कहूँ बिरल, कहुँ सघन, कहुँ विफल, कहूँ फलवान।
कहुँ कृस, कहुँ अति थूल, कछु भेद परत नहिं जान॥
कहूँ गुप्त अति ही रहत, कबहूँ प्रगट लखात।
कठिन नीति चाणक्य की, भेद न जान्यो जात॥

(प्रगट) भासुरक! मलयकेतु से मुझे क्षण भर भी दूर रहने में दुःख होता है इससे यहीं बिछौना बिछा तो बैठें।

सेवक—जो आज्ञा। बिछौना बिछा है, विराजिए।

भागु०—(आसन पर बैठकर) भासुरक! बाहर कोई मुझसे मिलने आवे तो आने देना।

सेवक—जो आज्ञा। [जाता है

भागु०—(आप ही आप करुणा से) राम राम! मलयकेतु तो मुझसे इतना प्रेम करता है, मैं उसका बिगाड़ किस तरह करूँगा? अथवा—

जस कुल तजि अपमान सहि, धन हित परबस होय।
जिन बेच्यो निज प्रान तन, सबै सकत करि सोय॥

(आगे-आगे मलयकेतु और पीछे प्रतिहारी आते हैं)

मलय०—(आप ही आप) क्या करें राक्षस का चित्त मेरी ओर से कैसा है यह सोचते हैं तो अनेक प्रकार के विकल्प उठते हैं, कुछ निर्णय नहीं होता।

नंदवंश को जानिकै, ताहि चंद्र की चाह।
कै अपनायो जानि निज, मेरो करत निबाह॥
को हित अनहित तासु को, यह नहिं जान्यो जात।
तासों जिय संदेह अति, भेद न कछू लखात॥

(प्रगट) विजये! भागुरायण कहाँ हैं देख तो ?

प्रति०—महाराज! भागुरायण वह बैठे हुए आपकी सेना के जानेवाले लोगों को राह-खर्च और परवाना बाँट रहे हैं।

मलय०—विजये! तुम दबे पाँव से उधर से आओ, मैं पीछे से जाकर मित्र भागुरायण की आँखें बंद करता हूँ।

प्रति०—जो आज्ञा।

(दोनों दबे पांव से चलते हैं और भासुरक आता है)

भासुरक—(भागुरायण से) बाहर क्षपणक आया है, उसको परवाना चाहिए।

भागु०—अच्छा, यहाँ भेज दो।

भासु०—जो आज्ञा। [जाता है

(क्षपणक आता है)

क्षप०—श्रावक को धर्म लाभ हो!

भागु०—(छल से उसकी ओर देखकर) यह तो राक्षस का मित्र जीवसिद्धि है। (प्रगट) भदंत! तुम नगर में राक्षस के किसी काम से जाते होगे।

क्षप०—(कान पर हाथ रखकर) छी-छी! हमसे राक्षस वा पिशाच से क्या काम?

भागु०—आज तुमसे और मित्र से कुछ प्रेम-कलह हुआ है, पर यह तो बताओ कि राक्षस ने तुम्हारा कौन अपराध किया है?

क्षप०—राक्षस ने कुछ अपराध नहीं किया है, अपराधी तो हम हैं।

भागु०—ह ह ह ह! भदंत! तुम्हारे इस कहने से तो मुझको सुनने की और भी उत्कंठा होती है।

मलय०—(आप ही आप) मुझको भी।

भागु०—तो भदंत! कहते क्यों नहीं?

क्षप०—तुम सुनके क्या करोगे?

भागु०—तो जाने दो, हमें कुछ आग्रह नहीं है, गुप्त हो तो मत कहो।

क्षप०—नहीं उपासक! गुप्त ऐसा नहीं है, पर वह बहुत बुरी बात है।

भागु०—तो जाओ, हम तुमको परवाना न दें।

क्षप०—(आप ही आप की भाँति) जो यह इतना आग्रह करता है तो कह दें। (प्रगट) श्रावक! निरुपाय होकर कहना पड़ा। सुनो। मैं पहिले कुसुमपुर में रहता था, तब संयोग से मुझसे राक्षस से मित्रता हो गई, फिर उस दुष्ट राक्षस ने चुपचाप मेरे द्वारा विषकन्या का प्रयोग कराके बिचारे पर्वतेश्वर को मार डाला।

मलय०—(आँखों में पानी भर के) हाय-हाय! राक्षस ने हमारे पिता को मारा, चाणक्य ने नहीं मारा। हा!

भागु०—हाँ, तो फिर क्या हुआ ?

क्षप०—फिर मुझे राक्षस का मित्र जानकर उस दुष्ट चाणक्य ने मुझको नगर से निकाल दिया; तब मैं राक्षस के यहाँ आया, पर राक्षस ऐसा जालिया है कि अब मुझको ऐसा काम करने को कहता है जिससे मेरा प्राण जाय।

भागु०—भदंत! हम तो यह समझते हैं कि पहिले जो आधा राज देने को कहा था, वह न देने को चाणक्य ही ने यह दुष्ट कर्म्म किया, राक्षस ने नहीं किया।

क्षप०—(कान पर हाथ रखकर) कभी नहीं, चाणक्य तो विषकन्या का नाम भी नहीं जानता; यह घोर कर्म्म उस दुर्बुद्धि राक्षस ही ने किया है।

भागु०—हाय-हाय! बड़े कष्ट की बात है। लो, मुहर तो तुमको देते हैं, पर कुमार को भी यह बात सुना दो।

मलय०—(आगे बढ़कर)

सुन्यो मित्र, श्रुति-भेद-कर, शत्रु कियो जो हाल।
पिता-मरन को मोहि दुख, दुगुन भयो एहि काल॥

क्षप०—(आप ही आप) मलयकेतु दुष्ट ने यह बात सुन ली तो मेरा काम हो गया। [जाता है

मलय०—(दाँत पीसकर ऊपर देखकर) अरे राक्षस!

जिन तोपै विश्वास करि, सौंप्यौ सब धन धाम।
ताहि मारि दुख दै सबन, साँचो किय निज नाम॥

भागु०—(आप ही आप) आर्य चाणक्य की आज्ञा है कि "अमात्य राक्षस के प्राण की सर्वथा रक्षा करना" इससे अब बात फेरें। (प्रकाश) कुमार! इतना आवेग मत कीजिए। आप आसन पर बैठिए तो मैं कुछ निवेदन करूँ।

मलय०—मित्र, क्या कहते हो ? कहो। (बैठ जाता है)

भागु०—कुमार! बात यह है कि अर्थशास्त्रवालों की मित्रता और शत्रुता अर्थ ही के अनुसार होती है, साधारण लोगों की भाँति इच्छानुसार नहीं होती। उस समय सर्वार्थसिद्धि को राक्षस राजा बनाया चाहता था तब देव पर्वतेश्वर ही इस कार्य में कंटक थे तो उस कार्य की सिद्धि के हेतु यदि राक्षस ने ऐसा किया तो कुछ दोष नहीं। आप देखिए—

मित्र शत्रु ह्वै जात हैं, शत्रु करहिं अति नेह।
अर्थ-नीति-वस लोग सब, बदलहिं मानहुँ देह॥

इससे राक्षस को ऐसी अवस्था में दोष नहीं देना चाहिए। और जब तक नंदराज्य न मिले तब तक उस पर प्रकट स्नेह ही रखना नीतिसिद्ध है; राज मिलने पर कुमार जो चाहेंगे करेंगे।

मलय०—मित्र! ऐसा ही होगा। तुमने बहुत ठीक सोचा है। इस समय इसके वध करने से प्रजागण उदास हो जायँगे और ऐसा होने से जय में भी संदेह होगा।

(एक मनुष्य आता है)

मनुष्य—कुमार की जय हो! कुमार के कटकद्वार के रक्षाधिकारी दीर्घचक्षु ने निवेदन किया है कि "मुद्रा लिए बिना एक पुरुष कुछ पत्र-सहित पकड़ा गया है सो उसको एक बेर आप देख लें।"

भागु०—अच्छा, उसको ले आओ।

पुरुष—जो आज्ञा।

(जाता है और हाथ बँधे हुए सिद्धार्थक को लेकर आता है)

सिद्धा०—(आप ही आप)

गुन पै रिझवत दोस सों, दूर बचावत जौन।
स्वामि-भक्ति जननी सरिस, प्रनमत नित हम तौन॥

पुरुष—(हाथ जोड़कर) कुमार! यही मनुष्य है।

भागु०—(अच्छी तरह देखकर) यह क्या बाहर का मनुष्य है या यहीं किसी का नौकर है?

सिद्धा०—मैं अमात्य राक्षस का पासवर्ती सेवक हूँ।

भागु०—तो तुम क्यों मुद्रा लिए बिना कटक के बाहर जाते थे?

सिद्धा०—आर्य्य! काम की जल्दी से।

भागु०—ऐसा कौन काम है जिसके आगे राजाज्ञा का भी कुछ मोल नहीं गिना?

(सिद्धार्थक भागुरायण के हाथ में लेख देता है)

भागु०—(लेख लेकर देखकर) कुमार! इस लेख पर अमात्य राक्षस की मुहर है।

मलय०—ऐसी तरह से खोलकर दो कि मुहर न टूटे।

(भागुरायण पत्र खोलकर मलयकेतु को देता है)

मलय०—(पढ़ता है) स्वस्ति। यथास्थान में कहीं से कोई किसी पुरुष-विशेष को कहता है। हमारे विपक्ष को निराकरण करके सच्चे मनुष्य ने सचाई दिखलाई। अब हमारे पहिले के रखे हुए हमारे हितकारी चरों को भी जो-जो देने को कहा था वह देकर प्रसन्न करना। यह लोग प्रसन्न होंगे तो अपना आश्रय छूट जाने पर सब भाँति अपने उपकारी की सेवा करेंगे। सच्चे लोग कहीं नहीं भूलते तो भी हम स्मरण कराते हैं। इनमें से कोई तो शत्रु का कोष और हाथी चाहते हैं और कोई राज चाहते हैं। हमको सत्यवादी ने जो तीन अलंकार भेजे सो मिले। हमने भी लेख अशून्य करने को कुछ

भेजा है सो लेना। और जवानी हमारे अत्यंत प्रामाणिक सिद्धार्थक से सुन लेना।*

मलय०—मित्र भागुरायण! इस लेख का आशय क्या है?

भागु०—भद्र सिद्धार्थक! यह लेख किसका है?

सिद्धा०—आर्य्य! मैं नहीं जानता।

भागु०—धूर्त! लेख लेकर जाता है और यह नहीं जानता कि किसने लिखा है, और संदेसा किससे कहेगा?

सिद्धा०—(डरते हुए की भाँति) आपसे।

भागु०—क्यों रे! हमसे?

सिद्धा०—आपने पकड़ लिया। हम कुछ नहीं जानते कि क्या बात है।

भागु०—(क्रोध से) अब जानेगा। भद्र भासुरक! इसको बाहर ले जाकर जब तक यह सब कुछ न बतलावे तब तक खूब मारो।

पुरुष—जो आज्ञा (सिद्धार्थक को बाहर लेकर जाता है और हाथ में एक पेटी लिए फिर आता है) आर्य्य! उसको मारने के समय उसके बगल में से यह मुहर की हुई पेटी गिर पड़ी।

* यह वही लेख है जिसको चाणक्य ने शकटदास से धोखा देकर लिखवाया था और अपने हाथ से राक्षस की मुहर उस पर करके सिद्धार्थक को दिया था।

भागु०—(देखकर) कुमार ! इस पर भी राक्षस की मुहर है ।

मलय०—यही लेख अशून्य करने को होगी। इसकी भी मुहर बचाकर हमको दिखलाओ ।

(भागुरायण यही खोलकर दिखलाता है)

मलय०—अरे ! यह तो वही सब आभरण हैं जो हमने राक्षस को भेजे थे । निश्चय यह चंद्रगुप्त को लिखा है ।

भागु०—कुमार ! अभी सब संशय मिट जाता है । भासुरक ! उसको और मारो ।

पुरुष—जो आज्ञा । (बाहर जाकर फिर आता है) आर्य्य ! हमने उसको बहुत मारा है । अब कहता है कि अब हम कुमार से सब कह देंगे ।

मलय०—अच्छा, ले आओ ।

पुरुष—जो कुमार की आज्ञा । (बाहर जाकर सिद्धार्थक को लेकर आता है)

सिद्धा०—(मलयकेतु के पैरों पर गिरकर) कुमार ! हमको अभय-दान दीजिए ।

मलय०—भद्र ! उठो, शरणागत जन यहाँ सदा अभय हैं । तुम इसका वृत्तांत कहो ।

सिद्धा०—(उठकर) सुनिए । मुझको अमात्य राक्षस ने यह पत्र देकर चंद्रगुप्त के पास भेजा था ।

मलय०—जबानी क्या कहने को कहा था वह कहो ।

सिद्धा०—कुमार! मुझको अमात्य राक्षस ने यह कहने कहा था कि मेरे मित्र कुलूत देश के राजा चित्रवर्म्मा, मलयाधिपति सिंहनाद, कश्मीरेश्वर पुष्कराक्ष, सिंधु महाराज सिंधुसेन और पारसीक पालक मेघाक्ष इन पाँच राजाओं से आपसे पूर्व में संधि हो चुकी है। इसमें पहिले तीन तो मलयकेतु का राज चाहते हैं और बाकी दो खजाना और हाथी चाहते हैं। जिस तरह महाराज ने चाणक्य को उखाड़कर मुझको प्रसन्न किया उसी तरह इन लोगों को भी प्रसन्न करना चाहिए। यही राज-संदेश है।

मलय०—(आप ही आप) क्या चित्रवर्म्मादिक भी हमारे द्रोही हैं? तभी राक्षस में उन लोगों की ऐसी प्रीति है। (प्रकाश) विजये! हम अमात्य राक्षस को देखा चाहते हैं।

प्रति०—जो आज्ञा [जाती है

(एक परदा हटता है और राक्षस आसन पर बैठा हुआ चिंता की मुद्रा में एक पुरुष के साथ दिखाई पड़ता है)

राक्षस—(आप ही आप) चंद्रगुप्त की ओर के बहुत लोग हमारी सेना में भरती हो रहे हैं इससे हमारा मन शुद्ध नहीं है। क्योंकि—

रहत साध्य तें अन्वित अरु विलसत निज पच्छहिं।
सोई साधन साधक जो नहिं छुअत बिपच्छहिं॥

जो पुनि आपु असिद्ध सपच्छ विपच्छहु में सम।
कछु कहुँ नहिं निज पच्छ माँहि जाको है संगम॥
नरपति ऐसे साधनन कों अनुचित अंगीकार करि।
सब भाँति पराजित होत हैं बादी लौं बहु विधि बिगरि॥

वा जो लोग चंद्रगुप्त से उदास हो गए हैं वही लोग इधर मिले हैं, मैं व्यर्थ सोच करता हूँ। (प्रगट) प्रियंवदक! कुमार के अनुयायी राजा लोगों से हमारी ओर से कह दो कि अब कुसुमपुर दिन-दिन पास आता जाता है, इससे सब लोग अपनी सेना अलग-अलग करके जो जहाँ नियुक्त हों वहाँ सावधानी से रहें।

आगे खस अरु मगध चलें जयध्वजहि उड़ाए।
यवन और गंधार रहें मधि सैन जमाए॥
चेदि हून सकराज लोग पीछे सों धावहिं।
कौलूतादिक नृपति कुमारहि घेरे आवहिं॥

प्रियं०—अमात्य की जो आज्ञा। [जाता है

(प्रतिहारी आती है)

प्रति०—अमात्य की जय हो। कुमार अमात्य को देखना चाहते हैं।

राक्षस—भद्र! क्षण भर ठहरो। बाहर कौन है?

(एक मनुष्य आता है)

मनुष्य—अमात्य! क्या आज्ञा है?

राक्षस—भद्र ! शकटदास से कहो कि जब से कुमार ने हमको आभरण पहराया है तब से उनके सामने नंगे अंग जाना हमको उचित नहीं है। इससे जो तीन आभरण मोल लिए हैं उनमें से एक भेज दें।

मनुष्य—जो अमात्य की आज्ञा। (बाहर जाता है और आभरण लेकर आता है) अमात्य ! अलंकार लीजिए।

राक्षस—(अलंकार धारण करके) भद्र ! राजकुल में जाने का मार्ग बतलाओ।

प्रति०— इधर से आइए।

राक्षस—अधिकार ऐसी बुरी वस्तु है कि निर्दोष मनुष्य का भी जी डरा करता है।

सेवक प्रभु सों डरत सदाहीं। पराधीन सपने सुख नाहीं॥
जे ऊँचे पद के अधिकारी। तिनको मनहीं मन भय भारी॥
सबही द्वेष बड़न सों करहीं। अनुछिन कान स्वामि को भरहीं॥
जिमि जे जनमे ते मरें, मिले अवसि बिलगाहि।
तिमि जे अति ऊँचे चढ़ें, गिरिहैं संसय नाहिं॥

प्रति०—(आगे बढ़ कर) अमात्य ! कुमार यह विराजते हैं, आप जाइए।

राक्षस—अरे, कुमार यह बैठे हैं।

लखत चरन की ओर हू, तऊ न देखत ताहि।
अचल दृष्टि इक ओर ही, रही बुद्धि अवगाहि॥

कर पै धारि कपोल निज, लसत झुको अवनीस।
दुसह काज के भार सों, मनहुँ नमित भो सीस॥

(आगे बढ़कर) कुमार की जय हो !

मलय०—आर्य्य ! प्रणाम करता हूँ। आसन पर बिराजिए।

(राक्षस बैठता है)

मलय०—आर्य्य ! बहुत दिनों से हम लोगों ने आपको नहीं देखा।

राक्षस—कुमार ! सेना को आगे बढ़ाने के प्रबंध में फँसने के कारण हमको यह उपालंभ सुनना पड़ा।

मलय०—अमात्य ! सेना के प्रयाण का आपने क्या प्रबंध किया है ? मैं भी सुनना चाहता हूँ।

राक्षस—कुमार ! आपके अनुयायी राजा लोगों को यह आज्ञा दी है। (आगे खस अरु मगध इत्यादि छंद पढ़ता है)

मलय०—(आप ही आप) हाँ, जाना; जो हमारा नाश करने के हेतु चंद्रगुप्त से मिले हैं वही हमको घेरे रहेंगे। (प्रकाश) आर्य्य, अब कुसुमपुर से कोई आता है या वहाँ जाता है कि नहीं ?

राक्षस—अब यहाँ किसी के आने-जाने से क्या प्रयोजन। पाँच-छः दिन में हम लोग ही वहाँ पहुँचेंगे।

मलय०—(आप ही आप) अभी सब खुल जाता है। (प्रगट) जो यही बात है तो इस मनुष्य को चिट्ठी लेकर आपने कुसुमपुर क्यों भेजा था ?

राक्षस—(देखकर) अरे ! सिद्धार्थक है ? भद्र ! यह क्या ?

सिद्धा०—(भय और लज्जा नाट्य करके) अमात्य ! हमको क्षमा कीजिए। अमात्य ! हमारा कुछ भी दोष नहीं है, मार खाते-खाते हम आपका रहस्य छिपा न सके।

राक्षस—भद्र ! वह कौन सा रहस्य है यह हमको नहीं समझ पड़ता।

सिद्धा०—निवेदन करते हैं, मार खाने से। (इतना ही कह लज्जा से नीचा मुँह कर लेता है)

मलय०—भागुरायण ! स्वामी के सामने लज्जा और भय से यह कुछ न कह सकेगा; इससे तुम सब बात आर्य्य से कहो।

भागु०—कुमार की जो आज्ञा। अमात्य ! यह कहता है कि अमात्य राक्षस ने हमको चिट्ठी देकर और संदेश कह कर चंद्रगुप्त के पास भेजा है।

राक्षस—भद्र सिद्धार्थक ! क्या यह सत्य है ?

सिद्धा०—(लज्जा नाट्य करके) मार खाने के डर से मैंने कह दिया।

राक्षस—कुमार ! मार के डर से लोग क्या नहीं कह देते ?

मलय०—भागुरायण ! चिट्ठी दिखला दो और संदेशा वह अपने मुँह से कहेगा।

(भागुरायण चिट्ठी खोलकर 'स्वस्ति कहीं से कोई किसी को' इत्यादि पढ़ता है)

राक्षस--कुमार ! कुमार ! यह सब शत्रु का प्रयोग है।

मलय०--लेख अशून्य करने को आर्य ने जो आभरण भेजे हैं वह शत्रु कैसे भेजेगा ? (आभरण दिखलाता है)

राक्षस—कुमार ! यह मैंने किसी को नहीं भेजा। कुमार ने यह मुझको दिया, और मैंने प्रसन्न होकर सिद्धार्थक को दिया।

भागु०—अमात्य ! ऐसे उत्तम आभरणों का, विशेष कर अपने अंग से उतारकर कुमार की दी हुई वस्तु का, यह पात्र है ?

मलय०—और संदेश भी बड़े प्रामाणिक सिद्धार्थक से सुनना—यह आर्य्य ने लिखा है।

राक्षस—कैसा संदेश और कैसी चिट्ठी ? यह हमारा कुछ नहीं है !

मलय०—तो मुहर किसकी है ?

राक्षस—धूर्त्त लोग कपटमुद्रा भी बना लेते हैं।

भागु०—कुमार ! अमात्य सच कहते हैं ! सिद्धार्थक, यह चिट्ठी किसकी लिखी है ?

(सिद्धार्थक राक्षस का मुँह देखकर चुप रह जाता है)

भागु०—चुप मत रहो। जी कड़ा करके कहो।

सिद्धा०—आर्य ! शकटदास ने।

राक्षस—शकटदास ने लिखा तो मानों मैंने ही लिखा।

मलय०—विजये ! शकटदास को हम देखा चाहते हैं।

भागु०—(आप ही आप) आर्य चाणक्य के लोग विना निश्चय समझे हुए कोई बात नहीं करते। जो शकटदास आकर यह चिट्ठी किस प्रकार लिखी गई है यह सब वृत्तांत कह देगा तो मलयकेतु फिर बहक जायगा। (प्रकाश) कुमार! शकटदास, अमात्य राक्षस के सामने लिखा होगा तो भी न स्वीकार करेंगे; इससे उनका कोई और लेख मँगाकर अक्षर मिला लिए जायँ।

मलय०—विजये! ऐसा ही करो।

भागु०—और मुहर भी आवे।

मलय०—हाँ, वह भी।

कंचुकी—जो आज्ञा। (बाहर जाती है और पत्र और मुहर लेकर आती है) कुमार! यह शकटदास का लेख और मुहर है।

मलय०—(देखकर और अक्षर और मुहर को मिलान करके) आर्य! अक्षर तो मिलते हैं।

राक्षस—(आप ही आप) अक्षर निःसंदेह मिलते हैं, किंतु शकटदास हमारा मित्र है, इस हिसाब से नहीं मिलते। तो क्या शकटदास ही ने लिखा, अथवा—

पुत्र-दार की याद करि, स्वामि-भक्ति तजि देत।
छोड़ि अचल जस कों करत, चल धन सों जन हेत॥

या इसमें संदेह ही क्या है?

मुद्रा ताके हाथ की, सिद्धार्थक हू मित्र।
ताही के कर को लिख्यौ, पत्रहु साधन चित्र॥

मिलि कै शत्रुन सों करन, भेद भूलि निज धर्म।
स्वामि-विमुख शकटहि कियो, निश्चय यह खल कर्म॥

मलय०—आर्य! श्रीमान् ने तीन आभरण भेजे सो मिले, यह जो आपने लिखा है सो उसी में का एक आभरण यह भी है? (राक्षस के पहने हुए आभरण को देखकर आप ही आप) क्या यह पिता के पहने हुए आभरण हैं? (प्रकाश) आर्य, यह आभरण आपने कहाँ से पाया?

राक्षस—जौहरी से मोल लिया था।

मलय०—विजये! तुम इन आभरणों को पहचानती हो?

प्रति०—(देखकर आँसू भर के) कुमार! हम सुगृहीत-नामधेय महाराज पर्वतेश्वर के पहिरने के आभरणों को न पहचानेंगी?

मलय०—(आँखों में आँसू भर के)

भूषण-प्रिय! भूषण सबै, कुल-भूषण! तुव अंग।
तुव मुख ढिग इमि सोहतो, जिमि ससि तारन संग॥

राक्षस—(आप ही आप) ये पर्वतेश्वर के पहिने हुए आभरण हैं? (प्रकाश) जाना, यह भी निश्चय चाणक्य के भेजे हुए जौहरियों ने ही बेंचा है।

मलय०—आर्य! पिता के पहने हुए आभरण और फिर चंद्रगुप्त के हाथ पड़े हुए जौहरी बेचे, यह कभी हो नहीं सकता। अथवा हो सकता है—

अधिक लाभ के लोभ सों, क्रूर ! त्यागि सब नेह।
बदले इन आभरन के, तुम बेंच्यौ मम देह ॥

राक्षस—(आप ही आप) अरे ! यह दाँव तो पूरा बैठ गया।

मम लेख नहिं यह किमि कहैं मुद्रा छपी जब हाथ की।
विश्वास होत न शकट तजिहै प्रीति कबहूँ साथ की ॥
पुनि बेचिहैं नृप चंद्र भूषण कौन यह पतियाइहै।
तासों भलो अब मौन रहनो कथन तें पति जाइहै ॥

मलय०—आर्य ! हम यह पूछते हैं।

राक्षस—जो आर्य हो उससे पूछो ; हम अब पापकारी अनार्य हो गए हैं।

मलय०—स्वामि-पुत्र तुव मौर्य, हम मित्र-पुत्र सह हेत।
पैहो उत वाको दियो, इत तुम हमकों देत ॥
सचिवहु भे उत दास हो, इत तुम स्वामी आप।
कौन अधिक फिर लोभ जो, तुम कीनो यह पाप ॥

राक्षस—(आँखों में आसू भर के) कुमार ! इसका निर्णय तो आप ही ने कर दिया—

स्वामि-पुत्र मम मौर्य, तुम मित्र-पुत्र सह हेत।
पैहैं उत वाको दियो, इत हम तुमकों देत ॥
सचिवहु भे उत दास हो, इत हम स्वामी आप।
कौन अधिक फिर लोभ जो, हम कीनो यह पाप ॥

मलय०—(चिट्ठी, पेटी इत्यादि दिखलाकर) यह सब क्या है ?

राक्षस—(आँखों में आँसू भर के) यह सब चाणक्य ने नहीं किया, दैव ने किया।

निज प्रभु सों करि नेह जे भृत्य समर्पत देह।
तिन सों अपुने सुत सरिस सदा निबाहत नेह॥
ते गुणगाँहक नृप सबै जिन मारे छन माहिं।
ताही विधि को दोस यह औरन को कछु नाहिं॥

मलय०—(क्रोधपूर्वक) अनार्य! अब तक छल किए जाते हो कि यह सब दैव ने किया।

विषकन्या दै पितु हत्यौ, प्रथम प्रीति उपजाय।
अब रिपु सों मिलि हम सबन, बधन चहत ललचाय॥

राक्षस—(दुःख से आप ही आप) हाँ! यह और जले पर नमक है। (प्रगट कानों पर हाथ रखकर) नारायण! देव पर्वतेश्वर का कोई अपराध हमने नहीं किया।

मलय०—फिर पिता को किसने मारा?

राक्षस—यह दैव से पूछो।

मलय०—दैव से पूछें, जीवसिद्धि क्षपणक से न पूछें?

राक्षस—(आप ही आप) क्या जीवसिद्धि भी चाणक्य का गुप्तचर है! हाय! शत्रु ने हमारे हृदय पर भी अधिकार कर लिया?

मलय०—(क्रोध से) शिखरसेन सेनापति से कहो कि राक्षस से मिलकर चंद्रगुप्त को प्रसन्न करने को पाँच राजे जो

हमारा बुरा चाहते हैं, उनमें कौलूत चित्रवर्मा, मलयाधिपति सिंहनाद और कश्मीराधीश पुष्कराक्ष ये तीन हमारी भूमि की कामना रखते हैं, सो इनको भूमि ही में गाड़ दे; और सिंधुराज सुषेण और पारसीकपति मेघाक्ष हमारी हाथी की सेना चाहते हैं सो इनको हाथी ही के पैर के नीचे पिसवा दो।

पुरुष—जो कुमार की आज्ञा। [जाता है

मलय०—राक्षस! हम० मलयकेतु हैं, कुछ तुमसे विश्वासघाती राक्षस नहीं हैं। इससे तुम जाकर अच्छी तरह चंद्रगुप्त का आश्रय करो।

चंद्रगुप्त चाणक्य सों, मिलिए सुख सों आप।
हम तीनहुँ को नासिहैं, जिमि त्रिवर्ग कहँ पाप॥

भागु०—कुमार! व्यर्थ अब कालक्षेप मत कीजिए। कुसुमपुर घेरने को हमारी सेना चढ़ चुकी है।

उड़िकै तियगन-गंड जुगल कहँ मलिन बनावति।
अलिकुल से कल अलकन निज कन धवल छवावति॥
चपल तुरग-खुर-घात उठी घन घुमड़ि नवीनी।
सत्रु-सीस पैं धूरि परै गजमद सों भीनी॥

(अपने भृत्यों के साथ मलयकेतु जाता है)

राक्षस—(घबड़ाकर) हाय! हाय! चित्रवर्मादिक साधु सब व्यर्थ मारे गए। हाय! राक्षस की सब चेष्टा शत्रु

को नहीं, मित्रों ही के नाश करने को होती है। अब हम मंदभाग्य क्या करें ?

जाहिं तपोवन, पै न मन, शांत होत सह क्रोध।
प्रान देहिं ? रिपु के जियत, यह नारिन को बोध॥
खींचि खड्ग कर पतंग सम, जाहिं अनल अरि पास।
पै या साहस होइहै, चंदनदास विनास॥

(सोचता हुआ जाता है)

षष्ठ अंक

स्थान—नगर के बाहर सड़क

(कपड़ा, गहिना पहिने हुए सिद्धार्थक आता है)

सिद्धार्थक—

जलद-नील-तन जयति जय, केशव केशी-काल।
जयति सुजन-जन-दृष्टि-ससि, चंद्रगुप्त नरपाल॥
जयति आर्य्य चाणक्य की, नीति सहज बल-भौन।
बिनही साजे सैन नित, जीतत अरि-कुल जौन॥

चलो, आज पुराने मित्र समिद्धार्थक से भेंट करें। (घूमकर) अरे! मित्र समिद्धार्थक आप ही इधर आता है।

(समिद्धार्थक आता है)

समिद्धार्थक—

मिटत ताप नहिं पान सों, होत उछाह बिनास।
बिना मीत के सुख सबै, औरहु करत उदास॥

सुना है कि मलयकेतु के कटक से मित्र सिद्धार्थक आ गया है। उसी को खोजने को हम भी निकले हैं कि मिले तो बड़ा आनंद हो। (आगे बढ़कर) अहा! सिद्धार्थक तो यहीं है। कहो मित्र! अच्छे तो हो?

सिद्धा०—अहा! मित्र समिद्धार्थक आप ही आ गए। (बढ़कर) कहो मित्र! क्षेम कुशल तो है?

(दोनों गले से मिलते हैं)

समि०—भला! यहाँ कुशल कहाँ कि तुम्हारे ऐसा मित्र बहुत दिन पीछे घर भी आया तो बिना मिले फिर चला गया!

सिद्धा०—मित्र! क्षमा करो। मुझको देखते ही आर्य चाणक्य ने आज्ञा दी कि इस प्रिय वृत्तांत को अभी चंद्रमा सदृश प्रकाशित शोभावाले परम प्रिय महाराज प्रियदर्शन से जाकर कहो। मैं उसी समय महाराज के पास चला गया और उनसे निवेदन करके यह सब पुरस्कार पाकर तुमसे मिलने को तुम्हारे घर अभी जाता ही था।

समि०—मित्र! जो सुनने के योग्य हो तो महाराज प्रियदर्शन से जो प्रिय वृत्तांत कहा है वह हम भी सुनें।

सिद्धा०—मित्र! तुमसे भी कोई बात छिपी है! सुनो। आर्य्य चाणक्य की नीति से मोहित-मति होकर उस नष्ट मलयकेतु ने राक्षस को दूर कर दिया और चित्रवर्मादिक पाँचों प्रबल राजों को मरवा डाला। यह देखते ही और सब राजे अपने प्राण और राज्य का संशय समझकर उसको छोड़कर सेना-सहित अपने-अपने देश चले गए। जब शत्रु ऐसी निर्बल अवस्था में हुआ, तो भद्रभट, पुरुषदत्त, हिंगुरात, बलगुप्त, राजसेन, भागुरायण, रोहिताक्ष, विजयवर्मा इत्यादि लोगों ने मलयकेतु को कैद कर लिया।

समि०—मित्र ! लोग तो यह जानते हैं कि भद्रभट इत्यादि लोग महाराज चंद्रश्री को छोड़कर मलयकेतु से मिल गए; तो क्या कुकवियों के नाटक की भाँति इसके मुख में और तथा निर्वहण में और बात है ?

सिद्धा०—वयस्य ! सुनो, जैसे दैव की गति नहीं जानी जाती वैसे ही आर्य चाणक्य की जिस नीति की भी गति नहीं जानी जाती उसको नमस्कार है।

समि०—हाँ ! कहो, तब क्या हुआ ?

सिद्धा०—तब इधर से सब सामग्री लेकर आर्य चाणक्य बाहर निकले और विपक्ष के शेष राजाओं को निःशेष करके बर्बर लोगों की सब सामग्री लूट ली।

समि०—तो वह सब अब कहाँ हैं ?

सिद्धा०—वह देखो

स्रवत गंडमद गरब गज, नदत मेघ अनुहार।
चाबुक भय चितवत चपल, खड़े अस्व बहु द्वार॥

समि०—अच्छा, यह सब जाने दो। यह कहो कि सब लोगों के सामने इतना अनादर पाकर फिर भी आर्य्य चाणक्य उसी मंत्री के काम को क्यों करते हैं ?

सिद्धा०—मित्र ! तुम अब तक निरे सीधेसाधे बने हो। अरे, अमात्य राक्षस भी आर्य चाणक्य की जिन चालों को नहीं समझ सकते उनको हम-तुम क्या समझेंगे !

समि०—वयस्य ! अमात्य राक्षस अब कहाँ हैं ?

सिद्धा०—उस प्रलय कोलाहल के बढ़ने के समय मलयकेतु की सेना से निकलकर उंदुर नामक चर के साथ कुसुमपुर ही की ओर वह आते हैं, यह आर्य चाणक्य को समाचार मिला है।

समि०—मित्र ! नंदराज्य के फिर स्थापन की प्रतिज्ञा करके स्वनाम-तुल्य-पराक्रम अमात्य राक्षस, उस काम को पूरा किए बिना फिर कैसे कुसुमपुर आते हैं ?

सिद्धा०—हम सोचते हैं कि चंदनदास के स्नेह से।

समि०—ठीक है, चंदनदास के स्नेह ही से। किंतु तुम सोचते हो कि चंदनदास के प्राण बचेंगे ?

सिद्धा०—कहाँ उस दीन के प्राण बचेंगे? हमीं दोनों को वधस्थान में ले जाकर उसको मारना पड़ेगा।

समि०—(क्रोध से) क्या आर्य चाणक्य के पास कोई घातक नहीं है कि ऐसा नीच काम हम लोग करें ?

सिद्धा०—मित्र! ऐसा कौन है जिसको इस जीवलोक में रहना हो और वह आर्य चाणक्य की आज्ञा न माने ? चलो, हम लोग चांडाल का वेष बनाकर चंदनदास को वधस्थान में ले चलें।

(दोनों जाते हैं)

इति प्रवेशक

बाहरी प्रांत में प्राचीन बारी

(फाँसी हाथ में लिए हुए एक पुरुष आता है)

पुरुष — पट गुन सुदृढ़ गुथी मुख फाँसी ।
जय उपाय परिपाटी गाँसी ।।
रिपु-बंधन मैं पटु प्रति पोरी ।
जय चाणक्य नीति की डोरी ।।

आर्य चाणक्य के चर उंदुर ने इसी स्थान में मुझको अमात्य राक्षस से मिलने को कहा है। (देखकर) यह अमात्य राक्षस सब अंग छिपाए हुए आते हैं। तब तक इस पुरानी बारी में छिपकर हम देखें, यह कहाँ ठहरते हैं। (छिपकर बैठता है)

(सब अंग छिपाए हुए राक्षस आता है)

राक्षस—(आँखों में आँसू भर के) हाय! बड़े कष्ट की बात है

आश्रय विनसें और पैं, जिमि कुलटा तिय जाय ।
तजि तिमि नंदहि चंचला, चंद्रहि लपटी धाय ।।
देखादेखी प्रजहु सब, कीनो ता अनुगौन ।
तजि कै निज नृप-नेह सब, कियो कुसुमपुर भौन ।।
होइ विफल उद्योग मैं, तजि कै कारज-भार ।
आप्त मित्र हू थकि रहे, सिर बिनु जिमि अहि छार ।।
तजि कै निज पति भुवन-पति, सुकुल-जात नृप नंद ।
श्री वृपली गइ वृषल ढिग, सील त्यागि करि छंद ।।
जाइ तहाँ थिर ह्वै रही, निज गुन सहज बिसारि ।

वस न चलत जब बाम बिधि, सब कछु देत बिगारि ॥
नंद मरे सैलेश्वरहि, देन चह्यौ हम राज।
सोऊ बिनसे तब कियो, ता सुत हित सो साज ॥
बिगर्‌यौ तौन प्रबंध हू, मिट्यौ मनोरथ-मूल।
दोस कहा चाणक्य को, दैवहि भो प्रतिकूल ॥

वाह रे म्लेच्छ मलयकेतु की मूर्खता! जिसने इतना नहीं समझा कि—

मरे स्वामिहू नहिं तज्यौ, जिन निज-नृप-अनुराग।
लोभ छाँड़ि दै प्रान जिन, करी सत्रु सों लाग ॥
सोई राक्षस सत्रु सों, मिलिहै यह अंधेर।
इतनो सूझ्यौ वाहि नहिं, दई दैव मति फेर ॥

सो अब भी शत्रु के हाथ में पड़के राक्षस वन में चला जायगा, पर चंद्रगुप्त से संधि न करेगा। लोग झूठा कहें, यह अपयश हो, पर शत्रु की बात कौन सहेगा? (चारों ओर देखकर) हा! इसी प्रांत में देव नंद रथ पर चढ़कर फिरने आते थे।

इतहि देव अभ्यास हित, सर सजि धनु संधानि।
रचत रहे भुव चित्र सम, रथ सुचक्र परिखानि ॥
जहँ नृपगन संकित रहे, इत उत थमे लखात।
सोई भुव ऊजर भई, दृगन लखी नहिं जात ॥

हाय! यह मंदभाग्य अब कहाँ जाय? (चारों ओर देखकर) चलो, इस पुरानी बारी में कुछ देर ठहरकर

मित्र चंदनदास का कुछ समाचार लें। (घूमकर आप ही आप) अहा! पुरुषों के भाग्य की उन्नति-अवनति की भी क्या-क्या गति होती है कोई नहीं जानता।

जिमि नव ससि कहँ सब लखत, निज-निज करहि उठाय।
तिमि नृप सब हम को रहे, लखत अनंद बढ़ाय॥
चाहत हे नृपगन सबै, जासु कृपा-दृग-कोर।
सो हम इत संकित चलत, मानहुँ कोऊ चोर॥

वा जिसके प्रसाद से यह सब था, जब वही नहीं है तो यह होहीगा। (देखकर) यह पुराना उद्यान कैसा भयानक हो रहा है।

नसे बिपुल नृप-कुल-सरिस, बड़े बड़े गृह-जाल।
मित्र-नास सों साधुजन, हिय सम सूखे ताल॥
तरुवर भे फलहीन जिमि, बिधि बिगरे सब नीति।
तृन सों लोपी भूमि जिमि, मति लहि मूढ़ कुरीति॥
तीछन परसु-प्रहार सों, कटे तरोवरा-गात।
रोअत मिलि पिंडुक सँग, ताके घाव लखात॥
दुखी जानि निज मित्र कहँ, अहि मन लेत उसास।
निज केंचुल मिस धरत हैं, फाहा तरु-ब्रन पास॥
तरुगन को सूख्यौ हियो, छिदे कीट सों गात।
दुखी पत्र-फल-छाँह बिनु, मनु मसान सब जात॥

तो तब तक हम इस सिला पर, जो भाग्यहीनों को सुलभ है, लेटें। (बैठकर और कान देकर सुनकर)

अरे! यह शंख डंके से मिला हुआ नांदी शब्द कहाँ हो रहा है ?

अति ही तीखन होन सों, फोरत स्रोता-कान।
जब न समायो घरन में, तब इत कियो पयान॥
संख पटह धुनि सों मिल्यौ, भारी मंगल-नाद।
निकस्यौ मनहु दिगंत की, दूरी देखन स्वाद॥

(कुछ सोचकर) हाँ, जाना। यह मलयकेतु के पकड़े जाने पर राजकुल (रुककर) मौर्यकुल को आनंद देने को हो रहा है।

(आँखों में आँसू भरकर) हाय ! बड़े दुःख की बात है।

मेरे बिनु अब जीति दल, शत्रु पाइ बल घोर।
मोहि सुनावन हेत ही, कीन्हों शब्द कठोर॥

पुरुष—अब तो यह बैठे हैं तो अब आर्य चाणक्य की आज्ञा पूरी करें। (राक्षस की ओर न देखकर अपने गले में फाँसी लगाना चाहता है)

राक्षस—(देखकर आप ही आप) अरे यह फाँसी क्यों लगाता है ? निश्चय कोई हमारा सा दुखिया है। जो हो, पूछें तो सही। (प्रकाश) भद्र, यह क्या करते हो ?

पुरुष—(रोकर) मित्रों के दुःख से दुखी होकर हमारे ऐसे मंदभाग्यों का जो कर्त्तव्य है।

राक्षस—(आप ही आप) पहले ही कहा था, कोई हमारा सा दुखिया है। (प्रकाश) भद्र, जो अति गुप्त वा किसी विशेष कार्य की बात न हो तो हमसे कहो कि तुम क्यों प्राण त्याग करते हो ?

पुरुष—आर्य! न तो गुप्त ही है न कोई बड़े काम की बात है; परंतु मित्र के दुःख से मैं अब क्षण भर भी ठहर नहीं सकता।

राक्षस—(आप ही आप दुःख से) मित्र की विपत्ति में हम पराए लोगों की भाँति उदासीन होकर जो देर करते हैं मानो उसमें शीघ्रता करने की यह अपना दुःख कहने के बहाने शिक्षा देता है। (प्रकाश) भद्र! जो रहस्य नहीं है तो हम सुना चाहते हैं कि तुम्हारे दुःख का क्या कारण है ?

पुरुष—आपका इसमें बड़ा ही हठ है तो कहना पड़ा। इस नगर में जिष्णुदास नामक एक महाजन है।

राक्षस—(आप ही आप) वह तो चंदनदास का बड़ा मित्र है।

पुरुष—वह हमारा प्यारा मित्र है।

राक्षस—(आप ही आप) कहता है कि वह हमारा प्यारा मित्र है। इस अति निकट संबंध से इसको चंदनदास का वृत्तांत ज्ञात होगा।

पुरुष—(रोकर) "सो दीन जनों को सब धन देकर वह अब अग्निप्रवेश करने जाता है" यह सुनकर हम यहाँ

जा धन के हित नारि तजैं पति पूत तजैं पितु सीलहिं खोई।
भाई सों भाई लरैं रिपु से पुनि मित्रता मित्र तजै दुख जोई॥
ता धन को बनिया ह्वै गिन्यौ न दियो दुख मीत सों आरत होई।
स्वारथ अर्थ तुम्हारोई है तुमरे सम और न या जग कोई॥

(प्रकाश) इस बात पर मौर्य ने क्या कहा?

पुरुष—आर्य! इस पर चंद्रगुप्त ने उससे कहा कि जिष्णुदास! हमने धन के हेतु चंदनदास को नहीं दंड दिया है। इसने अमात्य राक्षस का कुटुंब अपने घर में छिपाया था, और बहुत माँगने पर भी न दिया, अब भी जो यह दे-दे तो छूट जाय, नहीं तो इसको प्राणदंड होगा। तभी हमारा क्रोध शांत होगा और दूसरे लोगों को भी इससे डर होगा—यह कह उसको वधस्थान में भेज दिया। जिष्णुदास ने कहा कि "हम कान से अपने मित्र का अमंगल सुनने के पहिले मर जायँ तो अच्छी बात है" और अग्नि में प्रवेश करने को वन में चले गए। हमने भी इसी हेतु कि उनका मरण न सुनें यह निश्चय किया कि फाँसी लगाकर मर जायँ और इसी हेतु यहाँ आए हैं।

राक्षस—(घबड़ाकर) अभी चंदनदास को मारा तो नहीं?

पुरुष—आर्य! अभी नहीं मारा है, बारंबार अब भी उनसे अमात्य राक्षस का कुटुंब माँगते हैं और वह मित्रवत्सलता से नहीं देते, इसी में इतना विलंब हुआ।

राक्षस—(सहर्ष आप ही आप) वाह मित्र चंदनदास ! वाह ! धन्य ! धन्य !!

मित्र परोच्छहुँ मैं कियो, सरनागत-प्रतिपाल।
निरमल जस सिवि सो लियो, तुम या काल कराल ॥

(प्रकाश) भद्र ! तुम शीघ्र जाकर जिष्णुदास को जलने से रोको; हम जाकर अभी चंदनदास को छुड़ाते हैं।

पुरुष—आर्य ! आप किस उपाय से चंदनदास को छुड़ाइएगा ?

राक्षस—(आतंक से खड्ग मियान से खींचकर) इन दुःखों में एकांत मित्र निष्कृप कृपाण से।

समर साध तन पुलकित नित साथी मम कर को।
रन महँ बारहिं बार परिछ्यौ जिन बल पर को ॥
बिगत जलद नभ नील खड्ग यह रोस बढ़ावत।
मीत कष्ट सों दुखिहु मोहिं रनहित उमगावत ॥

पुरुष—सेठ चंदनदास के प्राण बचाने का उपाय मैंने सुना किंतु ऐसे टेढ़े समय में इसका परिणाम क्या होगा, यह मैं नहीं कह सकता। (राक्षस को देखकर पैर पर गिरता है) आर्य ! क्या सुगृहीत-नामधेय अमात्य राक्षस आप ही हैं ? यह मेरा संदेह आप दूर कीजिए।

राक्षस—भद्र ! भर्तृकुल-विनाश से दुखी और मित्र के नाश का कारण यथार्थ-नामा अनार्य राक्षस मैं ही हूँ।

पुरुष—(फिर पैर पर गिरता है) धन्य है ! बड़ा ही आनंद हुआ। आपने हमको आज कृतकृत्य किया।

राक्षस—भद्र ! उठो। देर करने की कोई आवश्यकता नहीं। जिष्णुदास से कहो कि राक्षस चंदनदास को अभी छुड़ाता है।

(खड्ग खींचे हुए, 'समर [साध' इत्यादि पढ़ता हुआ इधर-उधर टहलता है)

पुरुष—(पैर पर गिरकर) अमात्यचरण ! प्रसन्न हों। मैं यह बिनती करता हूँ कि चंद्रगुप्त दुष्ट ने पहले शकटदास के वध की आज्ञा दी थी। फिर न जानें कौन शकट-दास को छुड़ाकर उसको कहीं परदेश में भगा ले गया। आर्य शकटदास के वध में धोखा खाने से चंद्रगुप्त ने क्रोध करके प्रमादी समझकर उन वधिकों ही को मार डाला। तब से वधिक जो किसी को वधस्थान में ले जाते हैं और मार्ग में किसी को शस्त्र खींचे हुए देखते हैं तो छुड़ा ले जाने के भय से अपराधी को बीच ही में तुरंत मार डालते हैं। इससे शस्त्र खींचे हुए आपके वहाँ जाने से चंदनदास की मृत्यु में और भी शीघ्रता होगी। [जाता है

राक्षस—(आप ही आप) उस चाणक्य वटु का नीतिमार्ग कुछ समझ नहीं पड़ता क्योंकि—

सकट बच्यौ जो तो कहे, तो क्यों घातक-घात।
जाल भयो का खेल मैं, कछु समझयौ नहिं जात॥

(सोचकर) नहिं शस्त्र को यह काल यासों मीत-जीवन जाइहै।
जौ नीति सोचैं या समय तो व्यर्थ समय नसाइहै॥
चुप रहनहू नहिं जोग जब मम हित विपति चंदन परयौ।
तासों बचावन प्रियहि अब हम देह निज विक्रय करौ।

(तलवार फेंककर जाता है)

सप्तम अंक

स्थान—सूली देने का मसान

(पहिला चांडाल आता है)

चांडाल—हटो लोगो हटो, दूर हो भाइयो, दूर हो। जो अपना प्राण, धन और कुल बचाना हो तो दूर हो। राजा का विरोध यत्नपूर्वक छोड़ो।

करि कै पथ्य विरोध इक, रोगी त्यागत प्रान।
पै विरोध नृप सों किए, नसत सकुल नर जान॥

जो न मानो तो इस राजा के विरोधी को देखो जो स्त्री-पुत्र समेत यहाँ सूली देने को लाया जाता है। (ऊपर देखकर) क्या कहा कि इस चंदनदास के छूटने का कुछ उपाय भी है? भला इस बिचारे के छूटने का कौन उपाय है। पर हाँ, जो यह मंत्री राक्षस का कुटुंब दे दे तो छूट जाय। (फिर ऊपर देखकर) क्या कहा कि यह शरणागतवत्सल प्राण देगा पर यह बुरा कर्म्म न करेगा। तो फिर इसकी बुरी गति होगी क्योंकि बचने का तो वही एक उपाय है।

(कंधे पर सूली रखे मृत्यु का कपड़ा पहिने चंदनदास, उसकी स्त्री और पुत्र, और दूसरा चांडाल आते हैं)

स्त्री—हाय हाय ! जो हम लोग नित्य अपनी बात बिगड़ने के डर से फूँक-फूँककर पैर रखते थे उन्हीं हम लोगों की चोरों की भाँति मृत्यु होती है। काल देवता को नमस्कार है, जिसको मित्र उदासीन सभी एक से हैं, क्योंकि--

छोड़ि मांस-भख मरन-भय, जियहिं खाइ तृन घास ।
तिन गरीब मृग को करहिं, निरदय व्याधा नास ।।

(चारों ओर देखकर)

अरे भाई जिष्णुदास ! मेरी बात का उत्तर क्यों नहीं देते ? हाय ! ऐसे समय में कौन ठहर सकता है ।

चंदन०—(आँसू भरकर) हाय! यह मेरे सब मित्र बिचारे कुछ नहीं कर सकते, केवल रोते हैं और अपने को अकर्मण्य समझ शोक से सूखा-सूखा मुँह किए आँसू-भरी आँखों से एकटक मेरी ही ओर देखते चले आते हैं।

दोनों चांडाल—अजी चंदनदास ! अब तुम फाँसी के स्थान पर आ चुके इससे कुटुंब को बिदा करो।

चंदन०—(स्त्री से) अब तुम पुत्र को लेकर जाओ, क्योंकि आगे तुम्हारे जाने की भूमि नहीं है।

स्त्री—ऐसे समय में तो हम लोगों को विदा करना उचित ही है, क्योंकि आप परलोक जाते हैं, कुछ परदेश नहीं जाते। (रोती है)

चंदन०—सुनो, मैं कुछ अपने दोष से नहीं मारा जाता, एक मित्र के हेतु मेरे प्राण जाते हैं, तो इस हर्ष के स्थान पर क्यों रोती है ?

स्त्री—नाथ ! जो यह बात है तो कुटुंब को क्यों बिदा करते हो ?

चंदन०—तो फिर तुम क्या कहती हो ?

स्त्री—(आँसू भरकर) नाथ ! कृपा करके मुझे भी साथ ले चलो।

चंदन०—हा ! यह तुम कैसी बात कहती हो ? अरे ! तुम इस बालक का मुँह देखो और इसकी रक्षा करो, क्योंकि यह बिचारा कुछ भी लोकव्यवहार नहीं जानता। यह किसका मुँह देख के जीएगा ?

स्त्री—इसकी रक्षा कुलदेवी करेंगी। बेटा ! अब पिता फिर न मिलेंगे इससे मिलकर प्रणाम कर ले।

बालक—(पैरों पर गिरके) पिता ! मैं आपके बिना क्या करूँगा ?

चंदन०—बेटा, जहाँ चाणक्य न हो वहाँ बसना।

दोनों चांडाल—(सूली खड़ी करके) अजी चंदनदास ! देखो, सूली खड़ी हुई, अब सावधान हो जाओ।

स्त्री—(रोकर) लोगो, बचाओ ! अरे ! कोई बचाओ !

चंदन०—भाइयो, तनिक ठहरो। (स्त्री से) अरे ! अब तुम रो-रोकर क्या नंदों को स्वर्ग से बुला लोगी ? अब वे लोग यहाँ नहीं हैं जो स्त्रियों पर सर्वदा दया रखते थे।

१ चांडाल—अरे वेणुवेत्रक ! पकड़ इस चंदनदास को, घरवाले आप ही रो-पीटकर चले जायँगे।

२ चांडाल—अच्छा वज्रलोमक, मैं पकड़ता हूँ।

चंदन०—भाइयो ! तनिक ठहरो, मैं अपने लड़के से तो मिल लूँ। (लड़के को गले लगाकर और माथा सूँघकर) बेटा ! मरना तो था ही पर एक मित्र के हेतु मरते हैं इससे सोच मत कर।

पुत्र—पिता, क्या हमारे कुल के लोग ऐसा ही करते आए हैं ? (पैर पर गिर पड़ता है)।

२ चांडाल—पकड़ रे वज्रलोमक ! (दोनों चंदनदास को पकड़ते हैं)

स्त्री—लोगो ! बचाओ रे, बचाओ !

(वेग से राक्षस आता है)

राक्षस—डरो मत, डरो मत। सुनो सुनो, सेनापति ! चंदनदास को मत मारना, क्योंकि—

नसत स्वामिकुल जिन लख्यौ, निज चख शत्रु समान।
मित्रदु:ख हू मैं धरौ, निलज होइ जिन प्रान॥
तुम सों हारि बिगारि सब, कढ़ी न जाकी साँस।
ता राक्षस के कंठ मैं, डारहु यह जमफाँस॥

चंदन०—(देखकर और आँखों में आँसू भरकर) अमात्य, यह क्या करते हो ?

राक्षस—मित्र, तुम्हारे सच्चरित्र का एक छोटा सा अनुकरण। ✓

चंदन०—अमात्य, मेरा किया तो सब निष्फल हो गया, पर आपने ऐसे समय यह साहस अनुचित किया।

राक्षस—मित्र चंदनदास ! उराहना मत दो, सभी स्वार्थी हैं। (चांडाल से) अजी ! तुम उस दुष्ट चाणक्य से कहो।

दोनों चांडाल—क्या कहें ?

राक्षस—

जिन कलि मैं हू मित्र-हित, तृन सम छोड़े प्रान।
जाके जस-रवि सामुहे, सिवि-जस दीप समान ॥
जाको अति निर्म्मल चरित, दया आदि नित जानि।
बौद्धहु सब लज्जित भए, परम शुद्ध जेहि मानि ॥
ता पूजा के पात्र कों, मारत तू धरि पाप।
जाके हितु सो शत्रु तुव, आयो इत मैं आप ॥

१ चांडाल—अरे वेणुवेत्रक ! तू चंदनदास को पकड़कर इस मसान के पेड़ की छाया में बैठ, तब से मंत्री चाणक्य को मैं समाचार दूँ कि अमात्य राक्षस पकड़ा गया।

२ चांडाल—अच्छा रे वज्रलोमक ! (चंदनदास, स्त्री, बालक और सूली को लेकर जाता है)

१ चांडाल—(राक्षस को लेकर घूमकर) अरे ! यहाँ पर कौन है ? नंदकुल-सेनासंचय के चूर्ण करनेवाले वज्र से, वैसे ही मौर्य्यकुल में लक्ष्मी और धर्म्म स्थापना करनेवाले, आर्य्य चाणक्य से कहो।

राक्षस—(आप ही आप) हाय ! यह भी राक्षस को सुनना लिखा था !

१ चांडाल—कि आप की नीति ने जिसकी बुद्धि को घेर लिया है, वह अमात्य राक्षस पकड़ा गया।

(परदे में सब शरीर छिपाए केवल मुँह खोले चाणक्य आता है)

चाणक्य—अरे कहो, कहो।

किन निज बसन हि मैं धरी, कठिन अगिनि की ज्वाल?
रोकी किन गति वायु की, डोरिन ही के जाल ?
किन गजपति-मर्दन प्रबल, सिंह पींजरा दीन ?
किन केवल निज बाहु-बल, पार समुद्रहि कीन ?

१ चांडाल—परमनीतिनिपुण आप ही ने तो।

चाणक्य—अजी ! ऐसा मत कहो, वरन "नंदकुलद्वेषी दैव ने" यह कहो।

राक्षस—(देखकर आप ही आप) अरे ! क्या यही दुरात्मा वा महात्मा कौटिल्य है ?

सागर जिमि बहु रत्नमय, तिमि सब गुण की खानि।
तोष होत नहिं देखि गुण, वैरी हू निज जानि॥

चाणक्य—(देखकर) अरे ! यही अमात्य राक्षस हैं ?
जिस महात्मा ने—

बहु दुख सों सोचत सदा, जागत रैन बिहाय।
मेरी मति अरु चंद्र की, सैनहि दई थकाय॥

(परदे से बाहर निकलकर) अजी अजी अमात्य राक्षस ! मैं विष्णुगुप्त आपको दंडवत् करता हूँ। (पैर छूता है)

राक्षस—(आप ही आप) अब मुझे अमात्य कहना तो केवल मुँह चिढ़ाना है। (प्रगट) अजी विष्णुगुप्त ! मैं चांडालों से छू गया हूँ इससे मुझे मत छूओ।

चाणक्य—अमात्य राक्षस ! वह श्वपाक नहीं है, वह आपका जाना-सुना सिद्धार्थक नामा राजपुरुष है और दूसरा भी समिद्धार्थक नामा राजपुरुष ही है; और इन्हीं दोनों द्वारा विश्वास उत्पन्न करके उस दिन शकटदास को धोखा देकर मैंने वह पत्र लिखवाया था।

राक्षस—(आप ही आप) अहा ! बहुत अच्छा हुआ कि मेरा शकटदास पर से संदेह दूर हो गया।

चाणक्य—बहुत कहाँ तक कहूँ—

वे सब भद्रभटादि वह, सिद्धार्थक वह लेख।
वह भदंत वह भूषणहु, वह नट आरत भेख॥
वह दुख चंदनदास को, जो कछु दियो दिखाय।
सो सब मम (लज्जा से कुछ सकुचकर)
सो सब राजा चंद्र को, तुम सों मिलन उपाय॥

देखिए, यह राजा भी आपसे मिलने आप ही आते हैं।

राक्षस—(आप ही आप) अब क्या करें ? (प्रगट) हाँ ! मैं देख रहा हूँ।

(सेवकों के संग राजा आता है)

राजा—(आप ही आप) गुरुजी ने बिना युद्ध ही दुर्जय शत्रु का कुल जीत लिया इसमें कोई संदेह नहीं। मैं तो बड़ा लज्जित हो रहा हूँ, क्योंकि—

ह्वै बिनु काम लजाय करि, नीचो मुख भरि सोक।
सोवत सदा निषंग में, मम बानन के थोक॥
सोवहिं धनुष उतारि हम, जदपि सकहिं जग जीति।
जा गुरु के जागत सदा, नीति-निपुण गत-भीति॥

(चाणक्य के पास जाकर) आर्य्य! चंद्रगुप्त प्रणाम करता है।

चाणक्य—वृषल! अब सब असीस सच्चो हुई, इससे इन पूज्य अमात्य राक्षस को नमस्कार करो, यह तुम्हारे पिता के सब मंत्रियों में मुख्य हैं।

राक्षस—(आप ही आप) लगाया न इसने संबंध—

राजा—(राक्षस के पास जाकर) आर्य्य! चंद्रगुप्त प्रणाम करता है।

राक्षस—(देखकर आप ही आप) अहा! यही चंद्रगुप्त है!

होनहार जाको उदय, बालपने ही जोइ।
राज लह्यौ जिन बाल गज, जूथाधिप सम होइ॥

(प्रगट) महाराज! जय हो।

राजा—आर्य्य!

तुमरे आछत बहुरि गुरु, जागत नीति-प्रवीन।
कहहु कहा या जगत में, जाहि न जय हम कीन॥

राक्षस—(आप ही आप) देखो, यह चाणक्य का सिखाया-पढ़ाया मुझसे कैसी सेवकों की सी बात करता है! नहीं-नहीं, यह आप ही विनीत है। अहा! देखो, चंद्रगुप्त पर डाह के बदले उलटा अनुराग होता है। चाणक्य सब स्थान पर यशस्वी है, क्योंकि—

पाइ स्वामि सतपात्र जो, मंत्री मूरख होइ।
तौहू पावै लाभ जस, इत तौ पंडित दोइ॥
मूरख स्वामी लहि गिरै, चतुर सचिव हू हारि।
नदी-तीर-तरु जिमि नसत, जीरन ह्वै लहि बारि॥

चाणक्य—क्यों अमात्य राक्षस! आप क्या चंदनदास के प्राण बचाया चाहते हैं?

राक्षस—इसमें क्या संदेह है?

चाणक्य—पर अमात्य! आप शस्त्र ग्रहण नहीं करते, इससे संदेह होता है कि आपने अभी राजा पर अनुग्रह नहीं किया, इससे जो सच ही चंदनदास के प्राण बचाया चाहते हों तो यह शस्त्र लीजिए।

राक्षस—सुनो विष्णुगुप्त! ऐसा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि हम लोग उस योग्य नहीं; विशेष करके जब तक तुम शस्त्र ग्रहण किए हो तब तक हमारे शस्त्र ग्रहण करने का क्या काम है?

चाणक्य—भला अमात्य ! आपने यह कहाँ से निकाला कि हम योग्य हैं और आप अयोग्य हैं ? क्योंकि देखिए

रहत लगामहिं कसे अश्व की पीठ न छोड़त।
खान पान असनान भोग तजि मुख नहिं मोड़त॥
छूटे सब सुख-साज नींद नहिं आवत नयनन।
निसि दिन चौंकत रहत वीर सब भय धरि निज मन॥
वह हौदन सों सब छन कस्यौ नृप गजगन अवरेखिए।
रिपुदर्प दूर कर अति प्रबल निज महात्मबल देखिए॥

वा इन बातों से क्या ! आपके शस्त्र ग्रहण किए बिना तो चंदनदास बचता भी नहीं।

राक्षस—(आप ही आप)

नंद-नेह छूट्यौ नहीं, दास भए अरि साथ;
ते तरु कैसे काटिहैं, जे पाले निज हाथ॥
कैसे करिहैं मित्र पैं, हम निज कर सों घात।
अहो भाग्य-गति अति प्रबल, मोहिं कछु जानि न जात॥

(प्रकाश) अच्छा विष्णुगुप्त! मँगाओ खड्ग "नमस्सर्व्व-कार्य्यप्रतिपत्तिहेतवे सुहृत्स्नेहाय" देखो, मैं उपस्थित हूँ।

चाणक्य—(राक्षस को खड्ग देकर हर्ष से) राजन् वृषल! बधाई है, बधाई है! अब अमात्य राक्षस ने तुम पर अनुग्रह किया। अब तुम्हारी दिन-दिन बढ़ती ही है।

राजा—यह सब आपकी कृपा का फल है।

(पुरुष आता है)

पुरुष—जय हो महाराज की, जय हो। महाराज! भद्रभट भागुरायणादिक मलयकेतु को हाथ-पैर बाँधकर लाए हैं और द्वार पर खड़े हैं। इसमें महाराज की क्या आज्ञा होती है?

चाणक्य—हाँ, सुना। अजी! अमात्य राक्षस से निवेदन करो, अब सब काम वही करेंगे।

राक्षस—(आप ही आप) कैसे अपने वश में करके मुझी से कहलाता है। क्या करें? (प्रकाश) महाराज, चंद्रगुप्त! यह तो आप जानते ही हैं कि हम लोगों का मलयकेतु का कुछ दिन तक संबंध रहा है। इससे उसके प्राण तो बचाने ही चाहिएँ।

(राजा चाणक्य का मुँह देखता है)

चाणक्य—महाराज! अमात्य राक्षस की पहिली बात तो सर्वथा माननी ही चाहिए। (पुरुष से) अजी! तुम भद्रभटादिकों से कह दो कि "अमात्य राक्षस के कहने से महाराज चंद्रगुप्त मलयकेतु को उसके पिता का राज्य देते हैं" इससे तुम लोग संग जाकर उसको राज पर बिठा आओ।

पुरुष—जो आज्ञा।

चाणक्य—अजी अभी ठहरो, सुनो! विजयपाल दुर्गपाल से यह कह दो कि अमात्य राक्षस के शस्त्र ग्रहण से प्रसन्न होकर महाराज चंद्रगुप्त यह आज्ञा करते हैं कि "चंदनदास को सब नगरों का जगत्सेठ कर दो।"

पुरुष—जो आज्ञा। [जाता है

चाणक्य—चंद्रगुप्त! अब और मैं क्या तुम्हारा प्रिय करूँ?

राजा—इससे बढ़कर और क्या भला होगा?

मैत्री राक्षस सों भई, मिल्यो अकंटक राज।
नंद नसे सब अब कहा, यासों बढ़ि सुख-साज॥

चाणक्य—(प्रतिहारी से) विजये! दुर्गपाल विजयपाल से कहो कि "अमात्य राक्षस के मेल से प्रसन्न होकर महाराज चंद्रगुप्त आज्ञा करते हैं कि हाथी, घोड़ों को छोड़कर और सब बँधुओं का बंधन छोड़ दो" वा जब अमात्य राक्षस मंत्री हुए तब अब हाथी-घोड़ों का क्या सोच है? इससे—

छोड़ौ सब गज तुरग अब, कछु मत राखौ बाँधि।
केवल हम बाँधत सिखा, निज परतिज्ञा साधि॥

(शिखा बांधता है)

प्रतिहारी—जो आज्ञा। [जाती है

चाणक्य—अमात्य राक्षस! मैं इससे बढ़कर और कुछ भी आपका प्रिय कर सकता हूँ?

राक्षस—इससे बढ़कर और हमारा क्या प्रिय होगा ? पर जो इतने पर भी संतोष न हो तो यह आशीर्वाद सत्य हो—

"वाराहीमात्मयोनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिम्प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री ।
म्लेच्छैरुद्वेज्यमाना भुजयुगमधुना पीवरं राजमूर्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीम्पार्थिवश्चंद्रगुप्तः ॥"

(सब जाते हैं)

उपसंहार—(क)

इस नाटक में आदि, अंत तथा अंकों के विश्रामस्थल में रंगशाला में ये गीत गाने चाहिएँ। यथा—

सबके पूर्व मंगलाचरण में।

(ध्रुवपद चौताला)

जय जय जगदीस राम, श्याम-धाम पूर्ण-काम,
आनँदघन ब्रह्म विष्णु, सत्-चित-सुखकारी।
कंस-रावनादि-काल, सतत-प्रनत-भक्त-पाल,
सोभित - गल - मुक्तमाल, दीनतापहारी॥
प्रेमभरन पापहरन, असरन-जन-सरन-चरन,
सुखहि-करन दुखहि-दरन, वृंदावनचारी।
रमावास जगनिवास, राम रमन समनत्रास,
विनवत हरिचंद दास, जय जय गिरिधारी

(प्रस्तावना के अंत में प्रथम अंक के आरंभ में। चाल लखनऊ की ठुमरी "शाहजादे आलम तेरे लिये" इस चाल की)

जिनके हितकारक पंडित हैं तिनकों कहा सत्रुन को डर है।
समुझैं जग में सब नीतिन्ह जो तिन्हैं दुर्ग विदेस मनो घर है।

जिन मित्रता राखी है लायक सों तिनकों तिनकाहू महा सर है।
जिनकी परतिज्ञा टरै न कबौं तिनकी जय ही सब ही थर है॥

(पहले अंक की समाप्ति और दूसरे अंक के प्रारंभ में)

जग मैं घर की फूट बुरी।
घर के फूटहि सों बिनसाई सुबरन लंकपुरी॥
फूटहि सों सब कौरव नासे भारत युद्ध भयो।
जाको घाटो या भारत मैं अबलौं नहिं पुजयो॥
फूटहि सों जयचंद बुलायो जवनन भारत धाम।
जाको फल अबलौं भोगत सब आरज होइ गुलाम॥
फूटहि सों नव नंद विनासे गयो मगध को राज।
चंद्रगुप्त को नासन चाह्यौ आपु नसे सहसाज॥
जो जग मैं धन मान और बल आपुनो राखन होय।
तो अपुने घर मैं भूलेहू फूट करौ मति कोय॥

(दूसरे अंक की समाप्ति और तीसरे अंक के आरंभ में)

जग मैं तेई चतुर कहावैं।
जे सब विधि अपने कारज को नीकी भाँति बनावैं॥
पढ़यौ लिख्यौ किन होइ जु पै नहिं कारज साधन जानै।
ताही को मूरख या जग मैं सब कोऊ अनुमानै॥
छल मैं पातक होत जदपि यह शास्त्रन मैं बहु गायो।
पै अरि सों छल किए दोष नहिं मुनियन यहै बतायो॥

(तीसरे अंक की समाप्ति और चौथे अंक के आरंभ में)

ठुमरी

तिनको ना कछू कबहूँ बिगरै, गुरु लोगन को कहनो जे करैं।
जिनकों गुरु पंथ दिखावत हैं ते कुपंथ पैं भूलि न पाँव धरैं॥
जिनकों गुरु रच्छत आप रहैं ते बिगारे न बैरिन के बिगरैं।
गुरु को उपदेस सुनौ सब ही, जग कारज जासों सबै सँभरैं॥

(चौथे अंक की समाप्ति और पाँचवें अंक के आरंभ में)

पूरबी

करि मूरख मित्र मिताई, फिर पछतैहो रे भाई।
अंत दगा खैहौ सिर धुनिहौ रहिहौ सबै गँवाई॥
मूरख जो कछु हितहु करै तो तामैं अंत बुराई।
उलटो उलटो काज करत सब दैहै अंत नसाई॥
लाख करौ हित मूरख सों पै ताहि न कछु समुझाई।
अंत बुराई सिर पैं ऐहै रहि जैहौ मुँह बाई॥
फिर पछितैहो रे भाई॥

(पाँचवें अंक की समाप्ति और छठे अंक के आरंभ में)

[काफी ताल होली का]

छलियन सों रहो सावधान नहिं तो पछताओगे।
इनकी बातन मैं फँसि रहिहौ सबहि गँवाओगे॥
स्वारथ लोभी जन सों आखिर दगा उठाओगे।
तब सुख पैहौ जब साँचन सों नेह बढ़ाओगे॥
छलियन सों० ॥

(छठे अंक की समाप्ति और सातवें अंक के आरंभ में)

['जिनके मन में सिय राम बसें' इस धुन की]

जग सूरज चंद टरैं तो टरैं पै न सज्जननेहु कबौं विचलै।
धन संपति सर्बस गेह नसौ नहिं प्रेम की मेड़ सों एड़ टलै॥
सतवादिन कों तिनका सम प्रान रहै तो रहै वा ढलै तो ढलै।
निज मीत की प्रीत प्रतीत रहौ इक और सबै जग जाउ भलै॥ ✓

(अंत में गाने को)

[विहाग—श्लोक के अर्थ के अनुसार]

हरौ हरि-रूप सबै जग-बाधा।
जा सरूप सों धरनि उधारी निज जन कारज साधा॥
जिमि तव दाढ़ अग्र लै राखी महि हति असुर गिरायो।
कनक-दृष्टि म्लेच्छन हूँ तिमि किन अब लौं मारि नसायो॥
आरज राज रूप तुम तासों माँगत यह बरदाना।
प्रजा कुमुदगन चंद्र नृपति को करहु सकुल कल्याना॥

[विहाग ठुमरी]

पूरी अमी की कटोरिया सी चिरजीओ सदा विकटोरिया रानी। ✓
सूरज चंद प्रकास करैं जब लौं रहैं सात हूँ सिंधु मैं पानी॥
राज करौ सुख सों तब लौं निज पुत्र औ पौत्र समेत सयानी।
पालौ प्रजागन कों सुख सों जग कीरति-गान करैं गुन गानी॥

[कलिंगड़ा]

लहौ सुख सब विधि भारतवासी।
विद्या कला जगत की सीखौ तजि आलस की फाँसी॥

अपनो देस धरम कुल समुझहु छोड़ि वृत्ति निज दासी।
उद्यम करिकै होहु एकमति निज बल बुद्धि प्रकासी॥
पंचपीर की भगति छाड़ि कै ह्वै हरिचरन उपासी।
जग के और नरन सम येऊ होउ सबै गुनरासी॥

उपसंहार—(ख)

इस नाटक के विषय में विलसन साहिब लिखते हैं कि यह नाटक और नाटकों से अति विचित्र है, क्योंकि इसमें संपूर्ण राजनीति के व्यवहारों का वर्णन है। चंद्रगुप्त (जो यूनानी लोगों का सैंद्रोकोतस Sandrocottus है) और पाटलिपुत्र (जो यूरप की पालीबोत्तरा Palibothra है) के वर्णन का ऐतिहासिक नाटक होने के कारण यह विशेष दृष्टि देने के योग्य है।

इस नाटक का कवि विशाखदत्त, महाराज पृथु का पुत्र और सामंत वटेश्वरदत्त का पौत्र था। इस लिखने से अनुमान होता है कि दिल्ली के अंतिम हिंदूराजा पृथ्वीराज चौहान ही का पुत्र विशाखदत्त है, क्योंकि अंतिम श्लोक से विदेशी शत्रु की जय की ध्वनि पाई जाती है, भेद इतना ही है कि रायसे में पृथ्वीराज के पिता का नाम सोमेश्वर और दादा का आनंद लिखा है। मैं यह अनुमान करता हूँ कि सामंत वटेश्वर इतने बड़े नाम को कोई शीघ्रता में या लघु करके कहे तो सोमेश्वर हो सकता है और संभव है कि चंद ने भाषा में सामंत वटेश्वर को ही सोमेश्वर लिखा हो।

मेजर विल्फर्ड ने मुद्राराक्षस के कवि का नाम गोदावरी-तीर-निवासी अनंत लिखा है, किंतु यह केवल भ्रममात्र है। जितनी प्राचीन पुस्तकें उत्तर वा दक्षिण में मिलीं, किसी में अनंत का नाम नहीं मिला है।

इस नाटक पर वटेश्वर मैथिल पंडित की एक टीका भी है। कहते हैं कि गुहसेन नामक किसी अपर पंडित की भी एक टीका है, किंतु देखने में नहीं आई। महाराज तंजौर के पुस्तकालय में व्यासराज यज्वा की एक टीका और है।

चंद्रगुप्त* की कथा विष्णुपुराण, भागवत आदि पुराणों में और बृहत्कथा में वर्णित है। कहते हैं कि विकटपल्ली के राजा चंद्र-दास का उपाख्यान लोगों ने इन्हीं कथाओं से निकाल लिया है।

महानंद अथवा महापद्मनंद भी शूद्रा के गर्भ से था, और कहते हैं कि चंद्रगुप्त इसकी एक नाइन स्त्री के पेट से पैदा हुआ था। यह पूर्वपीठिका में लिख आए हैं कि इन लोगों की राजधानी पाटलिपुत्र थी। इस पाटलिपुत्र (पटने) के विषय में यहाँ कुछ लिखना अवश्य हुआ। सूर्यवंशी सुदर्शन† राजा की पुत्री पाटली ने पूर्व में इस नगर को बसाया।

---

* प्रियदर्शी, प्रियदर्शन, चंद्र, चंद्रगुप्त, श्रीचंद्र, चंद्रश्री, मौर्य, यह सब चंद्रगुप्त के नाम हैं; और चाणक्य, विष्णुगुप्त, द्रोमिल वा द्रोहिण, अशुल, कौटिल्य यह सब चाणक्य के नाम हैं।

† सुदर्शन, सहस्रबाहु अर्जुन का भी नामांतर था, किसी किसी ने भ्रम से पाटली को शूद्रक की कन्या लिखा है।

कहते हैं कि कन्या को वंध्यापन के दुःख और दुर्नाम से छुड़ाने को राजा ने एक नगर बसाकर उसका नाम पाटलिपुत्र रखा था। वायुपुराण में "जरासंध के पूर्वपुरुष वसु राजा ने विहार प्रांत का राज्य संस्थापन किया" यह लिखा है। कोई कहते हैं कि "वेदों में जिस वसु के यज्ञ का वर्णन है वही राज्यगिरि राज्य का संस्थापक है।" जो लोग चरणाद्रि को राज्यगृह का पर्वत बतलाते हैं उनको केवल भ्रम है। इस राज्य का प्रारंभ चाहे जिस तरह हुआ हो पर जरासंध ही के समय से यह प्रख्यात हुआ। मार्टिन साहब ने जरासंध ही के विषय में एक अपूर्व कथा लिखी है। वह कहते हैं कि जरासंध दो पहाड़ियों पर दो पैर रखकर द्वारका में जब स्त्रियाँ नहाती थीं तो ऊँचा होकर उनको घूरता था। इसी अपराध पर श्रीकृष्ण ने उसको मरवा डाला।

मगध शब्द मग से बना है। कहते हैं कि "श्रीकृष्ण के पुत्र सांब ने शाकद्वीप से मग जाति के ब्राह्मणों को अनुष्ठान करने को बुलाया था और वे जिस देश में बसे उसकी मगध संज्ञा हुई।" जिन अँगरेज विद्वानों ने 'मगध देश', शब्द को मद्ध (मध्यदेश) का अपभ्रंश माना है उन्हें शुद्ध भ्रम हो गया है जैसा कि मेजर विल्फर्ड पालीबोत्रा को राजमहल के पास गंगा और कोसी के संगम पर बतलाते और पटने का शुद्ध नाम पद्मावती कहते हैं। यों तो पाली इस नाम के कई शहर हिंदुस्तान में प्रसिद्ध हैं किंतु पालीबोत्रा पाटलिपुत्र

ही है। सोन के किनारे मावलीपुर एक स्थान है जिसका शुद्ध नाम महाबलीपुर है। महावली नंद का नामांतर भी है, इसी से और वहाँ प्रचीन चिह्न मिलने से कोई-कोई शंका करते हैं कि वलीपुर वा बलीपुत्र का पालीबोत्रा अपभ्रंश है, किंतु यह भी भ्रम ही है। राजाओं के नाम से अनेक ग्राम बसते हैं इसमें कोई हानि नहीं, किंतु इन लोगों की राजधानी पाटलिपुत्र ही थी।

कुछ विद्वानों का मत है कि मग लोग मिश्र से आए और यहाँ आकर Isiris और Osiris नामक देव और देवी की पूजा प्रचलित की। यह दोनों शव्द ईश और ईश्वरी के अपभ्रंश वोध होते हैं। किसी पुराण में ''महाराज दशरथ ने शाकद्वीपियों को बुलाया'' यह लिखा है। इस देश में पहले कोल और चेरु (चोल) लोग बहुत रहते थे। शुनक और अजक इस वंश में प्रसिद्ध हुए। कहते हैं कि ब्राह्मणों ने लड़कर इन दोनों को निकाल दिया। इसी इतिहास से भुइँहार जाति का भी सूत्रपात होता है और जरासंध के यज्ञ से भुइँहारों की उत्पत्तिवाली किंवदंती इसका पोषण करती है। बहुत दिन तक ये युद्धप्रिय ब्राह्मण यहाँ राज्य करते रहे। किंतु एक जैन पंडित 'जो ८०० वर्ष ईसामसीह के पूर्व हुआ है' लिखता है कि इस देश के प्राचीन राजा को मग नामक राजा ने जीतकर निकाल दिया। कहते हैं कि विहार के पास वारागंज में इसके किले का चिह्न भी है। यूनानी विद्वानों और वायु-

पुराण के मत से उदयाश्व ने मगधराज संस्थापन किया। इसका समय ५५० ई० पू० बतलाते हैं और चंद्रगुप्त को इससे तेरहवाँ राजा मानते हैं। यूनानी लोगों ने सोन का नाम Erannobaos (इरन्नोबाओस) लिखा है, यह शब्द हिरण्यवाह का अपभ्रंश है। हिरण्यवाह, स्वर्णनद और शोण का अपभ्रंश सोन है। मेगास्थनीज अपने लेख में पटने के नगर को ८० स्टेडिया (आठ मील) लंबा और १५ चौड़ा लिखता है, जिससे स्पष्ट होता है कि पटना पूर्वकाल ही से लंबा नगर है *। उसने उस समय नगर के चारों ओर ३० फुट गहरी खाई, फिर ऊँची दीवार और उसमें ५७० बुर्ज और ६४ फाटक लिखे हैं। यूनानी लोग जो इस देश को (Prassi) प्रास्सि कहते हैं वह पलाशी का अपभ्रंश बोध होता है, क्योंकि जैनग्रंथों में उस

* जिस पटने का वर्णन उस काल के यूनानियों ने उस समय इस धूम से किया है उसकी वर्त्तमान स्थिति यह है। पटने का जिला २४° ५८′ से ५° ४२′ लैटि० और ८४° ४४′ से ८६° ०५′ लौंगि० पृथ्वी २१०१ मील समचतुष्कोण १५५६६३८ मनुष्य-संख्या। पटने की सीमा उत्तर गंगा, पश्चिम सोन, पूर्व मुँगेर का जिला और दक्षिण गया का जिला। नगर की बस्ती अब सवा तीन लाख मनुष्य और बावन हजार घर हैं। साढ़े आठ लाख मन के लगभग बाहर से प्रति वर्ष यहाँ माल आता और पांच लाख मन के लगभग जाता है। हिंदुओं में छः जातियाँ यहां विशेष हैं। यथा एक लाख अस्सी हजार ग्वाला, एक लाख सत्तर हजार कुनबी, एक लाख सतह हजार भुइँहार, पचास्सी हजार चमार, अस्सी हजार कोइरी और आठ हजार राजपूत। अब दो लाख के आसपास मुसलमान पटने के जिले में बसते हैं।

भूमि के पलाशवृक्ष से आच्छादित होने का वर्णन देखा गया है।

जैन और बौद्धों से इस देश से और भी अनेक संबंध हैं। मसीह के छः सौ बरस पहले बुद्ध पहले पहल राजगृह ही में उदास होकर चले गए थे। उस समय इस देश की बड़ी समृद्धि लिखी है और राजा का नाम बिंबिसार लिखा है। (जैन लोग अपने बीसवें तीर्थंकर सुव्रत स्वामी का राजगृह में कल्याणक भी मानते हैं)। बिंबिसार ने राजधानी के पास ही इनके रहने को कलद नामक विहार भी बना दिया था। फिर अजातशत्रु और अशोक के समय में भी बहुत से स्तूप बने। बौद्धों के बड़े-बड़े धर्मसमाज इस देश में हुए। उस काल में हिंदू लोग इस बौद्ध धर्म के अत्यंत विद्वेषी थे। क्या आश्चर्य है कि बुद्धों के द्वेष ही से मगध देश को इन लोगों ने अपवित्र ठहराया हो और गौतम की निंदा ही के हेतु अहल्या की कथा बनाई हो।

भारत-नक्षत्र नक्षत्री राजा शिवप्रसाद साहब ने अपने इतिहास-तिमिरनाशक के तीसरे भाग में इस समय और देश के विषय में जो लिखा है वह हम पीछे प्रकाशित करते हैं। इससे बहुत सी बातें उस समय की स्पष्ट हो जायँगी।

प्रसिद्ध यात्री हिआनसांग सन् ६३७ ई० में जब भारत-वर्ष में आया था तब मगध देश हर्षवर्द्धन नामक कन्नौज के राजा के अधिकार में था किंतु दूसरे इतिहास-लेखक

सन् २०० से ४०० तक बौद्ध कर्णवंशी राजाओं को मगध का राजा बतलाते हैं और अंध्रवंश का भी राज्यचिह्न संभलपुर में दिखलाते हैं।

सन् १२९२ ई० में पहले इस देश में मुसलमानों का राज्य हुआ। उस समय पटना, बनारस के बंदावत राजपूत राजा इंद्रदमन के अधिकार में था। सन् १२२५ में अलतिमश ने गयासुद्दीन को मगध प्रांत का स्वतंत्र सूबेदार नियत किया। इसके थोड़े ही काल पीछे फिर हिंदू लोग स्वतंत्र हो गए। फिर मुसलमानों ने लड़कर अधिकार किया सही, किंतु झगड़ा नित्य होता रहा, यहाँ तक कि सन् १३९३ में हिंदू लोग स्वतंत्र रूप में फिर यहाँ के राजा हो गए और तीसरे महमूद की बड़ी भारी हार हुई। यह दो सौ बरस का समय भारतवर्ष का पैलेस्टाइन का समय था। इस समय में गया के उद्धार के हेतु कई महाराणा उदयपुर के देश को छोड़कर लड़ने आए*।

* गया के भूगोल में पंडित शिवनारायण त्रिवेदी भी लिखते हैं—"औरंगाबाद से तीन कोस अग्निकोण पर देव बड़ी भारी बस्ती है। यहाँ श्रीभगवान् सूर्य्यनारायण का बड़ा भारी संगीन पश्चिम रुख का मंदिर है। यह मंदिर देखने से बहुत प्राचीन जान पड़ता है। यहाँ कातिक और चैत की छठ को बड़ा मेला लगता है। दूर दूर के लोग यहाँ आते और अपने लड़कों के मुंडन-छेदन आदि की मनौती उतारते हैं। मंदिर से थोड़ी दूर दक्खिन बाजार के पूरब ओर सूर्य्यकुंड का तालाब है। इस तालाब से सटा हुआ और एक कच्चा तालाब है उसमें कमल बहुत फूलते हैं। देव राजधानी है। यहाँ के राजामहाराजा उदयपुर के घराने

ये और पंजाब से लेकर गुजरात दक्षिण तक के हिंदू मगध देश में जाकर प्राणत्याग करना बड़ा पुण्य समझते थे। प्रजा-पाल नामक एक राजा ने सन् १४०० के लगभग बीस बरस मगध देश को स्वतंत्र रखा। किंतु आर्य्यमत्सरी दैव ने यह स्वतंत्रता स्थिर नहीं रखी और पुण्यधाम गया फिर मुसलमानों के अधिकार में चला गया। सन् १४७८ तक यह प्रदेश जौनपुर के बादशाह के अधिकार में रहा। फिर बहलूलवंश ने इसको जीत लिया था, किंतु १४९१ में सनशाह ने फिर जीत लिया। इसके पीछे बंगाल के पठानों से और जौनपुर-वालों से कई लड़ाई हुई और १४९४ में दोनों राज्य में एक सुलहनामा हो गया। इसके पीछे सूर लोगों का अधिकार

के मड़ियार राजपूत हैं। इस घराने के लोग सिपाहगरी के काम में बहुत प्रसिद्ध होते आए हैं। यहां के महाराज श्रीजयप्रकाशसिंह के० सी० एस० आई० बड़े शूर सुशील और उदार मनुष्य थे। यहां से दो कोस दक्खिन कंचनपुर में राजा साहिब का बाग और मकान देखने लायक बना है। देव से तीन कोस पूरब उमगा एक छोटी सी बस्ती है, उसके पास पहाड़ के ऊपर देव के सूर्य्यमंदिर के ढंग का एक महादेव का मंदिर है। पहाड़ के नीचे एक टूटा गढ़ भी देख पड़ता है। जान पड़ता है कि पहले राजा देव के घराने के लोग यहां ही रहते थे, पीछे देव में बसे। देव और उमगा दोनों इन्हीं की राजधानी थी, इससे दोनों नाम साथ ही बोले जाते हैं (देवमूँगा)। तिल-संक्रांति को उमगा में बड़ा मेला लगता है।" इससे स्पष्ट हुआ कि उदयपुर से जो राणा लोग आए उन्हीं के खानदान में देव के राजपूत हैं। और बिहारदर्पण से भी यह बात पाई जाती है कि मड़ियार लोग मेवाड़ से आए हैं।

हुआ और शेरशाह ने बिहार छोड़कर पटने को राजधानी किया। सूरों के पीछे क्रमान्वय से (१५७५ ई०) यह देश मुग़लों के अधीन हुआ और अंत में जरासंध और चंद्रगुप्त की राजधानी पवित्र पाटलिपुत्र ने आर्य वेश और आर्य नाम परित्याग करके औरंगजेब के पोते अजीमशाह के नाम पर अपना नाम अजीमाबाद प्रसिद्ध किया। (१६९७ ई०) बंगाले के सूबेदारों में सबसे पहले सिराजुद्दौला ने अपने को स्वतंत्र समझा था किंतु १७५७ ई० की पलासी की लड़ाई में मीर जाफर अंगरेजों के बल से बिहार, बंगाला और उड़ीसा का अधिनायक हुआ। किंतु अंत में जगद्विजयी अँगरेजों ने सन् १७६३ में पूर्व में पटना पर अधिकार करके दूसरे बरस बकसर की प्रसिद्ध लड़ाई जीतकर स्वतंत्र रूप से सिंहचिह्न की ध्वजा की छाया के नीचे इस देश के प्रांत मात्र को हिंदोस्तान के मानचित्र में लाल रंग से स्थापित कर दिया।

जस्टिन (Justin) कहता है—(१) संद्रकुत्तस महापराक्रमी था। असंख्य सैन्य संग्रह करके विरुद्ध लोगों का इसने सामना किया था। डियोडारस सिक्यूलस (Deodorus Siculus) कहता है—(२) प्राच्य देश के राजा ज़ंद्रमा के पास २०००० अश्व, २०००० पदाति, २००० रथ और ४००० हाथी थे। यद्यपि यह Xandramas शब्द चंद्रमा का अप-

(1) Justin His Phellipp. Lib. XV Chap. IV.

(2) Deodorus Siculus XVII. 93.

अंश है, किंतु कई भ्रांत यूनानियों ने नंद को भी इसी नाम से लिखा है। क्विंतस करशिअस (Quintus Curtius) लिखता है—(३) चंद्रमा के चौरकार पिता ने पहले मगधराज को फिर उसके पुत्रों को नाश करके रानी के गर्भ में अपने उत्पन्न किए हुए पुत्र को गद्दी पर बैठाया। स्ट्राबो (Strabo) कहता है—(४) सेल्यूकस ने मेगास्थनीज को संद्रकुत्तस के निकट भेजा और अपना भारतवर्षीय समस्त राज्य देकर उससे संधि कर ली। ओरियन (Orriun) लिखता है—(५) मेगास्थनीज अनेक बार सन्द्रकुत्तस की सभा में गया था। (६) प्लूटार्क (Plutarch) ने चंद्रगुप्त को दो लच्च सेना का नायक लिखा है। इन सब लेखों को पौराणिक वर्णनों से मिलाने से यद्यपि सिद्ध होता है कि सिकंदरकृत पुरु-पराजय के पीछे मगधराज मंत्री द्वारा निहत हुए और उनके लड़के भी उसी गति को पहुँचे और उसके पीछे चंद्रगुप्त राजा हुआ; किंतु बहुत से यूनानी लेखकों ने चंद्रगुप्त को पट्टरानी के गर्भ में चौरकार से उत्पन्न लिखकर व्यर्थ अपने को भ्रम में डाला है। चंद्रगुप्त चत्रियवीर्य से दासी में उत्पन्न था यह सर्व

---

(3) Quintus Curtius IX. 2.

(4) Strabo XV. 2. 9.

(5) Orriun Indica X. 5.

(6) Plutarch Vita Alexandri O. 62.

साधारण का सिद्धांत है। (७) इस क्रम से ३२७ ई० पू० में नंद का मरण और ३१४ ई० पू० में चंद्रगुप्त का अभिषेक निश्चय होता है। पारसदेश की कुमारी के गर्भ से सिल्यूकस को जो एक अति सुंदर कन्या हुई थी वही चंद्रगुप्त को दी गई। ३०२ ई० पू० में यह संधि और विवाह हुआ, इसी कारण अनेक यवनसेना चंद्रगुप्त के पास रहती थी। २९२ ई० पू० में चंद्रगुप्त २४ बरस राज्य करके मरा।

चंद्रगुप्त के इस मगधराज्य को आइनेअकबरी में मकता लिखा है। डिग्विग्नेस (Deguignes) कहता है कि चीनी मगध देश को मकियात कहते हैं। कैंफर (Kemfer) लिखता है कि जापानी लोग उसको मगत् कफ कहते हैं। (कफ शब्द जापानी में देशवाची है।) प्राचीन फारसी लेखकों ने इस देश का नाम मावाद वा मुवाद लिखा है। मगधराज्य में अनुगांग प्रदेश मिलने ही से तिब्बतवाले इस देश को अनुखेक वा अनोनखेक कहते हैं; और तातारवाले इस देश को एनाकाक लिखते हैं।

सिसली डिउडोरस ने लिखा है कि मगधराजधानी पाली-पुत्र भारतवर्षीय हर्क्यूलस (हरिकुल) देवता-द्वारा स्थापित

(७) टाड आदि कई लोगों का अनुमान है कि मोरी वंश के चौहान जो बापाराव के पूर्व चित्तौर के राजा थे वे भी मौर्य्य थे। क्या चंद्रगुप्त चौहान था? या ये मोरा सब शूद्र थे?

हुई। सिसिरो ने हर्क्यूलस (हरिकुल) देवता का नामांतर बेलस (बल:) लिखा है। बल शब्द बलदेवजी का बोध करता है और इन्हीं का नामांतर बली भी है। कहते हैं कि निज पुत्र अंगद के निमित्त बलदेवजी ने यह पुरी निर्माण की, इसी से बलीपुत्रपुरी इसका नाम हुआ। इसी से पालीपुत्र और फिर पाटलीपुत्र हो गया। पाली भाषा, पाली धर्म, पाली देश इत्यादि शब्द भी इसी से निकले हैं। कहते हैं कि बाणासुर के बसाए हुए जहाँ तीन पुर थे उन्हीं को जीतकर बलदेवजी ने अपने पुत्रों के हेतु पुर निर्माण किए। यह तीनों नगर महाबलीपुर इस नाम से एक मद्रास हाते में, एक विदर्भदेश में (मुजफ़्फ़रपुर वर्त्तमान नाम) और एक (राजमहल वर्त्तमान नाम से) बंगदेश में है। कोई-कोई बालेश्वर, मैसूर, पुरनियाँ प्रभृति को भी बाणासुर की राजधानी बतलाते हैं। यहाँ एक बात बड़ी विचित्र प्रकट होती है। बाणासुर भी बलीपुत्र है। क्या आश्चर्य है कि पहले उसी के नाम से बलीपुत्र शब्द निकला हो। कोई नंद ही का नामांतर महाबली कहते हैं और कहते हैं कि पूर्व में गंगाजी के किनारे नंद ने केवल एक महल बनाया था, उसके चारों ओर लोग धीरे-धीरे बसने लगे और फिर यह पत्तन (पटना) हो गया। कोई महाबली के पितामह उदसी, उदासी, उदय, श्रीउदयसिंह (?) ने ४५० ई० पू० इसको बसाया मानते हैं। कोई पाटली देवी के कारण पाटलिपुत्र मानते हैं।

विष्णुपुराण और भागवत में महापद्म के बड़े लड़के का नाम सुमाल्य लिखा है। बृहत्कथा में लिखते हैं कि शकटाल ने इंद्रदत्त का शरीर जला दिया इससे योगानंद (अर्थात् नंद के शरीर में इंद्रदत्त की आत्मा) फिर राजा हुआ। व्याड़ि जाने के समय शकटाल को नाश करने का मंत्र दे गया था। वररुचि मंत्री हुआ किंतु योगानंद ने मदमत्त होकर उसको नाश करना चाहा इससे वह शकटाल के घर में छिपा। उसकी स्त्री उपकोशा पति को मृत समझकर सती हो गई। योगानंद के पुत्र हिरण्यगुप्त के पागल होने पर वररुचि फिर राजा के पास गया था, किंतु फिर तपोवन में चला गया। फिर शकटाल के कौशल से चाणक्य नंद के नाश का कारण हुआ। उसी समय शकटाल ने हिरण्यगुप्त जो कि योगानन्द का पुत्र था उसको मार कर चन्द्रगुप्त को जो कि असली नंद का पुत्र था, गद्दी पर बैठाया।

ढुंढि पंडित लिखते हैं कि सर्वार्थसिद्धि नंदों में मुख्य था। इसको दो स्त्रियाँ थीं। सुनंदा बड़ी थी और दूसरी शूद्रा थी, उसका नाम मुरा था। एक दिन राजा दोनों रानियों के साथ एक ऋषि के यहाँ गया और ऋषिकृत मार्जन के समय सुनंदा पर नौ और मुरा पर एक छींट पानी की पड़ी। मुरा ने ऐसी भक्ति से उस जल को ग्रहण किया कि ऋषि ने प्रसन्न होकर वरदान दिया। सुनंदा को एक मांसपिंड और मुरा को मौर्य उत्पन्न हुआ। राक्षस ने मांसपिंड काटकर नौ टुकड़े

किया, जिससे नौ लड़के हुए। मौर्य को सौ लड़के थे, जिसमें चंद्रगुप्त सबसे बड़ा बुद्धिमान् था। सर्वार्थसिद्धि ने नंदों को राज्य दिया और आप तपस्या करने लगा। नंदों ने ईर्षा से मौर्य और उसके लड़कों को मार डाला, किंतु चंद्रगुप्त चाणक्य ब्राह्मण के पुत्र विष्णुगुप्त की सहायता से नंदों को नाश करके राजा हुआ।

योंही भिन्न-भिन्न कवियों और विद्वानों ने भिन्न-भिन्न कथाएँ लिखी हैं। किंतु सबके मूल का सिद्धांत पास-पास एक ही आता है।

इतिहास-तिमिरनाशक में इस विषय में जो कुछ लिखा है वह नीचे प्रकाश किया जाता है।

विंबिसार को उसके लड़के अजातशत्रु ने मार डाला। मालूम होता है कि यह फ़साद ब्राह्मणों ने उठाया। अजातशत्रु बौद्ध मत का शत्रु था। शाक्यमुनि गौतम बुद्ध श्रावस्ती में रहने लगा। यहाँ भी प्रसेनजित को उसके बेटे ने गद्दी से उठा दिया; शाक्यमुनि गौतम बुद्ध कपिलवस्तु में गया।

अजातशत्रु की दुश्मनी बौद्ध मत से धीरे-धीरे बहुत कम हो गई। शाक्यमुनि गौतम बुद्ध फिर मगध में गया। पटना उस समय एक गाँव था, वहाँ हरकारों की चौकी में ठहरा। वहाँ से विशाली * में गया। विशाली की रानी एक वेश्या

* जैनी महावीर के समय विशाली अथवा विशाला का राजा

थी। वहाँ से पावा* गया, वहाँ से कुशीनार गया। बौद्धों के लिखने बमूजिब उसी जगह सन् ईसवी ५४३ बरस पहले ८० बरस की उमर में साल के वृक्ष के नीचे बाईं करवट लेटे हुए इसका निर्वाण† हुआ। काश्यप उसका जानशीन हुआ। अजातशत्रु के पीछे तीन राजा अपने बाप को मारकर मगध की गद्दी पर बैठे, यहाँ तक कि प्रजा ने घबराकर विशाला की वेश्या के बेटे शिशुनाग मंत्री को गद्दी पर बैठा दिया। यह बड़ा बुद्धिमान था। इसके बेटे काल अशोक ने, जिसका नाम ब्राह्मणों ने काकवर्ण भी लिखा है, पटना अपनी राजधानी बनाया।

जब सिकंदर का सेनापति बाबिल का बादशाह सिल्यूकस सूबेदारों के तदारुक को आया, पटने से सिंधु किनारे

चेटक⁘ बतलाते हैं, यह जगह पटने के उत्तर तिरहुत में है; उजड़ गई है। वहाँ वाले अब उसे बसहर पुकारते हैं।

* जैनी यहाँ महावीर का निर्वाण बतलाते हैं, पर जिस जगह को अब पावापुर मानते हैं असल में वह नहीं है; पावा विशाली से पश्चिम और गंगा से उत्तर होना चाहिए।

† जैन अपने चौबीसवें अर्थात् सबसे पिछले तीर्थंकर महावीर का निर्वाण विक्रम के संवत् से ४७०, अर्थात् सन् ईसवी से ५२७ बरस पहले बतलाते हैं और महावीर के निर्वाण से २५० बरस पहले अपने तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का निर्वाण मानते हैं।

⁘ कैसे आश्चर्य की बात है, चेटक रंडी के भड़वे को भी कहते हैं। (हरिश्चंद्र)

तक नंद के बेटे चंद्रगुप्त के अमल दखल में पाया, बड़ा बहादुर था, शेर ने इसका पसीना चाटा था और जंगली हाथी ने इसके सामने सिर झुका दिया था।

पुराणों में बिंबिसार को शिशुनाग के बेटे काकवर्ण का परपोता बतलाया है और नंदिवर्द्धन को बिंबिसार के बेटे अजातशत्रु का परपोता; और कहा है कि नंदिवर्द्धन का बेटा महानंद और महानंद का बेटा शूद्री से महापद्मनंद और इसी महापद्मनंद और उसके आठ लड़कों के बाद, जिन्हें नवनंद कहते हैं, चंद्रगुप्त मौर्य गद्दी पर बैठा। बौद्ध कहते हैं कि तक्षशिला के रहनेवाले चाणक्य ब्राह्मण ने धननंद को मार के चंद्रगुप्त को राजसिंहासन पर बैठाया और वह मोरिया नगर के राजा का लड़का था और उसी जाति का था जिसमें शाक्यमुनि गौतम बुद्ध पैदा हुआ।

मेगास्थनीज लिखता है कि पहाड़ों में शिव और मैदान में विष्णु पुजाते हैं। पुजारी अपने बदन रँग* कर और सिर में फूलों की माला लपेटकर घंटा और झाँझ बजाते हैं। एक वर्ण का आदमी दूसरे वर्ण की स्त्री व्याह नहीं सकता है और पेशा भी दूसरे का इख्तियार नहीं कर सकता है। हिंदू घुटने तक जामा पहनते हैं और सिर और कंधों पर कपड़ा† रखते हैं। जूते उनके रंग बरंग के चमकदार और कारचोबी के

---

* चंदन इत्यादि लगा कर।

† अर्थात पगड़ी दुपट्टा।

होते हैं। बदन पर अकसर गहने, भौं मिहदी से रँगते हैं और दाढ़ी मूछ पर खिजाब करते हैं। छतरी, सिवाय बड़े आदमियों के, और कोई नहीं लगा सकता। रथों में लड़ाई के समय घोड़े और मंजिल काटने के लिए बैल जोते जाते हैं। हाथियों पर भारी जर्दोजी भूल डालते हैं। सड़कों की मरम्मत होती है, पुलिस का अच्छा इंतिजाम है। चंद्रगुप्त के लशकर में औसत चोरी तीस रुपये रोज से जियादा नहीं सुनी जाती है। राजा जमीन की पैदावार से चौथाई लेता है।

चंद्रगुप्त सन् ई० के ९१ बरस पहले मरा। उसके बेटे बिंदुसार के पास यूनानी एलची दयोमेकस (Diamachos) आया था परंतु वायुपुराण में उसका नाम भद्रसार और भागवत में बारिसार और मत्स्यपुराण में शायद बृहद्रथ लिखा है। केवल विष्णुपुराण बौद्ध ग्रंथों के साथ बिंदुसार बतलाता है। उसके १६ रानी थीं और उनसे १०१ लड़के, उनमें अशोक * जो पीछे से "धर्म्मअशोक" कहलाया, बहुत तेज था, उज्जैन का नाजिम था। वहां के एक सेठ † की लड़की देवी उससे व्याही थी, उसी से महेंद्र लड़का और संघमिता (जिसे सुमित्रा भी कहते हैं) लड़की हुई थी।

---

* जैनियों के ग्रंथों में इसी का नाम अशोक भी लिखा है।

† सेट श्रेष्ठों का अपभ्रंश है, अर्थात जो सबसे बड़ा हो।

दूसरा खंड

मौलिक ग्रंथ

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

प्रहसन

संवत् १९३०

DEDICATION

प्यारे !

मैं तुम्हें क्या तमाशा दिखाऊँगा, हाँ धन्यवाद करूँगा क्योंकि निस्संदेह तुमने ऐसा तमाशा दिखाया कि सब कुछ भूल गया। अहा ! स्त्री-पुरुष, पंडित-मूर्ख, अपना-बिगाना और छोटे-बड़े सबका तमाशा देखा पर वाह ! क्या ही तमाशा है—तमाशा तो है पर देखनेवाले थोड़े हैं, न हो तुम देखो मैं देखूँ, उन्हीं तमाशाओं में से यह भी एक तमाशा है, देखो।

चश्म मन् वर चश्म तू चश्मान् तू जली दिगर।
मन तमाशाए तू बीनम् तू तमाशाई दिगर॥

तुम्हारा
हरिश्चंद्र

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

प्रहसन

नांदी

दोहा—बहु बकरा बलि हित कटैं, जाके बिना प्रमान।
सो हरि की माया करै, सब जग को कल्यान॥

(सूत्रधार और नटी आती हैं)

सूत्रधार—अहा हा! आज की संध्या की कैसी शोभा है। सब दिशा ऐसी लाल हो रही है, मानों किसी ने बलिदान किया है और पशु के रक्त से पृथ्वी लाल हो गई है।

नटी—कहिए आज भी कोई लीला कीजिएगा?

सूत्र०—बलिहारी! अच्छी याद दिलाई। हाँ, जो लोग मांसलीला करते हैं उनकी लीला करेंगे।

(नेपथ्य में) अरे शैलूषाधम! तू मेरी लीला क्या करेगा। चल भाग जा, नहीं तो तुझे भी खा जायँगे।

(दोनों सभय) अरे हमारी बात गृध्रराज ने सुन ली, अब भागना चाहिए, नहीं तो बड़ा अनर्थ करेगा।

(दोनों जाते हैं)

प्रथम अंक

स्थान—रक्त से रँगा हुआ राजभवन

(नेपथ्य में) बढ़े जाइयो ! कोटिन लवा बटेर के नाशक, वेद-धर्म-प्रकाशक, मंत्र से शुद्ध करके बकरा खानेवाले, दूसरे के मांस से अपना मांस बढ़ानेवाले, सहित सकल समाज श्रीगृध्रराज महाराजाधिराज !

(गृध्रराज, चोबदार, पुरोहित, और मंत्री आते हैं)

राजा—(बैठकर) आज की मछली कैसी स्वादिष्ट बनी थी ।

पुरोहित—सत्य है । मानो अमृत में डुबोई थी और ऐसा कहा भी है—

केचित् वदन्त्यमृतमस्ति सुरालयेषु
केचित् वदन्ति वनिताधरपल्लवेषु ।
ब्रूमो वयं सकलशास्त्रविचारदक्षाः
जंबीरनीरपरिपूरितमत्स्यखण्डे ॥

राजा—क्या तुम ब्राह्मण होकर ऐसा कहते हो ? ऐं तुम साक्षात् ऋषि के वंश में होकर ऐसा कहते हो !

पुरो०—हाँ हाँ ! हम कहते हैं और वेद, शास्त्र, पुराण, तंत्र सब कहते हैं । "जीवो जीवस्य जीवनम् ।"

राजा—ठीक है इसमें कुछ संदेह नहीं है ।

पुरो०—संदेह होता तो शास्त्र में क्यों लिखा जाता। हाँ, विना देवी अथवा भैरव के समर्पण किए कुछ होता हो तो हो भी।

मंत्री—सो भी क्यों होने लगा। भागवत में लिखा है—

"लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्यास्ति जन्तोर्नहि तत्र चोदना॥"

पुरो०—सच है और देवी की पूजा नित्य करना इसमें कुछ संदेह नहीं है, और जब देवी की पूजा भई तो मांस-भक्षण आ ही गया। वलि विना पूजा होहीगी नहीं, और जब वलि दिया तब उसका प्रसाद अवश्य ही लेना चाहिए। अजी भागवत में बलि देना लिखा है, जो वैष्णवों का परम पुरुषार्थ है।

"धूपोपहारवलिभिः सर्वकामवरेश्वरीं"

मंत्री—और "पंच पंचनखा भक्ष्याः" यह सब वाक्य बराबर से शास्त्रों में कहते ही आते हैं।

पुरो०—हाँ हाँ जी, इसमें भी कुछ पूछना है, अजी साक्षात् मनुजी कहते हैं—

"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने"

और जो मनुजी ने लिखा है कि—

"स्वमांसं परमांसेन यो वर्द्धयितुमिच्छति"

सो वही लिखते हैं—

"अनभ्यर्च्य पितॄन् देवान्"

इससे जो खाली मांस-भक्षण करते हैं उनको दोष है। महाभारत में लिखा है कि ब्राह्मण गोमांस खा गए पर पितरों को समर्पित था इससे उन्हें कुछ भी पाप न हुआ।

मंत्री—जो सच पूछो तो दोष कुछ भी नहीं है, चाहे पूजा करके खाओ चाहे वैसे खाओ।

पुरो०—हाँ जी, यह सब मिथ्या एक प्रपंच है, खूब मजे में मांस कचर-कचर के खाना और चैन करना। एक दिन तो आखिर मरना ही है, किस जीवन के वास्ते शरीर को व्यर्थ वैष्णवों की तरह क्लेश देना, इससे क्या होता है ?

राजा—तो कल हम बड़ी पूजा करेंगे। एक लाख बकरा और बहुत से पक्षी मँगवा रखना।

चोबदार—जो आज्ञा।

पुरो०—(उठकरके नाचने लगा) अहाहा ! बड़ा आनंद भया, कल खूब पेट भरेगा।

(राग कान्हरा ताल चर्चरी)

धन्य वे लोग जे मांस खाते। मच्छ बकरा लवा ससक हरना चिड़ा भेड़ इत्यादि नित चाभ जाते॥ प्रथम भोजन बहुरि होइ पूजा सुनित अतिहि सुखमा भरे दिवस जाते।

स्वर्ग को वास यह लोक में है तिन्हैं नित्य एहि रीति दिन जे बिताते ॥

(नेपथ्य में वैतालिक)

राग सोरठ

सुनिए चित्त धरि यह बात।
विना भत्तण मांस के सब व्यर्थ जीवन जात ॥
जिन न खायो मच्छ, जिन नहिं कियो मदिरा पान।
कछु कियो नहिं तिन जगत मैं यह सुनिहचै जान ॥
जिन न चूम्यौ अधर सुंदर और गोल कपोल।
जिन न परस्यौ कुंभ कुच, नहिं लखी नासा लोल ॥
एकहू निस जिन न कीनो भोग, नहिं रस लीन।
जानिए निहचै ते पशु हैं तिन कछू नहिं कीन ॥

दोहा—यह असार संसार में, चार वस्तु है सार।
जूआ मदिरा मांस अरु, नारी-संग विहार ॥

क्योंकि

"मांस एव परो धर्मो मांस एव परा गतिः।
मांस एव परो योगो मांस एव परं तपः" ॥

हे परम प्रचंड भुजदंड के बल से अनेक पाखंड के खंड को खंडन करनेवाले, नित्य एक अजापुत्र के भत्तण की सामर्थ्य आपमें बढ़ती जाय और अस्थि-माला धारण करनेवाले शिवजी आपका कल्याण करें। आप बिना ऐसी पूजा और कौन करे। (आकर बैठता है)

पुरो०—वाह वाह ! सच है, सच है ।

(नेपथ्य में)

पतिहीना तु या नारी पत्नीहीनस्तु यः पुमान् ।
उभाभ्यां षंढरंडाभ्यान्न दोषो मनुरब्रवीत् ॥

(सब चकित होकर)

ऐसा मालूम होता है कि कोई पुनर्विवाह का स्थापन करनेवाला बंगाली आता है ।

(नंगे सिर बड़ी धोती पहिने बंगाली आता है)

बंगाली—अक्षर जिसके सब बे-मेल, शब्द सब बे-अर्थ, न छंद वृत्ति न कुछ, ऐसे भी मंत्र जिसके मुँह से निकलने से सब कार्य्यों के सिद्ध करनेवाले हैं ऐसी भवानी और उनके उपदेष्टा शिवजी इस स्वतंत्र राजा का कल्याण करें ।

(राजा दंडवत करके बैठाता है)

राजा—क्योंजी भट्टाचार्य्यजी, पुनर्विवाह करना वा नहीं ?

बंगाली—पुनर्विवाह का करना क्या ! पुनर्विवाह अवश्य करना । सब शास्त्र की यही आज्ञा है, और पुनर्विवाह के न होने से बड़ा लोकसान होता है, धर्म का नाश होता है, ललनागन पुंश्चली हो जाती हैं, जो विचारकर देखिए तो विधवागन का विवाह कर देना उनको नरक से निकाल लेना है और शास्त्र की भी आज्ञा है ।

"नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते"॥
ब्राह्मणो ब्राह्मणीं गच्छेद्यती गच्छेत्तपस्विनीं।
अस्त्रीको विधवां गच्छेन्न दोषो मनुरब्रवीत्॥

राजा—यह वचन कहाँ का है?

बंगाली—यह वचन श्रीपराशर भगवान् का है जो इस युग के धर्म्मवक्ता हैं यथा—कलौ पाराशरी स्मृतिः।

राजा—क्यों पुरोहितजी, आप इसमें क्या कहते हैं?

पुरो०—कितने साधारण धर्म्म ऐसे हैं कि जिनके न करने से कुछ पाप नहीं होता, जैसा—"मध्याह्ने भोजनं कुर्य्यात्" तो इसमें न करने से कुछ पाप नहीं है, वरन व्रत करने से पुण्य होता है। इसी तरह पुनर्विवाह भी है। इसके करने से कुछ पाप नहीं होता और जो न करे तो पुण्य होता है। इसमें प्रमाण श्रीपराशरीय स्मृति में—

"मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्य्यव्रते स्थिता।
सा नारी लभते स्वर्गं यावच्चंद्रदिवाकरौ॥"

इस वचन से, और भी बहुत जगह शास्त्र में आज्ञा है, सो जो विधवा विवाह करती हैं उनको पाप तो नहीं होता पर जो नहीं करतीं उनको पुण्य अवश्य होता है, और व्यभिचारिणी होने का जो कहो सो तो विवाह होने पर भी जिसको व्यभिचार करना होगा

सो करेहीगी। जो आपने पूछा वह हमारे समझ में तो यों आता है परंतु सच पूछिए तो स्त्री तो जो चाहे सो करे इनको तो दोष ही नहीं है—

"न स्त्री जारेण दुष्यति", "स्त्रीमुखं तु सदा शुचि",
"स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु", "व्यभिचाराद्दतौ शुद्धिः"

इनके हेतु तो कोई विधि-निषेध है ही नहां, जो चाहें करें, चाहें जितना विवाह करें, यह तो केवल एक बखेड़ा मात्र है।

(सब एक-मुख होकर) सत्य है, वाह वे, क्यों न हो यथार्थ है।

चोबदार—संध्या भई महाराज!

राजा—सभा समाप्त करो।

———

द्वितीय अंक

स्थान—पूजाघर

(राजा, मंत्री, पुरोहित और उक्त भट्टाचार्य्य आते हैं और अपने-अपने स्थान पर बैठते हैं)

चोबदार—(आकर) श्रीमच्छंकराचार्य्यमतानुयायी कोई वेदांती आया है।

राजा—आदरपूर्व्वक ले आओ।

(विदूषक आया)

विदूषक—हे भगवान्, इस बकवादी राजा का नित्य कल्याण हो जिससे हमारा नित्य पेट भरता है। हे ब्राह्मण लोगो! तुम्हारे मुख में सरस्वती हंस-सहित वास करे और उसकी पूँछ मुख में न अटके। हे पुरोहित, नित्य देवी के सामने मराया करो और प्रसाद खाया करो।

(बीच में चूतर फेरकर बैठ गया)

राजा—अरे मूर्ख फिर के बैठ।

विदू०—ब्राह्मण को मूर्ख कहते हो फिर हम नहीं जानते जो कुछ तुम्हें दंड मिले, हाँ!

राजा—चल मुझ उद्दंड को कौन दंड देनेवाला है।

विदू०—हाँ फिर मालुम होगा।

(वेदांती आए)

राजा—बैठिए।

वेदांती—अद्वैतमत के प्रकाश करनेवाले भगवान् शंकराचार्य्य इस मायाकल्पित मिथ्या संसार से तुझको मुक्त करें।

विदू०—क्यों वेदांतीजी, आप मांस खाते हैं कि नहीं ?

वेदांती—तुमको इससे कुछ प्रयोजन है ?

विदू०—नहीं, कुछ प्रयोजन तो नहीं है। हमने इस वास्ते पूछा कि आप वेदांती अर्थात् बिना दाँत के हैं सो आप भक्षण कैसे करते होंगे।

(वेदांती टेढ़ी दृष्टि से देखकर चुप रह गया। सब लोग हँस पड़े)

विदू०—(बंगाली से) तुम क्या देखते हो ? तुम्हें तो चैन है। बंगाली मात्र मच्छ भोजन करते हैं।

बंगाली—हम तो बंगालियों में वैष्णव हैं। नित्यानंद महाप्रभु के संप्रदाय में हैं और मांसभक्षण कदापि नहीं करते और मच्छ तो कुछ मांसभक्षण में नहीं।

वेदांती—इसमें प्रमाण क्या ?

बंगाली—इसमें यह प्रमाण कि मत्स्य की उत्पत्ति वीर्य्य और रज से नहीं है। इनकी उत्पत्ति जल से है। इस हेतु जो फलादिक भक्ष्य हैं तो ये भी भक्ष्य हैं।

पुरो०—साधु-साधु ! क्यों न हो। सत्य है।

वेदांती—क्या तुम वैष्णव बनते हो? किस संप्रदाय के वैष्णव हो?

बंगाली—हम नित्यानंद महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु के संप्रदाय में हैं और श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु श्रीकृष्ण ही हैं इसमें प्रमाण श्रीभागवत में—

कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं सांगोपांगास्त्रपार्षदैः।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति ह्यणुमेधसः॥

वेदांती—वैष्णवों के आचार्य्य तो चार हैं। तो तुम इन चारों से विलक्षण कहाँ से आए?

अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः।

राजा—जाने दो, इस कोरी बकवाद का क्या फल है?

(नेपथ्य में)

उमासहायं परमेश्वरं विभुं त्रिलोचनं नीलकण्टं दयालुम्।
(पुनः) गोविंद नारायण माधवेति।

पुरो०—कोई वैष्णव और शैव आते हैं।

राजा—चोबदार, जा करके आदर से ले आओ। (चोबदार बाहर गया, वैष्णव और शैव को लेकर फिर आया)

(राजा ने उठकर दोनों को बैठाया)

दोनों—शंख कपाल लिए कर में, कर दूसरे चक्र त्रिशूल सुधारे।
माल बनी मणि अस्थि की कंठ में, तेज दसो दिसि माँझ पसारे॥
राधिका पारवती दिसि बाम, सबै जगनाशन पालनवारे।
चंदन भस्म को लेप किए हरि ईश हरैं सब दुःख तुम्हारे॥

बंगाली—महाराज, शैव और वैष्णव ये दोनों मत वेद के बाहर हैं।

सर्वे शाक्ता द्विजाः प्रोक्ता न शैवा न च वैष्णवाः ।
आदिदेवीमुपासन्ते गायत्रीं वेदमातरम् ॥

तथा--तस्मान्माहेश्वरी प्रजा ।

इस युग का शास्त्र तंत्र है ।

कृते श्रुत्युक्तमार्गाश्च त्रेतायां स्मृतिभाषिताः ।
द्वापरे वै पुराणोक्ताः कलौ वागमसंभवाः ॥

और कंठी रुद्राक्ष तुलसी की माला तिलक यह सब अप्रमाण है ।

शैव--मुँह सम्हाल के बोला करो, उस श्लोक का अर्थ सुनो, सर्वे शाक्ता द्विजाः प्रोक्ताः परंतु, शैवा वैष्णवा न शाक्ताः प्रोक्ताः । जो केवल गायत्री की उपासना करते हैं वे शाक्त हैं । "पुराणे हरिणा प्रोक्तौ मार्गौ द्वौ शैववैष्णवौ" ॥ और वेदों करके वेद्य शिव ही हैं ।

बंगाली—भवव्रतधरा ये च ये च तान्समनुव्रताः ।
पाखण्डिनश्च ते सर्वे सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ॥

इस वाक्य में क्या कहते हैं ?

शैव—इस वाक्य में ठीक कहते हैं । इसके आगेवाले वाक्यों से इसको मिलाओ । यह दोनों तांत्रिकों ही के वास्ते लिखते हैं । वह शैव कैसे कि—

"नष्टशौचा मूढधियो जटा-भस्मास्थिधारिणः ।
विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम् ।"

तो जहाँ दैव सुरा और आसव यही है अर्थात् तांत्रिक शैव, कुछ हम लोग शुद्ध शैव नहीं।

राजा—भला वैष्णव और शैव मांस खाते हैं कि नहीं ?

शैव—महाराज, वैष्णव तो नहीं खाते और शैवों को भी न खाना चाहिए परंतु अब के नष्ट-बुद्धि शैव खाते हैं।

पुरो०—महाराज, वैष्णवों का मत तो जैनमत की एक शाखा है और महाराज दयानंद स्वामी ने इन सबका खूब खंडन किया है, पर वह तो देवी की मूर्ति भी तोड़ने को कहते हैं। यह नहीं हो सकता क्योंकि फिर बलिदान किसके सामने होगा ?

(नेपथ्य में) नारायण

राजा—कोई साधू आता है।

(धूर्तशिरोमणि गंडकीदास का प्रवेश)

राजा—आइए गंडकीदासजी।

पुरो०—गंडकीदासजी हमारे बड़े मित्र हैं। यह और वैष्णवों की तरह जंजाल में नहीं फँसे है। यह आनंद से संसार का सुख भोग करते हैं।

गंडकी०—(धीरे-धीरे पुरोहित से) अजी, इस सभा में हमारी प्रतिष्ठा मत बिगाड़ो। वह तो एकांत की बात है।

पुरो०—वाह जी इसमें चोरी की कौन बात है ?

गंडकी०—(धीरे से) यहाँ वह वैष्णव और शैव बैठे हैं।

पुरो०—वैष्णव तुम्हारा क्या कर लेगा ! क्या किसी की डर पड़ी है ?

विदू०—महाराज. गंडकीदासजी का नाम तो रंडादासजी होता तो अच्छा होता ।

राजा—क्यों ?

विदू०—यह तो रंडा ही के दास हैं ।

आशङ्खचक्राङ्कितवाहुदण्डा गृहे समालिङ्गितबालरण्डाः ।

तथाच—भण्डा भविष्यन्ति कलौ प्रचण्डाः ।

रण्डामण्डलमण्डनेपु पटवो धूर्ताः कलौ वैष्णवाः ।

शैव, वैष्णव और वेदांती—अब हम लोग आज्ञा लेते हैं। इस सभा में रहने का हमारा धर्म्म नहीं ।

विदू०—दंडवत्, दंडवत्, जाइए भी किसी तरह ।

(सब जाते हैं)

विदू०—महाराज, अच्छा हुआ यह सब चले गए। अब आप भी चलें। पूजा का समय हुआ ।

राजा—ठीक है ।

(जवनिका गिरती है)

तृतीय अंक

स्थान—राजपथ

(पुरोहित गले में माला पहिने टीका दिए बोतल लिए उन्मत्त सा आता है)

पुरो०—(घूमकर) वाह भगवान करे ऐसी पूजा नित्य हो, अहा ! राजा धन्य है कि ऐसा धर्मनिष्ठ है, आज तो मेरा घर मांस और मदिरा से भर गया । आहा ! और आज की पूजा की कैसी शोभा थी, एक ओर ब्राह्मणों का वेद पढ़ना, दूसरी ओर बलिदानवालों का कूद-कूदकर बकरा काटना, 'वाचं ते शुंधामि', तीसरी ओर बकरों का तड़पना और चिल्लाना, चौथी ओर मदिरा के घड़ों की शोभा और बीच में होम का कुंड, उसमें मांस का चटचटाकर जलना और उसमें से चिर्राहिन की सुगंध का निकलना, वैसा ही लोहू का चारों ओर फैलना और मदिरा की छलक, तथा ब्राह्मणों का मद्य पीकर पागल होना, चारों ओर घी और चरबी का बहना, मानो इस मंत्र की पुकार सत्य होती थी ।

''घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः''

अहा! वैसी ही कुमारियों की पूजा—

"इमं त उपस्थं मधुना सृजामि प्रजापतेर्मुखमेतद्द्वितीयं तस्या योनिं परिपश्यंति धीरा:"।

अहाहा! कुछ कहने की बात नहीं है सब बातें उपस्थित थीं।

"मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धव:"—

ऐसे ही मदिरा की नदी बहती थी। (कुछ ठहरकर) जो कुछ हो मेरा तो कल्याण हो गया, अब इस धर्म के आगे तो सब धर्म तुच्छ हैं और जो मांस न खाय वह तो हिंदू नहीं जैन है, वेद में सब स्थानों पर बलि देना लिखा है। ऐसा कौन सा यज्ञ है जो बिना बलिदान का है और ऐसा कौन देवता है जो मांस बिना ही प्रसन्न हो जाता है, और जाने दीजिए इस काल में ऐसा कौन है जो मांस नहीं खाता? क्या छिपा के क्या खुले-खुले, अँगोछे में मांस और पोथी के चोंगे में मद्य छिपाई जाती है। उसमें जिन हिंदुओं ने थोड़ी भी अँगरेजी पढ़ी है वा जिनके घर में मुसल्मानी स्त्री है उनकी तो कुछ बात ही नहीं, आजाद हैं। (सिर पकड़कर) हैं माथा क्यों घूमता है? अरे मदिरा ने तो जोर किया। (उठकर गाता है) जोर किया जोर किया जोर किया रे, आज तो मैंने नशा जोर किया रे। साँझहि से हम पीने बैठे पीते पीते भोर किया रे॥ आज तो मैंने०

(गिरता-पड़ता नाचता है)

रामरस पीओ रे भाई, जो पीए सो अमर होय जाई।
चौके भीतर मुरदा पाकै जेंवेलैं नहाय कै ऐसन जनम जर जाई॥
रामरस पीओ रे भाई

अरे जो बकरी पत्ती खात है ताकी काढ़ी खाल।
अरे जो नर बकरी खात हैं तिनको कौन हवाल॥
रामरस पीओ रे भाई

यह माया हरि की कलवारिन मद पियाय राखा बौराई।
एक पड़ा भुइँया में लोटै दूसर कहै चोखी दे भाई॥
रामरस पीओ रे भाई

अरे चढ़ो है सो चढ़ी नहिं उतरन को नाम।
भर रही खुमारी तब क्या रे किसी से है काम॥
रामरस पीओ रे भाई

मीन काट जल धोइए खाए अधिक पियास।
अरे तुलसी प्रीत सराहिए मुए मीत की आस॥
रामरस पीओ रे भाई

अरे मीन पीन पाठीन पुराना भरि भरि भार कहारन आना।
महिष खाइ करि मदिरा पाना अरे गरजा रे कुंभकरन बलवाना॥
रामरस पीओ रे भाई

ऐसा है कोइ हरिजन मोदी तन की तपन बुझावेगा।
पूरन प्याला पिऐ हरी का फेर जनम नहिं पावैगा॥
रामरस पीओ रे भाई

अरे भक्तों ने रसोईं की तो मरजादही खोई।
कलिए की जगह पकने लगी रामतरोई रे॥
रामरस पीओ रे भाई

भगतजी गदहा क्यों न भयो।
जब से छोड़ी मांस-मछरियाँ सत्यानाश गयो॥
रामरस पीओ रे भाई

अरे एकादशी के मछली खाई।
अरे कबौं मरे वैकुंठै जाई॥
रामरस पीओ रे भाई

अरे तिलभर मछरी खाइवो कोटि गऊ को दान।
ते नर सीधे जात हैं सुरपुर बैठि विमान॥
रामरस पीओ रे भाई

कंठी तोड़ो माला तोड़ो गंगा देहु बहाई।
अरे मदिरा पीयो खाइ कै मछरी बकरा जाहु चबाई।
रामरस पीओ रे भाई

ऐसी गाढ़ी पीजिए ज्यों मोरी की कीच।
घर के जानै मर गए आप नशे के बीच॥
रामरस पीओ रे भाई

(नाचता-नाचता गिर के अचेत हो जाता है)

[मतवाले बने हुए राजा और मंत्री आते हैं]

राजा—मंत्री, पुरोहितजी तो बेसुध पड़े हैं।

मंत्री—महाराज, पुरोहितजी आनंद में हैं। ऐसे ही लोगों को मोक्ष मिलता है।

राजा—सच है। कहा भी है—

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा पतित्वा धरणीतले।
उत्थाय च पुनः पीत्वा नरो मुक्तिमवाप्नुयात् ॥

मंत्री—महाराज, संसार के सार मदिरा और मांस ही हैं।
"मकाराः पञ्च दुर्लभाः।"

राजा—इसमें क्या संदेह।

वेद वेद सबही कहैं, भेद न पायो कोय।
बिन मदिरा के पान सों, मुक्ति कहो क्यों होय ॥

मंत्री—महाराज, ईश्वर ने बकरा इसी हेतु बनाया ही है, नहीं और बकरा बनाने का काम क्या था? बकरे केवल यज्ञार्थ बने हैं और मद्य पानार्थ।

राजा—यज्ञो वै विष्णुः, यज्ञेन यज्ञमयजंत देवाः, यज्ञाद्भवति पर्ज्जन्यः, इत्यादि श्रुतिस्मृति में यज्ञ की कैसी स्तुति की है और "जीवो जीवस्य जीवनं" जीव इसी हेतु हैं क्योंकि—
"मांस भात को छोड़िकै का नर खैहैं घास?"

मंत्री—और फिर महाराज, यदि पाप होता भी हो तो मूर्खों को होता होगा। जो वेदांती अपनी आत्मा में रमण करनेवाले ब्रह्मस्वरूप ज्ञानी हैं उनको क्यों होने लगा? कहा है न—

यावद्धतोस्मि हंतास्मीत्यात्मानं मन्यतेऽस्वदृक्।
तावदेवाभिमानज्ञो बाध्यबाधकतामियात् ॥

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचंति पंडिताः ॥
नैनं छिंदंति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ॥
अच्छेद्योयमदाह्योयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ॥
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

इससे हमारे आप से ज्ञानियों को तो कोई बंधन ही नहीं है। और सुनिए मदिरा को अब लोग कमेटी करके उठाया चाहते हैं वाह वे वाह !

राजा—छिः अजी मद्यपान गीता में लिखा है "मद्याजी मां नमस्कुरु।"

मंत्री—और फिर इस संसार में मांस और मद्य से बढ़कर कोई वस्तु है भी तो नहीं।

राजा—आहा ! मदिरा की समता कौन करेगा जिसके हेतु लोग अपना धर्म छोड़ देते हैं। देखो—

मदिरा ही के पान हित, हिंदू धर्महिं छोड़ि।
बहुत लोग ब्राह्मो बनत, निज कुल सों मुख मोड़ि॥
ब्रांडी को अरु ब्राह्म को, पहिलो अच्छर एक।
तासों ब्राह्मो धर्म में, यामें दोस न नेक॥

मंत्री—महाराज, ब्राह्मो को कौन कहे हम लोग तो वैदिक धर्म मानकर सौत्रामणि यज्ञ करके मदिरा पी सकते हैं।

राजा—सच है, देखो न—

मदिरा को तो अंत अरु, आदि राम को नाम।
तासों तामैं दोष कछु, नहिं यह बुद्धि ललाम॥

तिष्ठ तिष्ठ च्छन मद्य हम, पियैं न जब लौं नीच।
यह कहि देवी क्रोध सों, हत्यौ शुंभ रन बीच॥
मद पी विधि जग को करत, पालत हरि करि पान।
मद्यहि पी कै नाश सब, करत शंभु भगवान॥
विष्णु वारुनी पोर्ट पुरु-षोत्तम मद्य मुरारि।
शांपिन शिव गौरी गिरिश, ब्रांडी ब्रह्म विचारि॥

मंत्री—और फिर महाराज, ऐसा कौन है जो मद्य नहीं पीता, इससे तो हमीं लोग न अच्छे जो विधिपूर्वक वेद की रीति से पान करते हैं और यों छिपके इस समय में कौन नहीं करता।

ब्राह्मण च्छत्री वैश्य अरु, सय्यद सेख पठान।
दै बताइ मोहि कौन जो, करत न मदिरा पान॥
पियत भट्ट के ठट्ट अरु, गुजरातिन के वृंद।
गौतम पियत अनंद सों, पियत अग्र के नंद॥
ब्राह्मण सब छिपि छिपि पियत, जामैं जानि न जाय।
पोथी के चोंगान भरि, बोतल बगल छिपाय॥
वैष्णव लोग कहावहीं, कंठी मुद्रा धारि।
छिपि छिपि कै मदिरा पियहिं, यह जिय माँझ विचारि॥
होटल में मदिरा पियैं, चोट लगे नहिं लाज।
लोट लए ठाढ़े रहत, टोटल दैवे काज॥
राजा राजकुमार मिलि, बाबू लीने संग।
बार-बधुन लै बाग में, पीअत भरे उमंग॥

राजा—सच है इसमें क्या संदेह है।

मंत्री—महाराज, मेरा सिर घूमता है और ऐसी इच्छा होती है कि कुछ नाचूँ और गाऊँ।

राजा—ठीक है मैं भी नाचूँ-गाऊँगा, तुम प्रारंभ करो।

(मंत्री उठकर राजा का हाथ पकड़कर गिरता-पड़ता नाचता और गाता है)

पीले अवधू के मतवाले प्याला प्रेम हरी रस का रे।
तननुं तननुं तननुं तननुं में गाने का है चसका रे॥
निनि धध पप मम गग रिरि सासा भरले सुर अपने बसका रे।
धिधिकट धिधिकट धिधिकट धाधा बजै मृदंग थाप कसका रे॥
पीले अवधू के०।

भट्ठी नहिं सील लोढ़ा नहीं घोर घार।
पलकन की फेरन में चढ़त धुआँधार॥
पीले अवधू के०।

कलवारिन मदमाती काम कलोल।
भरि भरि देत पियलवा महा ठठोल॥
पीले अवधू के०।

अरी गुलाबी गाल की लिए गुलाबी हाथ।
मोहि दिखाव मद की झलक छलक पियालो साथ॥
पीले अवधू के मतवाले०।

बहार आई है भर दे बादए गुलगूँ से पैमाना।
रहै लाखों बरस साकी तेरा आबाद मैखाना॥

सम्हल बैठो अरे मस्तो जरा हुशियार हो जाओ।
कि साकी हाथ में मै का लिए पैमाना आता है॥
उड़ाता खाक सिर पर झूमता मस्ताना आता है।
पीले अवधू के—अहाँ अहाँ अहाँ।
यह अठरंग है लोग चतुरंग ही गाते हैं।
न जाय न जाय मो सों मदवा भरीलो न जाय
तब फिर कहाँ से—
ड्रिंक डीप आर टेस्ट नाट दि पीयरियन स्प्रिंग
Drink deep or taste not the Pierian spring
पीले अवधू के मतवाले प्याला प्रेमहरी रस का रे।

(एक दूसरे के सिर पर धौल मारकर ताल देकर नाचते हैं। फिर एक पुरोहित का सिर पकड़ता है, दूसरा पैर और उसको लेकर नाचते हैं)

(जवनिका गिरती है)

चतुर्थ अंक

स्थान—यमपुरी

[यमराज बैठे हैं और चित्रगुप्त पास खड़े हैं]

(चार दूत, राजा, पुरोहित, मंत्री, गंडकीदास, शैव और वैष्णव को पकड़कर लाते हैं)

१ दूत—(राजा के सिर में धौल मारकर) चल बे चल, अब यहाँ तेरा राज नहीं है कि छत्र-चँवर होगा, फूल से पैर रखता है, चल भगवान् यम के सामने, और अपने पाप का फल भुगत, बहुत कूद-कूदके हिंसा की और मदिरा पी, सौ सोनार की न एक लोहार की। (दो धौल और लगाता है)

२ दूत—(पुरोहित को घसीटकर) चलिए पुरोहितजी, दक्षिणा लीजिए, वहाँ आपने चक्र-पूजन किया था, यहाँ चक्र में आप चलिए, देखिए बलिदान का कैसा बदला लिया जाता है।

३ दूत—(मंत्री की नाक पकड़कर) चल बे चल, राज के प्रबंध के दिन गए, जूती खाने के दिन आए, चल अपने किए का फल ले।

४ दूत—(गंडकीदास का कान पकड़कर झोंका देकर) चल रे पाखंडी चल, यहाँ लंबा टीका काम न आवेगा।

देख वह सामने पाखंडियों का मार्ग देखनेवाले सर्प मुँह खोले बैठे हैं।

(सब यमराज के सामने जाते हैं)

यम०—(वैष्णव और शैव से) आप लोग यहाँ आकर मेरे पास बैठिए।

वै० और शै०—जो आज्ञा। (यमराज के पास बैठ जाते हैं)

यम०—चित्रगुप्त, देखो तो इस राजा ने कौन-कौन कर्म्म किए हैं।

चित्र०—(बही देखकर) महाराज, सुनिए, यह राजा जन्म से पाप में रत रहा, इसने धर्म्म को अधर्म्म माना और अधर्म्म को धर्म्म माना, जो जी चाहा किया और उसकी व्यवस्था पंडितों से ले ली, लाखों जीव का इसने नाश किया और हजारों घड़े मदिरा के पी गया पर आड़ सर्व्वदा धर्म्म की रखी; अहिंसा, सत्य, शौच, दया, शांति और तप आदि सच्चे धर्म्म इसने एक न किए, जो कुछ किया वह केवल वितंडा कर्म्म जाल किया, जिसमें मांस भक्षण और मदिरा पीने को मिले, और परमेश्वर-प्रीत्यर्थ इसने एक कौड़ी भी नहीं व्यय की, जो कुछ व्यय किया सब नाम और प्रतिष्ठा पाने के हेतु।

यम०—प्रतिष्ठा कैसी, धर्म्म और प्रतिष्ठा से क्या संबंध ?

चित्र०—महाराज, सर्कार अँगरेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार उदारता करता है उसको "स्टार आफ इंडिया" की पदवी मिलती है।

यम०—अच्छा! तो वड़ा ही नीच है, क्या हुआ मैं तो उपस्थित ही हूँ।

"अंत:प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यम:"

भला पुरोहित के कर्म्म तो सुनाओ।

चित्र०—महाराज, यह शुद्ध नास्तिक है, केवल दंभ से यज्ञोपवीत पहिने है, यह तो इसी श्लोक के अनुरूप है—

अंत:शाक्ता बहि:शैवा: सभामध्ये च वैष्णवा:।
नानारूपधरा: कौला विचरन्ति महीतले॥

इसने शुद्ध चित्त से ईश्वर पर कभी विश्वास नहीं किया, जो-जो पक्ष राजा ने उठाए उसका समर्थन करता रहा और टके-टके पर धर्म्म छोड़कर इसने मनमानी व्यवस्था दी, दक्षिणा मात्र दे दीजिए फिर जो कहिए उसी में पंडितजी की सम्मति है, केवल इधर-उधर कमंडलाचार करते इसका जन्म बीता और राजा के संग से मांस-मद्य का भी बहुत सेवन किया सैकड़ों जीव अपने हाथ से बध कर डाले।

यम०—अरे यह तो वड़ा दुष्ट है, क्या हुआ मुझसे काम पड़ा है, यह वचा जी तो ऐसे ठीक होंगे जैसा चाहिए, अब तुम मंत्रीजी के चरित्र कहो।

चित्र०—महाराज, मंत्रीजी की कुछ न पूछिए। इसने कभी स्वामी का भला नहीं किया, केवल चुटकी वजाकर हाँ में हाँ मिलाया, मुँह पर स्तुति पीछे निंदा, अपना घर

बनाने से काम, स्वामी चाहे चूल्हे में पड़े, घूस लेते जन्म बीता, मांस और मद्य के बिना इसने न और धर्म्म जाने न कर्म्म जाने—यह मंत्री की व्यवस्था है, प्रजा पर कर लगाने में तो पहिले सम्मति दी पर प्रजा के सुख का उपाय एक भी न किया।

यम०—भला ये श्रीगंडकीदासजी आए हैं इनका पवित्र चरित्र पढ़ो कि सुनकर कृतार्थ हों, देखने में तो बड़े लंबे-लंबे तिलक दिए हैं।

चित्र०—महाराज, ये गुरु लोग हैं, इनके चरित्र कुछ न पूछिए, केवल दंभार्थ इनका तिलक-मुद्रा और केवल ठगने के अर्थ इनकी पूजा, कभी भक्ति से मूर्त्ति को दंडवत् न किया होगा पर मंदिर में जो स्त्रियाँ आईं उनको सर्वदा तकते रहे; महाराज, इन्होंने अनेकों को कृतार्थ किया है और समय तो मैं श्रीरामचंद्रजी का श्रीकृष्ण का दास हूँ पर जब स्त्री सामने आवे तो उससे कहेंगे मैं राम तुम जानकी, मैं कृष्ण तुम गोपी और स्त्रियाँ भी ऐसी मूर्ख कि फिर इन लोगों के पास जाती हैं, हा! महाराज, ऐसे पापी धर्म्मवंचकों को आप किस नरक में भेजिएगा।

(नेपथ्य में बड़ा कलकल होता है)

यम०—कोई दूत जाकर देखो यह क्या उपद्रव है।

१ दूत—जो आज्ञा। (बाहर जाकर फिर आता है) महाराज, संयमनीपुरी की प्रजा बड़ी दुखी है, पुकार करती है कि

ऐसे आज कौन पापी नरक में आए हैं जिनके अंग के वायु से हम लोगों का सिर घूमा जाता है और अंग जलता है। इनको तो महाराज शीघ्र ही नरक में भेजें नहीं तो हम लोगों के प्राण निकल जायँगे।

यम०—सच है, ये ऐसे ही पापी हैं, अभी मैं इनका दंड करता हूँ, कह दो घबड़ायँ न।

१ दूत—जो आज्ञा। (बाहर जाकर फिर आता है)

यम०—(राजा से) तुझ पर जो दोष ठहराए गए हैं बोल उनका क्या उत्तर देता है।

राजा—(हाथ जोड़कर) महाराज, मैंने तो अपने जान सब धर्म्म ही किया कोई पाप नहीं किया, जो मांस खाया वह देवता-पितर को चढ़ाकर खाया और देखिए महाभारत में लिखा है कि ब्राह्मणों ने भूख के मारे गोवध करके खा लिया पर श्राद्ध कर लिया था इससे कुछ नहीं हुआ।

यम०—कुछ नहीं हुआ, लगें इसको कोड़े।

१ दूत—जो आज्ञा। (कोड़े मारता है)

राजा—(हाथ से बचा-बचाकर) हाय-हाय, दुहाई-दुहाई, सुन लीजिए—

सप्तव्याधा दशार्णेषु मृगाः कालंजरे गिरौ।
चक्रवाकाः शरद्वीपे हंसाः सरसि मानसे॥
तेपि जाताः कुरुक्षेत्रे ब्राह्मणा वेदपारगाः।
प्रस्थिता दीर्घमध्वानं यूयं किमवसीदथ॥

यह वाक्य लोग श्राद्ध के पहिले श्राद्ध शुद्ध होने को पढ़ते हैं फिर मैंने क्या पाप किया। अब देखिए, अँगरेजों के राज्य में इतनी गोहिंसा होती है सब हिंदू बीफ खाते हैं उन्हें आप नहीं दंड देते और हाय हमसे धार्म्मिक की यह दशा, दुहाई वेदों की, दुहाई धर्म्म-शास्त्र की, दुहाई व्यासजी की, हाय रे, मैं इनके भरोसे मारा गया।

यम०—बस चुप रहो, कोई है? यह अंधतामिस्त्र नामक नरक में जायगा। अभी इसको अलग रखो।

१ दूत—जो आज्ञा महाराज। (पकड़-खींचकर एक ओर खड़ा करता है)

यम०—(पुरोहित से) बोल बे ब्राह्मणाधम! तू अपने अपराधों का क्या उत्तर देता है?

पुरो०—(हाथ जोड़कर) महाराज, मैं क्या उत्तर दूँगा, वेद-पुराण सब उत्तर देते हैं।

यम०—लगें कोड़े, दुष्ट वेद-पुराण का नाम लेता है।

२ दूत—जो आज्ञा। (कोड़े मारता है)

पुरो०—दुहाई-दुहाई, मेरी बात तो सुन लीजिए। यदि मांस खाना बुरा है तो दूध क्यों पीते हैं, दूध भी तो मांस ही है और अन्न क्यों खाते हैं अन्न में भी तो जीव है और वैसे ही सुरापान बुरा है तो वेद में सोमपान क्यों लिखा है और महाराज, मैंने तो जो बकरे खाए वह जगदंबा के

सामने बलि देकर खाए, अपने हेतु कभी हत्या नहीं की और न अपने राजा साहब की भाँति मृगया की। दुहाई, ब्राह्मण व्यर्थ पीसा जाता है और महाराज, मैं अपनी गवाही के हेतु बाबू राजेंद्रलाल के दोनों लेख देता हूँ, उन्होंने वाक्य और दलीलों से सिद्ध कर दिया है कि मांस की कौन कहे गोमांस खाना और मद्य पीना कोई दोष नहीं, आगे के हिंदू सब खाते-पीते थे। आप चाहिए एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल मँगा के देख लीजिए।

यम०—बस चुप, दुष्ट! जगदंबा कहता है और फिर उसी के सामने उसी जगत् के एक बकरे को अर्थात् उसके पुत्र ही को बलि देता है। अरे दुष्ट, अपनी अंबा कह, जगदंबा क्यों कहता है, क्या बकरा जगत् के बाहर है? चांडाल सिंह को बलि नहीं देता—"अजापुत्रं बलिं दद्याद्देवोदुर्बलघातकः" कोई है? इसको सूचीमुख नामक नरक में डालो। दुष्ट कहीं का वेद-पुराण का नाम लेता है। मांस-मदिरा खाना-पीना है तो यों ही खाने में किसने रोका है, धर्म्म को बीच में क्यों डालता है, बाँधो!

२ दूत—जो आज्ञा महाराज। (बाँधकर एक ओर खड़ा करता है)

यम०—(मंत्री से) बोल बे, तू अपने अपराधों का क्या उत्तर देता है?

मंत्री—(आप ही आप) मैं क्या उत्तर दूँ, यहाँ तो सब बात बेरंग है। इन भयावनी मूर्त्तियों को देखकर प्राण तो सूखे जाते हैं उत्तर क्या दूँ। हाय-हाय, इनके ऐसे बड़े-बड़े दाँत हैं कि मुझे तो एक ही कवर कर जायँगे।

यम०—बोल जल्दी।

३ दूत—(एक कोड़ा मारकर) बोलता है कि नहीं।

मंत्री—(हाथ जोड़कर) महाराज, अभी सोचकर उत्तर देता हूँ। (कुछ सोचकर, चित्रगुप्त से) आप मुझे एक बेर राज्य पर भेज दीजिए, मैंने जितना धन बड़ी-बड़ी कठिनाई और बड़े-बड़े अधर्म से एकत्र किया है सब आप को भेंट करूँगा और मैं निरपराधी कुटुंबी हूँ मुझे छोड़ दीजिए।

चित्र०—(क्रोध से) अरे दुष्ट, यह भी क्या मृत्युलोक की कचहरी है कि तू हमें घूस देता है और क्या हम लोग वहाँ के न्यायकर्त्ताओं की भाँति जंगल से पकड़कर आए हैं कि तुम दुष्टों के व्यवहार नहीं जानते। जहाँ तू आया है और जो गति तेरी है वही घूस लेनेवालों की भी होगी।

यम०—(क्रोध से) क्या यह दुष्ट द्रव्य दिखाता है? भला रे दुष्ट! कोई है इसको पकड़कर कुंभीपाक में डालो।

३ दूत—जो आज्ञा महाराज। (पकड़कर खींचता है)

यम०—अब आप बोलिए बाबाजी, आप अपने पापों का क्या उत्तर देते हैं?

गंडकी०—मैं क्या उत्तर दूँगा। पाप-पुण्य जो करता है ईश्वर करता है, इसमें मनुष्य का क्या दोष है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्व्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥

मैं तो आज तक सर्वदा अच्छा ही करता रहा।

यम०—कोई है? लगें कोड़े दुष्ट को, अब ईश्वर फल भी भुगतेगा। हाय-हाय, ये दुष्ट दूसरों की स्त्रियों को माँ और बेटी कहते हैं और लंबा-लंबा टीका लगाकर लोगों को ठगते हैं।

४ दूत—महाराज, यह किस नरक में जायगा? (कोड़े मारता है)

गंडकी०—हाय-हाय दुहाई, अरे कंठी-टीका कुछ काम न आया। अरे कोई नहीं है जो इस समय बचावे।

यम०—यह दुष्ट रौरव नरक में जायगा जहाँ इसको ऐसे ही अनेक धर्म्मवंचक मिलेंगे। ले जाओ सबको।

(चारों दूत चारों को पकड़कर घसीटते और मारते हैं और चारों चिल्लाते हैं)

चारों—अरे "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।"
हाय रे "अग्निष्टोमे पशुमालभेत।"
अरे बाप रे "सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्॥"
भैया रे "श्रोत्रं ते शुंधामि।"

(यही कहकर चिल्लाते हैं और दूत लोग उनको घसीटकर मारते-मारते ले जाते हैं)

यम०—(शैव और वैष्णव से) आप लोगों की अकृत्रिम भक्ति से ईश्वर ने आपको कैलास और वैकुंठ वास की आज्ञा दी है सो आप लोग जाइए और अपने सुकृत का फल भोगिए। आप लोगों ने इन धर्म्मवंचकों की दशा तो देखी ही है, देखिए पापियों की यह गति होती है और आपसे सुकृतियों को ईश्वर प्रसन्न होकर सामीप्य मुक्ति देता है सो लीजिए, आप लोगों को परम पद मिला। बधाई है, कहिए इससे भी विशेष कोई आपका हित हो तो मैं पूर्ण करूँ।

शै० और वै०—(हाथ जोड़कर) भगवन्! इससे बढ़कर और हम लोगों का क्या हित होगा। तथापि यह नाटकाचार्य्य भरतऋषि का वाक्य सफल हो।

निज स्वारथ को धरम दूर या जग सों होई।
ईश्वर पद मैं भक्ति करैं छल बिनु सब कोई॥
खल के विष-बैनन सों मत सज्जन दुख पावैं।
छुटै राज-कर मेघ समय पै जल बरसावैं॥
कजरी ठुमरिन सों मोड़ि मुख सत कविता सब कोइ कहै।
यह कवि बानी बुध-बदन में रवि ससि लौं प्रगटित रहै॥

(सब जाते हैं)

(जवनिका गिरती है)



सत्यहरिश्चंद्र

नाटक

संवत् १९३२

२६

उपक्रम

मेरे मित्र बाबू बालेश्वरप्रसाद, बी० ए०, ने मुझसे कहा कि आप कोई ऐसा नाटक भी लिखें जो लड़कों के पढ़ने-पढ़ाने के योग्य हो, क्योंकि शृंगाररस के आपने जो नाटक लिखे हैं वे बड़े लोगों के पढ़ने के हैं, लड़कों को उनसे कोई लाभ नहीं। उन्हीं के इच्छानुसार मैंने यह सत्यहरिश्चंद्र नामक रूपक लिखा है। इसमें सूर्यकुल-संभूत राजा हरिश्चंद्र की कथा है। राजा हरिश्चंद्र सूर्यवंश का अट्ठाइसवाँ राजा रामचंद्र से ३५ पीढ़ी पहले त्रिशंकु का पुत्र था। इसने शौभपुर नामक एक नगर बसाया था और बड़ा ही दानी था। इसकी कथा शास्त्रों में बहुत प्रसिद्ध है और संस्कृत में राजा महिपालदेव के समय में आर्य क्षेमीश्वर कवि ने चंडकौशिक नामक नाटक इन्हीं हरिश्चंद्र के चरित्र में बनाया है। अनुमान होता है कि इस नाटक को बने चार सौ बरस से ऊपर हुए, क्योंकि विश्वनाथ कविराज ने अपने साहित्य-ग्रंथ में इसका नाम लिखा है। कौशिक विश्वामित्र का नाम है। हरिश्चंद्र और विश्वामित्र दोनों शब्द व्याकरण की रीति से स्वयंसिद्ध हैं। विश्वामित्र कान्यकुब्ज का क्षत्रिय राजा था। यह एक बेर संयोग से वशिष्ठ के आश्रम में गया और जब वशिष्ठ ने सैन-समेत उसकी ज़ाफत अपनी शबला नाम कामधेनु गऊ के प्रताप से बड़े धूमधाम से की तो विश्वामित्र ने वह कामधेनु लेनी

चाही। जब हजारों हाथी, घोड़े और ऊँट के बदले भी वशिष्ठ ने गऊ न दी तो विश्वामित्र ने गऊ छीन लेनी चाही। वशिष्ठ की आज्ञा से कामधेनु ने विश्वामित्र की सब सेना का नाश कर दिया और विश्वामित्र के सौ पुत्र भी वशिष्ठ ने शाप से जला दिए। विश्वामित्र इस पराजय से उदास होकर तप करने लगे और महादेवजी से वरदान में सब अस्त्र पाकर फिर वशिष्ठ से लड़ने आए। वशिष्ठ ने मंत्र के बल से एक ऐसा ब्रह्मदंड खड़ा कर दिया कि विश्वामित्र के सब अस्त्र निष्फल हुए। हारकर विश्वामित्र ने सोचा कि अब तप करके ब्राह्मण होना चाहिए और तप करके अंत में ब्राह्मण और ब्रह्मर्षि हो गए। यह वाल्मीकीय रामायण के बालकांड के ५२ से ६० सर्ग तक सविस्तर वर्णित है।

जब हरिश्चंद्र के पिता त्रिशंकु ने इसी शरीर से स्वर्ग जाने के हेतु वशिष्ठजी से कहा तो उन्होंने उत्तर दिया कि वह अशक्य काम हमसे न होगा। तब त्रिशंकु वशिष्ठ के सौ पुत्रों के पास गया और जब उनसे भी कोरा जवाब पाया तब कहा कि तुम्हारे पिता और तुम लोगों ने हमारी इच्छा पूरी नहीं की और हमको कोरा जवाब दिया इससे अब हम दूसरा पुरोहित करते हैं। वशिष्ठ के पुत्रों ने इस बात से रुष्ट होकर त्रिशंकु को शाप दिया कि तू चांडाल हो जा। विचारा त्रिशंकु चांडाल बनकर विश्वामित्र के पास गया और दुखी होकर अपना सब हाल वर्णन किया। विश्वामित्र ने अपने पुराने वैर

का बदला लेने का अच्छा अवसर सोचकर राजा से प्रतिज्ञा किया कि इसी देह से तुमको स्वर्ग भेजेंगे और सब मुनियों को बुलाकर यज्ञ करना चाहा। सब ऋषि तो आए, पर वशिष्ठ के सौ पुत्र नहीं आए और कहा कि जहाँ चांडाल यजमान और क्षत्रिय पुरोहित वहाँ कौन जाय। क्रोधी विश्वामित्र ने इस बात से रुष्ट होकर शाप से वशिष्ठ के उन सौ पुत्रों को भस्म कर दिया। यह देखकर और बिचारे ऋषि मारे डर के यज्ञ करने लगे। जब मंत्रों से बुलाने से देवता लोग यज्ञ-भाग लेने न आए तो विश्वामित्र ने क्रोध से श्रुवा उठाकर कहा कि त्रिशंकु! यज्ञ से कुछ काम नहीं, तुम हमारे तपोबल से स्वर्ग जाओ। त्रिशंकु इतना कहते ही आकाश की ओर उड़ा। जब इंद्र ने देखा कि त्रिशंकु सशरीर स्वर्ग में आया चाहता है तो पुकारा कि अरे तू यहाँ आने के योग्य नहीं है, नीचे गिर। त्रिशंकु यह सुनते ही उलटा होकर नीचे गिरा और विश्वामित्र को त्राहि-त्राहि पुकारा। विश्वामित्र ने तप-बल से उसको वहाँ बीच ही में स्थिर रखा। कर्मनाशा नामक नदी त्रिशंकु के ही लार से बनी है। फिर देवताओं पर क्रोध करके विश्वामित्र ने सृष्टि ही दूसरी करनी चाही। दक्षिणध्रुव के समीप सप्तर्षि और नक्षत्र इन्होंने नए बनाए और बहुत से जीव-जंतु-फल-मूल बनाकर जब इंद्रादिक देवता भी दूसरे बनाने चाहे तब देवता लोग डरकर इनसे क्षमा माँगने गए। इन्होंने अपनी बनाई सृष्टि स्थिर रखकर और

दक्षिणाकाश में त्रिशंकु को ग्रह की भाँति प्रकाशमान स्थिर रख क्षमा किया। यह सब भी रामायण ही में है। फिर एक बेर पानी नहीं बरसा, इससे बड़ा काल पड़ा। विश्वामित्र एक चांडाल के घर भीख माँगने गए और जब कुत्ते का मांस पाया तो उसी से देवताओं को बलि दिया। देवता लोग इनके भय से काँप गए और इंद्र ने उस समय पानी बरसाया। यह प्रसंग महाभारत के शांतिपर्व्व के १४१ अध्याय में है। फिर हरिश्चंद्र की विपत्ति सुनकर क्रोध से वशिष्ठजी ने उनको शाप दिया कि तुम बकुला हो जाओ और विश्वामित्र ने यह सुनकर वशिष्ठ को शाप दिया कि तुम आड़ी* हो जाओ। पक्षी बनकर दोनों ने बड़ा घोर युद्ध किया, जिससे त्रैलोक्य काँप गया। अंत में ब्रह्मा ने दोनों से मेल कराया। यह उपाख्यान मार्कंडेय पुराण के नवें अध्याय में है। इनकी उत्पत्ति यों है—भृगु ने जब अपने पुत्र च्यवन ऋषि को ब्याह किए देखा तो बड़े प्रसन्न हुए और बेटा, बहू देखने को उनके घर आए। उन दोनों ने पिता की पूजा की और हाथ जोड़कर सामने खड़े हो गए। भृगु ने बहू से कहा कि बेटी, वर माँग। सत्यवती ने यह वर माँगा कि मुझे तो वेदशास्त्र जाननेवाला और मेरी माता को युद्धविद्या-विशारद पुत्र हो। भृगु ने एवमस्तु कहकर ध्यान दे प्राणायाम किया और उनके श्वास से दो चरु उत्पन्न हुए। भृगु ने वह बहू को देकर कहा कि यह

* किसी जाति का गिद्ध।

लाल चरु तो तुम्हारी माता प्रति ऋतु समय में अश्वत्थ का आलिंगन करके खाय और तुम यह सफेद चरु उसी भाँति उदुंबर का आलिंगन करके खाना। भृगु के वाक्यानुसार सत्यवती ने कन्नौज के राजा गाधि की स्त्री अपनी माता से सब कहा। उसकी माता ने यह समझकर कि ऋषि ने अपनी पतोहू को अच्छा बालक होने को चरु दिया होगा, जब ऋतु-काल आया तब लाल चरु तो कन्या को खिलाया और सफेद आप खाया। भगवान् भृगु ने तपोबल से जब यह बात जानी तो आकर बहू से कहा कि तुमने चरु को उलट-पुलट किया इससे तुम्हारा लड़का ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियकर्मा होगा और तुम्हारा भाई क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मण हो जायगा। सत्यवती ने जब ससुर से इस अपराध की क्षमा चाही तब उन्होंने कहा कि अच्छा तुम्हारे पुत्र के बदले पौत्र क्षत्रियकर्म्मा होगा। वही राजा गाधि को तो विश्वामित्र हुए और च्यवन को जमदग्नि और जमदग्नि को परशुराम हुए। यह उपाख्यान कालिकापुराण के ८४ अध्याय में स्पष्ट है।

इन उपाख्यानों के जानने से इस नाटक के पढ़नेवालों को बड़ी सहायता मिलेगी। इस भारतवर्ष में उत्पन्न और इन्हीं हम लोगों के पूर्व पुरुष महाराज हरिश्चंद्र भी थे। यह समझकर इस नाटक के पढ़नेवाले कुछ भी अपना चरित्र सुधारेंगे तो कवि का परिश्रम सुफल होगा।

समर्पण

नाथ !

यह एक नया कौतुक देखो। तुम्हारे सत्यपथ पर चलने-वाले कितना कष्ट उठाते हैं, यही इसमें दिखाया है। भला हम क्या कहें ? जो हरिश्चंद्र ने किया वह तो अब कोई भी भारतवासी न करेगा, पर उस वंश ही के नाते इनको भी मानना। हमारी करतूत तो कुछ भी नहीं, पर तुम्हारी तो बहुत कुछ है। बस, इतना ही सही। लो सत्यहरिश्चंद्र तुम्हें समर्पित है, अंगीकार करो। छल मत समझना। सत्य का शब्द सार्थ है, कुछ पुस्तक के बहाने समर्पण नहीं है।

तुम्हारा

हरिश्चंद्र

सत्यहरिश्चंद्र

मंगलाचरण

दोहा

सत्यासक्त दयालु द्विज प्रिय अघहर सुखकंद।
जनहित कमलातजन जय शिव नृप कवि हरिचंद *॥

(नांदी के पीछे सूत्रधार † आता है)

सूत्र०—अहा ! आज की संध्या भी धन्य है कि इतने गुणज्ञ और रसिक लोग एकत्र हैं और सबकी इच्छा है कि हिंदी भाषा का कोई नवीन नाटक देखें। धन्य है विद्या का प्रकाश कि जहाँ के लोग नाटक किस चिड़िया का नाम है इतना भी नहीं जानते थे, भला वहाँ अब लोगों की इच्छा इधर प्रवृत्त तो हुई। परंतु हा ! शोच की

---

* यह श्लेष शिवजी, राजा हरिश्चंद्र, श्रीकृष्ण, चंद्रमा और कवि पाँच का वर्णन करता है।

† सूत्रधार हरे वा नीले रंग की साटन का कामदार जाँघिया पहिने, उसके आगे पटुके की तरह कमरबंद के दोनों किनारे नीचे-ऊपर लटकते हुए, गले में चुस्त सामने बुताम की मिरजई, ऊपर माला वगैरह और सब गहने, सिर पर टिपारा, पैर में घुँघरू, हाथ में छड़ी, सिर पर मुकुट।

बात है कि जो बड़े-बड़े लोग हैं और जिनके किए कुछ हो सकता है वे ऐसी अंध-परंपरा में फँसे हैं और ऐसे बेपरवाह और अभिमानी हैं कि सच्चे गुणियों की कहीं पूछ ही नहीं है। केवल उन्हीं की चाह और उन्हीं की बात है जिन्हें झूठी खैरखाही दिखानी वा लंबा-चौड़ा गाल बजाना आता है। (कुछ सोचकर) क्या हुआ, ढंग पर चला जायगा तो यों भी बहुत कुछ हो रहेगा। काल बड़ा बली है, धीरे-धीरे सब आप ही कर देगा। पर भला आज इन लोगों को लीला कौनसी दिखाऊँ। (सोचकर) अच्छा, उनसे भी तो पूछ लें? ऐसे कौतुकों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की बुद्धि विशेष लड़ती है। (नेपथ्य की ओर देखकर) मोहना! अपनी भाभी को जरा इधर तो भेजना।

(नेपथ्य में से, 'मैं तो आप ही आती थी' कहती हुई नटी ※ आती है)

नटी—मैं तो आप ही आती थी। वह एक मनिहारिन आ गई थी, उसी के बखेड़े में लग गई, नहीं तो अब तक कभी की आ चुकी होती। कहिए, आज जो लीला करनी हो वह पहिले ही से जानी रहे तो मैं और सभों से कह के सावधान कर दूँ।

※ महाराष्ट्री वेष, कमर पर पेटी कसे वा मर्दाना कपड़ा पहिने पर जेवर सब जनाने।

सूत्र०—आज का नाटक तो हमने तुम्हारी ही प्रसन्नता पर छोड़ दिया है।

नटी—हम लोगों को तो सत्यहरिश्चंद्र आजकल अच्छी तरह याद है और उसका खेल भी सब छोटे-बड़े को मँज रहा है।

सूत्र०—ठीक है, यही हो। भला इससे अच्छा और कौन नाटक होगा। एक तो इन लोगों ने उसे अभी देखा नहीं है, दूसरे आख्यान भी करुणा-पूर्ण राजा हरिश्चंद्र का है, तीसरे उसका कवि भी हम लोगों का एकमात्र जीवन है।

नटी—(लंबी सांस लेकर) हा ! प्यारे हरिश्चंद्र का संसार ने कुछ भी गुण-रूप न समझा। क्या हुआ "कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि पाछे प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी"।

सूत्र०—इसमें क्या संदेह है। काशी के पंडितों ही ने कहा है—

सब सज्जन के मान को कारन इक हरिचंद।
जिमि सुभाव दिन रैन के, कारन नित हरिचंद* ॥ †

और फिर उनके मित्र पंडित शीतलाप्रसादजी ने इस नाटक के नायक से उनकी समता भी की है इससे उनके

---

* हरि = सूर्य्य।

† विद्वज्जनप्रतिष्ठाकारणमेको हरिश्चंद्रः।
स्वभावगत्या दिनरात्र्योर्वा हरिश्चंद्रः ॥

बनाए नाटकों में भी सत्यहरिश्चंद्र ही आज खेलने को जी चाहता है।

नटी--कैसी समता, मैं भी सुनूँ।

सूत्र०—जो गुन नृप हरिचंद में, जग हित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचंद में, लखहु प्रतच्छ सुजान* ॥३॥

(नेपथ्य में)

अरे!

यहाँ सत्य-भय एक के, काँपत सब सुरलोक।
यह दूजो हरिचंद को, करन इंद्र उर सोक॥

सूत्र०—(सुनकर और नेपथ्य की ओर देखकर) यह देखो! हम लोगों को बात करते देर न हुई कि मोहना इंद्र बन कर आ पहुँचा, तो अब चलो हम लोग भी तैयार हों।

(दोनों जाते हैं)

इति प्रस्तावना

---

* "श्रूयंते ये हरिश्चंद्रे जगदाह्लादिनो गुणाः।
दृश्यंते ते हरिश्चंद्रे चंद्रवत्प्रियदर्शने॥"

प्रथम अंक

(जवनिका उठती है)

स्थान—इंद्रसभा

(बीच में गद्दी तकिया धरा हुआ, घर सजा हुआ इंद्र* आता

(इंद्र "यहाँ सत्य-भय एक के" यह दोहा फिर से पढ़ता हुआ इधर-उधर घूमता है)

(द्वारपाल† आता है)

द्वार०—महाराज ! नारदजी आते हैं।

इंद्र—आने दो, अच्छे अवसर पर आए।

द्वार०—जो आज्ञा। [जाता है

इंद्र—(आप ही आप) नारदजी सारी पृथ्वी पर इधर-उधर फिरा करते हैं, इनसे सब बातों का पक्का पता लगेगा। हमने माना कि राजा हरिश्चंद्र को स्वर्ग लेने की इच्छा न हो, तथापि उसके धर्म्म की एक बेर परीक्षा तो लेनी चाहिए।

---

* जामा, कीट, कुंडल और गहने पहने हुए, हाथ में बज्र (कई फूल की छोटी माला) लिए हुए।

† छुज्जेदार पगड़ी, चपकन, घेरदार पाजामा पहने, कमरबंद कसे और हाथ में आसा लिए हुए।

(नारदजी* आते हैं)

इंद्र—(हाथ जोड़कर दंडवत् करता है) आइए आइए, धन्य भाग्य, आज किधर भूल पड़े ?

नारद—हमें और भी कोई काम है ? केवल यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ ; यही हमें है कि और भी कुछ ?

इंद्र—साधु स्वभाव ही से परोपकारी होते हैं, विशेष करके आप ऐसे जो हमारे से दीन गृहस्थों को घर बैठे दर्शन देते हैं। क्योंकि जो लोग गृहस्थ और कामकाजी हैं वे स्वभाव ही से गृहस्थी के बंधनों से ऐसे जकड़ जाते हैं कि साधुसंगम तो उनको सपने में भी दुर्लभ हो जाता है, न वे अपने प्रबंधों से छुट्टी पावेंगे न कहीं जायँगे।

नारद—आपको इतना शिष्टाचार नहीं सोहता। आप देव-राज हैं और आपके संग की तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनि इच्छा करते हैं, फिर आपको सत्संग कौन दुर्लभ है ? केवल जैसा राजा लोगों में एक सहज मुँहदेखा व्यापार होता है वैसी ही बातें आप इस समय कर रहे हैं।

इंद्र—हमको बड़ा शोच है कि आपने हमारी बातों को शिष्टाचार समझा। क्षमा कीजिए, आपसे हम बनावट

* धोती की लाँग कसे, गाती बाँधे, सिर से पांव तक चंदन का खौर दिए, पैर में घुँघरू, सिर के बाल छुटे और हाथ में बीन लिए हुए। आने और जाने के समय "रामकृष्ण गोविंद" की ध्वनि नेपथ्य में से हो।

नहीं करते। भला विराजिए तो सही, यह बातें तो होती ही रहेंगी।

नारद—विराजिए। (दोनों बैठते हैं)

इंद्र—कहिए, इस समय कहाँ से आना हुआ ?

नारद—अयोध्या से। अहा! राजा हरिश्चंद्र धन्य है। मैं तो उसके निष्कपट और अकृत्रिम सुभाव से बहुत ही संतुष्ट हुआ। यद्यपि इसी सूर्य्य-कुल में अनेक बड़े-बड़े धार्म्मिक हुए पर हरिश्चंद्र तो हरिश्चंद्र ही है।

इंद्र—(आप ही आप) यह भी तो उसी का गुण गाते हैं।

नारद—महाराज! सत्य की तो मानो हरिश्चंद्र मूर्त्ति है। निस्संदेह ऐसे मनुष्यों के उत्पन्न होने से भारतभूमि का सिर केवल इनके स्मरण से उस समय भी ऊँचा रहेगा जब यह पराधीन होकर हीनावस्था को प्राप्त होगी।

इंद्र—(आप ही आप) अहा! हृदय भी ईश्वर ने क्या ही वस्तु बनाई है! यद्यपि इसका स्वभाव सहज ही गुणग्राही हो, तथापि दूसरों की उत्कट कीर्त्ति से इसमें ईर्षा होती है, उसमें भी जो जितने बड़े हैं उनकी ईर्षा उतनी ही बड़ी है। हमारे ऐसे बड़े पदाधिकारियों को शत्रु उतना संताप नहीं देते जितना दूसरों की संपत्ति और कीर्त्ति।

नारद—आप क्या सोच रहे हैं ?

इंद्र—कुछ नहीं। योंही, मैं यह सोचता था कि हरिश्चंद्र की कीर्त्ति आजकल छोटे-बड़े सबके मुँह से सुनाई पड़ती

है, इससे निश्चय होता है कि नहीं, हरिश्चंद्र निस्संदेह बड़ा मनुष्य है।

नारद—क्यों नहीं, बड़ाई उसी का नाम है जिसे छोटे-बड़े सब मानें और फिर नाम भी तो उसी का रह जायगा जो ऐसा दृढ़ होकर धर्म्म साधन करेगा। (आप ही आप) और उसकी बड़ाई का यह भी तो एक बड़ा प्रमाण है कि आप ऐसे लोग उससे बुरा मानते हैं, क्योंकि जिससे बड़े-बड़े लोग डाह करें, पर उसका कुछ बिगाड़ न सकें, वह निस्संदेह बहुत बड़ा मनुष्य है।

इंद्र—भला! उसके गृह-चरित्र कैसे हैं?

नारद—दूसरों के लिये उदाहरण बनाने के योग्य। भला पहले जिसने अपने निज के और अपने घर के चरित्र ही नहीं शुद्ध किए हैं उसकी और बातों पर क्यों विश्वास हो सकता है। शरीर में चरित्र ही मुख्य वस्तु है। वचन से उपदेशक और क्रियादिक से कैसा भी धर्म्मनिष्ठ क्यों न हो, पर यदि उसके चरित्र शुद्ध नहीं हैं तो लोगों में वह टकसाल न समझा जायगा और उसकी बातें प्रमाण न होंगी। महात्मा और दुरात्मा में इतना ही भेद है कि उनके मन, वचन और कर्म्म एक रहते हैं, इनके भिन्न-भिन्न। निस्संदेह हरिश्चंद्र महाशय है। उसके आशय बहुत उदार हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

इंद्र—भला ! आप उदार वा महाशय किसको कहते हैं ?

नारद—जिसका भीतर-बाहर एक सा हो और विद्यानुरागिता, उपकारप्रियता आदि गुण जिसमें सहज हों, अधिकार में क्षमा, विपत्ति में धैर्य्य, संपत्ति में अनभिमान और युद्ध में जिसकी स्थिरता है, वह ईश्वर की सृष्टि का रत्न है और उसी की माता पुत्रवती है। हरिश्चंद्र में ये सब बातें सहज हैं। दान करके उसको प्रसन्नता होती है और कितना भी दे पर संतोष नहीं होता, यही समझता है कि अभी कुछ नहीं दिया।

इंद्र—(आप ही आप) हृदय ! पत्थर के होकर तुम यह सब कान खोल के सुनो।

नारद—और इन गुणों पर ईश्वर की निश्चला भक्ति उसमें ऐसी है जो सबका भूषण है, क्योंकि उसके बिना किसी की शोभा नहीं। फिर इन सब बातों पर विशेषता यह है कि राज्य का प्रबंध ऐसा उत्तम और दृढ़ है कि लोगों को संदेह होता है कि इन्हें राजकाज देखने की छुट्टी कब मिलती है। सच है, छोटे जी के लोग थोड़े ही कामों में ऐसे घबड़ा जाते हैं मानो सारे संसार का बोझ इन्हीं पर है, पर जो बड़े लोग हैं उनके सब काम महारंभ होते हैं तब भी उनके मुख पर कहीं से व्याकुलता नहीं झलकती, क्योंकि एक तो उनके उदार चित्त में धैर्य और अवकाश बहुत है, दूसरे उनके समय व्यर्थ नहीं

जाते और ऐसे यथायोग्य बँटे रहते हैं जिससे उन पर कभी भीड़ पड़ती ही नहीं।

इंद्र—भला महाराज! यह ऐसे दानी हैं तो उनकी लक्ष्मी कैसे स्थिर हैं?

नारद—यही तो हम कहते हैं। निस्संदेह वह राजा कुल का कलंक है, जिसने बिना पात्र विचारे दान देते-देते सब लक्ष्मी का क्षय कर दिया, आप कुछ उपार्ज्जन किया ही नहीं, जो था वह नाश हो गया और जहाँ प्रबंध है वहाँ धन की क्या कमती है। मनुष्य कितना धन देगा और याचक कितना लेंगे?

इंद्र—पर यदि कोई अपने वित्त के बाहर माँगे या ऐसी वस्तु माँगे जिससे दाता की सर्वस्व-हानि होती हो, तो वह दे कि नहीं?

नारद—क्यों नहीं। अपना सर्वस्व वह क्षण भर में दे सकता है, पात्र चाहिए। जिसको धन पाकर सत्पात्र में उसके त्याग की शक्ति नहीं है वह उदार कहाँ हुआ!

इंद्र—(आप ही आप) भला देखेंगे न।

नारद—राजन्! मानियों के आगे प्राण और धन तो कोई वस्तु ही नहीं है। वे तो अपने सहज सुभाव ही से सत्य और विचार तथा दृढ़ता में ऐसे बँधे हैं कि सत्पात्र मिलने या बात पड़ने पर उनको स्वर्ण का पर्वत भी तिल सा दिखाई देता है। और उसमें भी हरिश्चंद्र—जिसका

सत्य पर ऐसा स्नेह है जैसा भूमि, कोष, रानी और तलवार पर भी नहीं है। जो सत्यानुरागी ही नहीं है, भला उससे न्याव कब होगा, और जिसमें न्याव नहीं है, वह राजा ही काहे का है? कैसी भी विपत्ति या संकट पड़े और कैसी ही हानि वा लाभ हो, पर न्याव न छोड़े, वही धीर और वही राजा। और उस न्याव का मूल सत्य है।

इंद्र—तो भला वह जिसे जो देने को कहेगा देगा वा जो करने को कहेगा वह करेगा?

नारद—क्या आप उसका परिहास करते हैं? किसी बड़े के विषय में ऐसी शंका ही उसकी निंदा है। क्या आपने उसका यह सहज सा अभिमानवचन नहीं सुना है?

चंद टरै सूरज टरै, टरै जगतव्यौहार।
पै दृढ़ श्री हरिचंद को, टरै न सत्यविचार॥

इंद्र—(आप ही आप) तो फिर इसी सत्य के पीछे नाश भी होंगे। हमको भी अच्छा उपाय मिला। (प्रगट) हाँ, पर आप यह भी जानते हैं कि क्या वह यह सब धर्म्म स्वर्ग लेने को करता है?

नारद—वाह! भला जो ऐसे हैं उनके आगे स्वर्ग क्या वस्तु है? क्या बड़े लोग धर्म्म स्वर्ग पाने को करते हैं? जो अपने निर्म्मल चरित्र से संतुष्ट हैं उनके आगे स्वर्ग कौन वस्तु है? फिर भला जिनके शुद्ध हृदय और सहज

व्यवहार हैं, वे क्या यश वा स्वर्ग की लालच से धर्म्म करते हैं ? वे तो आपके स्वर्ग को सहज में दूसरे को दे सकते हैं और जिन लोगों को भगवान के चरणारविंद में भक्ति है वे क्या किसी कामना से धर्म्माचरण करते हैं ? यह भी तो एक क्षुद्रता है कि इस लोक में एक देकर परलोक में दो की आशा रखना।

इंद्र—(आप ही आप) हमने माना कि उसको स्वर्ग लेने की इच्छा न हो, तथापि अपने कर्म्मों से वह स्वर्ग का अधिकारी तो हो जायगा।

नारद—और जिनको अपने किए शुभ अनुष्ठानों से आप संतोष मिलता है उनके उस असीम आनंद के आगे आपके स्वर्ग का अमृतपान और अप्सरा तो महातुच्छ है। क्या अच्छे लोग कभी किसी शुभ कृत्य का बदला चाहते हैं ?

इंद्र—तथापि एक बेर उनके सत्य की परीक्षा होती तो अच्छा होता।

नारद—राजन् ! आपको यह सब सोचना बहुत अयोग्य है। ईश्वर ने आपको बड़ा किया है, तो आपको दूसरों की उन्नति और उत्तमता पर संतोष करना चाहिए। ईर्षा करना तो क्षुद्राशयों का काम है। महाशय वही है जो दूसरों की बड़ाई से अपनी बड़ाई समझे।

इंद्र—(आप ही आप) इनसे काम न होगा। (बात बहलाकर प्रगट) नहीं नहीं, मेरी यह इच्छा थी कि मैं

भी उनके गुणों को अपनी आँखों से देखता। भला मैं ऐसी परीक्षा थोड़े लेना चाहता हूँ जिससे उन्हें कुछ कष्ट हो।

नारद—(आप ही आप) अहा ! बड़ा पद मिलने से कोई बड़ा नहीं होता। बड़ा वही है जिसका चित्त बड़ा है। अधिकार तो बड़ा है, पर चित्त में सदा क्षुद्र और नीच बातें सूझा करती हैं, वह आदर के योग्य नहीं है; परंतु जो कैसा भी दरिद्र है पर उसका चित्त उदार और बड़ा है वही आदरणीय है।

(द्वारपाल आता है)

द्वार०—महाराज ! विश्वामित्रजी आए हैं।

इंद्र—(आप ही आप) हाँ, इनसे यह काम होगा। अच्छे अवसर पर आए। जैसा काम हो वैसे ही स्वभाव के लोग भी चाहिएँ। (प्रगट) हाँ हाँ, लिवा लाओ।

द्वार०—जो आज्ञा। [जाता है

(विश्वामित्रजी* आते हैं)

इंद्र—(प्रणामादि शिष्टाचार करके) आइए भगवन्, विराजिए।

(विश्वामित्र नारदजी को प्रणाम करके और इंद्र को आशीर्वाद देकर बैठते हैं)

---

* मृगचर्म, दाढ़ी, जटा, हाथों में पवित्री और कमंडल, खड़ाऊँ पर चढ़े।

नारद—तो अब हम जाते हैं, क्योंकि पिता के पास हमें किसी आवश्यक काम को जाना है।

विश्वा०—यह क्या ? हमारे आते ही आप चले, भला ऐसी रुष्टता किस काम की ?

नारद—हरे हरे ! आप ऐसी बात सोचते हैं—राम-राम, भला आपके आने से हम क्यों जायँगे ? मैं तो जाने ही को था कि इतने में आप आ गए।

इंद्र—(हँसकर) आपकी जो इच्छा।

नारद—(आप ही आप) हमारी इच्छा क्या—अब तो आप ही की यह इच्छा है कि हम जायँ, क्योंकि अब आप तो विश्व के अमित्रजी से राजा हरिश्चंद्र को दुःख देने की सलाह कीजिएगा, तो हम उसके बाधक क्यों हों ? पर इतना निश्चय रहे कि सज्जन को दुर्जन लोग जितना कष्ट देते हैं, उतना ही उनकी सत्य कीर्त्ति तपाए सोने की भाँति और भी चमकती है, क्योंकि विपत्ति बिना सत्य की परीक्षा नहीं होती। (प्रगट) यद्यपि "जो इच्छा" आपने सहज भाव से कहा है तथापि परस्पर में ऐसे उदासीन वचन नहीं कहते, क्योंकि इन वाक्यों से रूखा-पन झलकता है। मैं कुछ इसका ध्यान नहीं करता, केवल मित्रभाव से कहता हूँ। लो, जाता हूँ और यही आशीर्वाद देकर जाता हूँ कि तुम किसी को कष्टदायक

मत होओ, क्योंकि अधिकार पाकर कष्ट देना यह बड़ों की शोभा नहीं, सुख देना शोभा है।

(इंद्र कुछ लज्जित होकर प्रणाम करता है। नारदजी जाते हैं)

विश्वा०—यह क्यों? आज नारद भगवान ऐसी जली-कटी क्यों बोलते थे? क्या तुमने कुछ कहा था?

इंद्र—नहीं तो, राजा हरिश्चंद्र का प्रसंग निकला था सो उन्होंने उसकी बड़ी स्तुति की और हमारा उच्चपद का आदरणीय स्वभाव उस परकीर्त्ति को सहन न कर सका, इसमें कुछ बात ही बात ऐसा संदेह होता है कि वे रुष्ट हो गए।

विश्वा०—तो हरिश्चंद्र में कौन से गुण हैं?

(सहज ही भृकुटी चढ़ जाती है)

इंद्र—(ऋषि का भ्रूभंग देखकर चित्त में संतोष करके उनका क्रोध बढ़ाता हुआ) महाराज! सिपारसी लोग चाहे जिसको बढ़ा दें चाहे घटा दें। भला सत्यधर्म्म-पालन क्या हँसी-खेल है? यह आप ऐसे महात्माओं ही का काम है, जिन्होंने घरबार छोड़ दिया है। भला राज करके और घर में रहके मनुष्य क्या धर्म्म का हठ करेगा! और फिर कोई परीक्षा लेता तो मालूम पड़ती। इन्हीं बातों से तो नारदजी बिना बात ही अप्रसन्न हुए।

विश्वा०—मैं अभी देखता हूँ न। जो हरिश्चंद्र को तेजोभ्रष्ट न किया तो मेरा नाम विश्वामित्र नहीं। भला मेरे सामने वह क्या सत्यवादी बनेगा और क्या दानीपने का अभिमान करेगा !

(क्रोधपूर्वक उठकर चला चाहते हैं कि परदा गिरता है)

द्वितीय अंक

स्थान—राजा हरिश्चंद्र का राजभवन

(रानी शैव्या * बैठी हैं और एक सहेली बगल में खड़ी है †)

रानी—अरी! आज मैंने ऐसे बुरे-बुरे सपने देखे हैं कि जब से सोके उठी हूँ कलेजा काँप रहा है। भगवान् कुशल करें।

सखी—महाराज के पुण्य-प्रताप से सब कुशल ही होगी, आप कुछ चिंता न करें। भला क्या सपना देखा है, मैं भी सुनूँ।

रानी—महाराज को तो मैंने सारे अंग में भस्म लगाए देखा है और अपने को बाल खोले, और (आँखों में आँसू भरकर) रोहिताश्व को देखा है कि उसे साँप काट गया है।

सखी—राम! राम! भगवान् सब कुशल करेगा। भगवान् करे रोहिताश्व जुग-जुग जिए और जब तक गंगा-यमुना में पानी है, आपका सोहाग अचल रहे। भला आपने इसकी शांति का भी कुछ उपाय किया है?

रानी—हाँ, गुरुजी से तो सब समाचार कहला भेजा है। देखो, वह क्या करते हैं।

---

* लहँगा, साड़ी, सब जनाना गहिना, बंदी, बेना इत्यादि।

† साड़ी, सादा सिंगार।

सखी—हे भगवान ! हमारे महाराज, महारानी, कुँवर सब कुशल से रहें, मैं आँचल पसार के यह वरदान माँगती हूँ।

(ब्राह्मण * आता है)

ब्रा०—(आशीर्वाद देता है)

स्वस्त्यस्तु ते कुशलमस्तु चिरायुरस्तु
गोवाजिहस्तिधनधान्यसमृद्धिरस्तु ।
ऐश्वर्यमस्तु कुशलोस्तु रिपुक्षयोस्तु
संतानवृद्धिसहिता हरिभक्तिरस्तु ॥

(रानी हाथ जोड़कर प्रणाम करती है)

ब्रा०—महाराज ! गुरुजी ने यह अभिमंत्रित जल भेजा है। इसे महारानी पहिले तो नेत्रों से लगा लें और फिर थोड़ा सा पान भी कर लें और यह रक्षाबंधन भेजा है, इसे कुमार रोहिताश्व की दहनी भुजा पर बाँध दें, फिर इस जल से मैं मार्जन करूँगा।

रानी—(नेत्रों में जल लगाकर और कुछ मुँह फेरकर आचमन करके) मालती ! यह रक्षाबंधन तू सम्हाल के अपने पास रख, जब रोहिताश्व मिले उसके दहिने हाथ पर बाँध दीजिओ।

सखी—जो आज्ञा। (रक्षावंधन अपने पास रखती है)

---

* धोती, उपरना, सिर पर चुंदी वा सिर पर बाल, डाढ़ी, हाथों में पवित्री, तिलक, खड़ाऊँ।

ब्रा०—तो अब आप सावधान हो जायँ, मैं मार्जन कर लूँ।

रानी—(सावधान होकर) जो आज्ञा।

ब्रा०—(दूर्वा से मार्जन करता है)

देवास्त्वामभिषिञ्चन्तु ब्रह्मविष्णुशिवादय:।
गन्धर्वा: किन्नरा नागा रक्षां कुर्व्वन्तु ते सदा॥
पितरो गुह्यका यक्षा देव्यो भूताश्च मातर:।
सर्व्वे त्वामभिषिञ्चन्तु रक्षां कुर्व्वन्तु ते सदा॥
भद्रमस्तु शिवञ्चास्तु महालक्ष्मी: प्रसीदतु।
पतिपुत्र-युता साध्वी जीव त्वं शरदां शतम्॥

(मार्जन का जल पृथ्वी पर फेककर)

यत्पापं रोगमशुभं तद्दूरे प्रतिहतमस्तु।

(फिर रानी पर मार्जन करके)

यन्मङ्गलं शुभं सौभाग्यं धनधान्यमारोग्यम्बहु-पुत्रत्वं तत्स-र्व्वमीश-प्रसादात् ब्राह्मणवचनात् त्वय्यस्तु॥

(मार्जन करके फूल-अक्षत रानी के हाथ में देता है)

रानी—(हाथ जोड़कर ब्राह्मण को दक्षिणा देती है) महाराज, गुरुजी से मेरी ओर से विनती करके दंडवत् कह दीजिएगा।

ब्रा०—जो आज्ञा। [आशीर्वाद देकर जाता है

रानी—आज महाराज अब तक सभा में नहीं आए ?

सखी—अब आते होंगे, पूजा में कुछ देर लगी होगी।

(नेपथ्य में वैतालिक गाते हैं)

[राग भैरव]

प्रगटहु रवि-कुल-रवि निसि बीती प्रजा-कमल-गन फूले।
मंद परे रिपुगन तारा सम जन-भय-तम उनमूले॥
नसे चोर लंपट खल लखि जग तुव प्रताप प्रगटायो।
मागध वंदी सूत चिरैयन मिलि कल रोर मचायो॥
तुव जस सीतल पौन परसि चटकी गुलाब की कलियाँ।
अति सुख पाइ असीस देत सोइ करि अँगुरिन चट अलियाँ॥
भए धरम मैं थित सब द्विजजन प्रजा काज निज लागे।
रिपु-जुवती-मुख-कुमुद मंद, जन चक्रवाक अनुरागे॥
अरघ सरिस उपहार लिए नृप ठाढ़े तिन कहँ तोखौ।
न्याय कृपा सों ऊँच नीच सम समुझि परसि कर पोखौ॥

(नेपथ्य में से बाजे की धुनि सुन पड़ती है)

रानी—महाराज ठाकुरजी के मंदिर से चले, देखो बाजों का शब्द सुनाई देता है और वंदी लोग भी गाते आते हैं।

सखी—आप कहती हैं चले ? वह देखिए आ पहुँचे, कि चले ?

(रानी घबड़ाकर आदर के हेतु उठती हैं)

(* परिकर-सहित महाराज हरिश्चंद्र † आते हैं। रानी प्रणा करती है और सब लोग यथास्थान बैठते हैं)

हरि०—(रानी से प्रीतिपूर्वक) प्रिये! आज तुम्हारा मुखचं मलिन क्यों हो रहा है ?

रानी—पिछली रात मैंने कुछ दुःस्वप्न ऐसे देखे हैं जिनसे चि व्याकुल हो रहा है।

हरि०—प्रिये! यद्यपि स्त्रियों का स्वभाव सहज ही भीरु होत है, पर तुम तो वीर-कन्या, वीर-पत्नी और वीर-माता हो तुम्हारा स्वभाव ऐसा क्यों ?

रानी—नाथ! मोह से धीरज जाता रहता है।

हरि०—तो गुरुजी से कुछ शांति करने को नहीं कहलाया!

रानी—महाराज! शांति तो गुरुजी ने कर दी है।

हरि०—तब क्या चिंता है? शास्त्र और ईश्वर पर विश्वास रखो, सब कल्याण होगा। सदा सर्वदा सहज मंगल साधन करते भी जो आपत्ति आ पड़े तो उसे निरी ईश्व की इच्छा ही समझ के संतोष करना चाहिए।

---

* राजा के परिकर में प्रथम मंत्री नीमा, पैजामा, कमरबंद, दुशाला पगड़ी, सिरपेच सजे। दो मुसाहिब साधारण सभ्यों के वेष में एव निशानवाला सेवक के भेष में। निशान पर सूर्य्य के नीचे "सत्ये नास्ति भयं क्वचित्" लिखा हुआ। चार शस्त्रधारी अंगरक्षक, दो सेवक।

† सपेद वा केसरी जामा, पैजामा, कमरबंद, मर्दाना सब गहना सिर पर किरीट वा पगड़ी, सिरपेंच तुर्रा, हाथ में तलवार, दुशाला य कोई चमकता रूमाल ओढ़े।

रानी—महाराज! स्वप्न के शुभाशुभ का विचार कुछ महाराज ने ग्रंथों में देखा है?

हरि०—(रानी की बात अनसुनी करके) स्वप्न तो कुछ हमने भी देखा है। (चिंतापूर्वक स्मरण करके) हाँ, यह देखा है कि एक क्रोधी ब्राह्मण विद्यासाधन करने को सब दिव्य महाविद्याओं को खींचता है और जब मैं स्त्री जानकर उनको बचाने गया हूँ तो वह मुझी से रुष्ट हो गया है और फिर जब बड़े विनय से मैंने उसे मनाया है तो उसने मुझसे मेरा सारा राज्य माँगा है, मैंने उसे प्रसन्न करने को अपना सब राज्य दे दिया।

(इतना कहकर अत्यंत व्याकुलता नाट्य करता है)

रानी—नाथ! आप एक साथ ऐसे व्याकुल क्यों हो गए?

हरि०—मैं यह सोचता हूँ कि अब मैं उस ब्राह्मण को कहाँ पाऊँगा और बिना उसकी थाती उसे सौंपे भोजन कैसे करूँगा?

रानी—नाथ! क्या स्वप्न के व्यवहार को भी आप सत्य मानिएगा?

हरि०—प्रिये! हरिश्चंद्र की अर्द्धांगिनी होकर तुम्हें ऐसा कहना उचित नहीं है। हा! भला तुम ऐसी बात मुँह से निकालती हो! स्वप्न किसने देखा है? मैंने न। फिर क्या? स्वप्नसंसार अपने काल में असत्य है, इसका

कौन प्रमाण है ? और जो अब असत्य कहो, तो मरने के पीछे तो यह संसार भी असत्य है, फिर उसमें परलोक के हेतु लोग धर्म्माचरण क्यों करते हैं ? दिया सो दिया, क्या स्वप्न में, क्या प्रत्यक्ष ?

रानी—(हाथ जोड़कर) नाथ ! क्षमा कीजिए, स्त्री की बुद्धि ही कितनी !

हरि०—(चिंता करके) पर मैं अब करूँ क्या ! अच्छा ! प्रधान ! नगर में डौंड़ी पिटवा दो कि राज्य के सब लोग आज से इसे अज्ञातनाम-गोत्र ब्राह्मण का समझें, उसके अभाव में हरिश्चंद्र उसके सेवक की भाँति उसकी थाती समझके राजकार्य्य करेगा और दो मुहर राजकाज के हेतु बनवा लो, एक पर "अज्ञातनाम-गोत्र ब्राह्मण महाराज का सेवक हरिश्चंद्र" और दूसरे पर "राजाधिराज अज्ञात-नाम-गोत्र ब्राह्मण महाराज" खुदा रहे और आज से राज-काज के सब पत्रों पर भी यही नाम रहे। देश के राजाओं और बड़े-बड़े कार्य्याधीशों को भी आज्ञापत्र भेज दो कि महाराज हरिश्चंद्र ने स्वप्न में अज्ञातनाम-गोत्र ब्राह्मण को पृथ्वी दी है, इससे आज से उसका राज्य हरिश्चंद्र मंत्री की भाँति सँभालेगा।

(द्वारपाल आता है)

द्वार०—महाराजाधिराज ! एक बड़ा क्रोधी ब्राह्मण दरवाजे पर खड़ा है और व्यर्थ हम लोगों को गाली देता है।

हरि०—(घबड़ाकर) अभी आदरपूर्वक ले आओ।

द्वार०—जो आज्ञा। [जाता है

हरि०—यदि ईश्वरेच्छा से यह वही ब्राह्मण हो तो बड़ी बात है।

(द्वारपाल के साथ विश्वामित्र * आते हैं)

हरि०—(आदरपूर्वक आगे से लेकर और प्रणाम करके) महाराज ! पधारिए, यह आसन है।

विश्वा०—बैठ चुके, बोल, अभी तैंने मुझे पहिचाना कि नहीं ?

हरि०—(घबड़ाकर) महाराज ! पूर्व्वपरिचित तो आप ज्ञात होते हैं।

विश्वा०—(क्रोध से) सच है रे क्षत्रियाधम ! तू काहे को पहिचानेगा। सच है रे सूर्य्यकुलकलंक ! तू क्यों पहिचानेगा, धिक्कार है तेरे मिथ्या-धर्म्माभिमान को, ऐसे ही लोग पृथ्वी को अपने बोझ से दबाते हैं। अरे दुष्ट ! तैं भूल गया; कल पृथ्वी किसको दान दी थी ? जानता नहीं कि मैं कौन हूँ ?

"जातिस्वयंग्रहणदुर्ललितैकविप्रं
दृप्यद्वशिष्ठसुतकाननधूमकेतुम्।
सर्गान्तराहरणभीतजगत्कृतान्तं
चाण्डालयाजिनमवैषि न कौशिकं माम्॥"

---

* जटा और डाढ़ी बढ़ाए, खड़ाऊँ पहने, गले में मृगछाला बाँधे, धोती पर बाघ की मोटी करधनी, एक हाथ में कुश और कमंडल।

हरि०—(पैरों पर गिरके बड़े विनय से) महाराज ! भला आपको त्रैलोक्य में ऐसा कौन है जो न जानेगा ?

" अन्नक्षयादिषु तथा विहितात्मवृत्तिं
राजप्रतिग्रहपराङ्मुखमानसं त्वाम् ।
आड़ीबकप्रधनकम्पितजीवलोकं
कस्तेजसां च तपसां च निधिं न वेत्ति ॥

विश्वा०—(क्रोध से) सच है रे पाप पाषंड मिथ्यादानवीर ! तू क्यों न मुझे " राज-प्रतिग्रह-पराङ्मुख " कहेगा; क्योंकि तैंने तो कल सारी पृथ्वी मुझे दान दी है, ठहर, ठहर देख, इस झूठ का कैसा फल भोगता है। हा ! इसे देखकर क्रोध से जैसे मेरी दाहिनी भुजा शाप देने को उठती है वैसे ही जातिस्मरण के संस्कार से बाईं भुजा फिर से कृपाण ग्रहण किया चाहती है। (अत्यंत क्रोध से लंबी साँस लेकर और बाँह उठाकर) अरे ब्रह्मा ! सम्हाल अपनी सृष्टि को, नहीं तो परमतेजपुंज दीर्घ-तपोवर्द्धित मेरे आज इस असह्य क्रोध से सारा संसार नाश हो जायगा, अथवा संसार के नाश ही से क्या ? ब्रह्मा का तो गर्व्व उसी दिन मैंने चूर्ण किया जिस दिन दूसरी सृष्टि बनाई, आज इस राजकुलांगार का अभिमान चूर्ण करूँगा जो मिथ्या अहंकार के बल से जगत् में दानी प्रसिद्ध हो रहा है।

हरि०—(पैरों पर गिरके) महाराज ! क्षमा कीजिए, मैंने इस बुद्धि से नहीं कहा था, सारी पृथ्वी आपकी, मैं आपका, भला आप ऐसी क्षुद्र बात मुँह से निकालते हैं ! (ईषत् क्रोध से) और आप बारंबार मुझे झूठा न कहिए। सुनिए, मेरी यह प्रतिज्ञा है—

" चंद टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यौहार।
पै दृढ़ श्री हरिचंद को, टरै न सत्य विचार ॥"

विश्वा०—(क्रोध और अनादरपूर्व्वक हँसकर) हहहह ! सच है सच है रे मूढ़। क्यों नहीं, आखिर सूर्य्यवंशी है। तो दे हमारी पृथ्वी।

हरि०—लीजिए, इसमें विलंब क्या है। मैंने तो आपके आगमन के पूर्व्व ही से अपना अधिकार छोड़ दिया है। (पृथ्वी की ओर देखकर)

जेहि पाली इक्ष्वाकु सों, अबलौं रवि-कुल-राज।
ताहि देत हरिचंद नृप, विश्वामित्रहिं आज ॥
वसुधे ! तुम बहु सुख कियो, मम पुरुषन की होय।
धरमबद्ध हरिचंद को, छमहु सु परबस जोय ॥

विश्वा०—(आप ही आप) अच्छा ! अभी अभिमान दिखा ले। तो मेरा नाम विश्वामित्र, जो तुझको सत्य-भ्रष्ट करके न छोड़ा और लक्ष्मी से तो हो ही चुका है। (प्रगट) स्वस्ति अब इस महादान की दक्षिणा कहाँ है ?

हरि०—महाराज ! जो आज्ञा हो वह दक्षिणा अभी आती है।

विश्वा०—भला सहस्र स्वर्णमुद्रा से कम इतने बड़े दान की दक्षिणा क्या होगी !

हरि०—जो आज्ञा। (मंत्री से) मंत्री! हजार स्वर्णमुद्रा अभी लाओ।

विश्वा०—(क्रोध से) "मंत्री! हजार स्वर्णमुद्रा अभी लाओ" मंत्री कहाँ से लावेगा? क्या अब खजाना तेरा है? झूठा कहीं का! देना नहीं था तो मुँह से कहा क्यों? चल, मैं नहीं लेता ऐसे मनुष्य की दक्षिणा।

हरि०—(हाथ जोड़कर विनय से) महाराज, ठीक है। खजाना अब सब आपका है, मैं भूला, क्षमा कीजिए। क्या हुआ खजाना नहीं है तो मेरा शरीर तो है।

विश्वा०—एक महीने में जो मुझे दक्षिणा न मिलेगी तो मैं तुझ पर कठिन ब्रह्मदंड गिराऊँगा। देख, केवल एक मास की अवधि है।

हरि०—महाराज, मैं ब्रह्मदंड से उतना नहीं डरता जितना सत्य-दंड से। इससे—

वेचि देह दारा सुअन, होइ दास हू मंद।
रखिहै निज वच सत्य करि अभिमानी हरिचंद॥

(आकाश से फूल की वृष्टि और बाजे के साथ जयध्वनि होती है)

(जवनिका गिरती है)



तृतीय अंक में अंकावतार

स्थान—वाराणसी का बाहरी प्रांत तालाव

(पाप ※ आता है)

पाप—(इधर-उधर दौड़ता और हाँफता हुआ) मरे रे मरे ! जले रे जले !! कहाँ जायँ, सारी पृथ्वी तो हरिश्चंद्र के पुण्य से ऐसी पवित्र हो रही है कि कहीं हम ठहर ही नहीं सकते। सुना है कि राजा हरिश्चंद्र काशी गए हैं, क्योंकि दक्षिणा के वास्ते विश्वामित्र ने कहा कि सारी पृथ्वी तो हमको तुमने दान दे दी है, इससे पृथ्वी में जितना धन है सब हमारा हो चुका और तुम पृथ्वी में कहीं भी अपने को वेचकर हमसे उऋण नहीं हो सकते। यह बात जब हरिश्चंद्र ने सुनी तो बहुत ही घबराए और सोच-विचारकर कहा कि बहुत अच्छा महाराज, हम काशी में अपना शरीर बेचेंगे, क्योंकि शास्त्रों में लिखा है कि काशी पृथ्वी के बाहर शिव के त्रिशूल पर है। यह सुनकर हम भी दौड़े कि चलो हम भी काशी चलें, क्योंकि जहाँ हरिश्चंद्र का राज्य न होगा वहाँ हमारे प्राण बचेंगे, सो यहाँ और भी उत्पात हो रहा है। जहाँ

※ काजल सा रंग, लाल नेत्र, महाकुरूप, हाथ में नंगी तलवार लिए, नीला काछा काछे।

देखो वहाँ स्नान, पूजा, जप, पाठ, दान, धर्म, होम इत्यादि में लोग ऐसे लगे रहते हैं कि हमारी मानो जड़ ही खोद डालेंगे। रात-दिन शंख, घंटा की घनघोर ध्वनि के साथ वेद की धुनि मानो ललकार-ललकार के हमारे शत्रु धर्म्म की जय मनाती है और हमारे ताप से कैसा भी मनुष्य क्यों न तपा हो, भगवती भागीरथी के जलकण मिले वायु से उसका हृदय एक साथ ही शीतल हो जाता है। इसके उपरांत शिशिशि......ध्वनि अलग मारे डालती है। हाय! कहाँ जायँ क्या करें? हमारी तो संसार से मानो जड़ ही कटी जाती है, भला और जगह तो कुछ हमारी चलती भी है, पर यहाँ तो मानो हमारा राज ही नहीं, कैसा भो बड़ा पापी क्यों न हो यहाँ आया कि गति भई!

(नेपथ्य में)

सच है "येषां कापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः"

पाप—अरे रे! यह कौन महा भयंकर भेस अंग में भभूत पोते, एड़ी तक जटा लटकाए, लाल-लाल आँख निकाले साक्षात् काल की भाँति त्रिशूल घुमाता चला आता है। प्राण! तुम्हें जो अपनी रक्षा करनी हो तो भागो पाताल में, अब इस समय भूमंडल में तुम्हारा ठिकाना लगना कठिन ही है।

(भागता हुआ जाता है)

(भैरव * आते हैं)

भैरव—सच है "येषां कापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः" देखो इतना बड़ा पुण्यशील राजा हरिश्चंद्र भी अपनी आत्मा और पुत्र बेचने को यहीं आया है ! अहा ! धन्य है सत्य ! आज जब भगवान् भूतनाथ राजा हरिश्चंद्र का वृत्तांत भवानी से कहने लगे तो उनके तीनों नेत्र अश्रु से पूर्ण हो गए और रोमांच होने से सब शरीर के भस्मकण अलग-अलग हो गए। मुझको आज्ञा भी हुई है कि अलक्ष रूप से तुम सर्वदा राजा हरिश्चंद्र की अंगरक्षा करना; इससे चलूँ मैं भी भेस बदलकर भगवान् की आज्ञापालन में प्रवृत्त होऊँ।

(जाते हैं। जवनिका गिरती है)

---

* महादेवजी का सा सिंगार, तीन नेत्र, नीला रंग, एक हाथ में त्रिशूल, दूसरे में प्याला।

तृतीय अंक

स्थान—काशी के घाटकिनारे की सड़क

(महाराज हरिश्चंद्र घूमते हुए दिखाई पड़ते हैं)

हरि०—देखो काशी भी पहुँच गए। अहा ! धन्य है काशी ! भगवति वाराणसि ! तुम्हें अनेक प्रणाम है। अहा ! काशी की कैसी अनुपम शोभा है !

"चारहु आश्रम बर्न बसैं मनि
कंचन धाम अकासविभासिका।
सोभा नहीं कहि जाय कछु विधिनै
रची मानो पुरीन की नासिका ॥
आपु बसैं गिरिधारनजू तट
देवनदी बर बारि बिलासिका।
पुन्य-प्रकासिका पाप-बिनासिका
हीय-हुलासिका सोहत कासिका ॥"
"बसैं बिंदुमाधव बिसेसरादि देव सबै
दरसन ही ते लागै जमसुख मसी है।
तीरथ अनादि पंचगंगा मनिकर्निकादि
सात आवरण मध्य पुन्यरूप धसी है ॥
गिरिधरदास पास भागीरथी सोभा देत
जाकी धार तोरैं आसु कर्म्मरूप रसी है।

ससी सम जसी असी बरना में बसी पाप
खसी हेतु असी ऐसी लसी बारानसी है ॥"

"रचित प्रभा सी भासी अवलि मकानन की
जिनमें अकासी फबै रतन-नकासी है।
फिरैं दास-दासी विप्र गृही औ संन्यासी लसैं
बर गुनरासी देवपुरी हू न जासी है ॥
गिरिधरदास बिस्व कीरति विलासी रमा
हासी लौं उजासी जाकी जगत हुलासी है।
खासी परकासी पुनवाँसी चंद्रिका सी जाके
बासी अबिनासी अघनासी ऐसी कासी है ॥"

देखो! जैसा ईश्वर ने यह सुंदर अँगूठी के नगीने सा नगर बनाया है वैसी हीन दी भी इसके लिये दी है। धन्य गंगे!

"जम की सब त्रास बिनास करी मुख ते निज नाम उचारन में।
सब पाप प्रतापहिं दूर दरयो तुम आपन आप निहारन में ॥
अहो गंग अनंग के शत्रु करे बहु, नेकु जलै मुख डारन में।
गिरिधारनजू कितने बिरचे गिरिधारन धारन में ॥"

कुछ महात्म ही पर नहीं, गंगाजी का जल भी ऐसा ही उत्तम और मनोहर है! अहा!

नव उज्ज्वल जलधार, हार हीरक सी सोहति।
बिच-बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता-मनि पोहति ॥
लोल लहर लहि पवन एक पैं इक इमि आवत।
जिमि नर-गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत ॥

सुभग-स्वर्ग-सोपान-सरिस सबके मन भावत।
दरसन मज्जन पान त्रिविध भय दूर मिटावत॥
श्रीहरिपद-नख-चंद्रकांत-मनि-द्रवित सुधारस।
ब्रह्म-कमंडल-मंडन, भव-खंडन सुर-सरवस॥
शिव-सिर-मालति-माल, भगीरथ-नृपति-पुन्य-फल।
ऐरावत-गज गिरि-पति-हिम-नग-कंठहार कल॥
सगर-सुवन सठ सहस परस जल मात्र उधारण।
अगिनित धारा रूप धारि सागर संचारण॥
कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो जग धाई।
सपने हू नहिं तजी, रही अंकम लपटाई॥
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर-सम सोहत।
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत॥
धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा पताका।
घहरत घंटा धुनि धमकत धौंसा करि साका॥
मधुरी नौबत बजत, कहूँ नारी-नर गावत।
वेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत॥
कहुँ सुंदरी नहात वारि कर-जुगल उछारत।
जुग अंबुज मिलि मुक्तगुच्छ मनु सुच्छ निकारत॥
धोवत सुंदरि बदन करन अति ही छवि पावत।
वारिधि नाते ससि कलंक मनु कमल मिटावत॥
सुंदरि ससि मुख नीर मध्य इमि सुंदर सोहत।
कमलबेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत॥

दीठि जहाँ जहँ जात रहत तितही ठहराई।
गंगा छबि हरिचंद कछू बरनी नहिं जाई॥

(कुछ सोचकर) पर हा! जो अपना जी दुखी होता है तो संसार सूना जान पड़ता है।

"अशनं वसनं वासो येषां चैवाविधानतः।
मगधेन समा काशी गंगाप्यंगारवाहिनी॥"

विश्वामित्र को पृथ्वी दान करके जितना चित्त प्रसन्न नहीं हुआ उतना अब बिना दक्षिणा दिए दुखी होता है। हा! कैसे कष्ट की बात है, राज, पाट, धन, धाम सब छूटा, अब दक्षिणा कहाँ से देंगे। क्या करें! हम सत्य-धर्म कभी छोड़ेंहीगे नहीं और मुनि ऐसे क्रोधी हैं कि बिना दक्षिणा मिले शाप देने को तैयार होंगे और जो वह शाप न भी देंगे तो क्या? हम ब्राह्मण को ऋण चुकाए बिना शरीर भी तो नहीं त्याग सकते। क्या करें? कुवेर को जीतकर धन लावें? पर कोई शस्त्र भी तो नहीं है; तो क्या किसी से माँगकर दें? पर क्षत्रिय का तो धर्म नहीं कि किसी के आगे हाथ पसारे, फिर ऋण काढ़ें? पर देंगे कहाँ से? हा! देखो, काशी में आकर लोग संसार के बंधन से छूटते हैं, पर हमको यहाँ भी हाय हाय मची है। हा! पृथ्वी! तू फट क्यों नहीं जाती कि मैं अपना कलंकित मुँह फिर किसी को न दिखाऊँ!

(आतंक से) पर यह क्या? सूर्यवंश में उत्पन्न होकर हमारे ये कर्म हैं कि ब्राह्मण का ऋण दिए विना पृथ्वी में समा जाना सोचें। (कुछ सोचकर) हमारी तो इस समय कुछ बुद्धि ही नहीं काम करती। क्या करें? हमें तो संसार सूना देख पड़ता है। (चिंता करके एक साथ हर्ष से) वाह अभी तो स्त्री, पुत्र और हम तीन-तीन मनुष्य तैयार हैं। क्या हम लोगों के बिकने से सहस्र स्वर्णमुद्रा भी न मिलेगी? तब फिर किस बात का इतना सोच? न जाने बुद्धि इतनी देर तक कहाँ सोई थी; हमने तो पहले ही विश्वामित्र से कहा था—

बेचि देह दारा सुअन, होय दास हूँ मंद।
रखिहै निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचंद॥

(नेपथ्य में) तो क्यों नहीं जल्दी अपने को बेचता? क्या हमें और काम नहीं है कि तेरे पीछे-पीछे दक्षिणा के वास्ते लगे फिरें?

हरि०—अरे मुनि तो आ पहुँचे। क्या हुआ आज उनसे एक-दो दिन की अवधि और लेंगे।

(विश्वामित्र आते हैं)

विश्वा०—(आप ही आप) हमारी विद्या सिद्ध हुई भी इसी दुष्ट के कारण सब बहक गई। कुछ इंद्र के कहने ही पर नहीं, हमारा इस पर स्वतः भी क्रोध है, पर क्या करें,

इसके सत्य, धैर्य और विनय के आगे हमारा क्रोध कुछ काम नहीं करता। यद्यपि यह राज्यभ्रष्ट हो चुका, पर जब तक इसे सत्यभ्रष्ट न कर लूँगा तब तक मेरा संतोष न होगा। (आगे देखकर) अरे! यही दुरात्मा (कुछ रुककर) वा, महात्मा हरिश्चंद्र हैं? (प्रगट) क्यों रे! आज महीने में कै दिन बाकी हैं? बोल कब दक्षिणा देगा?

हरि०—(घबड़ाकर) अहा! महात्मा कौशिक भगवन्! प्रणाम करता हूँ। (दंडवत् करता है)

विश्वा०—हुई प्रणाम, बोल तैंने दक्षिणा देने का क्या उपाय किया? आज महीना पूरा हुआ, अब मैं एक क्षण भर भी न मानूँगा। दे अभी, नहीं तो—(शाप के वास्ते कमंडल से जल हाथ में लेते हैं)

हरि०—(पैरों पर गिरकर) भगवन्! क्षमा कीजिए। यदि आज सूर्यास्त के पहिले मैं न दूँ तो जो चाहे कीजिएगा। मैं अभी अपने को बेचकर मुद्रा ले आता हूँ।

विश्वा०—(आप ही आप) वाह रे महानुभावता (प्रगट) अच्छा आज साँझ तक और सही। साँझ को न देगा तो मैं शाप ही न दूँगा, वरंच त्रैलोक्य में आज ही विदित कर दूँगा कि हरिश्चंद्र का सत्य भ्रष्ट हुआ।

[जाते हैं

हरि०—भला किसी तरह मुनि से प्राण बचे। अब चलें अपना शरीर बेचकर दक्षिणा देने का उपाय सोचें। हा! ऋण भी कैसी बुरी वस्तु है, इस लोक में वही मनुष्य कृतार्थ है जिसने ऋण चुका देने को कभी क्रोधी और क्रूर लहनदार की लाल-लाल आँखें नहीं देखी हैं। (आगे चलकर) अरे क्या बाजार में आ गए, अच्छा, (सिर पर तृण ❀ रखकर) अरे सुनो भाई सेठ, साहूकार, महाजन, दूकानदारो, हम किसी कारण से अपने को हजार मोहर पर बेचते हैं, किसी को लेना हो तो लो। (इसी तरह कहता हुआ इधर-उधर फिरता है) देखो कोई दिन वह था कि इसी मनुष्य-विक्रय को अनुचित जानकर हम दूसरे को दंड देते थे पर आज वही कर्म हम आप करते हैं। दैव बली है। (अरे सुनो भाई इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर फिरता है। ऊपर देखकर) क्या कहा? "क्यों तुम ऐसा दुष्कर कर्म करते हो?" आर्य यह मत पूछो, यह सब कर्म की गति है। (ऊपर देखकर) क्या कहा? "तुम क्या कर सकते हो, क्या समझते हो, और किस तरह रहोगे?" इसका क्या पूछना है। स्वामी जो कहेगा वह करेंगे; समझते सब कुछ हैं, पर इस अवसर पर समझना कुछ काम

❀ उस काल में जब कोई दास्य स्वीकार करता था तो सिर पर तृण रखता था।

नहीं आता, और जैसे स्वामी रखेगा वैसे रहेंगे। जब अपने को बेच ही दिया तब इसका क्या विचार है। (ऊपर देखकर) क्या कहा? "कुछ दाम कम करो।" आर्य हम लोग तो क्षत्रिय हैं, हम दो बात कहाँ से जानें। जो कुछ ठीक था कह दिया।

(नेपथ्य में से)

आर्यपुत्र! ऐसे समय में हमको छोड़े जाते हो! तुम दास होगे तो मैं स्वाधीन रहके क्या करूँगी? स्त्री को अर्द्धांगिनी कहते हैं, इससे पहिले बायाँ अंग बेच लो तब दहिना अंग बेचो।

हरि०—(सुनकर बड़े शोक से) हा! रानी की यह दशा इन आँखों से कैसे देखी जायगी?

(सड़क पर शैव्या और बालक फिरते हुए दिखाई पड़ते हैं)

शैव्या—कोई महात्मा कृपा करके हमको मोल ले तो बड़ा उपकार हो।

बालक—अमको बी कोई मोल ले तो बला उपकाल ओ।

शैव्या—(आँखों में आँसू भरकर) पुत्र! चंद्र-कुल-भूषण महाराज वीरसेन का नाती और सूर्यकुल की शोभा महाराज हरिश्चंद्र का पुत्र होकर तू क्यों ऐसे कातर वचन कहता है। मैं अभी जीती हूँ। (रोती है)

बालक—(माँ का अंचल पकड़ के) माँ! तुमको कोई मोल लेगा तो अमको बी मोल लेगा। आँ आँ माँ लोती

काए को थी। (कुछ रोना सा मुँह बनाके शैव्या का आँचल पकड़के भूलने लगता है)

शैव्या--(आँसू पोंछकर) मेरे भाग्य से पूछ ।

हरि०—अहह! भाग्य! यह भी तुम्हें देखना था? हा! अयोध्या की प्रजा रोती रह गई, हम उनको कुछ धीरज भी न दे आए। उनकी अब कौन गति होगी। हा! यह नहीं कि राज छूटने पर भी छुटकारा हो। अब यह देखना पड़ा। हृदय! तुम इस चक्रवर्त्ती की सेवायोग्य बालक और स्त्री को बिकता देखकर टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो जाते? (बारंबार लंबी साँस लेकर आँसू बहाता है)

शैव्या—(कोई महात्मा इत्यादि कहती हुई ऊपर देखकर) क्या कहा? "क्या-क्या करोगी?" परपुरुष से संभाषण और उच्छिष्ट भोजन छोड़कर और सब सेवा करूँगी। (ऊपर देखकर) क्या कहा? "इतने मोल पर कौन लेगा?" आर्य! कोई साधु ब्राह्मण महात्मा कृपा करके ले ही लेंगे।

(उपाध्याय और बटुक आते हैं)

उपा०—क्यों रे कौंडिन्य, सच ही दासी बिकती है?

बटु०—हाँ गुरुजी, क्या मैं झूठ कहूँगा? आप ही देख लीजिएगा।

उपा०—तो चल, आगे-आगे भीड़ हटाता चल। देख, धारा-प्रवाह की भाँति कैसे सब कामकाजी लोग इधर से उधर फिर रहे हैं, भीड़ के मारे पैर धरने की जगह नहीं है। और मारे कोलाहल के कान नहीं दिया जाता।

बटु०—(आगे-आगे चलता हुआ) हटो भाई हटो। (कुछ आगे बढ़कर) गुरुजी, यह जहाँ भीड़ लगी है वहीं होगी।

उपा०—(शैव्या को देखकर) अरे यही दासी बिकती है ?

(शैव्या 'अरे कोई हमको मोल ले' इत्यादि कहती और रोती है। बालक भी माता की भाँति तोतली बोली से कहता है)

उपा०—पुत्री ! कहो तुम कौन-कौन सेवा करोगी ?

शैव्या—पर-पुरुष से संभाषण और उच्छिष्ट-भोजन छोड़कर और जो-जो कहिएगा, सब सेवा करूँगी।

उपा०—वाह ! ठीक है। अच्छा, लो यह सुवर्ण। हमारी ब्राह्मणी अग्निहोत्र की अग्नि की सेवा से घर के कामकाज नहीं कर सकती सो तुम सम्हालना।

शैव्या—(हाथ फैलाकर) महाराज! आपने बड़ा उपकार किया।

उपा०—(शैव्या को भली भाँति देखकर आप ही आप) अहा! यह निस्संदेह किसी बड़े कुल की है। इसका मुख सहज लज्जा से ऊँचा नहीं होता और दृष्टि बराबर पैर ही पर है। जो बोलती है वह धीरे-धीरे और बहुत सम्हाल

के बोलती है। हा! इसकी यह गति क्यों हुई! (प्रगट) पुत्री! तुम्हारे पति हैं न?

(शैव्या राजा की ओर देखती है)

हरि०—(आप ही आप दुःख से) अब नहीं हैं। पति के होते भी ऐसी स्त्री की यह दशा हो!

उपा०—(राजा को देखकर आश्चर्य्य से) अरे यह विशालनेत्र, प्रशस्त वक्षःस्थल, और संसार की रक्षा करने के योग्य लंबी-लंबी भुजावाला कौन मनुष्य है, और मुकुट के योग्य सिर पर तृण क्यों रखा है? (प्रगट) महात्मा तुम हमको अपने दुख का भागी समझो और कृपापूर्वक अपना सब वृत्तांत कहो।

हरि०—भगवन्! और तो विदित करने का अवसर नहीं है, इतना ही कह सकता हूँ कि ब्राह्मण के ऋण के कारण यह दशा हुई।

उपा०—तो हमसे धन लेकर आप शीघ्र ही ऋण-मुक्त हूजिए!

हरि०—(दोनों कानों पर हाथ रखकर) राम-राम! यह तो ब्राह्मण की वृत्ति है। आपसे धन लेकर हमारी कौन गति होगी!

उपा०—तो पाँच सौ मोहर पर आप दोनों में से जो चाहे सो हमारे संग चले।

शैव्या—(राजा से हाथ जोड़कर) नाथ ! हमारे आछत आप मत बिकिए, जिसमें हमको अपनी आँख से यह न देखना पड़े, हमारी इतनी बिनती मानिए। (रोती है)

हरि०—(आँसू रोककर) अच्छा! तुम्हीं जाओ। (आप ही आप) हा ! यह वज्रहृदय हरिश्चंद्र ही का है कि अब भी नहीं विदीर्ण होता !

शैव्या—(राजा के कपड़े में सोना बाँधती हुई) नाथ! अब तो दर्शन भी दुर्लभ होंगे। (रोती हुई उपाध्याय से) आर्य्य ! आप क्षण भर क्षमा करें तो मैं आर्य्यपुत्र का भली भाँति दर्शन कर लूँ। फिर यह मुख कहाँ और मैं कहाँ।

उपा०—हाँ ! हाँ ! मैं जाता हूँ। कौंडिन्य यहाँ है, तुम उसके साथ आना। [जाता है

शैव्या—(रोकर) नाथ ! मेरे अपराधों को क्षमा करना।

हरि०—(अत्यंत घबड़ाकर) अरे अरे विधाता ! तुझे यही करना था! (आप ही आप) हा ! पहिले महारानी बना कर अब दैव ने इसे दासी बनाया। यह भी देखना बदा था। हमारी इस दुर्गति से आज कुलगुरु भगवान् सूर्य का भी मुख मलिन हो रहा है। (रोता हुआ प्रगट रानी से) प्रिये ! सर्व भाव से उपाध्याय को प्रसन्न करना और सेवा करना।

शैव्या—(रोकर) नाथ ! जो आज्ञा।

वटु०—उपाध्यायजी गए, अब चलो जल्दी करो।

हरि०—(आँखों में आँसू भरके) देवी ! (फिर रुककर अत्यंत सोच से आप ही आप) हाय ! अब मैं देवी क्यों कहता हूँ, अब तो विधाता ने इसे दासी बनाया। (धैर्य से) देवी, उपाध्याय की आराधना भली भाँति करना और इनके सब शिष्यों से भी सुहृद्-भाव रखना, ब्राह्मण की स्त्री की प्रीतिपूर्वक सेवा करना, बालक का यथासंभव पालन करना और अपने धर्म और प्राण की रक्षा करना। विशेष हम क्या समझावें, जो-जो दैव दिखावे उसे धीरज से देखना। (आँसू बहते हैं)

शैव्या—जो आज्ञा। (राजा के पैरों पर गिर के रोती है)

हरि०—(धैर्यपूर्वक) प्रिये, देर मत करो, वटुक घबड़ा रहे हैं।

(शैव्या उठकर रोती और राजा की ओर देखती हुई धीरे-धीरे चलती है)

बालक—(राजा से) पिता, मा कआँ जाती ऐं ?

हरि०—(धैर्य से आँसू रोककर) जहाँ हमारे भाग्य ने उसे दासी बनाया है।

बालक—(वटुक से) अले मा को मत ले जा। (माँ का आँचल पकड़के खींचता है)

वटु०—(बालक को ढकेलकर) चल-चल देर होती है।

(बालक ढकेलने से गिरकर रोता हुआ उठकर अत्यंत क्रोध और करुणा से माता-पिता की ओर देखता है)

हरि०—ब्राह्मण देवता, बालकों के अपराध से नहीं रुष्ट होना। (बालक को उठाकर धूर पोंछके मुँह चूमता हुआ) पुत्र, मुझ चांडाल का मुख इस समय ऐसे क्रोध से क्यों देखता है? ब्राह्मण का क्रोध तो सभी दशा में सहना चाहिए। जाओ माता के संग, मुझ भाग्यहीन के साथ रहकर क्या करोगे? (रानी से) प्रिये, धैर्य्य धरो। अपना कुल और जाति स्मरण करो। अब जाओ, देर होती है।

(रानी और बालक रोते हुए बटुक के साथ जाते हैं)

हरि०—धन्य हरिश्चंद्र! तुम्हारे सिवाय और ऐसा कठोर हृदय किसका होगा? संसार में धन और जन छोड़कर लोग स्त्री की रक्षा करते हैं, पर तुमने उसका भी त्याग किया।

(विश्वामित्र आते हैं और हरिश्चंद्र पैर पर गिरकर प्रणाम करता है)

विश्वा०—ला, दे दक्षिणा! अब साँझ होने में कुछ देर नहीं है।

हरि०—(हाथ जोड़कर) महाराज, आधी लीजिए आधी अभी देता हूँ। (सोना देता है)

विश्वा०—हम आधी दक्षिणा लेके क्या करें, दे चाहे जहाँ से सब दक्षिणा।

(नेपथ्य में)

धिक् तपो धिग् व्रतमिदं धिग् ज्ञानं धिग् बहुश्रुतम्।
नीतवानसि यद्ब्रह्मन् हरिश्चंद्रमिमां दशाम्॥

विश्वा०--(बड़े क्रोध से) आः हमको धिक्कार देनेवाला यह कौन दुष्ट है? (ऊपर देखकर) अरे विश्वेदेवा, (क्रोध से जल हाथ में लेकर) अरे क्षत्रिय के पक्षपातियो, तुम अभी विमान से गिरो और क्षत्रिय के कुल में तुम्हारा जन्म हो और वहाँ भी लड़कपन ही में ब्राह्मण के हाथ मारे जाओ*। (जल छोड़ते हैं)

(नेपथ्य में हाहाकार के साथ बड़ा शब्द होता है)

(सुनकर और ऊपर देखकर आनंद से) हहहह! अच्छा हुआ! यह देखो, किरीट-कुंडल बिना मेरे क्रोध से विमान से छूटकर विश्वेदेवा उल्टे ही होकर नीचे गिरते हैं। और हमको धिक्कार दें।

हरि०—(ऊपर देखकर भय से) वाह रे तप का प्रभाव! (आप ही आप) तब तो हरिश्चंद्र को अब तक शाप नहीं दिया है यह बड़ा अनुग्रह है! (प्रगट) भगवन्, स्त्री बेचकर यह आधा धन पाया है सो लें, और आधा हम अपने को बेचकर अभी देते हैं।

(नेपथ्य में)

अरे, अब तो नहीं सही जाती।

विश्वा०—हम आधा न लेंगे, चाहे जहाँ से अभी सब दे।

---

* यही पाँचो विश्वेदेवा विश्वामित्र के शाप से द्वापर में द्रौपदी के पाँच पुत्र हुए थे, जिन्हें अश्वत्थामा ने बालकपन ही में मार डाला।

(हरिश्चंद्र 'अरे सुनो भाई सेठ साहूकार' इत्यादि पुकारता हुआ घूमता है। चांडाल के वेष में धर्म और सत्य आते हैं *)

धर्म—(आप ही आप)

हम प्रतच्छ हरिरूप जगत हमरे बल चालत।
जल-थल-नभ थिर मो प्रभाव मरजाद न टालत ॥
हमहीं नर के मीत सदा साँचे हितकारी।
इक हमहीं सँग जात, तजत जब पितु सुत नारी ॥

सो हम नित थित इक सत्य में जाके बल सब जग जियो।
सोइ सत्य-परिच्छन नृपति को आजु भेष हम यह कियो ॥

(आश्चर्य से आप ही आप) सचमुच इस राजर्षि के समान दूसरा आज त्रिभुवन में नहीं है।

(आगे बढ़कर प्रगट) अरे! हरजनवाँ! मोहर क संदूक ले आवा है न ?

सत्य—क चौधरी! मोहर ले के का करबो ?

धर्म—तोह से का काम पूछै से ?

(दोनों आगे बढ़ते हुए फिरते हैं)

हरि०—('अरे सुनो भाई सेठ साहूकार इत्यादि' दो-तीन बेर पुकारके इधर-उधर घूमकर) हाय! कोई नहीं बोलता

---

* कांछा कछे, काला रंग, लाल नेत्र, सिर पर छोटे-छोटे घुँघराले बाल और शरीर नंगा, बातों से मतवालापन झलकता हुआ।

और कुलगुरु भगवान् सूर्य भी आज हमसे रुष्ट होकर शीघ्र ही अस्ताचल जाया चाहते हैं। (घबराहट दिखाता है)

धर्म—(आप ही आप) हाय हाय ! इस समय इस महात्मा को बड़ा ही कष्ट है। तो अब चलें आगे। (आगे बढ़कर) अरे ! अरे ! हम तुमको मोल लेंगे, लेव यह पचास सै मोहर लेव।

हरि०—(आनंद से आगे बढ़कर) वाह कृपानिधान ! बड़े अवसर पर आए। लाइए। (उसको पहिचानकर) आप मोल लोगे ?

धर्म—हाँ, हम लोग लेंगे। (सोना देना चाहता है)

हरि०—आप कौन हैं ?

धर्म—

हम चौधरी डोम सरदार। अमल हमारा दोनों पार ॥
सब मसान पर हमरा राज। कफन माँगने का है काज ॥
फूलमती देवी * के दास। पूजैं सती मसान निवास ॥
धनतेरस औ रात दिवाली। वलि चढ़ाय के पूजैं काली ॥
सो हम तुमको लेंगे मोल। देंगे मुहर गाँठ से खोल ॥

(मत्त की भांति चेष्टा करता है)

हरि०—(बड़े दुःख से) अहह ! बड़ा दारुण व्यसन उपस्थित हुआ है। (विश्वामित्र से) भगवन ! मैं पैर पड़ता

* प्राचीन काल में चांडालों की कुलदेवी चंडकात्यायनी थीं, परंतु इस काल में फूलमती इन लोगों की कुलदेवी हैं।

हूँ, मैं जन्म भर आपका दास होकर रहूँगा, मुझे चांडाल होने से बचाइए।

विश्वा०—छिः मूर्ख! भला हम दास लेके क्या करेंगे? "स्वयं दासास्तपस्विनः"।

हरि०—(हाथ जोड़कर) जो आज्ञा कीजिएगा हम सब करेंगे।

विश्वा०—सब करेगा न? (ऊपर हाथ उठाकर) धर्म के साक्षी देवता लोग सुनें, यह कहता है कि जो आप कहेंगे मैं सब करूँगा।

हरि०—हाँ हाँ, जो आप आज्ञा कीजिएगा सब करूँगा।

विश्वा०—तो इसी गाहक के हाथ अपने को बेचकर अभी हमारी शेष दक्षिणा चुका दे।

हरि०—जो आज्ञा। (आप ही आप) अब कौन सोच है। (प्रगट धर्म से) तो हम एक नियम पर बिकेंगे!

धर्म—वह कौन?

हरि०—भीख असन कंबल बसन, रखिहैं दूर निवास।
जो प्रभु आज्ञा होइहै, करिहैं सब ह्वै दास॥

धर्म—ठीक है, लेव सोना। (दूर से राजा के आँचल में मोहर देता है)

हरि०—(लेकर हर्ष से आप ही आप)

ऋण छूट्यो पूर्यो वचन, द्विजहुँ न दीनो साप।
सत्य पालि चंडाल हू, होइ आजु मोहि दाप॥

(प्रगट विश्वामित्र से) भगवन्, लीजिए यह मोहर।

विश्वा०—(मुँह चिढ़ाकर) सचमुच देता है ?

हरि०—हाँ हाँ, यह लीजिए ! (मोहर देते हैं)

विश्वा०—(लेकर) स्वस्ति । (आप ही आप) बस अब चलो, बहुत परीक्षा हो चुकी । (जाना चाहते हैं)

हरि०—(हाथ जोड़कर) भगवन् ! दक्षिणा देने में देर होने का अपराध क्षमा हुआ न ?

विश्वा०—हाँ, क्षमा हुआ । अब हम जाते हैं ।

हरि०—भगवन् ! प्रणाम करता हूँ ।

(विश्वामित्र आशीर्वाद देकर जाते हैं)

हरि०—अब चौधरीजी, (लज्जा से रुककर) स्वामी की जो आज्ञा हो वह करें ।

धर्म—(मत्त की भाँति नाचता हुआ)

जावो अभी दक्खिनी मसान । लेव वहाँ कफ्फन का दान ॥
जो कर तुमको नहीं चुकावे । सो किरिया करने नहिं पावे ॥
चलो घाट पर करो निवास । भए आज से हमरे दास ॥

हरि०—जो आज्ञा ।

(जवनिका गिरती है)

चतुर्थ अंक

स्थान—दक्षिण श्मशान

[नदी, पीपल का बड़ा पेड़, चिता, मुरदे,
कौए, सियार, कुत्ते, हड्डी इत्यादि]

(कंबल ओढ़े और एक मोटा लट्ठ लिए हुए
राजा हरिश्चंद्र दिखाई पड़ते हैं)

हरि०—(लंबी साँस लेकर) हाय ! अब जन्म भर यही दुख भोगना पड़ेगा ।

जाति दास चंडाल की, घर घनघोर मसान ।
कफन कसोटी को करम, सब ही एक समान ॥

न जानें विधाता का क्रोध इतने पर भी शांत हुआ कि नहीं । बड़ों ने सच कहा है कि दुःख से दुःख जाता है । दक्षिणा का ऋण चुका, तो यह कर्म करना पड़ा । हम क्या सोचें ? अपनी अनाथ प्रजा को, या दीन नातेदारों को, या अशरण नौकरों को, या रोती हुई दासियों को, या सूनी अयोध्या को, या दासी बनी महारानी को, या उस अनजान बालक को, या अपने ही इस चांडालपने को । हा ! बटुक के धक्के से गिरकर रोहिताश्व ने क्रोध-भरी और रानी ने जाते समय करुणा-भरी दृष्टि से जो मेरी ओर देखा था वह अब तक नहीं भूलती ।

घबड़ाकर) हा देवी ! सूर्यकुल की बहू और चंद्रकुल की बेटी होकर तुम बेची गईं और दासी बनीं। हा ! तुम अपने जिन सुकुमार हाथों से फूल की माला भी नहीं गूँथ सकती थीं उनसे बरतन कैसे माँजोगी ? (मोह प्राप्त होने चाहता है पर सम्हलकर) अथवा क्या हुआ ? यह तो कोई न कहेगा कि हरिश्चंद्र ने सत्य छोड़ा।

बेचि देह दारा सुअन, होइ दास हूँ मंद।
राख्यो निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचंद ॥

(आकाश से पुष्पवृष्टि होती है)

अरे यह असमय में पुष्पवृष्टि कैसी ? किसी पुण्यात्मा का मुरदा आया होगा। तो हम सावधान हो जायँ। (लट्ठ कंधे पर रखकर फिरता हुआ) खबरदार ! खबरदार !! बिना हमसे कहे और बिना हमें आधा कफन दिए कोई संस्कार न करे। (यही कहता हुआ निर्भय मुद्रा से इधर-उधर देखता फिरता है। नेपथ्य में कोलाहल सुन कर) हाय-हाय ! कैसा भयंकर श्मशान है ! दूर से मंडल बाँध-बाँधकर चोंच बाए, डैना फैलाए, कंगालों की तरह मुर्दों पर गिद्ध कैसे गिरते हैं और कैसा मांस नोच-नोचकर आपुस में लड़ते और चिल्लाते हैं। इधर अत्यंत कर्णकटु अमंगल के नगाड़े की भाँति एक के शब्द की लाग से दूसरे सियार कैसे रोते हैं। उधर चिराइन फैलाती हुई चट-चट करती चिताएँ कैसी जल रही हैं,

जिनमें कहीं से मांस के टुकड़े उड़ते हैं, कहीं लोहू वा चरवी बहती है। आग का रंग मांस के संबंध से नीला-पीला हो रहा है, ज्वाला घूम-घूमकर निकलती है, आग कभी एक साथ धधक उठती है, कभी मंद हो जाती है। धुआँ चारों ओर छा रहा है। (आगे देखकर आदर से) अहा! यह बीभत्स व्यापार भी बड़ाई के योग्य है। शव! तुम धन्य हो कि इन पशुओं के इतने काम आते हो; अतएव कहा है—

"मरनो भलो विदेश को, जहाँ न अपुनो कोय।
माटी खाँय जनावराँ, महा महोच्छव होय॥"

अहा! देखो।

सिर पै बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत।
खींचत जीभहि स्यार अतिहि आनँद उर धारत॥
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि खोदि कै मांस उचारत।
स्वान आँगुरिन काटि काटि के खान विचारत॥
बहु चील नोचि लै जात तुच मोद मढ़्यो सबको हियो।
मनु ब्रह्मभोज जिजमान कोउ आजु भिखारिन कहँ दियो॥

अहा! शरीर भी कैसी निस्सार वस्तु है!

सोई मुख सोई उदर, सोई कर पद दोय।
भयो आजु कछु और ही, परसत जेहि नहिं कोय॥
हाड़ माँस लाला रकत, बसा तुचा सब सोय।
छिन्न भिन्न दुर्गंध-मय, मरे मनुस के होय॥

काद‌र जेहि लखि कै डरत, पंडित पावत लाज।
अहो! व्यर्थ संसार को, विषय बासना साज॥
अहा! मरना भी क्या वस्तु है।

सोई मुख जेहि चंद बखान्यौ।
सोई अंग जेहि प्रिय करि जान्यौ॥
सोई भुज जे प्रिय गर डारें।
सोइ भुज जिन नर बिक्रम पारें॥
सोई पद जिहि सेवक बंदत।
सोई छबि जेहि देखि अनंदत॥
सोइ रसना जहँ अमृत बानी।
जेहि सुन के हिय नारि जुड़ानी॥
सोइ हृदय जहँ भाव अनेका।
सोई सिर जहँ निज बच टेका॥
सोई छबि-मय अंग सुहाए।
आज जीव बिनु धरनि सुहाए॥
कहाँ गई वह सुंदर सोभा।
जीवत जेहि लखि सब मन लोभा॥
प्रानहुँ ते बढ़ि जा कहँ चाहत।
ता कहँ आजु सबै मिलि दाहत॥
फूल बोझ हू जिन न सहारे।
तिन पै बोझ काठ बहु डारे॥

सिर पीड़ा जिनकी नहिं हेरी।
करत कपाल-क्रिया तिनकेरी ॥
छिनहूँ जे न भए कहुँ न्यारे।
तेऊ बंधुगन छोड़ि सिधारे ॥
जो दृगकोर महीप निहारत।
आजु काक तेहि भोज विचारत ॥
भुजबल जे नहिं भुवन समाए।
ते लखियत मुख कफन छिपाए ॥
नरपति प्रजा भेद बिनु देखे।
गने काल सब एकहि लेखे ॥
सुभग कुरूप अमृत विष साने।
आजु सबै इक भाव बिकाने ॥
पुरु दधीच कोऊ अब नाहीं।
रहे नामही ग्रंथन माँहीं ॥

अहा! देखो वही सिर, जिस पर मंत्र से अभिषेक होता था, कभी नवरत्न का मुकुट रखा जाता था, जिसमें इतना अभिमान था कि इंद्र को भी तुच्छ गिनता था, और जिसमें बड़े-बड़े राज जीतने के मनोरथ भरे थे, आज पिशाचों का गेंद बना है और लोग उसे पैर से छूने में भी घिन करते हैं। (आगे देखकर) अरे यह श्मशान-देवी हैं। अहा! कात्यायनी को भी कैसा बीभत्स उपचार प्यारा है? यह देखो, डोम लोगों ने सूखे गले सड़े

फूलों की माला गंगा में से पकड़-पकड़कर देवी को पहिना दी है और कफन की ध्वजा लगा दी है। मरे बैल और भैंसों के गले के घंटे पीपल की डार में लटक रहे हैं, जिनमें लोलक की जगह नली की हड्डी लगी है। घंट के पानी से चारों ओर से देवी का अभिषेक होता है और पेड़ के खंभे में लोहू के थापे लगे हैं। नीचे जो उतारों की बलि दी गई है उसके खाने को कुत्ते और सियार लड़-लड़कर कोलाहल मचा रहे हैं। (हाथ जोड़कर)

"भगवति ! चंडि ! प्रेते ! प्रेतविमाने ! लसत्प्रेते ! प्रेतास्थिरौद्ररूपे ! प्रेताशिनि ! भैरवि ! नमस्ते" ॥

(नेपथ्य में)

राजन् ! हम केवल चांडालों के प्रणाम के योग्य हैं। तुम्हारे प्रणाम से हमें लज्जा आती है। माँगो क्या वर माँगते हो ?

हरि०—(सुनकर आश्चर्य से) भगवति ! यदि आप प्रसन्न हैं तो हमारे स्वामी का कल्याण कीजिए।

(नेपथ्य में)

साधु महाराज हरिश्चंद्र साधु !

हरि०—(ऊपर देखकर) अहा ! स्थिरता किसी को भी नहीं है। जो सूर्य उदय होते ही पद्मिनीवल्लभ और

लौकिक वैदिक दोनों कर्म का प्रवर्त्तक था, जो दोपहर तक अपना प्रचंड प्रताप क्षण-क्षण बढ़ाता गया, जो गगनांगन का दीपक और कालसर्प का शिखामणि था, वह इस समय परकटे गिद्ध की भाँति अपना सब तेज गँवाकर देखो समुद्र में गिरा चाहता है।

अथवा

साँझ सोई पट लाल कसे कटि सूरज खप्पर हाथ लह्यो है।
पच्छिन के बहु शब्दन के मिस जीअ उचाटन मंत्र कह्यो है ॥
मद्य भरी नरखोपरी सो ससि को नव बिंबहू धाइ गह्यो है।
दै बलि जीव पसू यह मत्त ह्वै काल कपालिक नाचि रह्यो है ॥
सूरज धूम बिना की चिता सोई अंत में लै जल माँही बहाई।
बोलैं घने तरु बैठि बिहंगम रोअत सो मनु लोग-लोगाई ॥
धूम अँधार कपाल निसाकर, हाड़ नछत्र लहू सी ललाई।
आनँद हेतु निशाचर के यह काल मसान सो साँझ बनाई ॥

अहा! यह चारों ओर से पक्षी सब कैसा शब्द करते हुए अपने-अपने घोंसलों की ओर चले आते हैं। वर्षा से नदी का भयंकर प्रवाह, साँझ होने से श्मशान के पीपल पर कौओं का एक संग अमंगल शब्द से कांव-काँव करना और रात के आगमन से सन्नाटे का समय चित्त में कैसी उदासी और भय उत्पन्न करता है। अंधकार बढ़ता ही जाता है। वर्षा के कारण इन श्मशानवासी मंडूकों का टर-टर करना भी कैसा डरावना मालूम होता है।

रुरुआ चहुँ दिसि ररत डरत सुनि के नर-नारी ।
फटफटाइ दोउ पंख उलूकहु रटत पुकारी ॥
अंधकारबस गिरत काक अरु चील करत रव ।
गिद्ध-गरुड़-हड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद रव ॥
रोअत सियार, गरजत नदी, स्वान भूँकि डर पावई ।
सँग दादुर झींगुर रुदन-धुनि मिलि स्वर तुमुल मचावई ॥

इस समय यह चिता भी कैसी भयंकर मालूम पड़ती है। किसी का सिर चिता के नीचे लटक रहा है, कहीं आँच से हाथ-पैर जलकर गिर पड़े हैं, कहीं शरीर आधा जला है, कहीं बिलकुल कच्चा है, किसी को वैसे ही पानी में बहा दिया है, किसी को किनारे ही छोड़ दिया है, किसी का मुँह जल जाने से दाँत निकला हुआ भयंकर हो रहा है और कोई आग में ऐसा जल गया है कि कहीं पता भी नहीं है। वाह रे शरीर, तेरी क्या-क्या गति होती है !!! सचमुच मरने पर इस शरीर को चटपट जला ही देना योग्य है, क्योंकि ऐसे रूप और गुण जिस शरीर में थे उसको कीड़ों वा मछलियों से नुचवाना और सड़ाकर दुर्गंधमय करना बहुत ही बुरा है। न कुछ शेष रहेगा न दुर्गति होगी। हा ! चलो आगे चलें। (खबरदार इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर घूमता है)

(पिशाच और डाकिनीगण परस्पर आमोद करते और गाते-बजाते हुए आते हैं)

पि० और डा०—हैं भूत प्रेत हम, डाइन हैं छमाछम,
हम सेवैं मसान शिव को भजैं बोलैं बम बम बम।

पि०—हम कड़ कड़ कड़ कड़ कड़ कड़ हड्डी को तोड़ेंगे।
हम भड़ भड़ धड़ धड़ पड़ पड़ सिर सबका फोड़ेंगे।

डा०—हम घुट घुट घुट घुट घुट घुट लोहू पिलावेंगी॥
हम चट चट चट चट चट चट ताली बजावेंगी॥

सब—हम नाचें मिलकर थेई थेई थेई थेई कूदें धम् धम्
धम्। हैं भूत०—

पि०—हम काट काट कर शिर को गेंदा उछालेंगे।
हम खींच खींच कर चरबी पंशाखा बालेंगे॥

डा०—हम माँग में लाल-लाल लोहू का सेंदुर लगावेंगी।
हम नस के तागे चमड़े का लहँगा बनावेंगी॥

सब—हम धज से सज के बज के चलेंगे चमकेंगे चम
चम चम।

पि०—लोहू का मुँह से फर्र फर्र फुहारा छोड़ेंगे।
माला गले पहिरने को अँतड़ी को जोड़ेंगे॥

डा०—हम लाद के औंधे मुरदे चौकी बनावेंगी।
कफन बिछा के लड़कों को उस पर सुलावेंगी॥

सब—हम मुख से गावेंगे ढोल बजावेंगे ढम ढम ढम ढम ढम।

(वैसे ही कूदते हुए एक ओर से चले जाते हैं)

हरि०—(कौतुक से देखकर) पिशाचों की क्रीड़ा-कुतूहल भी देखने के योग्य है। अहा ! यह कैसे काले-काले झाड़ू से सिर के बाल खड़े किए लंबे-लंबे हाथ-पैर विकराल दाँत लंबी जीभ निकाले इधर-उधर दौड़ते और परस्पर किलकारी मारते हैं मानों भयानक रस की सेना मूर्तिमान होकर यहाँ स्वच्छंद विहार कर रही है। हाय-हाय ! इनका खेल और सहज व्यौहार भी कैसा भयंकर है। कोई कटाकट हड्डी चबा रहा है, कोई खोपड़ियों में लहू भर-भर करके पीता है, कोई सिर का गेंद बनाकर खेलता है, कोई अँतड़ी निकाल गले में डाले है और चंदन की भाँति चरबी और लहू शरीर में पोत रहा है, एक दूसरे से मांस छीनकर ले भागता है, एक जलता मांस मारे तृष्णा के मुँह में रख लेता है, पर जब गरम मालूम पड़ता है तो थू थू करके थूक देता है, और दूसरा उसी को फिर झट से खा जाता है। हा ! देखो यह चुड़ैल एक स्त्री की नाक नथ समेत नोच लाई है, जिसे देखने को चारों ओर से सब भुतने एकत्र हो रहे हैं और सभों को इसका बड़ा कौतुक हो गया है। हँसी में परस्पर लोहू का कुल्ला करते हैं और जलती लकड़ी और मुरदों के अंगों से लड़ते हैं और उनको ले-लेकर नाचते हैं। यदि तनिक भी क्रोध में आते हैं तो श्मशान के कुत्तों को पकड़-पकड़कर खा जाते हैं। अहा ! भगवान् भूतनाथ ने

बड़े कठिन स्थान पर योगसाधन किया है। (खबरदार इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर फिरता है। ऊपर देखकर) आधी रात हो गई, वर्षा के कारण अँधेरी बहुत ही छा रही है, हाथ से हाथ नहीं सूझता! चांडाल-कुल की भाँति श्मशान पर तम का भी आज राज हो रहा है। (स्मरण करके) हा! इस दुःख की दशा में भी हमसे प्रिया अलग पड़ी है। कैसी भी हीन अवस्था हो, पर अपना प्यारा जो पास रहे तो कुछ कष्ट नहीं मालूम पड़ता। सच है—

"टूट ठाट घर टपकत खटियौ टूट।
पिय कै बाँह उसिसवाँ सुख कै लूट॥"

बिधना ने इस दुःख पर भी वियोग दिया। हा! यह वर्षा और यह दुःख! हरिश्चंद्र का तो ऐसा कठिन कलेजा है कि सब सहेगा, पर जिसने सपने में भी दुःख नहीं देखा वह महारानी किस दशा में होगी। हा देवि! धीरज धरो, धीरज धरो! तुमने ऐसे ही भाग्यहीन से स्नेह किया है जिसके साथ सदा दुःख ही दुःख है। (ऊपर देखकर) पानी बरसने लगा। अरे! (घोघी भली भाँति ओढ़कर) हमको तो यह वर्षा और श्मशान दोनों एक ही से दिखाई पड़ते हैं। देखो—

चपला की चमक चहूँघा सों लगाई चिता
चिनगी चिलक पटवीजना चलायो है।
हेती बगमाल स्याम बादर सु भूमि कारी
वीरबधू लहूबूँद भुव लपटायो है॥
हरीचंद नीर-धार आँसू सी परत जहाँ
दादुर को सोर रोर दुखिन मचायो है।
दाहन वियोग दुखियान को मरे हूँ यह
देखो पापी पावस मसान बनि आयो है॥

(कुछ देर तक चुप रहकर) कौन है? (खबरदार इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर फिर कर)

इंद्र काल हू सरिस जो, आयसु लाँघै कोय।
यह प्रचंड भुजदंड मम, प्रतिभट ताको होय॥

अरे कोई नहीं बोलता। (कुछ आगे बढ़कर) कौन है?

(नेपथ्य में)

हम हैं।

हरि०—अरे हमारी बात का यह उत्तर कौन देता है? चलें, जहाँ से आवाज आई है वहाँ चलकर देखें। (आगे बढ़कर नेपथ्य की ओर देखकर) अरे यह कौन है?

चिता-भस्म सब अंग लगाए। अस्थि-अभूषन बिबिध बनाए॥
हाथ मसान कपाल जगावत। को यह चल्यो रुद्र सम आवत॥

(कापालिक के वेष में धर्म आता है *)

धर्म—अरे, हम हैं।

वृत्ति अयाचित आत्म-रति, करि जग के सुख त्याग।
फिरहिं मसान मसान हम, धारि अनंद विराग॥

आगे बढ़कर महाराज हरिश्चंद्र को देखकर आप ही आप)

हम प्रतच्छ हरि-रूप जगत हमरे बल चालत।
जल-थल-नभ थिर मम प्रभाव मरजाद न टालत॥
हमहीं नर के मीत सदा साँचे हितकारी।
इक हमहीं सँग जात तजत जब पितु सुत नारी॥
सो हम नित थित इक सत्य में जाके बल सब जग जियो।
सोइ सत्य-परिच्छन नृपति को आजु भेष हम यह कियो॥

(कुछ सोचकर) राजर्षि हरिश्चंद्र की दुःखपरंपरा अत्यंत शोचनीय और इनके चरित्र अत्यंत आश्चर्य के हैं। अथवा महात्माओं का यह स्वभाव ही होता है।

सहत विविध दुख मरि मिटत, भोगत लाखन सोग।
पै निज सत्य न छाड़हीं, जे जग साँचे लोग॥
बरु सूरज पच्छिम उगै, विंध्य तरै जल माहिं।
सत्य वीर जन पै कबहुँ, निज बच टारत नाहिं॥

---

* गेरुए वस्त्र का काछा काछे, गेरुआ कफनी पहिने, सिर के बाल खोले, सेंदुर का अर्द्धचंद्र किए, नंगी तलवार गले में लटकती हुई, एक हाथ में खप्पड़ बलता हुआ, दूसरे हाथ में चिमटा, अंग में भभूत पोते, नशे से आँखें लाल, लाल फूल की माला और हड्डी के आभूषण पहिने।

अथवा उनके मन इतने बड़े हैं कि दुःख को दुःख सुख को सुख गिनते ही नहीं। चलें उनके पास चलें। (आगे बढ़कर और देखकर) अरे! यही महात्मा हरिश्चंद्र हैं?

(प्रगट) महाराज, कल्याण हो।

हरि०—(प्रणाम करके) आइए योगिराज!

धर्म—महाराज, हम अर्थी हैं।

(हरिश्चंद्र लज्जा और विकलता नाट्य करता है)

धर्म—महाराज! आप लज्जा मत कीजिए। हम लोग योग-बल से सब कुछ जानते हैं। आप इस दशा पर भी हमारा अर्थ पूर्ण करने के लिये बहुत हैं। चंद्रमा राहु से ग्रसा रहता है तब भी दान दिलवाकर भिक्षुकों का कल्याण करता है।

हरि०—हमारे योग्य जो कुछ हो आज्ञा कीजिए।

धर्म—अंजन गुटिका पादुका, धातु भेद बैताल।

बज्र रसायन जोगिनी, मोहि सिद्धि यहि काल* ॥

---

* अंजनसिद्धि से जमीन में गड़े खजाने देख पड़ते हैं। गुटिका मुँह में रखकर वा पादुका पहिनकर चाहे जहां अलक्ष्य चला जाय। धातुभेद से औषध मात्र सिद्ध होती हैं। बैताल बस में होकर यथेच्छ काम देता है। बज्र सिद्ध होने से जहां गिराओ वहां गिरता है। रसायन सिद्ध होने से चांदी-सोना बनती है। जोगिनी सिद्ध होने से भूत-भविष्यत् का वृत्तांत कह देती है और सब इच्छा पूर्ण करती है। ये ही आठों सिद्धियां हैं।

हरि०—तो मुझे जो आज्ञा हो वह करूँ।

धर्म—आज्ञा यही है कि यह सब मुझे सिद्ध हो गए हैं, पर विघ्न इसमें बाधक होते हैं, सो विघ्नों का निवारण कर दीजिए।

हरि०—आप जानते हैं कि मैं पराया दास हूँ इससे जिसमें मेरा धर्म न जाय वह मैं करने को तयार हूँ।

धर्म—(आप ही) राजन्! जिस दिन तुम्हारा धर्म जायगा उस दिन पृथ्वी किसके बल से ठहरेगी? (प्रत्यक्ष) महाराज! इसमें धर्म न जायगा, क्योंकि स्वामी की आज्ञा तो आप उल्लंघन करते ही नहीं। सिद्धि का आकर इसी श्मशान के निकट ही है और मैं अब पुरश्चरण करने जाता हूँ, आप विघ्नों का निषेध कर दीजिए।

[जाता है

हरि०—(ललकार कर) हटो रे हटो विघ्नो! चारों ओर से तुम्हारा प्रचार हमने रोक दिया।

(नेपथ्य में)

महाराजाधिराज! जो आज्ञा। आपसे सत्य वीर की आज्ञा कौन लांघ सकता है!

खुल्यो द्वार कल्यान को, सिद्ध जोग तप आज।
निधि सिधि विद्या सब करहिं, अपुने मन को काज॥

हरि०—(हर्ष से) बड़े आनंद की बात है कि विघ्नों ने हमारा कहना मान लिया।

(विमान पर बैठी हुई तीनों महाविद्या आती हैं*)

महावि०—महाराज हरिश्चंद्र ! बधाई है। हमी लोगों को सिद्ध करने को विश्वामित्र ने बड़ा परिश्रम किया था, तब देवताओं ने माया से आपको स्वप्न में हमारा रोना सुनाकर हमारा प्राण बचाया।

हरि०--(आप ही आप) अरे यही सृष्टि की उत्पन्न, पालन और नाश करनेवाली महाविद्या हैं, जिन्हें विश्वामित्र भी न सिद्ध कर सके। (प्रगट हाथ जोड़कर) त्रिलोक-विजयिनी महाविद्याओं को नमस्कार है।

महावि०—महाराज ! हम लोग तो आपके वश में हैं। हमारा ग्रहण कीजिए।

हरि०—देवियो, यदि हम पर प्रसन्न हो तो विश्वामित्र मुनि की वशवर्त्तिनी हो, उन्होंने आप लोगों के वास्ते बड़ा परिश्रम किया है।

महावि०—धन्य महाराज ! धन्य ! जो आज्ञा। [जाती हैं

(धर्म एक बैताल के सिर पर पिटारा रखवाए हुए आता है)

धर्म--महाराज का कल्याण हो, आपकी कृपा से महानिधान† सिद्ध हुआ। आपको बधाई है। अब लीजिए इस रसेंद्र को।

---

* ब्रह्मा, विष्णु, महेश के वेश में पर स्त्री का शृंगार। खेलने में चित्रपट के द्वारा परदे के ऊपर इनको दिखलावेंगे और इनकी ओर से बोलनेवाला नेपथ्य में से बोलेगा।

† महानिधान बुभुक्षित धातुभेदी पारा, जिसे बावन तोला पाव रत्ती कहते हैं।

याही के परभाव सों, अमर देव सम होइ।
जोगी जन विहरहिं सदा, मेरु-शिखर भय खोइ ॥

हरि०—(प्रणाम करके) महाराज ! दासधर्म के यह विरुद्ध है। इस समय स्वामी से कहे बिना मेरा कुछ भी लेना स्वामी को धोखा देना है।

धर्म—(आश्चर्य से आप ही आप) वाह रे महानुभावता ! (पगट) तो इससे स्वर्ण बनाकर आप अपना दास्य छुड़ा लें।

हरि०—यह ठीक है, पर मैंने तो विनती की न कि जब मैं दूसरे का दास हो चुका तो इस अवस्था में मुझे जो कुछ मिले सब स्वामी का है। क्योंकि मैं तो देह के साथ ही अपना स्वत्वमात्र बेच चुका, इससे आप मेरे बदले कृपा करके मेरे स्वामी ही को यह रसेंद्र दीजिए।

धर्म—(आश्चर्य से आप ही आप) धन्य हरिश्चंद्र ! धन्य तुम्हारा धैर्य ! धन्य तुम्हारा विवेक ! और धन्य तुम्हारी महानुभावता ! या—

चलै मेरु बरु प्रलय जल, पवन झकोरन पाय।
पै बीरन के मन कबहुँ, चलहिं नहीं ललचाय ॥

तो हमें भी इसमें कौन हठ है। (प्रत्यक्ष) वैताल! जाओ, जो महाराज की आज्ञा है वह करो।

वैताल—जो रावलजी की आज्ञा। [जाता है

धर्म—महाराज ! ब्राह्ममुहूर्त्त निकट आया, अब हमको भी आज्ञा हो।

हरि०—योगिराज ! हमको भूल न जाइएगा, कभी-कभी स्मरण कीजिएगा ।

धर्म—महाराज ! बड़े-बड़े देवता आपका स्मरण करते हैं और करेंगे, मैं क्या कहूँ । [जाता है

हरि०—क्या रात बीत गई ! आज तो कोई भी मुरदा नया नहीं आया । रात के साथ ही श्मशान भी शांत हो चला, भगवान् नित्य ही ऐसा करे ।

(नेपथ्य में घंटा नूपुरादि का शब्द सुनकर)

अरे ! यह बड़ा कोलाहल कैसा हुआ ?

(विमान पर अष्ट महासिद्धि, नव निधि और बारहों प्रयोग आदि देवता* आते हैं)

हरि०—(आश्चर्य से) अरे ये कौन देवता बड़े प्रसन्न होकर श्मशान पर एकत्र हो रहे हैं !

देवता—महाराज हरिश्चंद्र की जय हो । आपके अनुग्रह से हम लोग विघ्नों से छूटकर स्वतंत्र हो गए; अब हम

---

* साधारण-देवी-देवताओं के वेश में । अष्ट महासिद्धि, यथा—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व । नवनिधि, यथा—पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुंद, कुंद, नील और वर्चस् । बारह प्रयोग, यथा—मारण, मोहन, उच्चाटन, कीलन, विद्वेषण और कामनाशन—ये छः बुरे और स्तंभन, वशीकरण, आकर्षण, बंदीमोचन, कामपूरण और वाक्प्रसारण—ये छः अच्छे । ये भी चित्रपट में दिखलाए जायँगे ।

आपके वश में हैं। जो आज्ञा हो, करें। हम लोग अष्ट महासिद्धि, नव निधि और बारह प्रयोग सब आपके हाथ में हैं।

हरि०—(प्रणाम करके) यदि हम पर आप लोग प्रसन्न हों तो महासिद्धि योगियों के, निधि सज्जनों के और प्रयोग साधकों के पास जाओ।

देवता—(आश्चर्य से) धन्य राजर्षि हरिश्चंद्र! तुम्हारे बिना और ऐसा कौन होगा जो घर आई लक्ष्मी का त्याग करे। हमी लोगों की सिद्धि को बड़े-बड़े योगी मुनि पच मरते हैं। पर तुमने तृण की भाँति हमारा त्याग करके जगत् का कल्याण किया।

हरि० आप लोग मेरे सिर आँखों पर हैं पर मैं क्या करूँ क्योंकि मैं पराधीन हूँ। एक बात और भी निवेदन है। वह यह कि छः अच्छे प्रयोगों की तो हमारे समय में सद्यः-सिद्धि होय पर बुरे प्रयोग की सिद्धि विलंब से हो।

देवता—महाराज! जो आज्ञा। हम लोग जाते हैं। आज आपके सत्य ने शिवजी के कीलन* को भी शिथिल कर दिया। महाराज का कल्याण हो। [जाते हैं

---

* शिवजी ने साधनमात्र को कील दिया है जिसमें जल्दी न सिद्ध हों, सो राजा हरिश्चंद्र ने विघ्नों को जो रोक दिया इसमें वह कीलन भी शिवजी की इच्छापूर्वक उस समय दूर हो गया था, क्योंकि यह भी तो एक सत्कर्म में बड़ा विघ्न था।

(नेपथ्य में इस भाँति मानो राजा हरिश्चंद्र नहीं सुनता)

(एक स्वर से) तो अप्सरा को भेजें। (दूसरे स्वर से) छिः मूर्ख ! जिसको अष्ट सिद्धि नव निधियों ने नहीं डिगाया उसको अप्सरा क्या डिगावेंगी ? (एक स्वर से) तो अब अंतिम उपाय किया जाय ? (दूसरे स्वर से) हाँ, तक्षक को आज्ञा दें। अब और कोई उपाय नहीं है !

हरि०—अहा ! अरुण उदय हुआ चाहता है। पूर्व दिशा ने अपना मुँह लाल किया। (साँस लेकर)

"वा चकई को भयो चित चीतो चितोति चहूँ दिसि चाय सों नाँची।
ह्वै गई छीन कलाधर की कला जामिनि जोति मनों जम जाँची ॥
बोलत वैरी बिहंगम देव सँयोगिन की भई संपति काँची।
लोहू पियो जो वियोगिन को सो कियो मुख लाल पिशाचिनि प्राची॥"

हा ! प्रियं ! इन बरसातों की रात को तुम रो-रो के बिताती होगी ! हा ! वत्स रोहिताश्व, भला हम लोगों ने तो अपना शरीर बेचा तब दास हुए, तुम विना बिके ही क्यों दास बन गए ?

जेहि सहसन परिचारिका, राखत हाथहिं हाथ।
सो तुम लोटत धूर में, दास बालकन साथ ॥
जाकी आयसु जग नृपति, सुनतहि धारत सीस।
तेहि द्विज-बटु आज्ञा करत, अहह कठिन अति ईस ॥

बिनु तन बेचे बिनु दिए, बिनु जग ज्ञान विवेक।
दैव सर्प दंशित भए, भोगत कष्ट अनेक॥

(घबड़ाकर) नारायण! नारायण! मेरे मुख से क्या निकल गया? देवता उसकी रक्षा करें। (बाईं आँख का फड़कना दिखाकर) इसी समय में यह महा अपशकुन क्यों हुआ? (दाहिनी भुजा का फड़कना दिखाकर) अरे और साथ ही यह मंगल-शकुन भी! न जाने क्या होनहार है! वा अब क्या होनहार है? जो होना था सो हो चुका। अब इससे बढ़कर और कौन दशा होगी? अब केवल मरणमात्र बाकी है। इच्छा तो यही है कि सत्य छूटने और दीन होने के पहले ही शरीर छूटे, क्योंकि इस दुष्ट चित्त का क्या ठिकाना है, पर वश क्या है?

(नेपथ्य में)

पुत्र हरिश्चंद्र! सावधान। यही अंतिम परीक्षा है। तुम्हारे पुरुषा इक्ष्वाकु से लेकर त्रिशंकु पर्य्यंत आकाश में नेत्र भरे खड़े एकटक तुम्हारा मुख देख रहे हैं। आज तक इस वंश में ऐसा कठिन दुःख किसी को नहीं हुआ था। ऐसा न हो कि इनका सिर नीचा हो। अपने धैर्य का स्मरण करो।

हरि०—(घबड़ाकर ऊपर देखकर) अरे यह कौन है? कुल-गुरु भगवान् सूर्य अपना तेज समेटे मुझे अनुशासन

कर रहे हैं। (ऊपर देखकर) पितः, मैं सावधान हूँ। सब दुःखों को फूल की माला की भाँति ग्रहण करूँगा।

(नेपथ्य में रोने की आवाज सुन पड़ती है)

हरि०—अरे अब सवेरा होने के समय मुरदा आया! अथवा चांडाल-कुल का सदा कल्याण हो, हमें इससे क्या? (खबरदार इत्यादि कहता हुआ फिरता है)

(नेपथ्य में)

हाय! कैसी भई! हाय बेटा! हमें रोती छोड़के कहाँ चले गए! हाय-हाय रे!

हरि०—अहह! किसी दीन स्त्री का शब्द है, और शोक भी इसको पुत्र का है। हाय हाय! हमको भी भाग्य ने क्या ही निर्दय और वीभत्स कर्म सौंपा है! इससे भी वस्त्र माँगना पड़ेगा।

(रोती हुई शैव्या रोहिताश्व का मुरदा लिए आती है)

शैव्या—(रोती हुई) हाय बेटा! जब बाप ने छोड़ दिया, तब तुम भी छोड़ चले! हाय! हमारी बिपत और बुढ़ौती की ओर भी तुमने न देखा! हाय! हाय रे! अब हमारी कौन गति होगी! (रोती है)

हरि०—हाय-हाय! इसके पति ने भी इसको छोड़ दिया है। हा! इस तपस्विनी को निष्करुण बिधि ने बड़ा ही दुःख दिया है।

शैव्या—(रोती हुई) हाय बेटा ! अरे आज मुझे किसने लूट लिया ! हाय मेरी बोलती चिड़िया कहाँ उड़ गई ! हाय, अब मैं किसका मुँह देखके जीऊँगी ! हाय, मेरी अंधी की लकड़ी कौन छीन ले गया ! हाय, मेरा ऐसा सुंदर खिलौना किसने तोड़ डाला ! अरे बेटा, तैं तो मरे पर भी सुंदर लगता है ! हाय रे ! अरे बोलता क्यों नहीं ! बेटा जल्दी बोल, देख, मा कब की पुकार रही है ! बच्चा ! तू तो एक ही दफे पुकारने में दौड़कर गले से लपट जाता था, क्यों नहीं बोलता ? (शव को बार-बार गले लगाती, देखती और चूमती है)

हरि०—हाय-हाय ! इस दुखिया के पास तो खड़ा नहीं हुआ जाता ।

शैव्या—(पागल की भाँति) अरे यह क्या हो रहा है ? बेटा, कहाँ गये हो ? आओ जल्दी । अरे अकेले इस मसान में मुझे डर लगता है, यहाँ मुझको कौन ले आया है ? रे! बेटा जल्दी आओ! अरे क्या कहते हो, मैं गुरु को फूल लेने गया था, वहाँ काले साँप ने मुझे काट लिया । हाय! हाय रे!! अरे कहाँ काट लिया ? अरे कोई दौड़ के किसी गुनी को बुलाओ जो जिलावे बच्चे को । अरे वह साँप कहाँ गया, हमको क्यों नहीं काटता ? काट रे काट, क्या उस सुकुँआर बच्चे ही पर बल दिखाना

था ? हमें काट। हाय! हमको नहीं काटता। अरे यहाँ तो कोई साँप-वाँप नहीं है। मेरे लाल झूठ बोलना कब से सीखे ? हाय-हाय! मैं इतना पुकारती हूँ और तुम खेलना नहीं छोड़ते ? बेटा, गुरुजी पुकार रहे हैं, उनके होम की बेला निकली जाती है। देखो, बड़ी देर से वह तुम्हारे आसरे बैठे हैं। दो जल्दी उनको दूब और बेलपत्र। हाय! हमने इतना पुकारा तुम कुछ नहीं बोलते! (जोर से) बेटा, साँझ भई, सब विद्यार्थी लोग घर फिर आए; तुम अब तक क्यों नहीं आए ? (आगे शव देखकर) हाय-हाय रे! अरे मेरे लाल को साँप ने सचमुच डस लिया! हाय लाल! हाय रे! मेरे आँखों के उजियाले को कौन ले गया! हाय मेरा बोलता हुआ सुग्गा कहाँ उड़ गया! बेटा! अभी तो बोल रहे थे, अभी क्या हो गया! हाय मेरा बसा घर आज किसने उजाड़ दिया! हाय मेरी कोख में किसने आग लगा दी! हाय, मेरा कलेजा किसने निकाल लिया! (चिल्ला-चिल्लाकर रोती है) हाय, लाल कहाँ गये ? अरे! अब मैं किसका मुँह देखके जिऊँगी रे ? हाय! अब मा कहके मुझको कौन पुकारेगा ? अरे आज किस बैरी की छाती टंढी भई रे ? अरे, तेरे सुकुँआर अंगों पर भी काल को तनिक दया न आई! अरे बेटा! आँख खोलो। हाय! मैं सब विपत तुम्हारा ही मुँह

देखकर सहती थी, सो अब कैसे जीती रहूँगी। अरे लाल! एक वेर तो बोलो! (रोती है)

हरि०—न जाने क्यों इसके रोने पर मेरा कलेजा फटा जाता है।

शैव्या—(रोती हुई) हा नाथ! अरे अपने गोद के खेलाए बच्चे की यह दशा क्यों नहीं देखते? हाय! अरे तुमने तो इसको हमें सौंपा था कि इसे अच्छी तरह पालना, सो हमने इसकी यह दशा कर दी। हाय! अरे ऐसे समय में भी आकर नहीं सहाय होते! भला एक बार लड़के का मुँह तो देख जाओ! अरे मैं अब किसके भरोसे जीऊँगी!

हरि०—हाय-हाय! इसकी बातों से तो प्राण मुँह को चले आते हैं और मालूम होता है कि संसार उलटा जाता है। यहाँ से हट चलें। (कुछ दूर हटकर उसकी ओर देखता खड़ा हो जाता है)

शैव्या—(रोती हुई) हाय! यह विपत का समुद्र कहाँ से उमड़ पड़ा! अरे छलिया मुझे छलकर कहाँ भाग गया! (देखकर) अरे आयुष की रेखा तो इतनी लंबी है, फिर अभी से यह बज्र कहाँ से टूट पड़ा। अरे ऐसा सुंदर मुँह, बड़ी-बड़ी आँख, लंबी-लंबी भुजा, चौड़ी छाती, गुलाब सा रंग! हाय, मरने के तुझमें कौन लच्छन थे जो भगवान् ने तुझे मार डाला! हाय लाल! अरे, बड़े-बड़े जोतसी गुनी लोग तो कहते थे कि तुम्हारा बेटा बड़ा

प्रतापी चक्रवर्त्ती राजा होगा, बहुत दिन जिएगा सो सब झूठ निकला! हाय! पोथी, पत्रा, पूजा, पाठ, दान, जप, होम कुछ भी काम न आया! हाय! तुम्हारे बाप का कठिन पुण्य भी तुम्हारा सहाय न हुआ और तुम चल बसे! हाय!

हरि०—अरे! इन बातों से तो मुझे बड़ी शंका होती है! (शव को भली भाँति देखकर) अरे! इस लड़के में तो सब लक्षण चक्रवर्ती के से दिखाई पड़ते हैं! हाय न-जाने किस बड़े कुल का दीपक आज इसने बुझाया है, और न जाने किस नगर को आज इसने अनाथ किया है। हाय! रोहिताश्व भी इतना बड़ा हुआ होगा। (बड़े सोच से) हाय! हाय! मेरे मुँह से क्या अमंगल निकल गया! नारायण! (सोचता है)

शैव्या—भगवन् विश्वामित्र! आज तुम्हारे सब मनोरथ पूरे हुए! हाय!

हरि०—(घबराकर) हाय-हाय! यह क्या? (भली भाँति देख-कर रोता हुआ) हाय! अब तक मैं संदेह ही में पड़ा हूँ! अरे! मेरी आँखें कहाँ गई थीं, जिनने अब तक पुत्र रोहिताश्व को न पहिचाना, और कान कहाँ गए थे जिनने अब तक महारानी की बोली न सुनी! हा पुत्र! हा लाल! हा सूर्यवंश के अंकुर! हा हरिश्चंद्र की विपत्ति के एक-मात्र अवलंब! हाय! तुम ऐसे कठिन समय में दुखिया

मा को छोड़कर कहाँ गए ? अरे! तुम्हारे कोमल अंगों को क्या होगया ? तुमने क्या खेला, क्या खाया, क्या सुख भोगा कि अभी से चल बसे ? पुत्र! स्वर्ग ऐसा ही प्यारा था तो मुझसे कहते, मैं अपने बाहुबल से तुमको इसी शरीर से स्वर्ग पहुँचा देता। अथवा अब इस अभिमान से क्या ? भगवान् इस अभिमान का फल यह सब दे रहा है। हाय पुत्र! (रोता है)

आह! मुझसे बढ़कर और कौन मंदभाग्य होगा! राज्य गया, धन-जन-कुटुंब सब छूटा, उस पर भी यह दारुण पुत्रशोक उपस्थित हुआ। भला अब मैं रानी को क्या मुँह दिखाऊँ ? निस्संदेह मुझसे अधिक अभागी और कौन होगा ? न-जाने हमारे किस जन्म के पाप उदय हुए हैं ! जो कुछ हमने आज तक किया, वह यदि पुण्य होता तो हमें यह दुःख न देखना पड़ता। हमारा धर्म का अभिमान सब झूठा था, क्योंकि कलियुग नहीं है कि अच्छा करते बुरा फल मिले। निस्संदेह मैं महा-अभागा और बड़ा पापी हूँ। (रंगभूमि की पृथ्वी हिलती है और नेपथ्य में शब्द होता है) क्या प्रलयकाल आ गया ? नहीं, यह बड़ा भारी असगुन हुआ है, इसका फल कुछ अच्छा नहीं; वा अब बुरा होना ही क्या बाकी रह गया है जो होगा ? हा! न-जाने किस अपराध से दैव इतना रूठा है। (रोता है) हा, सूर्य्य-कुल-आलवाल-प्रवाल !

हा हरिश्चंद्र-हृदयानंद ! हा शैव्यावलंब ! हा वत्स रोहिताश्व ! हा मातृ-पितृ-विपत्तिसहचर ! तुम हम लोगों को इस दशा में छोड़कर कहाँ गए ! आज हम सचमुच चांडाल हुए। लोग कहेंगे कि इसने न-जाने कौन दुष्कर्म किया था कि पुत्रशोक देखा। हाय ! हम संसार को क्या मुँह दिखावेंगे ! (रोता है) वा संसार में इस बात के प्रगट होने के पहले ही हम भी प्राणत्याग करें ? हा निर्लज्ज प्राण ! तुम अब भी क्यों नहीं निकलते ? हा वज्र-हृदय ! इतने पर भी तू क्यों नहीं फटता ? अरे नेत्रो ! अब और क्या देखना बाकी है कि तुम अब तक खुले हो ? या इस व्यर्थ प्रलाप का फल ही क्या है, समय बीता जाता है। इसके पूर्व कि किसी से सामना हो, प्राणत्याग करना ही उत्तम बात है। (पेड़ के पास जाकर फाँसी देने के योग्य डाल खोजकर उसमें दुपट्टा बाँधता है) धर्म्म ! मैंने अपने जान सब अच्छा ही किया, परंतु न-जाने किस कारण मेरा सब आचरण तुम्हारे विरुद्ध पड़ा सो मुझे क्षमा करना ! (दुपट्टे की फाँसी गले में लगाना चाहता है कि एकसाथ चौंककर) गोविंद ! गोविंद ! यह मैंने क्या अनर्थ अधर्म विचारा ! भला मुझ दास को अपने शरीर पर क्या अधिकार था कि मैंने प्राण-त्याग करना चाहा ! भगवान् सूर्य इसी क्षण के हेतु अनुशासन करते थे। नारायण

नारायण ! इस इच्छा-कृत मानसिक पाप से कैसे उद्धार होगा ? हे सर्व्वांतर्यामी जगदीश्वर ! क्षमा करना। दुःख से मनुष्य की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। अब तो मैं चांडालकुल का दास हूँ। न अब शैव्या मेरी स्त्री है और न रोहिताश्व मेरा पुत्र ! चलूँ, अपने स्वामी के काम पर सावधान हो जाऊँ, वा देखूँ, अब दुःखिनी शैव्या क्या करती है। (शैव्या के पीछे जाकर खड़ा होता है)

शैव्या—(पहले की तरह बहुत रोकर) हाय ! अब मैं क्या करूँ ! अब मैं किसका मुँह देखकर संसार में जीऊँगी ! हाय ! मैं आज से निपूती भई ! पुत्रवती स्त्रियाँ अपने बालकों पर अब मेरी छाया न पड़ने देंगी ! हा ! नित्य सवेरे उठकर अब मैं किसकी चिंता करूँगी ! खाने के समय मेरी गोद में बैठकर और मुझसे माँग-माँगकर अब कौन खायगा ! मैं परोसी थाली सूनी देखकर कैसे प्राण रखूँगी ! (रोती है) हाय ! खेलते-खेलते आकर मेरे गले से कौन लपट जायगा और मा-मा कहकर तनक-तनक बातों पर कौन हठ करेगा ! हाय ! मैं अब किसको अपने आँचल से मुँह की धूल पोंछकर गले लगाऊँगी और किसके अभिमान से विपत्ति में भी फूली-फूली फिरूँगी ! (रोती है) या जब रोहिताश्व ही नहीं तो मैं ही जीके क्या करूँगी ! (छाती पीटकर) हाय प्राण ! तुम अब भी क्यों नहीं निकलते ? हाय ! मैं ऐसी स्वारथी हूँ कि

आत्महत्या के नरक के भय से अब भी अपने को नहीं मार डालती ! नहीं-नहीं, अब मैं न जीऊँगी। या तो इस पेड़ में फाँसी लगाकर मर जाऊँगी या गंगा में कूद पड़ूँगी। (उन्मत्ता की भाँति उठकर दौड़ना चाहती है)

हरि०—(आड़ में से)

तनहिं बेचि दासी कहवाई।
मरत स्वामि-आयसु बिन पाई॥
करु न अधर्म सोच जिय माहीं।
"पराधीन सपने सुख नाहीं"॥

शैव्या—(चौकन्नी होकर) अहा ! यह किसने इस कठिन समय में धर्म का उपदेश किया। सच है, मैं अब इस देह की कौन हूँ जो मर सकूँ ! हाय दैव ! तुझसे यह भी न देखा गया कि मैं मरकर भी सुख पाऊँ ! (कुछ धीरज धरकर) तो चलूँ छाती पर वज्र धरके अब लोकरीति करूँ। (रोती और लकड़ी चुनकर चिता बनाती हुई) हाय ! जिन हाथों से ठोक-ठोककर रोज सुलाती थी, उन्हीं हाथों से आज चिता पर कैसे रखूँगी, जिसके मुँह में छाला पड़ने के भय से कभी मैंने गरम दूध भी नहीं पिलाया उसे—(बहुत ही रोती है)

हरि०—धन्य देवी, आखिर तो चंद्र-सूर्यकुल की स्त्री हो, तुम न धीरज धरोगी तो कौन धरेगा।

(शैव्या चिता बनाकर पुत्र के पास आकर उठाना चाहती और रोती है)

हरि०—तो अब चलें उससे आधा कफन माँगें। (आगे बढ़कर और बलपूर्वक आँसुओं को रोककर शैव्या से) महाभागे ! श्मशानपति की आज्ञा है कि आधा कफन दिए बिना कोई मुरदा फूँकने न पावे सो तुम भी पहले हमें कपड़ा दे लो तब क्रिया करो। (कफन माँगने को हाथ फैलाता है, आकाश से पुष्पवृष्टि होती है)

(नेपथ्य में)

अहो धैर्य्यमहो सत्यमहो दानमहो बलम्।
त्वया राजन् हरिश्चंद्र सर्व्वं लोकोत्तरं कृतम्॥

(दोनों आश्चर्य्य से ऊपर देखते हैं)

शैव्या—हाय ! इस कुसमय में आर्यपुत्र की यह कौन स्तुति करता है ! वा इस स्तुति ही से क्या है, शास्त्र सब असत्य हैं, नहीं तो आर्य्यपुत्र से धर्म्मी की यह गति हो ! यह केवल देवताओं और ब्राह्मणों का पाखंड है।

हरि०—(दोनों कानों पर हाथ रखकर) नारायण ! नारायण ! महाभागे ! ऐसा मत कहो। शास्त्र, ब्राह्मण और देवता त्रिकाल में सत्य हैं। ऐसा कहोगी तो प्रायश्चित्त होगा। अपना धर्म विचारो। लाओ मृतकम्बल हमें दो और अपना काम आरंभ करो। (हाथ फैलाता है)

शैव्या—(महाराज हरिश्चंद्र के हाथ में चक्रवर्त्ती का चिह्न देखकर और कुछ स्वर कुछ आकृति से अपने पति को पहचानकर) हा आर्यपुत्र! इतने दिन तक कहाँ छिपे थे ? देखो अपने गोद के खेलाए दुलारे पुत्र की दशा। तुम्हारा प्यारा रोहिताश्व देखो अब अनाथ की भाँति मसान में पड़ा है। (रोती है)

हरि०—प्रिये! धीरज धरो, यह रोने का समय नहीं है। देखो सवेरा हुआ चाहता है, ऐसा न हो कि कोई आ जाय और हम लोगों को जान ले, और एक लज्जामात्र बच गई है वह भी जाय। चलो कलेजे पर सिल रखकर अब रोहिताश्व की क्रिया करो और आधा कंबल हमको दो।

शैव्या—(रोती हुई) नाथ! मेरे पास तो एक भी कपड़ा नहीं था, अपना आँचल फाड़कर इसे लपेट लाई हूँ, उसमें से भी जो आधा दे दूँगी तो यह खुला रह जायगा! हाय! चक्रवर्त्ती के पुत्र को आज कफन नहीं मिलता! (बहुत रोती है)

हरि०—(बलपूर्वक आँसुओं को रोककर और बहुत धीरज धरकर) प्यारी! रो मत। ऐसे समय में तो धीरज और धरम रखना काम है। मैं जिसका दास हूँ उसकी आज्ञा है कि बिना आधा कफन लिए क्रिया मत करने दो। इससे मैं यदि अपनी स्त्री और अपना पुत्र समझकर तुमसे इसका आधा कफन न लूँ तो बड़ा अधर्म हो। जिस

हरिश्चंद्र ने उदय से अस्त तक की पृथ्वी के लिये धर्म न छोड़ा उसका धर्म आध गज कपड़े के वास्ते मत छुड़ाओ और कफन से जल्दी आधा कपड़ा फाड़ दो। देखो, सबेरा हुआ चाहता है, ऐसा न हो कि कुलगुरु भगवान् सूर्य अपने वंश की यह दुर्दशा देखकर चित्त में उदास हों। (हाथ फैलाता है)

शैव्या—(रोती हुई) नाथ! जो आज्ञा।

(रोहिताश्व का मृतकंबल फाड़ा चाहती है कि रंगभूमि की पृथ्वी हिलती है, तोप छूटने का सा बड़ा शब्द और बिजली का सा उजाला होता है। नेपथ्य में बाजे की और बस धन्य और जय जय की ध्वनि होती है, फूल बरसते हैं, और भगवान् नारायण प्रगट होकर राजा हरिश्चंद्र का हाथ पकड़ लेते हैं)

भग०—बस महाराज बस! धर्म और सत्य सबकी परमावधि हो गई। देखो, तुम्हारे पुण्यभय से पृथ्वी बारंबार काँपती है, अब त्रैलोक्य की रक्षा करो। (नेत्रों से आँसू बहते हैं)

हरि०—(साष्टांग दंडवत् करके रोता हुआ गद्गद स्वर से) भगवन्! मेरे वास्ते आपने परिश्रम किया! कहाँ यह श्मशान-भूमि—कहाँ यह मर्त्यलोक, कहाँ मेरा मनुष्य-शरीर, और कहाँ पूर्ण परब्रह्म सच्चिदानंदघन साक्षात् आप! (प्रेम के आँसुओं से और गद्गद कंठ होने से कुछ कहा नहीं जाता)

भग०—(शैव्या से) पुत्री ! अब सोच मत कर। धन्य तेरा सौभाग्य कि तुझे राजर्षि हरिश्चंद्र ऐसा पति मिला है। (रोहिताश्व की ओर देखकर) वत्स रोहिताश्व ! उठो। देखो, तुम्हारे माता-पिता देर से तुम्हारे मिलने को व्याकुल हो रहे हैं।

(रोहिताश्व उठ खड़ा होता है और आश्चर्य से भगवान् को प्रणाम करके माता-पिता का मुँह देखने लगता है, आकाश से फिर पुष्पवृष्टि होती है)

(हरिश्चंद्र और शैव्या आश्चर्य, आनंद, करुणा और प्रेम से कुछ कह नहीं सकते। आँखों से आँसू बहते हैं और एकटक भगवान् के मुखारविंद की ओर देखते हैं। श्रीमहादेव, पार्वती, भैरव, धर्म, सत्य, इंद्र और विश्वामित्र आते हैं)*

सब—धन्य महाराज हरिश्चंद्र धन्य ! जो आपने किया सो किसी ने न किया, न करेगा।

(राजा हरिश्चंद्र, शैव्या और रोहिताश्व सबको प्रणाम करते हैं)

विश्वा०—महाराज ! यह केवल चंद्र-सूर्य तक आपकी कीर्त्ति स्थिर रखने के हेतु मैंने छल किया था, सो क्षमा कीजिए और अपना राज्य लीजिए।

---

* श्रीमहादेव, पार्वती और भैरव का ध्यान सबको विदित है। इंद्र और विश्वामित्र का लिख चुके हैं। धर्म चतुर्भुज, श्याम रंग, पीतांबर, दंड, पत्र और कमल हाथ में। सत्य, शुक्ल वर्ण, श्वेत वस्त्राभरण, नारायण के चारों शस्त्र हाथ में।

(हरिश्चंद्र भगवान् और धर्म का मुँह देखते हैं)

धर्म—महाराज! राज्य आपका है, इसका मैं साक्षी हूँ, आप निस्संदेह लीजिए।

सत्य—ठीक है, जिसने हमारा अस्तित्व संसार में प्रत्यक्ष कर दिखाया उसी का पृथ्वी का राज्य है।

श्रीमहादेव—पुत्र हरिश्चंद्र! भगवान् नारायण के अनुग्रह से ब्रह्मलोक-पर्यंत तुमने पाया, तथापि मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी कीर्त्ति जब तक पृथ्वी है तब तक स्थिर रहे और रोहिताश्व दीर्घायु, प्रतापी और चक्रवर्त्ती हो।

पार्वती—पुत्री शैव्या! तुम्हारे पति के साथ तुम्हारी कीर्त्ति स्वर्ग की स्त्रियाँ गावें। तुम्हारी पुत्रवधू सौभाग्यवती हो और लक्ष्मी तुम्हारे घर का कभी त्याग न करें।

(हरिश्चंद्र और शैव्या प्रणाम करते हैं)

भैरव—और जो तुम्हारी कीर्त्ति कहे-सुने और उसका अनुसरण करे उसको भैरवी यातना न हो।

इंद्र—(राजा को आलिंगन करके और हाथ जोड़के) महाराज! मुझे क्षमा कीजिए। यह सब मेरी दुष्टता थी। परंतु इस बात से आपका तो कल्याण ही हुआ; स्वर्ग कौन कहे, आपने अपने सत्यबल से ब्रह्मपद पाया। देखिए, आपकी रक्षा के हेतु श्रीशिवजी ने भैरवनाथ को आज्ञा दी थी, आप उपाध्याय बने थे, नारदजी

बटु बने थे, साक्षात् धर्म ने आपके हेतु चांडाल और कापालिक का वेष लिया, और सत्य ने आप ही के कारण चांडाल के अनुचर और वैताल का रूप धारण किया। न आप बिके न दास हुए, यह सब चरित्र भगवान् नारायण की इच्छा से केवल आपके सुयश के हेतु किया गया।

हरि०—(गद्गद स्वर से) अपने दासों का यश बढ़ानेवाला और कौन है ?

भैरव—महाराज ! और भी जो इच्छा हो, माँगो।

हरि०—(प्रणाम करके गद्गद स्वर से) प्रभु ! आपके दर्शन से सब इच्छा पूर्ण हो गई, तथापि आपके आज्ञानुसार यह वर माँगता हूँ कि मेरी प्रजा भी मेरे साथ वैकुंठ जाय और सत्य सदा पृथ्वी पर स्थिर रहे।

भैरव—एवमस्तु, तुम ऐसे ही पुण्यात्मा हो कि तुम्हारे कारण अयोध्या के कीट-पतंग जीव-मात्र सब परमधाम जायँगे, और कलियुग में धर्म के सब चरण टूट जायँगे, तब भी वह तुम्हारे इच्छानुसार सत्य-मात्र एक पद से स्थित रहेगा। इतना ही देकर मुझे संतोष नहीं हुआ; कुछ और भी माँगो। मैं तुम्हें क्या-क्या दूँ ? क्योंकि मैं तो अपने ही को तुम्हें दे चुका। तथापि मेरी इच्छा यही है कि तुमको और कुछ वर दूँ। तुम्हें वर देने में मुझे संतोष नहीं होता।

हरि०—(हाथ जोड़कर) भगवन्! मुझे अब कौन इच्छा है? मैं और क्या वर माँगूँ? तथापि भरत का यह वाक्य सुफल हो—

"खलगनन सों सज्जन दुखी मत होइँ, हरिपद रति रहै।
उपधर्म छूटैं, सत्त्व निज भारत गहै, कर-दुख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर सम होहिं, सब जग सुख लहै।
तजि ग्रामकविता सुकविजन की अमृतवानी सब कहै॥

(पुष्पवृष्टि और बाजे की ध्वनि के साथ जवनिका गिरती है)

श्रीचंद्रावली

नाटिका

संवत् १९३३

काव्य, सरस, सिंगार के, दोउ दल, कविता नेम।
जग जन सों कै ईस सों, कहियत जेहि पर प्रेम।।
हरि-उपासना, भक्ति, वैराग, रसिकता, ज्ञान।
सोधैं जग जन मानिग्रा, चन्द्रावलिहि प्रमान।।

समर्पण

प्यारे !

लो, तुम्हारी चंद्रावली तुम्हें समर्पित है। अंगीकार तो किया ही है, इस पुस्तक को भी उन्हीं की कानि से अंगीकार करो ! इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार में प्रचलित है। हाँ, एक अपराध तो हुआ जो अवश्य क्षमा करना होगा। वह यह कि यह प्रेम की दशा छापकर प्रसिद्ध की गई। वा प्रसिद्ध करने ही से क्या जो अधिकारी नहीं हैं उनकी समझ ही में न आवेगा।

तुम्हारी कुछ विचित्र गति है। हमीं को देखो। जब अपराधों को स्मरण करो तब ऐसे कि कुछ कहना ही नहीं। क्षण भर जीने के योग्य नहीं। पृथ्वी पर पैर धरने को जगह नहीं। मुँह दिखाने के लायक नहीं। और जो यों देखो तो ये लंबे-लंबे मनोरथ। यह बोलचाल। यह ढिठाई कि तुम्हारा सिद्धांत कह डालना। जो हो, इस दूध खटाई की एकत्र स्थिति का कारण तुम्हीं जानो। इसमें कोई संदेह नहीं कि जैसे हो तुम्हारे बनते हैं। अतएव क्षमासमुद्र! क्षमा करो। इसी में निर्वाह है। बस—

भाद्रपद कृष्ण १४
सं० १९३३

हरिश्चंद्र

श्रीचंद्रावली

नाटिका



स्थान—रंगशाला

(ब्राह्मण आशीर्वाद पाठ करता हुआ आया)

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर ।
जयति अलौकिक घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर ॥

और भी

नेति नेति तत्-शब्द-प्रतिपाद्य सर्व्व भगवान ।
चंद्रावली-चकोर श्रीकृष्ण करौ कल्यान ॥

(सूत्रधार आता है)

सूत्र०—बस बस, बहुत बढ़ाने का कुछ काम नहीं । मारिष मारिष, दौड़ो दौड़ो, आज ऐसा अच्छा अवसर फिर न मिलेगा, हमलोग अपना गुण दिखाकर आज निश्चय कृतकृत्य होंगे ।

(पारिपार्श्वक आकर)

पारि०—कहो कहो, आज क्यों ऐसे प्रसन्न हो रहे हो ? कौन सा नाटक करने का विचार है और उसमें ऐसा कौन सा रस है कि फूले नहीं समाते ?

सूत्र०—आः, तुमने अब तक न जाना ? आज मेरा विचार है कि इस समय के बने एक नए नाटक की लीला करूँ, क्योंकि संस्कृत नाटकों को अपनी भाषा में अनुवाद करके तो हमलोग अनेक वार खेल चुके हैं, फिर वारंवार उन्हीं के खेलने को जी नहीं चाहता।

पारि०—तुमने बात तो बहुत अच्छी सोची, वाह क्यों न हो, पर यह तो कहो कि वह नाटक बनाया किसने है ?

सूत्र०—हमलोगों के परम मित्र हरिश्चंद्र ने।

पारि०—(मुँह फेरकर) किसी समय तुम्हारी बुद्धि में भी भ्रम हो जाता है। भला वह नाटक बनाना क्या जाने। वह तो केवल आरंभशूर है। और अनेक वड़े-वड़े कवि हैं, कोई उनका प्रबंध खेलते।

सूत्र०—(हँसकर) इसमें तुम्हारा दोष नहीं, तुम तो उससे नित्य नहीं मिलते। जो लोग उसके संग में रहते हैं वे तो उसको जानते ही नहीं, तुम बिचारे क्या हो।

पारि०—(आश्चर्य से) हाँ, मैं तो जानता ही न था, भला कहो उनके दो-चार गुण मैं भी सुन सकता हूँ ?

सूत्र०—क्यों नहीं, पर जो श्रद्धा से सुनो तो।

पारि०—मैं प्रति रोम को कर्ण बनाकर महाराज पृथु हो रहा हूँ, आप कहिए।

सूत्र०—(आनंद से) सुनो—

परम-प्रेम-निधि रसिक-वर, अति-उदार गुन-खान।
जग-जन-रंजन आशु-कवि, को हरिचंद-समान॥
जिन श्रीगिरिधरदास कवि, रचे ग्रंथ चालीस।
ता-सुत श्रीहरिचंद कों, को न नवावै सीस॥
जग जिन तृन-सम करि तज्यौ, अपने प्रेम-प्रभाव।
करि गुलाब सों आचमन, लीजत वाको नाँव॥
चंद टरै सूरज टरै, टरैं जगत के नेम।
यह दृढ़, श्रीहरिचंद को, टरै न अविचल प्रेम॥

पारि०—वाह-वाह! मैं ऐसा नहीं जानता था, तब तो इस प्रयोग में देर करनी ही भूल है।

(नेपथ्य में)

स्रवन-सुखद भव-भय-हरन, त्यागिन कों अत्याग।
नष्ट-जीव बिनु कौन हरि-गुन सों करै विराग?॥
हम सौंहू तजि जात नहिं, परम पुन्य फल जौन।
कृष्णकथा सों मधुरतर, जग मैं भाखौ कौन?॥

सूत्र०—(सुनकर आनंद से) अहा! वह देखो मेरा प्यारा छोटा भाई शुकदेवजी बनकर रंगशाला में आता है और हमलोग बातों ही से नहीं सुलझे। तो अब मारिष! चलो, हमलोग भी अपना-अपना वेष धारण करें।

पारि०—क्षण भर और ठहरो, मुझे शुकदेवजी के इस वेष की शोभा देख लेने दो, तब चलूँगा।

सूत्र०—सच कहा, अहा कैसा सुंदर बना है, वाह मेरे भाई वाह! क्यों न हो, आखिर तो मुझ रंगरंज का भाई है।

अति कोमल सब अंग रंग साँवरो सलोना।
घूँघरवाले बालन पैं बलि वारौं टोना॥
भुज बिसाल, मुख चंद झलमले, नैन लजौंहैं।
जुग कमान सी खिंची गड़त हिय में दोउ भौंहैं॥
छवि लखत नैन छिन नहिं टरत शोभा नहिं कहि जात है।
मनु प्रेमपुंज ही रूप धरि आवत आजु लखात है॥

तो चलो, हम भी अपने-अपने स्वाँग सजकर आवें।

(दोनों जाते हैं)

अथ विष्कम्भक

(आनंद में झूमते हुए डगमगी चाल से शुकदेवजी आते हैं)

शुक०—(स्रवन-सुखद इत्यादि फिर से पढ़कर) अहा! संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है, कोई नेम धर्म्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त, कोई मत-मतांतर के झगड़े में मतवाला हो रहा है, एक दूसरे को दोष देता है, अपने को अच्छा समझता है, कोई संसार ही को सर्वस्व मानकर परमार्थ से चिढ़ता है, कोई परमार्थ ही को परम पुरुषार्थ मानकर घर-बार तृण सा छोड़ देता है। अपने-अपने रंग में सब रँगे हैं। जिसने जो सिद्धांत कर लिया है वही उसके जी में गड़ रहा है और उसी के खंडन-मंडन में जन्म विताता है, पर वह जो परम प्रेम अमृत-मय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह-स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादिक अंधकार नाश हो जाते हैं और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आपसे आप खुल जाता है—वह किसी को नहीं मिली; मिले कहाँ से? सब उसके अधिकारी भी तो नहीं हैं, और भी, जो लोग धार्म्मिक कहाते हैं उनका चित्त, स्वमत-स्थापन और पर-मत-निराकरण-रूप वादविवाद से, और जो विचारे विषयी हैं उनका अनेक प्रकार की इच्छा-

रूपी तृष्णा से, अवसर तो पाता ही नहीं कि इधर झुके। (सोचकर) अहा! इस मदिरा को शिवजी ने पान किया है और कोई क्या पिएगा? जिसके प्रभाव से अर्द्धांग में बैठी पार्वती भी उनको विकार नहीं कर सकतीं, धन्य हैं, धन्य हैं और दूसरा ऐसा कौन है, (विचारकर) नहीं नहीं, व्रज की गोपियों ने उन्हें भी जीत लिया है। अहा! इनका कैसा विलक्षण प्रेम है कि अकथनीय और अकरणीय है; क्योंकि जहाँ माहात्म्य-ज्ञान होता है वहाँ प्रेम नहीं होता और जहाँ पूर्ण प्रीति होती है वहाँ माहात्म्य-ज्ञान नहीं होता। ये धन्य हैं कि इनमें दोनों बातें एक संग मिलती हैं, नहीं तो मेरा सा निवृत्त मनुष्य भी रात-दिन इन्हीं लोगों का यश क्यों गाता!

[नेपथ्य में वीणा बजती है]

(आकाश की ओर देखकर और वीणा का शब्द सुनकर)

आहा! यह आकाश कैसा प्रकाशित हो रहा है और वीणा के कैसे मधुर स्वर कान में पड़ते हैं। ऐसा संभव होता है कि देवर्षि भगवान् नारद यहाँ आते हैं। आहा! वीणा कैसे मीठे सुर से बोलती है। (नेपथ्य की ओर देखकर) अहा वही तो हैं, धन्य हैं, कैसी सुंदर शोभा है।

पिंग जटा को भार सीस पै सुंदर सोहत।
गल तुलसी की माल बनी जोहत मन मोहत॥

कटि मृगपति को चरम चरन मैं घुँघरू धारत।
नारायण गोविंद कृष्ण यह नाम उचारत॥
लै वीना कर वादन करत तान सात सुर सों भरत।
जग अघ छिन मैं हरि कहि हरत जेहि सुनि नर भवजल तरत॥
जुग तूँबन की बीन परम सोभित मनभाई।
लय अरु सुर की मनहुँ जुगल गठरी लटकाई॥
आरोहन अवरोहन के कै द्वै फल सोहैं।
कै कोमल अरु तीव्र सुर भरे जग-मन मोहैं॥
कै श्रीराधा अरु कृष्ण के अगनित गुन गन के प्रगट।
यह अगम खजाने द्वै भरे नित खरचत तो हूँ अघट॥

मनु तीरथ-मय कृष्णचरित की काँवरि लीने।
कै भूगोल खगोल दोउ कर-अमलक कीने॥
जग-बुधि तौलन हेत मनहुँ यह तुला बनाई।
भक्ति-मुक्ति की जुगल पिटारी कै लटकाई॥
मनु गावन सों श्रीराग के बीना हू फलती भई।
कै राग-सिंधु के तरन हित, यह दोऊ तूँबी लई॥

ब्रह्म-जीव, निरगुन-सगुन, द्वैता द्वैत विचार।
नित्य-अनित्य विवाद के, द्वै तूँबा निरधार॥
जो इक तूँबा लै कढ़ै, सो वैरागी होय।
क्यों नहिं ये सबसों बढ़ैं, लै तूँबा कर दोय॥

तो अब इनसे मिलके आज मैं परमानंद लाभ करूँगा।

(नारदजी आते हैं)

शुक०—(आगे बढ़कर और गले से मिलकर) आइए आइए, कहिए कुशल तो है ? किस देश को पवित्र करते हुए आते हैं ?

नारद—आप से महापुरुष के दर्शन हों और फिर भी कुशल न हो, यह बात तो सर्वथा असंभव है; और आपसे तो कुशल पूछना ही व्यर्थ है।

शुक०—यह तो हुआ, अब कहिए आप आते कहाँ से हैं ?

नारद—इस समय तो मैं श्रीवृंदावन से आता हूँ।

शुक०—अहा ! आप धन्य हैं जो उस पवित्र भूमि से आते हैं। (पैर छूकर) धन्य है उस भूमि की रज, कहिए वहाँ क्या-क्या देखा ?

नारद—वहाँ परम प्रेमानंदमयी श्रीव्रजवल्लभी लोगों का दर्शन करके अपने को पवित्र किया और उनकी विरहावस्था देखता बरसों वहीं भूला पड़ा रहा। अहा, ये श्रीगोपीजन धन्य हैं। इनके गुणगण कौन कह सकता है—

गोपिन की सरि कोऊ नाहीं।
जिन तृन-सम कुल-लाज-निगड़ सब तोरयो हरिरस माहीं॥
जिन निज बस कीने नँदनंदन विरहीं दै गलबाँहीं।
सब संतन के सीस रहौ इन चरन छत्र की छाँहीं॥

व्रज के लता पता मोहि कीजै।
गोपी-पद-पंकज-पावन की रज जामैं सिर भींजै॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै।
श्रीराधे राधे मुख, यह बर मुँहमाँग्यौ हरि दीजै॥

(प्रेम-अवस्था में आते हैं और नेत्रों से आंसू बहते हैं)

शुक०—(अपने आँसू पोंछकर) अहा धन्य हैं आप, धन्य हैं, अभी जो मैं न सम्हालता तो वीणा आपके हाथ से छूटके गिर पड़ती। क्यों न हो, श्रीमहादेवजी की प्रीति के पात्र होकर आप ऐसे प्रेमी हों इसमें आश्चर्य नहीं।

नारद—(अपने को सम्हालकर) अहा! ये क्षण कैसे आनंद से बीते हैं, यह आप से महात्मा की संगत का फल है।

शुक०—कहिए, उन सब गोपियों में प्रेम विशेष किसका है?

नारद—विशेष किसका कहूँ और न्यून किसका कहूँ, एक से एक बढ़कर हैं। श्रीमती की कोई बात ही नहीं, वे तो श्रीकृष्ण ही हैं, लीलार्थ दो हो रही हैं; तथापि सब गोपियों में श्रीचंद्रावलीजी के प्रेम की चर्चा आज-कल व्रज के डगर-डगर में फैली हुई है। अहा! कैसा विलक्षण प्रेम है, यद्यपि माता-पिता, भाई-बन्धु सब निषेध करते हैं और उधर श्रीमतीजी का भी भय है, तथापि श्रीकृष्ण से जल में दूध की भाँति मिल रही हैं। लोक-

लाज, गुरुजन कोई बाधा नहीं कर सकते। किसी न किसी उपाय से श्रीकृष्ण से मिल ही रहती हैं।

शुक०—धन्य हैं, धन्य हैं! कुल को, वरन जगत् को अपने निर्मल प्रेम से पवित्र करनेवाली हैं।

(नेपथ्य में वेणु का शब्द होता है)

अहा! यह वंशी का शब्द तो और भी व्रजलीला की सुधि दिलाता है। चलिए, चलिए अब तो व्रज का वियोग सहा नहीं जाता; शीघ्र ही चलके उनका प्रेम देखें; उस लीला के बिना देखे आँखें व्याकुल हो रही हैं।

(दोनों जाते हैं)

पहिला अंक

(जवनिका उठी)

स्थान—श्रीवृंदावन, गिरिराज दूर से दिखाता है

(श्रीचंद्रावली और ललिता आती हैं)

ललिता—प्यारी, व्यर्थ इतना शोच क्यों करती है ?

चंद्रा०—नहीं सखी ! मुझे शोच किस बात का है ।

ललिता—ठीक है, ऐसी ही तो हम मूर्ख हैं कि इतना भी नहीं समझतीं ।

चंद्रा०—नहीं सखी ! मैं सच कहती हूँ, मुझे कोई शोच नहीं ।

ललिता—बलिहारी सखी ! एक तू ही तो चतुर है, हम सब तो निरी मूर्ख हैं ।

चंद्रा०—नहीं सखी ! जो कुछ शोच होता तो मैं तुझसे कहती न । तुझसे ऐसी कौन बात है जो छिपाती ?

ललिता—इतनी ही तो कसर है, जो तू मुझे अपनी प्यारी सखी समझती तो क्यों छिपाती ?

चंद्रा०—चल मुझे दुख न दे, भला मेरी प्यारी सखी तू न होगी तो और कौन होगो ?

ललिता—पर यह बात मुख से कहती है, चित्त से नहीं ।

चंद्रा०—क्यों ?

ललिता--जो चित्त से कहती तो फिर मुझसे क्यों छिपाती ?

चंद्रा०—नहीं सखी, यह केवल तेरा झूठा संदेह है।

ललिता--सखी, मैं भी इसी व्रज में रहती हूँ और सबके रंग-ढंग देखती ही हूँ। तू मुझसे इतना क्यों उड़ती है ? क्या तू यह समझती है कि मैं यह भेद किसी से कह दूँगी ? ऐसा कभी न समझना। सखी, तू तो मेरी प्राण है। मैं तेरा भेद किससे कहने जाऊँगी ?

चंद्रा०—सखी, भगवान् न करे कि किसी को किसी बात का संदेह पड़ जाय; जिसको जो संदेह पड़ जाता है वह फिर कठिनता से मिटता है।

ललिता– अच्छा, तू सौगंद खा।

चंद्रा०—हाँ सखी, तेरी सौगंद।

ललिता--क्या मेरी सौगंद ?

चंद्रा०—तेरी सौगंद कुछ नहीं है।

ललिता--क्या कुछ नहीं है फिर तो चली न अपनी चाल से ? तेरी छलविद्या कहीं नहीं जाती। तू व्यर्थ इतना क्यों छिपाती है ! सखी, तेरा मुखड़ा कहे देता है कि तू कुछ न कुछ सोचा करती है।

चंद्रा०—क्यों सखी, मेरा मुखड़ा क्या कहे देता है ?

ललिता—यही कहे देता है कि तू किसी की प्रीति में फँसी है।

चंद्रा०--बलिहारी सखी, मुझे अच्छा कलंक लगा दिया।

ललिता—यह बलिहारी कुछ काम न आवेगी, अंत में फिर मैं ही काम आऊँगी और मुझी से सब कुछ कहना पड़ेगा, क्योंकि इस रोग का वैद्य मेरे सिवा दूसरा कोई न मिलेगा।

चंद्रा०—पर सखी जब कोई रोग हो तब न ?

ललिता—फिर वही बात कहे जाती है। अब क्या मैं इतना भी नहीं समझती ! सखी, भगवान् ने मुझे भी आँखें दी हैं और मेरे भी मन है और मैं कुछ ईंट-पत्थर की नहीं हूँ।

चंद्रा०—यह कौन कहता है कि तू ईंट-पत्थर की बनी है, इससे क्या ?

ललिता—इससे यह कि इस व्रज में रहकर उससे वही बची होगी जो ईंट-पत्थर की होगी।

चंद्रा०—किससे ?

ललिता—जिसके पीछे तेरी यह दशा है।

चंद्रा०—किसके पीछे मेरी यह दशा है ?

ललिता—सखी, तू फिर वही बात कहे जाती है। मेरी रानी, ये आँखें ऐसी बुरी हैं कि जब किसी से लगती हैं तब कितना भी छिपाओ नहीं छिपतीं।

छिपाए छिपत न नैन लगे।
उघरि परत, सब जानि जात हैं घूँघट में न खगे॥
कितनो करौ दुराव, दुरत नहीं जब ये प्रेम-पगे।
निडर भए उघरे से डोलत मोहनरंग रँगे॥

चंद्रा०—वाह सखी क्यों न हो, तेरी क्या बात है। अब तू ही तो एक पहेली बूझनेवालों में बची है। चल, बहुत झूठ न बोल, कुछ भगवान् से भी डर।

ललिता—जो तू भगवान् से डरती तो झूठ क्यों बोलती ? वाह सखी ! अब तो तू बड़ी चतुर हो गई है। कैसा अपना दोष छिपाने को मुझे पहिले ही से झूठी बना दिया। (हाथ जोड़कर) धन्य है, तू दंडवत् करने के योग्य है। कृपा करके अपना बाँयाँ चरण निकाल तो मैं भी पूजा करूँ। चल मैं आज पीछे तुझसे कुछ न पूछूँगी।

चंद्रा०--(कुछ सकपकानी सी होकर) नहीं सखी, तू क्यों झूठी है, झूठी तो मैं हूँ, और जो तू ही बात न पूछेगी तो कौन बात पूछेगा ? सखी, तेरे ही भरोसे तो मैं ऐसी निडर रहती हूँ और तू ऐसी रूसी जाती है !

ललिता—नहीं, बस अब मैं कभी कुछ नहीं पूछने की। एक बेर पूछकर फल पा चुकी।

चंद्रा०—(हाथ जोड़कर) नहीं सखी, ऐसी बात मुँह से मत निकाल। एक तो मैं आप ही मर रही हूँ, तेरी बात सुनने से और भी अधमरी हो जाऊँगी। (आँखों में आँसू भर लेती है)

ललिता—प्यारी, तुझे मेरी सौगंद। उदास न हो, मैं तो सब भाँति तेरी हूँ और तेरे भले के हेतु प्राण देने को तैयार हूँ। यह तो मैंने हँसी की थी। क्या मैं नहीं जानती कि

तू मुझसे कोई बात न छिपावेगी और छिपावेगी तो काम कैसे चलेगा, देख !

हम भेद न जानिहैं जो पै कछू,
    औ दुराव सखी हममैं परिहै।
कहि कौन मिलैहै पियारे पियैं,
    पुनि कारज कासों सबै सरिहै॥
बिन मोसों कहै न उपाव कछू,
    यह बेदन दूसरी को हरिहै।
नहिं रोगी बताइहै रोगहि जौ,
    सखी बापुरो बैद कहा करिहै॥

चंद्रा०—तो सखी, ऐसी कौन बात है जो तुझसे छिपी है ? तू जान-बूझके बार-बार क्यों पूछती है ? ऐसे पूछने को तो मुँह चिढ़ाना कहते हैं और इसके सिवा मुझे व्यर्थ याद दिलाकर क्यों दुःख देती है ? हा !

ललिता—सखी, मैं तो पहिले ही समझी थी, यह तो केवल तेरे हठ करने से मैंने इतना पूछा, नहीं तो मैं क्या नहीं जानती ?

चंद्रा०—सखी, मैं क्या करूँ, मैं कितना चाहती हूँ कि यह ध्यान भुला दूँ, पर उस निठुर की छवि भूलती नहीं, इसी से सब जान जाते हैं।

ललिता—सखी, ठीक है।

लगौंही चितवनि औरहि होति।
दुरत न लाख दुराओ कोऊ प्रेम झलक की जोति ॥
घूँघट मैं नहिं थिरत तनिक हूँ अति ललचौंहीं बानि।
छिपत न कैसहुँ प्रीति निगोड़ी अंत जात सब जानि ॥

चंद्रा०——सखी, ठीक है। जो दोष है वह इन्हीं नेत्रों का है। यही रीझते, यही अपने को छिपा नहीं सकते और यही दुष्ट अंत में अपने किए पर रोते हैं।

सखी ये नैना बहुत बुरे।
तब सों भए पराए, हरि सों जब सों जाइ जुरे ॥
मोहन के रस बस ह्वै डोलत तलफत तनिक दुरे।
मेरी सीख प्रीति सब छाड़ी ऐसे ये निगुरे ॥
जग खीझ्यौ बरज्यौ पै ये नहिं हठ सों तनिक मुरे।
अमृत-भरे देखत कमलन से विष के बुते छुरे ॥

ललिता——इसमें क्या संदेह है। मुझ पर तो सब कुछ बीत चुकी है। मैं इनके व्यवहारों को अच्छी रीति से जानती हूँ। ये निगोड़े नैन ऐसे ही होते हैं।

होत सखि ये उलझौंहैं नैन।
उरझि परत, सुरझ्यौ नहिं जानत, सोचत समुझत हैं न ॥
कोऊ नहिं बरजै जो इनको बनत मत्त जिमि गैन।
कहा कहौं इन बैरिन पाछे होत लैन के दैन ॥

चंद्रा०—और फिर इनका हठ ऐसा है कि जिसकी छवि पर रीझते हैं उसे भूलते नहीं, और कैसे भूलें, क्या वह भूलने के योग्य है, हा !

नैना वह छवि नाहिंन भूले ।
दया-भरी चहुँ दिसि की चितवनि नैन कमल-दल फूले ॥
वह आवनि वह हँसनि छबीली वह मुसकनि चित चोरें ।
वह बतरानि मुरनि हरि की वह वह देखन चहुँ कोरें ॥
वह धीरी गति कमल फिरावन कर लै गायन पाछे ।
वह बीरी मुख बेनु बजावनि पीत पिछौरी काछे ॥
परवस भए फिरत हैं नैना इक छन टरत न टारे ।
हरि-ससि-मुख ऐसी छवि निरखत तन मन धन सब हारे ॥

ललिता—सखी मेरी तो यह विपत्ति भोगी हुई है । इससे मैं तुझे कुछ नहीं कहती; दूसरी होती तो तेरी निंदा करती और तुझे इससे रोकती ।

चंद्रा०—सखी, दूसरी होती तो मैं भी तो उससे यों एक संग न कह देती । तू तो मेरी आत्मा है । तू मेरा दुःख मिटावेगी कि उलटा समझावेगी ?

ललिता—पर सखी, एक बड़े आश्चर्य की बात है कि जैसी तू इस समय दुखी है वैसी तू सर्वदा नहीं रहती ।

चंद्रा०—नहीं सखी, ऊपर से दुखी नहीं रहती पर मेरा जी जानता है जैसे रातें बीतती हैं ।

मनमोहन तें बिछुरी जब सों,
तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
हरिचंद जू प्रेम के फंद परी,
कुल की कुल लाजहि खोवती हैं॥
दुख के दिन कों कोऊ भाँति बितै,
बिरहागम रैन सँजोवती हैं।
हमहीं अपुनी दशा जानैं सखी,
निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं॥

ललिता—यह हो पर मैंने तुझे जब देखा तब एक ही दशा में देखा और सर्वदा तुझे अपनी आरसी वा किसी दर्पण में मुँह देखते पाया पर वह भेद आज खुला।

हौं तो याही सोच मैं बिचारत रही री काहे,
दरपन हाथ तें न छिन बिसरत है।
त्योंही हरिचंद जू बियोग औ सँयोग दोऊ,
एक से तिहारे कछु लखि न परत है॥
जानी आज हम ठकुरानी तेरी बात,
तू तौ परम पुनीत प्रेमपथ बिचरत है।
तेरे नैन मूरति पियारे की बसत ताहि,
आरसी मैं रैन-दिन देखिबो करत है॥

सखी! तू धन्य है, बड़ी भारी प्रेमिन है और प्रेम शब्द को सार्थ करनेवाली और प्रेमियों की मंडली की शोभा है।

चंद्रा०—नहीं सखी ! ऐसा नहीं है। मैं जो आरसी देखती थी उसका कारण कुछ दूसरा ही है। हा! (लंबी साँस लेकर) सखी ! मैं जब आरसी में अपना मुँह देखती और अपना रंग पीला पाती थी तब भगवान् से हाथ जोड़कर मनाती थी कि भगवान्, मैं उस निर्दयी को चाहूँ पर वह मुझे न चाहे, हा ! (आँसू टपकते हैं)

ललिता—सखी, तुझे मैं क्या समझाऊँगी, पर मेरी इतनी बिनती है कि तू उदास मत हो। जो तेरी इच्छा हो, पूरी करने को उद्यत हूँ।

चंद्रा०—सखी, मैं तो पहिले ही कह चुकी कि तू धन्य है। संसार में जितना प्रेम होता है, कुछ इच्छा लेकर होता है और सब लोग अपने ही सुख में सुख मानते हैं, पर उसके विरुद्ध तू बिना इच्छा के प्रेम करती है और प्रीतम के सुख से सुख मानती है। यह तेरी चाल संसार से निराली है। इसी से मैंने कहा था कि तू प्रेमियों के मंडल को पवित्र करनेवाली है।

(चंद्रावली नेत्रों में जल भरकर मुख नीचा कर लेती है)

(दासी आकर)

दासी—अरी, मैया खीझ रही है के वाहि घर के कछू और हूँ काम-काज हैं के एक हाहा ठीठी ही है, चल उठि, भोर सों यहीं पड़ी रही।

चंद्रा०—चल आऊँ, बिना बात की बकवाद लगाई। (ललिता से) सुन सखी, इसकी बातें सुन, चल चलें। (लंबी साँस लेकर उठती है)

(तीनों जाती हैं)

दूसरा अंक

स्थान—केले का वन

समय संध्या का, कुछ बादल छाए हुए

(वियोगिन बनी हुई श्रीचंद्रावलीजी आती हैं)

चंद्रा०—(एक वृक्ष के नीचे बैठकर) वाह प्यारे! वाह! तुम और तुम्हारा प्रेम दोनों विलक्षण हैं; और निश्चय बिना तुम्हारी कृपा के इसका भेद कोई नहीं जानता; जानें कैसे? सभी उसके अधिकारी भी तो नहीं हैं। जिसने जो समझा है उसने वैसा ही मान रखा है। हा! यह तुम्हारा जो अखंड परमानंदमय प्रेम है और जो ज्ञान वैराग्यादिकों को तुच्छ करके परम शांति देने-वाला है उसका कोई स्वरूप ही नहीं जानता, सब अपने ही सुख में और अभिमान में भूले हुए हैं; कोई किसी स्त्री से वा पुरुष से उसको सुंदर देखकर चित्त लगाना और उससे मिलने के अनेक यत्न करना इसी को प्रेम कहते हैं, और कोई ईश्वर की बड़ी लम्बी-चौड़ी पूजा करने को प्रेम कहते हैं—पर प्यारे! तुम्हारा प्रेम इन दोनों से विलक्षण है, क्योंकि यह अमृत तो उसी को मिलता है जिसे तुम आप देते हो। (कुछ ठहरकर)

हाय किससे कहूँ और क्या कहूँ, क्यों कहूँ, कौन सुने और सुने भी तो कौन समझे—हा !

जग जानत कौन है प्रेम-बिथा,
केहि सों चरचा या वियोग की कीजिए।
पुनि को कही मानै कहा समुझै कोऊ,
क्यौं बिन बात की रारहि लीजिए ॥
नित जो हरिचंद जू बीतै सहै,
बकिकै जग क्यौं परतीतहि छीजिए।
सब पूछत मौन क्यौं बैठि रही,
पिय प्यारे कहा इन्हैं उत्तर दीजिए ॥

क्योंकि—

मरम की पीर न जानत कोय।
कासों कहौं कौन पुनि मानैं बैठि रहौं घर रोय ॥
कोऊ जरनि न जाननहारी बे-महरम सब लोय।
अपनी कहत सुनत नहिं मेरी केहि समुझाऊँ सोय ॥
लोक-लाज कुल की मरजादा दीनी है सब खोय।
हरीचंद ऐसेहि निबहैगी होनी होय सो होय ॥

परंतु प्यारे, तुम तो सुननेवाले हो ? यह आश्चर्य्य है कि तुम्हारे होते हमारी यह गति हो। प्यारे ! जिनको नाथ नहीं होते वे अनाथ कहाते हैं। (नेत्रों से आँसू गिरते हैं) प्यारे ! जो यही गति करनी थी तो अपनाया क्यों ?

पहिले मुसुकाइ लजाइ कछू,
क्यौं चितै मुरि मो तन छाम कियो।
पुनि नैन लगाइ बढ़ाइकै प्रीति,
निबाहन को क्यौं कलाम कियो॥
हरिचंद भए निरमोही इते निज,
नेह को यों परिनाम कियो।
मन माँहि जो तोरन ही की हुती,
अपनाइके क्यौं बदनाम कियो॥

प्यारे, तुम बड़े निरमोही हो। हा! तुम्हें मोह भी नहीं आता? (आँख में आँसू भरकर) प्यारे, इतना तो वे नहीं सताते जो पहिले सुख देते हैं, तो तुम किस नाते इतना सताते हो? क्योंकि—

जिय सूधी चितौन की साधै रही,
सदा बातन मैं अनखाय रहे।
हँसिकै हरिचंद न बोले कभूँ,
जिय दूरहि सों ललचाय रहे॥
नहिं नेकु दया उर आवत है,
करिके कहा ऐसे सुभाय रहे।
सुख कौन सो प्यारे दियो पहिले,
जिहिके बदले यों सताय रहे॥

हा! क्या तुम्हें लाज भी नहीं आती? लोग तो सात पैर* संग चलते हैं उसका जन्म भर निबाह करते हैं और तुमको नित्य की प्रीति का निबाह नहीं है! नहीं-नहीं, तुम्हारा तो ऐसा स्वभाव नहीं था, यह नई बात है, यह बात नई है या तुम आप नये हो गए हो? भला कुछ तो लाज करो।

कित कों ढरिगो वह प्यार सबै,
क्यों रुखाई नई यह साजत है।
हरिचंद भए हौ कहा के कहा,
अनबोलिबे में नहिं छाजत है॥
नित को मिलनो तो किनारे रह्यो,
मुख देखत ही दुरि भाजत है।
पहिले अपनाइ बढ़ाइकै नेह,
न रूसिबे में अब लाजत है॥

प्यारे, जो यही गति करनी थी तो पहिले सोच लेते। क्योंकि—

तुम्हरे तुम्हरे सब कोऊ कहैं,
तुम्हैं सो कहा प्यारे सुनात नहीं।
बिरुदावली आपुनी राखौ मिलौ,
मोहि सोचिबे की कोउ बात नहीं॥

* सप्तपदी = विवाह-समय की ७ भांवरी।

हरिचंद जू होनी हुती सो भई,
इन बातन सों कछू होत नहीं।
अपनावते सोच बिचारि अबै,
जलपान कै पूछनी जात नहीं॥

प्राणनाथ !—(आँखों में आँसू उमड़ उठे) अरे नेत्रो ! अपने किए का फल भोगो।

धाइकै आगे मिलीं पहिले तुम,
कौन सों पूछिकै सो मोहि भाखौ।
त्यौं सब लाज तजी छिन में,
केहिके कहे एतो कियो अभिलाखौ॥
काज बिगारि सबै अपनो,
हरिचंद जू धीरज क्यौं नहिं राखौ।
क्यौं अब रोइकै प्रान तजौ,
अपुने किए को फल क्यौं नहिं चाखौ॥

हा !

इन दुखियान कों न सुख सपने हू मिल्यौ,
योंही सदा व्याकुल विकल अकुलायँगी।
प्यारे हरिचंद जू की बीती जानि औध जौ पैं,
जैहैं प्रान तऊ ये तो साथ न समायँगी॥
देख्यौ एक बार हू न नैन भरि तोहि यातें,
जौन-जौन लोक जैहैं तहीं पछितायँगी।

बिना प्रानप्यारे भए दरस तुम्हारे हाय,
देखि लीजौ आँखैं ये खुली ही रहि जायँगी ॥

परंतु प्यारे, अब इनको दूसरा कौन अच्छा लगेगा जिसे देखकर यह धीरज धरेंगी, क्योंकि अमृत पीकर फिर छाछ कैसे पियेंगी।

बिछुरे पिय के जग सूनो भयो,
अब का करिए कहि पेखिए का।
सुख छाँड़िके संगम को तुम्हरे,
इन तुच्छन को अब लेखिए का ॥
हरिचंद जू हीरन को व्यवहार-
कै काँचन कों लै परेखिए का।
जिन आँखिन में तुव रूप बस्यो,
उन आँखिन सों अब देखिए का ॥

इससे नेत्र! तुम तो अब बंद ही रहो। (आँचल से नेत्र छिपाती है)

(बनदेवी * संध्या † और वर्षा ‡ आती हैं)

संध्या—अरी बनदेवी! यह कौन आँखिनैं मूँदकै अकेली या निरजन बन मैं बैठि रही है?

---

* हरा कपड़ा, पत्ते का किरीट, फूलों की माला।
† गहिरा नारंजी कपड़ा।
‡ रंग सांवला, लाल कपड़ा।

बन०—अरी का तू याहि नाँयँ जानै ? यह राजा चंद्रभानु की बेटी चंद्रावली है।

वर्षा—तौ यहां क्यों बैठी है ?

बन०—राम जानै। (कुछ सोचकर) अहा जानी ! अरी, यह तो सदा ह्याँई बैठी बक्यौ करैहै और यह तो या बन के स्वामी के पीछे बावरी होय गई है।

वर्षा—तौ चलौ यासूँ कछू पूछैं।

बन०—चल।

(तीनों पास जाती हैं)

बन०—(चंद्रावली के कान के पास) अरी मेरी बन की रानी चंद्रावली ! (कुछ ठहरकर) राम ! सुनैहू नहीं है ! (और ऊँचे सुर से) अरी मेरी प्यारी सखी चंद्रावली ! (कुछ ठहरकर) हाय ! यह तो अपने सों बाहर होय रही है। अब काहें कों सुनैगी। (और ऊँचे सुर से) अरी ! सुनै नाँयनै री मेरी अलख लड़ैती चंद्रावली !

चंद्रा०—(आँख बंद किये ही) हाँ हाँ अरी क्यों चिल्लाय है ? चोर भाग जायगो—

बन०—कौन सो चोर ?

चंद्रा०—माखन को चोर, चीरन को चोर, और मेरे चित्त को चोर।

बन०—सो कहाँ सों भाग जायगो ?

चंद्रा०—फेर वकै जाय है, अरी मैंने अपनी आँखिन मैं मूँदि राख्यौ है सो तू चिल्लायगी तो निकसि भागैगो।

(बनदेवी चंद्रावली की पीठ पर हाथ फेरती है)

चंद्रा०—(जल्दी से उठ, बनदेवी का हाथ पकड़कर) कहो प्राणनाथ ! अब कहाँ भागोगे ?

(बनदेवी हाथ छुड़ाकर एक ओर और वर्षा-संध्या दूसरी ओर वृत्तों के पास हट जाती हैं)

चंद्रा०—अच्छा क्या हुआ योंही हृदय से भी निकल जाओ तो जानूँ, तुमने हाथ छुड़ा लिया तो क्या हुआ मैं तो हाथ नहीं छोड़ने की। हा ! अच्छी प्रीति निबाही !

(बनदेवी सीटी बजाती है)

चंद्रा०—देखो दुष्ट को, मेरा तो हाथ छुड़ाकर भाग गया, अब न-जानें कहां खड़ा वंशी बजा रहा है। अरे छलिया कहाँ छिपा है ? बोल बोल कि जीते जी न बोलेगा ! (कुछ ठहरकर) मत बोल, मैं आप पता लगा लूँगी। (वन के वृत्तों से पूछती है) अरे वृत्तो, बताओ तो मेरा लुटेरा कहां छिपा है ? क्यों रे मेरो, इस समय नहीं बोलते ? नहीं तो रात को बोल-बोल के प्राण खाए जाते थे। कहो न वह कहाँ छिपा है ? (गाती है)

अहो अहो बन के रूख कहुँ देख्यौ पिय प्यारो।
मेरो हाथ छुड़ाइ कहौ वह कितै सिधारो॥
अहो कदंब अहो अंब-निंब अहो बकुल तमाला।
तुम देख्यौ कहुँ मनमोहन सुंदर नँदलाला॥
अहो कुंज बन लता विरुध तृन पूछत तोसों।
तुम देखे कहूँ श्याम मनोहर कहहु न मोसों॥
अहो जमुना अहो खग मृग हो अहो गोबरधन गिरि।
तुम देखे कहुँ प्रानपियारे मनमोहन हरि॥

(एक एक पेड़ से जाकर गले लगती है। बनदेवी फिर सीटी बजाती है)

चंद्रा०—अहा! देखो उधर खड़े प्राणप्यारे मुझे बुलाते हैं, तो चलो उधर ही चलें। (अपने आभरण सँवारती है)

(वर्षा और संध्या पास आती हैं)

वन०—(हाथ पकड़कर)

कहाँ चली सजि कै?—

चंद्रा०— पियारे सों मिलन काज,—

वन०— कहाँ तू खड़ी है?—

चंद्रा०— प्यारे ही को यह धाम है।

वन०—कहा कहै मुख सों?—

चंद्रा०— पियारे प्रान प्यारे—

वन०— कहा काज है?—

चंद्रा०— पियारे सों मिलन मोहि काम है॥

बन०—मैं हूँ कौन बोल तौ ?—

चंद्रा०— हमारे प्रानप्यारे हौ न ?—

बन०—तू है कौन ?—

चंद्रा०— पीतम पियारे मेरो नाम है।

संध्या—(आश्चर्य से) पूछत सखी कै एकै उत्तर बतावति
जकी सी एक रूप आज श्यामा भई श्याम है ॥

(बनदेवी आकर चंद्रावली के पीछे से आँख बंद करती है)

चंद्रा०—कौन है कौन है ?

बन०—मैं हूँ।

चंद्रा०—कौन तू है ?

बन०—(सामने आकर) मैं हूँ, तेरी सखी वृंदा।

चंद्रा०—तो मैं कौन हूँ ?

बन०—तू तो मेरी प्यारी सखी चंद्रावली है न ? तू अपने हूँ कों भूल गई।

चंद्रा०—तो हम लोग अकेले वन में क्या कर रही हैं ?

बन०—तू अपने प्राणनाथै खोजि रही है न ?

चंद्रा०—हा ! प्राणनाथ ! हा ! प्यारे ! प्यारे अकेले छोड़के कहाँ चले गये ? नाथ ! ऐसी ही बदी थी ! प्यारे यह वन इसी विरह का दुःख करने के हेतु बना है कि तुम्हारे साथ विहार करने को ? हा !

जो पैं ऐसिहि करन रही ।
तो फिर क्यों अपने मुख सों तुम रस की बात कही ॥
हम जानी ऐसिहि बीतैगी जैसी बीति रही ।
सो उलटी कीनी विधिना ने कछू नाहिं निबही ॥
हमैं बिसारि अनत रहे मोहन औरै चाल गही ।
हरीचंद कहा को कहा ह्वै गयो कछु नहिं जात कही ॥

(रोती है)

बन०—(आँखों में आँसू भरके) प्यारी ! अरी इतनी क्यों घबराई जाय है, देख तौ यह सखी खड़ी है सो कहा कहैगी ।

चंद्रा०—ये कौन हैं ?

वन०—(वर्षा को दिखाकर) यह मेरी सखी वर्षा है ।

चंद्रा०—यह वर्षा है तो हा ! मेरा वह आनंद का घन कहाँ है ? हा ! मेरे प्यारे ! प्यारे कहाँ बरस रहे हौ ? प्यारे गरजना इधर और बरसना और कहीं ?

"बलि साँवरी सूरत मोहनी मूरत,
आँखिन को कबौं आइ दिखाइए ।
चातक सी मरैं प्यासी परीं,
इन्हैं पानिप रूप सुधा कबौं प्याइए ॥
पीत पटै बिजुरी से कबौं,
हरिचंद जू धाइ इतै चमकाइए ।

इतहू कबौं आइ कै आनँद के घन,
नेह को मेह पिया बरसाइए॥"

प्यारे! चाहे गरजो चाहे लरजो, इन चातकों की तो तुम्हारे बिना और गति ही नहीं है, क्योंकि फिर यह कौन सुनेगा कि चातक ने दूसरा जल पी लिया; प्यारे! तुम तो ऐसे करुणा के समुद्र हो कि केवल हमारे एक याचक के माँगने पर नदी-नद भर देते हो तो चातक के इस छोटे चंचु-पुट भरने में कौन श्रम है क्योंकि प्यारे हम दूसरे पक्षी नहीं हैं कि किसी भाँति प्यास बुझा लेंगे हमारे तो हे श्याम घन, तुम्ही अवलंब हो; हा!

(नेत्रों में जल भर लेती है और तीनों परस्पर चकित होकर देखती हैं)

बन०—सखी देखि तौ कछू इनकी हूँ सुन कछू इनकी हूँ लाज कर अरी यह तो नई आई हैं ये कहा कहैंगी?

संध्या—सखी, यह कहा कहैहै हम तौ याकी प्रेम देखि बिना मोल की दासी होय रही हैं और तू पंडिताइन बनिकै ज्ञान छाँटि रही है।

चंद्रा०—प्यारे! देखो ये सब हँसती हैं—तो हँसें, तुम आओ, कहाँ वन में छिपे हो? तुम मुँह दिखलाओ, इनको हँसने दो।

धारन दीजिए धीर हिए कुलकानि को आजु बिगारन दीजिए।
मारन दीजिए लाज सबै हरिचंद कलंक पसारन दीजिए॥

चार चवाइन कों चहुँ ओर सों सोर मचाइ पुकारन दीजिए।
छाँड़ि सँकोचन चंद मुखै भरि लोचन आजु निहारन दीजिए॥

क्योंकि—

ये दुखियाँ सदा रोयो करैं बिधना इनकों कबहूँ न दिए सुख।
झूठहीं चार चवाइन के डर देख्यौ कियो उनहीं तो लिये रुख॥
छाड़यौ सबै हरिचंद तऊ न गयो जिय सों यह हाय महा दुख।
प्रान बचैं केहि भाँतिन सों तरसैं जब दूर सों देखिबे कों मुख॥

(रोती है)

बन०—(आँसू अपने आँचल से पोंछकर) तौ ये यहाँ नाँय रहिबे को, सखी एक घड़ी धीरज धर जब हम चली जाँय तब जो चाहियो सो करियो।

चंद्रा०—अरी सखियो मोहि क्षमा करियो, अरी देखौ तो तुम मेरे पास आईं और हमने तुमारो कछू सिस्टाचार न कियो। (नेत्रों में आंसू भरकर हाथ जोड़कर) सखी, मोहि क्षमा करियो और जानियो कि जहाँ मेरी बहुत सखी हैं उनमें एक ऐसी कुलच्छिनी हू है।

संध्या और वर्षा—नहीं नहीं सखी, तू तो मेरी प्रानन सों हू प्यारी है, सखी हम सच कहैं तेरी सी साँची प्रेमिन एक हू न देखी, ऐसे तो सबी प्रेम करैं पर तू सखी धन्य है।

चंद्रा०—हाँ सखी, और (संध्या को दिखाकर) या सखी को नाम का है ?

बन०—याको नाम संध्या है।

चंद्रा०—(घबड़ाकर) संध्यावली आई ? क्या कुछ सँदेसा लाई ? कहो कहो प्राणप्यारे ने क्या कहा ? सखी बड़ी देर लगाई। (कुछ ठहरकर) संध्या हुई ? संध्या हुई ? तो वह वन से आते होंगे। सखियो, चलो झरोखों में बैठें यहाँ क्यों बैठी हौ।

(नेपथ्य में चंद्रोदय होता है; चंद्रमा को देखकर)

अरे अरे वह देखो आया

(उँगली से दिखाकर)

देख सखी देख अनमेख ऐसो भेख यह
जाहि पेख तेज रबिहू को मंद ह्वै गयो।
हरीचंद ताप सब जिय को नसाइ चित
आनँद बढ़ाइ भाइ अति छकिसों छयो॥
ग्वाल उडुगन बीच बेनु को बजाइ सुधा-
रस बरखाइ मान-कमल लजा दयो।
गोरज समूह घन पटल उघारि वह
गोप-कुल-कुमुद-निसाकर उदै भयो॥

चलो चलो उधर चलो। (उधर दौड़ती है)

बन०—(हाथ पकड़कर) अरी बावरी भई है चंद्रमा निकस्यो है कै वह वन सों आवै है ?

चंद्रा०—(घबड़ाकर) का सूरज निकस्यो? भोर भयो। हाय ! हाय ! हाय ! या गरमी में या दुष्ट सूरज की तपन कैसे

सही जायगी। अरे भोर भयो, हाय भोर भयो ! सब रात ऐसे ही बीत गई, हाय फेर वही घर के ब्यौहार चलेंगे, फेर वही नहानो, वही खानो, वेई बातें, हाय !

केहि पाप सों पापी न प्रान चलैं,
अटके कित कौन विचार लयो।
नहिं जानि परै हरिचंद कछू,
विधि ने हम सों हठ कौन ठयो॥
निसि आजहू की गई हाय बिहाय,
पिया बिनु कैसे न जीव गयो।
हत-भागिनी आँखिन कों नित के,
दुख देखिवे कों फिर भोर भयो॥

तो चलो घर चलें। हाय हाय ! माँ सों कौन बहाना करूँगी, क्योंकि वह जात ही पूछैगी कि सब रात अकेली वन मैं कहा करती रही। (कुछ ठहरकर) पर प्यारे ! भला यह तो बताओ कि तुम आज की रात कहाँ रहे ? क्यों देखो तुम हमसे झूठ बोले न ! बड़े झूठे हौ, हा ! अपनों से तो झूठ मत बोला करो, आओ आओ अब तो आओ।

आओ मेरे झूठन के सिरताज।
छल के रूप कपट की मूरत मिथ्यावाद-जहाज॥
क्यौं परतिज्ञा करी, रह्यो जो ऐसो उलटो काज।
पहिले तो अपनाइ न आवत तजिवे में अब लाज॥

चलो दूर हटो बड़े झूठे हो।

आओ मेरे मोहन प्यारे झूठे।
अपनी टारि प्रतिज्ञा कपटी उलटे हम सों रूठे॥
मति परसौ तन रँगे और के रंग अधर तुव जूठे।
ताहू पै तनिकौ नहिं लाजत निरलज अहो अनूठे॥

पर प्यारे बताओ तो तुम्हारे विना रात क्यों इतनी बढ़ जाती है?

काम कछू नहिं यासों हमैं,
सुख सों जहाँ चाहिए रैन बिताइए।
पै जो करैं बिनती हरिचंद जू,
उत्तर ताको कृपा कै सुनाइए॥
एक मतो उनसों क्यों कियो,
तुम सोउ न आवै जो आप न आइए।
रूसिवे सों पिय प्यारे तिहारे,
दिवाकर रूसत है क्यों बताइए॥

जाओ जाओ मैं नहीं वोलती। (एक वृत्त की आड़ में दौड़ जाती है)

तीनों—भई यह तो बावरी सी डोलै, चलौ हम सब वृत्त की छाया में वैठें। (किनारे एक पास ही तीनों बैठ जाती हैं)

चंद्रा०—(घबड़ाई हुई आती है, अंचल केश इत्यादि खुल जाते हैं) कहाँ गया, कहाँ गया? बोल! उलटा रूसना, भला

अपराध मैंने किया कि तुमने ? अच्छा मैंने किया सही, क्षमा करो, आओ, प्रगट हो, मुँह दिखाओ। भई, बहुत भई, गुदगुदाना वहाँ तक जहाँ तक रुलाई न आवै। (कुछ सोचकर) हा ! भगवान् किसी को किसी की कनौड़ी न करै, देखो मुझको इसकी कैसी बातें सहनी पड़ती हैं। आप ही नहीं भी आता उलटा आप ही रूसता है, पर क्या करूँ अब तो फँस गई; अच्छा यों ही सही। (अहो अहो बन के रूख इत्यादि गाती हुई वृक्षों से पूछती है) हाय ! कोई नहीं बतलाता। अरे मेरे नित के साथियो, कुछ तो सहाय करो।

अरे पौन सुख-भौन सबै थल गौन तुम्हारो।
क्यौं न कहौ राधिकारौन सों मौन निवारो॥
अहो भँवर तुम श्याम रंग मोहन-व्रत-धारी।
क्यौं न कहौ वा निठुर श्याम सों दसा हमारी॥
अहो हंस तुम राजवंस सरवर की सोभा।
क्यौं न कहो मेरे मानस सों या दुख के गोभा॥
हे सारस तुम नीकें बिछुरन बेदन जानौ।
तौ क्यों पीतम सों नहिं मेरी दसा बखानौ॥
हे कोकिल कुल श्याम रंग के तुम अनुरागी।
क्यौं नहिं बोलहु तहीं जाय जहँ हरि बड़भागी॥
हे पपिहा तुम पिउ पिउ पिय पिय रटत सदाई।
आजहु क्यौं नहिं रटि रटि के पिय लेहु बुलाई॥

अहे भानु तुम तो घर-घर में किरिन प्रकासो।
क्यौं नहिं पियहिं मिलाइ हमारो दुख-तम नासो॥

हाय!

कोउ नहिं उत्तर देत भए सबही निरमोही।
प्रानपियारे अब बोलौ कहाँ खोजौं तोही॥

(चंद्रमा बदली की ओट हो जाता है और बादल छा जाते हैं)

(स्मरण करके) हाय! मैं ऐसी भूली हुई थी कि रात को दिन बतलाती थी, अरे मैं किसको ढूँढ़ती थी? हा! मेरी इस मूर्खता पर उन तीनों सखियों ने क्या कहा होगा। अरे यह तो चंद्रमा था जो बदली की ओट में छिप गया। हा! यह हत्यारिन वर्षा ऋतु है, मैं तो भूल ही गई थी। इस अँधेरे में मार्ग तो दिखाता ही नहीं, चलूँगी कहाँ और घर कैसे पहुँचूँगी? प्यारे देखो, जो-जो तुम्हारे मिलने में सुहावने जान पड़ते थे वही अब भयावने हो गए। हा! जो वन आँखों से देखने में कैसा भला दिखाता था वही अब कैसा भयंकर दिखाई पड़ता है। देखो सब कुछ है एक तुम्हीं नहीं हौ। (नेत्रों से आँसू गिरते हैं) प्यारे! छोड़ के कहाँ चले गए? नाथ! आखें बहुत प्यासी हो रही हैं इनको रूप-सुधा कब पिलाओगे? प्यारे, बेनी की लट बँध गई है इन्हें कब सुलझाओगे? (रोती है) नाथ, इन आँसुओं को तुम्हारे बिना और कोई पोंछनेवाला भी नहीं है। हा!

यह गत तो अनाथ की भी नहीं होती। अरे विधिना! मुझे कौन सा सुख दिया था जिसके बदले इतना दुःख देता है, सुख का तो मैं नाम सुनके चौंक उठती थी और धीरज धरके कहती थी कि कभी तो दिन फिरेंगे सो अच्छे दिन फिरे। प्यारे, बस बहुत भई अब नहीं सही जाती। मिलना हो तो जीते जी मिल जाओ। हाय! जो भर आँखों देख भी लिया होता तो जी का उमाह निकल गया होता। मिलना दूर रहे, मैं तो मुँह देखने को तरसती थी, कभी सपने में भी गले न लगाया, जब सपने में देखा तभी घबड़ाकर चौंक उठी। हाय! इन घरवालों और बाहरवालों के पीछे कभी उनसे रो-रोकर अपनी विपत भी न सुनाई कि जी भर जाता। लो घरवालो और बाहरवालो! ब्रज को सम्हालो मैं, तो अब यहीं...(कंठ गद्गद होकर रोने लगती है) हाय रे निठुर! मैं ऐसा निरमोही नहीं समझी थी, अरे इन बादलों की ओर देख के तो मिलता। इस ऋतु में तो परदेसी भी अपने घर आ जाते हैं पर तू न मिला। हा! मैं इसी दुख को देखने को जीती हूँ कि वर्षा आवे और तुम न आओ। हाय! फेर वर्षा आई, फेर पत्ते हरे हुए, फेर कोइल बोली, पर प्यारे तुम न मिले। हाय! सब सखियाँ हिंडोले झूलती होंगी, पर मैं किसके संग झूलूँ, क्योंकि हिंडोला झुलानेवाले मिलेंगे, पर आप भींजकर मुझे बचानेवाला और प्यारी कहनेवाला कौन मिलेगा? (रोती है) हा! मैं बड़ी निर्लज्ज हूँ।

अरे प्रेम ! मैंने प्रेमिन बनकर तुझे भी लज्जित किया कि अब तक जीती हूँ, इन प्रानों को अब न जाने कौन लाहे लूटने हैं कि नहीं निकलते। अरे कोई देखो, मेरी छाती वज्र की तो नहीं है कि अब तक...(इतना कहते ही मूर्छा खाकर ज्योंही गिरा चाहती है उसी समय तीनों सखियाँ आकर सम्हालती हैं)

(जवनिका गिरती है)

दूसरे अंक के अंतर्गत

अंकावतार

बीथी वृत्त

संध्यावली दौड़ी हुई आती है

संध्या०—राम राम! मैं तो दौरत-दौरत हार गई, या ब्रज की गऊ का हैं साँड़ हैं; कैसी एक साथ पूँछ उठाय कै मेरे संग दौरी हैं, तापैं वा निपूते सुवल को बुरो होय, और हू तूमड़ी बजाय कै मेरी ओर उन सबन को लहकाय दीनो, अरे जो मैं एक संग प्रान छोड़ि कै न भाजती तौ उनके रपट्टा में कब की आय जाती। देखि आज वा सुवल की कौन गति कराऊँ, बड़ो ढीठ भयो है, प्रानन की हाँसी कौन काम की। देखौ तौ आज सोमवार है नंदगाँव में हाट लगी होयगी वहीं जाती, इन सबन ने बीच ही आय धरी, मैं चंद्रावली की पाती वाके यारैं सौंप देती तो इतनो खुटकोऊ न रहतो। (घबड़ाकर) अरे आईं ये गौवें तो फेर इतैही कूँ अरराईं।

(दौड़कर जाती है और चोली में से पत्र गिर पड़ता है। चंपकलता आती है)

चंपक०—(पत्र गिरा हुआ देखकर) अरे! यह चिट्ठी किसकी पड़ी है, किसी की हो देखूँ तो इसमें क्या लिखा

है। (उठाकर देखती है) राम राम! न-जाने किस दुखिया की लिखी है कि आँसुओं से भींजकर ऐसी चिपट गई है कि पढ़ी ही नहीं जाती और खोलने में फटी जाती है। (बड़ी कठिनाई से खोलकर पढ़ती है)

"प्यारे !

क्या लिखूँ ! तुम बड़े दुष्ट हो, चलो, भला सब अपनी वीरता हमीं पर दिखानी थी। हाँ ! भला मैंने तो लोक-वेद, अपना-बिराना सब छोड़कर तुम्हें पाया, तुमने हमें छोड़के क्या पाया ? और जो धर्म्म उपदेश करो तो धर्म्म से फल होता है, फल से धर्म्म नहीं होता। निर्लज्ज लाज भी नहीं आती, मुँह ढको फिर भी बोलने बिना डूबे जाते हो। चलो वाह ! अच्छी प्रीति निवाही। जो हो, तुम जानते ही हो, हाय कभी न करूँगी योंहीं सही, अंत मरना है, मैंने अपनी ओर से खबर दे दी, अब मेरा दोष नहीं, बस।

केवल तुम्हारी"



(लंबी साँस लेकर) हा! बुरा रोग है, न करै कि किसी के सिर बैठे-बिठाए यह चक्र घहराय। इस चिट्ठी के देखने से कलेजा काँपा जाता है। बुरा ! तिसमें स्त्रियों की बड़ी बुरी दशा है, क्योंकि कपोतव्रत बुरा होता है कि गला घोंट डालो मुँह से बात न निकले। प्रेम भी इसी का नाम है। राम-राम ! उस मुँह से जीभ खींच ली जाय

जिससे हाय निकले। इस व्यथा को मैं जानती हूँ और कोई क्या जानेगा क्योंकि "जाके पाँव न भई बिवाई सो क्या जाने पीर पराई"। यह तो हुआ पर यह चिट्ठी है किसकी? यह न जान पड़ो, (कुछ सोचकर) अहा जानी! निश्चय यह चंद्रावली ही की चिट्ठी है, क्योंकि अच्छर भी उसी के से हैं और इस पर चंद्रावली का चिह्न भी बनाया है। हा! मेरी सखी बुरी फँसी। मैं तो पहिले ही उसके लच्छनों से जान गई थी, पर इतना नहीं जानती थी; अहा गुप्त प्रीति भी विलच्छण होती है, देखो इस प्रीति में संसार की रीति से कुछ भी लाभ नहीं। मनुष्य न इधर का होता न उधर का संसार के सुख छोड़कर अपने हाथ आप मूर्ख बन जाता है। जो हो, यह पत्र तो मैं आप उन्हें जाकर दे आऊँगी और मिलने की भी विनती करूँगी।

(नेपथ्य में बूढ़ों के से सुर से)

हाँ तू सब करेगी।

चंद्रा०—(सुनकर और सोचकर) अरे यह कौन है। (देखकर) न जानै कोऊ बूढ़ी फूस सी डोकरी है। ऐसो न होय के यह बात फोड़ि कै उलटी आग लगावै, अब तो पहिलैं याहि समझावनो परयो, चलूँ। [जाती है



तीसरा अंक

स्थान—तालाब के पास एक बगीचा

(समय तीसरा पहर, गहिरे बादल छाए हुए)

[झूला पड़ा है, कुछ सखी झूलती, कुछ इधर-उधर फिरती हैं]

(चंद्रावली, माधवी, काममंजरी, विलासिनी, इत्यादि एक स्थान पर बैठी हैं, चंद्रकांता, वल्लभा, श्यामला, भामा झूले पर हैं, कामिनी और माधुरी हाथ में हाथ दिए घूमती हैं।)

कामिनी—सखी, देख बरसात भी अब की किस धूमधाम से आई है मानो कामदेव ने अबलाओं को निर्बल जानकर इनके जीतने को अपनी सेना भिजवाई है। धूम से चारों ओर से घूम-घूमकर बादल परे के परे जमाए बगपंगति का निशान उड़ाए लपलपाती नंगी तलवार सी बिजली चमकाते गरज-गरजकर डराते बान के समान पानी बरखा रहे हैं और इन दुष्टों का जी बढ़ाने को मोर करखा सा कुछ अलग पुकार-पुकार गा रहे हैं। कुल की मर्य्याद ही पर इन निगोड़ों की चढ़ाई है। मनोरथों से कलेजा उमगा आता है और काम की उमंग जो अंग-अंग में भरी हैं उनके निकले बिना जी तिलमिलाता है। ऐसे

बादलों को देखकर कौन लाज की चद्दर रख सकती है और कैसे पतिव्रत पाल सकती है !

माधुरी—विशेष कर वह जो आप कामिनी हो। (हँसती है)

कामिनी—चल तुझे हँसने ही की पड़ी है। देख, भूमि चारों ओर हरी-हरी हो रही है। नदी-नाले बावली-तालाब सब भर गए। पच्छी लोग पर समेटे पत्तों की आड़ में चुपचाप सकपके से होकर बैठे हैं। वीरबहूटी और जुगुनूँ पारी-पारी रात और दिन को इधर-उधर बहुत दिखाई पड़ते हैं। नदियों के करारे धमाधम टूटकर गिरते हैं। सर्प्प निकल-निकल अशरण से इधर-उधर भागे फिरते हैं। मार्ग बंद हो रहे हैं। परदेशी जो जिस नगर में हैं वहीं पड़े-पड़े पछता रहे हैं, आगे बढ़ नहीं सकते। वियोगियों को तो मानों छोटा प्रलय-काल ही आया है।

माधुरी—छोटा क्यों बड़ा प्रलयकाल आया है। पानी चारों ओर से उमड़ ही रहा है। लाज के बड़े-बड़े जहाज गारद हो चुके, भया फिर वियोगियों के हिसाब तो संसार डुबा ही है, तो प्रलय ही ठहरा।

कामिनी—पर तुझको तो वटे कृष्ण का अवलंब है न, फिर तुझे क्या, भांडीर वट के पास उस दिन खड़ी बात कर ही रही थी, गए हम—

माधुरी—और चंद्रावली ?

कामिनी—हाँ, चंद्रावली विचारी तो आप ही गई बीती है, उसमें भी अब तो पहरे में है, नजरबंद रहती है, झलक भी नहीं देखने पाती, अब क्या—

माधुरी—जाने दे नित्य का झखना। देख, फिर पुरवैया झकोरने लगी और वृक्षों से लपटी लताएँ फिर से लरजने लगीं। साड़ियों के आँचल और दामन फिर उड़ने लगे और मोर लोगों ने एक साथ फिर शोर किया। देख यह घटा अभी गरज गई थी पर फिर गरजने लगी।

कामिनी—सखी वसंत का ठंढा पवन और सरद की चाँदनी से राम राम करके वियोगियों के प्राण बच भी सकते हैं, पर इन काली-काली घटा और पुरवैया के झोंके तथा पानी के एकतार झमाके से तो कोई भी न बचेगा।

माधुरी—तिसमें तू तो कामिनी ठहरी, तू बचना क्या जाने।

कामिनी—चल ठठोलिन। तेरी आँखों में अभी तक उस दिन की खुमारी भरी है, इसी से किसी को कुछ नहीं समझती। तेरे सिर बीते तो मालूम पड़े।

माधुरी—बीती है मेरे सिर। मैं ऐसी कच्ची नहीं कि थोड़े में बहुत उबल पड़ूँ।

कामिनी—चल, तू हई है क्या कि न उबल पड़ेगी। स्त्री की बिसात ही कितनी। बड़े-बड़े योगियों के ध्यान इस बरसात में छूट जाते हैं, कोई योगी होने ही पर मन ही मन पछताते हैं, कोई जटा पटककर हाय-हाय चिल्लाते हैं,

और बहुतेरे तो तूमड़ो तोड़-तोड़कर योगी से भोगी हो ही जाते हैं।

माधुरी—तो तू भी किसी सिद्ध से कान फुँकवाकर तुमड़ी तोड़वा ले।

कामिनी—चल! तू क्या जाने इस पीर को। सखी, यही भूमि और यही कदम कुछ दूसरे ही हो रहे हैं और यह दुष्ट बादल मन ही दूसरा किए देते हैं। तुझे प्रेम हो तब सूझे। इस आनंद की धुनि में संसार ही दूसरा एक विचित्र शोभावाला और सहज काम जगानेवाला मालूम पड़ता है।

माधुरी—कामिनी, पर काम का दावा है इसी से हेरफेर उसी को बहुत छेड़ा करता है।

(नेपथ्य में बारंबार मोर कूकते हैं)

कामिनी—हाय-हाय! इस कठिन कुलाहल से बचने का उपाय एक विषपान ही है। इन दईमारों का कूकना और पुरवैया का झकोरकर चलना यह दो बातें बड़ी कठिन हैं। धन्य हैं वे जो ऐसे समय में रंग रंग के कपड़े पहिने ऊँची-ऊँची अटारियों पर चढ़ी पीतम के संग घटा और हरियाली देखती हैं वा बगीचों, पहाड़ों और मैदानों में गलबाहीं डाले फिरती हैं। दोनों परस्पर पानी बचाते हैं और रंगीन कपड़े निचोड़कर चौगुना रंग बढ़ाते

हैं। झूलते हैं, झुलाते हैं, हँसते हैं, हँसाते हैं, भीगते हैं, भिगाते हैं, गाते हैं, गवाते हैं, और गले लगते हैं, लगाते हैं।

माधुरी—और तेरा न कोई पानी बचानेवाला, न तुझे कोई निचोड़नेवाला, फिर चौगुने की कौन कहे ड्यौढ़ा सवाया तो तेरा रंग बढ़ेहीगा नहीं।

कामिनी—चल लुच्चिन! जाके पायँ न भई बिवाई सो क्या जानै पीर पराई।

(बात करती-करती पेड़ की आड़ में चली जाती है)

माधवी—(चंद्रावली से) सखी, श्यामला का दर्शन कर, देख कैसी सुहावनी मालूम पड़ती है। मुखचंद्र पर चूनरी चुई पड़ती है। लटें सगबगी होकर गले में लपट रही हैं। कपड़े अंग में लपट गए हैं। भींगने से मुख का पान और काजल सबकी एक विचित्र शोभा हो गई है।

चंद्रा०—क्यों न हो। हमारे प्यारे की प्यारी है। मैं पास होती तो दोनों हाथों से इसकी बलैया लेती और छाती से लगाती।

कामिनी—सखी, सचमुच आज तो इस कदंब के नीचे रंग बरस रहा है। जैसी समा बँधी है वैसी ही झूलनेवाली हैं। झूलने में रंग-रंग की साड़ी की अर्द्ध-चंद्राकार रेखा इंद्रधनुष की छबि दिखाती है। कोई सुख से

बैठी झूले की ठंढी-ठंढी हवा खा रही है, कोई गाँती बाँधे लाँग कसे पेंग मारती है, कोई गाती है, कोई डर-कर दूसरी के गले में लपट जाती है, कोई उतरने को अनेक सौगंद देती है, पर दूसरी उसको चिढ़ाने को झूला और भी झोंके से झुला देती है।

माधवी—हिंडोरा ही नहीं झूलता। हृदय में प्रीतम को झुलाने के मनोरथ और नैनों में पिया की मूर्त्ति भी झूल रही है। सखी, आज साँवला ही की मेंहदी और चूनरी पर तो रंग है। देख बिजुली की चमक में उसकी मुख-छवि कैसी सुंदर चमक उठती है और वैसे पवन भी बार-बार घूँघट उलट देता है। देख—

हूलति हिये में प्रानप्यारे के बिरह-सूल
फूलति उमंगभरी झूलति हिंडोरे पै।
गावति रिझावति हँसावति सबन हरि-
चंद चाव चौगुनो बढ़ाइ घन घोरे पै॥
वारि वारि डारौं प्रान हँसनि मुरनि बतरान
मुँह पान कजरारे दृग डोरे पै।
ऊनरी घटा में देखि दूनरी लगी है आहा
कैसी आजु चूनरी फबी है मुख गोरे पै॥

चंद्रा०—सखियो, देखो कैसी अंधेर और गजब है कि या रुत में सब अपनो मनोरथ पूरो करैं और मेरी यह दुरगति

होय ! भलो काहुवै तो दया आवती। (आँखों में आँसू भर लेती है)

माधवी—सखी, तू क्यों उदास होय है। हम सब कहा करैं, हम तो आज्ञाकारिणी दासी ठहरीं, हमारो का अखत्यार है तऊ हममैं सों तो कोऊ कछू तोहि नायँ कहै।

कामिनी—भलो सखी, हम याही कहा कहैंगी ! याहू तो हमारी छोटी स्वामिनी ठहरी।

विला०—हाँ सखी, हमारी तो दोऊ स्वामिनी हैं। सखी, बात यह है कै खराबी तो हम लोगन की है, ये दोऊ फेर एक की एक होयँगी। लाठी मारवे सों पानी थोरों हूँ जुदा हो जायगो, पर अभी जो सुन पावैं कि ढिमकी सखी ने चंद्रावलियै अकेलि छोड़ि दीनी तो फेर देखौ तमासा।

माधवी—हम्बै वीर। और फिर कामहू तौ हमीं सब बिगारैं। अब देखि कौन नै स्वामिनी सों चुगली खाई। हमारेई तुमारे में सों वहू है। सखी चंद्रावलियै जो दुःख देयगी वह आप दुःख पावैगी।

चंद्रा०—(आप ही आप) हाय ! प्यारे, हमारी यह दशा होती है और तुम तनिक नहीं ध्यान देते। प्यारे, फिर यह शरीर कहाँ और हम-तुम कहाँ ? प्यारे, यह संयोग हमको तो अब की ही बना है, फिर यह बातें

दुर्लभ हो जायँगी। हाय नाथ ! मैं अपने इन मनोरथों को किसको सुनाऊँ और अपनी उमंगें कैसे निकालूँ ! प्यारे, रात छोटी है और स्वाँग बहुत हैं। जीना थोड़ा और उत्साह बड़ा। हाय ! मुझ सी मोह में डूबी को कहीं ठिकाना नहीं। रात-दिन रोते ही बीतते हैं। कोई बात पूछनेवाला नहीं, क्योंकि संसार में जी कोई नहीं देखता, सब ऊपर ही की बात देखते हैं। हाय ! मैं तो अपने-पराए सबसे बुरी बनकर बेकाम हो गई। सब को छोड़कर तुम्हारा आसरा पकड़ा था सो तुमने यह गति की। हाय ! मैं किसकी होके रहूँ, मैं किसका मुँह देखकर जिऊँ। प्यारे, मेरे पीछे कोई ऐसा चाहनेवाला न मिलेगा। प्यारे, फिर दीया लेकर मुझको खोजोगे। हा ! तुमने विश्वासघात किया। प्यारे, तुम्हारे निर्दयीपन की भी कहानी चलेगी। हमारा तो कपोतव्रत है। हाय ! स्नेह लगाकर दगा देने पर भी सुजान कहलाते हो। बकरा जान से गया, पर खानेवाले को स्वाद न मिला। हाय ! यह न समझा था कि यह परिणाम करोगे। वाह ! खूब निबाह किया। वधिक भी वधकर सुधि लेता है, पर तुमने न सुधि ली। हाय ! एक बेर तो आकर अंक में लगा जाओ। प्यारे, जीते जी आदमी का गुन नहीं मालूम होता। हाय ! फिर तुम्हारे मिलने को कौन तरसेगा और कौन रोवेगा। हाय !

संसार छोड़ा भी नहीं जाता। सब दुःख सहती हूँ, पर इसी में फँसी पड़ी हूँ। हाय नाथ! चारों ओर से जकड़कर ऐसी बेकाम क्यों कर डाली है। प्यारे, योंही रोते दिन बीतेंगे। नाथ! यह हवस मन की मन ही में रह जायगी। प्यारे, प्रगट होकर संसार का मुँह क्यों नहीं बंद करते और क्यों शंकाद्वार खुला रखते हो? प्यारे, सब दीनदयालुता कहाँ गई! प्यारे, जल्दी इस संसार से छुड़ाओ। अब नहीं सही जाती। प्यारे, जैसी हैं, तुम्हारी हैं। प्यारे, अपने कनौड़े को जगत की कनौड़ी मत बनाओ। नाथ, जहाँ इतने गुन सीखे वहाँ प्रीति निबाहना क्यों न सीखा? हाय! मझधार में डुबाकर ऊपर से उतराई माँगते हो; प्यारे सो भी दे चुकीं, अब तो पार लगाओ। प्यारे, सबकी हद होती है। हाय! हम तड़पें और तुम तमाशा देखो। जन-कुटुंब से छुड़ाकर यों छितर-बितर करके बेकाम कर देना यह कौन बात है। हाय! सबकी आँखों में हलकी हो गईं। जहाँ जाओ वहाँ दुर दुर, उस पर यह गति। हाय! "भामिनी तें भौंड़ी करी, मानिनी तें मौड़ी करी, कौड़ी करी हीरा तें, कनौड़ी करी कुल तें।" तुम पर बड़ा क्रोध आता है और कुछ कहने को जी चाहता है। बस अब मैं गाली दूँगी। और क्या कहूँ, बस आप आप ही हौ; देखो गाली में भी तुम्हें मैं मर्म्मवाक्य कहूँगी—झूठे,

निर्दय, निर्घृण, "निर्दय हृदय कपाट", बखेड़िये और निर्लज्ज, ये सब तुम्हें सच्ची गालियाँ हैं; भला जो कुछ करना ही नहीं था तो इतना क्यों झूठ बके? किसने बकाया था? कूद-कूदकर प्रतिज्ञा करने बिना क्या डूबी जाती थी? झूठे! झूठे!! झूठे!!! झूठे ही नहीं वरंच विश्वासघातक! क्यों इतनी छाती ठोंक और हाथ उठा-उठाकर लोगों को विश्वास दिया? आप ही सब मरते चाहे जहन्नुम में पड़ते, और उस पर तुर्रा यह है कि किसी को चाहे कितना भी दुखी देखें आपको कुछ घृणा तो आती ही नहीं। हाय-हाय! कैसे-कैसे दुखी लोग हैं—और मजा तो यह है कि सब धान बाइस पसेरी। चाहे आपके वास्ते दुखी हो, चाहे अपने संसार के दुःख से; आपको दोनों उल्लू फँसे हैं। इसी से तो "निर्दय हृदय कपाट" यह नाम है। भला क्या काम था कि इतना पचड़ा किया? किसने इस उपद्रव और जाल करने को कहा था? कुछ न होता, तुम्हीं तुम रहते बस चैन था, केवल आनंद था, फिर क्यों यह विषमय संसार किया। बखेड़िये! और इतने बड़े कारखाने पर बेहयाई परले सिरे की। नाम बिके, लोग झूठा कहें, अपने मारे फिरें, आप भी अपने मुँह झूठे बने, पर वाह रे शुद्ध बेहयाई और पूरी निर्लज्जता! बेशरमी हो तो इतनी तो हो। क्या कहना है! लाज को जूतों मारके पीट-पीटके

निकाल दिया है। जिस मुहल्ले में आप रहते हैं उस मुहल्ले में लाज की हवा भी नहीं जाती। जब ऐसे हो तब ऐसे हो। हाय! एक बार भी मुँह दिखा दिया होता तो मत-वाले मतवाले बने क्यों लड़-लड़कर सिर फोड़ते। अच्छे खासे अनूठे निर्लज्ज हो, काहे को ऐसे बेशरम मिलेंगे, हुकमी बेहया हो, कितनी गाली दूँ, बड़े भारी पूरे हो, शरमाओगे थोड़े ही कि माथा खाली करना सुफल हो। जाने दो—हम भी तो वैसे ही निर्लज्ज और झूठी हैं। क्यों न हों। जस दूलह तस बनी बराता। पर इसमें भी मूल उपद्रव तुम्हारा ही है, पर यह जान रखना कि इतना और कोई न कहेगा, क्योंकि सिफारशी नेति नेति कहेंगे, सच्चो थोड़े ही कहेंगे। पर यह तो कहो कि यह दुःखमय पचड़ा ऐसा ही फैला रहेगा कि कुछ तै भी होगा, वा न तै होय। हमको क्या? पर हमारा तो पचड़ा छुड़ाओ। हाय मैं किससे कहती हूँ। कोई सुननेवाला है। जंगल में मोर नाचा किसने देखा। नहीं नहीं, वह सब देखता है, वा देखता होता तो अब तक मेरी खबर न लेता। पत्थर होता तो वह भी पसीजता। नहीं नहीं, मैंने प्यारे को इतना दोष व्यर्थ दिया। प्यारे, तुम्हारा दोष कुछ नहीं। यह सब मेरे कर्म्म का दोष है। नाथ, मैं तो तुम्हारी नित्य की अपराधिनी हूँ। प्यारे क्षमा करो। मेरे अपराधों की ओर न देखो, अपनी ओर देखो। (रोती है)

माधवी—हाय-हाय सखियो ! यह तो रोय रही है।

काम०—सखी प्यारी रोवै मती। सखी तोहि मेरे सिर की सोंह जो रोवै।

माधवी—सखी, मैं तेरे हाथ जोडूँ मत रोवै। सखी हम सबन को जीव भरयौ आवै है।

विला०—सखी, जो तू कहैगी हम सब करैंगी। हम भले ही प्रियाजी की रिस सहैंगी, पर तोसूँ हम सब काहू बात सों बाहर नहीं।

माधवी—हाय-हाय ! यह तो मानै ही नहीं। (आँसू पोंछकर) मेरी प्यारी, मैं हाथ जोडूँ हा हा खाऊँ मानि जा।

कामिनी—सखी यासों मति कछू कहौ। आओ हम सब मिलि कै विचार करैं जासों याको काम होय।

विला०—सखी, हमारे तो प्राण ताईं यापैं निछावर हैं पर जो कछू उपाय सूझै।

चंद्रा०—(रोकर) सखी, एक उपाय मुझे सूझा है जो तुम मानो।

माधवी—सखी, क्यों न मानैगी तू कहै क्यौं नहीं।

चंद्रा०—सखी, मुझे यहाँ अकेली छोड़ जाओ।

माधवी—तो तू अकेली यहाँ का करेगी ?

चंद्रा०—जो मेरी इच्छा होगी।

माधवी—भलो तेरी इच्छा का होयगी हमहूँ सुनैं ?

चंद्रा०—सखी, वह उपाय कहा नहीं जाता।

माधवी—तौ का अपनो प्राण देगी। सखी, हम ऐसी भोरी नहीं हैं कै तोहि अकेली छोड़ जायँगी।

विला०—सखी, तू व्यर्थ प्राण देने को मनोरथ करै है तेरे प्राण तोहि न छोड़ेंगे। जौ प्राण तोहि छोड़ जायँगे तो इनको ऐसो सुंदर शरीर कहाँ मिलैगो।

काम०—सखी, ऐसी बात हम सूँ मति कहै, और जो कहै सो सो हम करिवे कों तयार हैं, और या बात को ध्यान तू सपने हू मैं मति करि। जब ताईं हमारे प्राण हैं तब ताईं तोहि न मरन देंयगी। पीछे भलेईं जो होय सो होय।

चंद्रा०—(रोकर) हाय! मरने भी नहीं पाती। यह अन्याय!

माधवी—सखी, अन्याय नहीं, यही न्याय है।

काम०—जान दै माधवी वासों मति कछू पूछै। आओ हम तुम मिलकै सल्लाह करैं अब का करनो चाहिए।

विला०—हाँ माधवी, तू ही चतुर है तू ही उपाय सोच।

माधवी—सखी, मेरे जी में तौ एक बात आवै है। हम तीनि हैं सो तीनि काम बाँटि लें। प्यारीजू के मनाइवे को मेरो जिम्मा। यही काम सबमें कठिन है और तुम दोउन मैं सों एक याके घरकेन सों याकी सफाई करावै और एक लालजू सों मिलिवे की कहै।

काम०—लालजी सों मैं कहूँगी। मैं विन्ने बहुती लजाऊँगी और जैसे होयगो वैसे यासों मिलाऊँगी।

माधवी—सखी, वेऊ का करैं। प्रियाजी के डर सों कछू नहीं कर सकैं।

विला०—सो प्रियाजी को जिम्मा तेरो हई है।

माधवी—हाँ हाँ, प्रियाजी को जिम्मा मेरो।

विला०—तौ याके घर को मेरो।

माधवी—भयो फेर का। सखी काहू बात को शोच मति करै। उठि।

चंद्रा०—सखियो! व्यर्थ क्यों यत्न करती हो। मेरे भाग्य ऐसे नहीं हैं कि कोई काम सिद्ध हो।

माधवी—सखी, हमारे भाग्य तो सीधे हैं। हम अपने भाग्य-बल सों सब काम करैंगी।

काम०—सखी, तू व्यर्थ क्यों उदास भई जाय है। जब तक साँसा तब तक आसा।

माधवी—तौ सखी बस अब यह सलाह पक्की भई। जब ताईं काम सिद्ध न होय तब ताईं काहुवै खबर न परै।

विला०—नहीं, खबर कैसे परैगी?

काम०—(चंद्रावली का हाथ पकड़कर) लै सखी, अब उठि। चलि हिंडोरे झूलि।

माधवी—हाँ सखी, अब तौ अनमनोपन छोड़ि।

चंद्रा०—सखी, छूटा ही सा है, पर मैं हिंडोरे न झूलूँगी। मेरे तो नेत्र आप ही हिंडोरे झूला करते हैं।

पल पटुली पै डोर प्रेम की लगाय चारु
आसा ही के खंभ दोय गाढ़ कै धरत हैं।
झुमका ललित काम पूरन उछाह भरयो
लोक बदनामी झूमि झालर झरत हैं॥
हरीचंद आँसू दृग नीर बरसाइ प्यारे
पिया-गुन-गान सो मलार उचरत हैं।
मिलन मनोरथ के झोंटन बढ़ाइ सदा
बिरह हिंडोरे नैन झूल्योई करत हैं॥

और सखी, मेरा जी हिंडोरे पर उदास होगा।

माधवी—तौ सखी, तेरी जो प्रसन्नता होय! हम तौ तेरे सुख की गाँहक हैं।

चंद्रा०—हा! इन बादलों को देखकर तो और भी जी दुखी होता है।

देखि घन स्याम घनस्याम की सुरति करि
जिय मैं बिरह घटा घहरि-घहरि उठै।
त्योंही इंद्रधनु बगमाल देखि बन माल
मोतीलर पी की जिय लहरि-लहरि उठै॥
हरीचंद मोर पिक धुनि सुनि बंसीनाद
बाँकी छवि बार बार छहरि-छहरि उठै।
देखि-देखि दामिनि की दुगुन दमक पीत
पट छोरे मेरे हिय फहरि-फहरि उठै॥

हाय! जो बरसात संसार को सुखद है वह मुझे इतनी दुखदायी हो रही है।

माधवी—तौ न दुखदायिनी होयगी। चल उठि घर चलि।

काम०—हाँ चलि। [सब जाती हैं

(जवनिका गिरती है)



चौथा अंक

स्थान—चंद्रावलीजी की बैठक

(खिड़की में से यमुनाजी दिखाई पड़ती हैं। पलँग बिछा हुआ, परदे पड़े हुए, इतरदान पानदान इत्यादि सजे हुए)

[※ जोगिनी आती है]

जोगिनी—अलख! अलख! आदेश आदेश गुरु को! अरे कोई है इस घर में? कोई नहीं बोलता। क्या कोई नहीं है? तो अब मैं क्या करूँ? बैठूँ। क्या चिंता है। फकीरों को कहीं कुछ रोक नहीं। उसमें भी हम प्रेम की जोगिनी तो अब कुछ गावैं!

(बैठकर गाती है)

"कोई एक जोगिन रूप कियैं।
भौंहैं वंक छकोहैं लोयन चलि-चलि कोयन कान छियैं॥
सोभा लखि मोहत नारीनर बारि फेरि जल सबहि पियैं।
नागर मनमथ अलख जगावत गावत काँधे वीन लियैं॥†"

※ गेरुआ सारी, गहिना सब जनाना पहिने, रंग साँवला। दूर का लंबा टीका बेंड़ा। बाल खुले हुए। हाथ में सरंगी लिए हुए। नेत्र लाल। अत्यंत सुंदर। जब-जब गावेगी सरंगी बजाकर गावेगी।

† काफी।

बनी मनमोहिनी जोगिनियाँ ।
गल सेली तन गेरुआ सारी केस खुले सिर बँदी सोहिनियाँ ॥
मातै नैन लाल रँग डोरे मद बोरे मोहै सबन छलिनियाँ ।
हाथ सरंगी लिए बजावत गाय जगावत बिरह-अगिनियाँ ॥*
जोगिन प्रेम की आई ।
बड़े-बड़े नैन छुए कानन लौं चितवन मद अलसाई ॥
पूरी प्रीति रीति रस सानी प्रेमी जन मन भाई ।
नेह नगर मैं अलख जगावत गावत बिरह बधाई ॥
जोगिन आँखन प्रेम खुमारी ।
चंचल लोयन कोयन खुभि रही काजर रेख ढरारी ॥
डोरे लाल लाल रस बोरे फैली मुख उँजियारी ।
हाथ सरंगी लिए बजावत प्रेमिन प्रानपियारी ॥
जोगिन मुख पर लट लटकाई ।
कारी घूँघरवारी प्यारी देखत सब मन भाई ॥
छूटे केस गेरुआ बागे सोभा दुगुन बढ़ाई ।
साँचे ढरी प्रेम की मूरति अँखियाँ निरखि सिराई ॥

(नेपथ्य में से पैंजनी की झनकार सुनकर)

अरे कोई आता है। तो मैं छिप रहूँ। चुपचाप सुनूँ। देखूँ यह सब क्या बातें करती हैं।

(जोगिन जाती है, ललिता आती है)

ललिता—हैं अब तक चंद्रावली नहीं आई। साँझ हो गई, न

२ चैती गौरी वा पीलू खेमटा।

घर में कोई सखी है न दासी, भला कोई चोर-चकार चला आवै तो क्या हो। (खिड़की की ओर देखकर) अहा! यमुनाजी की कैसी शोभा हो रही है। जैसा वर्षा का बीतना और शरद का आरंभ होना वैसा ही वृंदावन के फूलों की सुगंधि से मिले हुए पवन की झकोर से यमुनाजी का लहराना कैसा सुंदर और सुहावना है कि चित्त को मोहे लेता है। आहा! यमुनाजी की शोभा तो कुछ कही ही नहीं जाती। इस समय चंद्रावली होती तो यह शोभा उसे दिखाती। वा वह देख ही के क्या करती, उलटा उसका विरह और बढ़ता। (यमुनाजी की ओर देखकर) निस्संदेह इस समय बड़ी ही शोभा है।

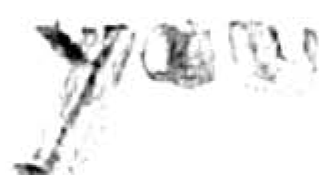
तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल-परसन-हित मनहुँ सुहाए॥
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज-निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप बारन तीर कों सिमिटि सबै छाए रहत।
कै हरि-सेवा-हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत॥

कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज सोभा।
कै उमगे पिय प्रिया प्रेम के अनगिन गोभा॥

कै करिकै कर बहु पीय कों टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई॥
कै पियपद उपमान जानि एहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत॥
कै ब्रज-तियगन-वदन-कमल की झलकत झाईं।
कै ब्रज हरिपद-परस हेत कमला बहु आईं॥
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रजमंडल बगरे फिरत॥
कै जानि लच्छमी-भौन एहि करि सतधा निज जल धरत॥

तिन पैं जेहि छिन चंद-जोति राका निसि आवति।
जल मैं मिलिकै नभ अवनी लौं तान तनावति॥
होत मुकुरमय सबै तबै उज्जल इक ओभा।
तन मन नैन जुड़ावत देखि सुंदर सो सोभा॥
सो को कवि जो छवि कहि सकै ता छन जमुना नीर की।
मिलि अवनि और अंबर रहत छवि इकसी नभ तीर की॥
परत चंद्र-प्रतिबिंब कहूँ जल मधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो॥
मनु हरि-दरसन हेत चंद जल बसत सुहायो।
कै तरंग कर मुकुर लिए सोभित छवि छायो॥
कै रास-रमन मैं हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है।
कै जल-उर हरि-मूरति बसति ता-प्रतिबिंब लखात है॥

कबहुँ होत सत चंद कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत।



पवन गवन बस बिंब रूप जल मैं बहु साजत ॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुनजल लोटत डोलै ।
कै तरंग की डोर हिंडोरन करत कलोलै ॥
कै बालगुडी नभ मैं उड़ी सोहत इत-उत धावती ।
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रजरमनी जल आवती ॥

मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन जल ।
कै तारागन ठगन लुकत प्रगटत ससि अविकल ॥
कै कालिंदी नीर तरंग जितो उपजावत ।
तितनो ही धरि रूप मिलन हित तासों धावत ॥
कै बहुत रजत चकई चलत कै फुहार जल उच्छरत ।
कै निसिपति मल्ल अनेक विधि उठि बैठत कसरत करत ॥

कूजत कहुँ कलहंस कहूँ मज्जत पारावत ।
कहुँ कारंडव उड़त कहूँ जलकुक्कुट धावत ॥
चक्रवाक कहुँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत ।
सुक पिक जल कहुँ पियत कहूँ भ्रमरावलि गावत ॥
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु रोर बिविधि पच्छी करत ।
जलपान न्हान करि सुख भरे तट सोभा सब जिय धरत ॥

कहूँ बालुका बिमल सकल कोमल बहु छाई ।
उज्जल झलकत रजत सीढ़ि मनु सरस सुहाई ॥
पिय के आगम हेत पाँवड़े मनहुँ बिछाए ।
रत्नरासि करि चूर कूल मैं मनु बगराए ॥

मनु मुक्त माँग सोभित भरी, श्यामनीर चिकुरन परसि।
सतगुन छायो कै तीर मैं, ब्रज निवास लखि हिय हरसि॥

(चंद्रावली अचानक आती है)

चंद्रा०--वाह वाहरी वैहना आजु तो बड़ी कबिता करी। कबिताई की मोट की मोट खोलि दीनी। मैं सब छिपें-छिपें सुनती थी।

(दबे पांव से योगिन आकर एक कोने में खड़ी हो जाती है)

ललिता—भलो-भलो बीर, तोहि कबिता सुनिबे की सुधि तौ आई हमारे इतनोई बहुत है।

चंद्रा०—(सुनते ही स्मरणपूर्व्वक लम्बो साँस लेकर)

सखी री क्यौं सुधि मोहि दिवाई।
हौं अपने गृह-कारज भूलो भूलि रही बिलमाई॥
फेर वहै मन भयो जात अब मरिहौं जिय अकुलाई।
हौं तबही लौं जगत-काज की जब लौं रहौं भुलाई॥

ललिता—चल जान दे, दूसरी बात कर।

जोगिन—(आप ही आप) निस्संदेह इसका प्रेम पक्का है, देखो मेरी सुधि आते ही इसके कपोलों पर कैसी एक साथ जरदी दौड़ गई। नेत्रों में आँसुओं का प्रवाह उमग आया। मुँह सूखकर छोटा सा हो गया। हाय! एक ही पल में यह तो कुछ की कुछ हो गई। अरे इसकी तो यही गति है।

छरी सी छकी सी जड़ भई सी जकी सी घर
हारी सी विकी सी सो तो सबही घरी रहै ।
बोले तें न बोलै दृग खोलै ना हिंडोलै वैठि
एकटक देखै सो खिलौना सी धरी रहै ॥
हरीचंद औरौ घबरात समुझाएँ हाय
हिचकि-हिचकि रोवै जीवति मरी रहै ।
याद आएँ सखिन रोवावै दुख कहि-कहि
तौ लौं सुख पावै जौ लौं मुरछि परी रहै ॥

अब तो मुझसे रहा नहीं जाता। इससे मिलने को अब तो सभी अंग व्याकुल हो रहे हैं।

चंद्रा०—(ललिता की बात सुनी-अनसुनी करके बाएँ अंग का फरकना देखकर आप ही आप) अरे यह असमय में अच्छा सगुन क्यों होता है। (कुछ ठहरकर) हाय आशा भी क्या ही बुरी वस्तु है और प्रेम भी मनुष्य को कैसा अंधा कर देता है। भला वह कहाँ और मैं कहाँ—पर जी इसी भरोसे पर फूला जाता है कि अच्छा सगुन हुआ है तो जरूर आवेंगे। (हँसकर) हैं—उनको हमारी इस वखत फिकिर होगी। "मान न मान मैं तेरा मेहमान," मन को अपने ही मतलब की सूझती है। "मेरो पिय मोहि बात न पूछै तऊ सोहागिन नाम"। (लम्बी साँस लेकर) हा! देखो प्रेम की गति! यह कभी आशा नहीं छोड़ती। जिसको आप चाहो वह चाहे झूठमूठ भी बात

न पूछे पर अपने जी को यह भरोसा रहता है कि वे भी जरूर इतना ही चाहते होंगे। (कलेजे पर हाथ रखकर) रहो रहो, क्यों उमगे आते हो, धीरज धरो, वे कुछ दीवार में से थोड़े ही निकल आवेंगे।

जोगिन—(आप ही आप) होगा प्यारी, ऐसा ही होगा। प्यारी, मैं तो यहीं हूँ। यह मेरा ही कलेजा है कि अंतर्यामी कहलाकर भी अपने लोगों से मिलने में इतनी देर लगती है। (प्रगट सामने बढ़कर) अलख! अलख!

(दोनों आदर करके बैठाती हैं)

ललिता—हमारे बड़े भाग जो आपुसी महात्मा के दर्शन भए।

चंद्रा०—(आप ही आप) न जानें क्यों इस योगिन की ओर मेरा मन आपसे आप खिंचा जाता है।

जोगिन—भलो हम अतीतन को दर्शन कहा योंही नित्य ही घर-घर डोलत फिरैं।

ललिता—कहाँ तुम्हारो देस है?

जोगिन— प्रेम नगर पिय गाँव।

ललिता—कहा गुरू कहि बोलहीं?

जोगिन— प्रेमी मेरो नाँव॥

ललिता—जोग लियो केहि कारनैं?

जोगिन— अपने पिय के काज।

ललिता—मंत्र कौन ?

जोगिन— पियनाम इक,

ललिता— कहा तज्यो ?

जोगिन— जगलाज ॥

ललिता—आसन कित ?

जोगिन— जितही रमे,

ललिता— पंथ कौन ?

जोगिन— अनुराग ।

ललिता—साधन कौन ?

जोगिन— पियामिलन,

ललिता— गादी कौन ?

जोगिन— सुहाग ॥

नैन कहें गुरु मन दियो, विरह सिद्धि उपदेस ।
तब सों सब कुछ छोड़ि हम, फिरत देस-परदेस ॥

चंद्रा०—(आप ही आप) हाय ! यह भी कोई बड़ो भारी वियोगिनि है तभी इसकी ओर मेरा मन आपसे आप खिंचा जाता है ।

ललिता—तौ संसार को जोग तो और ही रकम को है और आपको तो पंथ ही दूसरो है । तो भला हम यह पूछैं कि का संसार के और जोगी लोग वृथा जोग साधैं हैं ?

जोगिन—यामैं का संदेह है, सुनो । (सारंगी छेड़कर गाती है)

पचि मरत वृथा सब लोग जोग सिरधारी।
साँची जोगिन पिय बिना वियोगिन नारी॥
बिरहागिन धूनी चारों ओर लगाई।
बंसी धुनि की मुद्रा कानो पहिराई॥
अँसुअन की सेली गल में लगत सुहाई।
तन धूर जमी सोइ अंग भभूत रमाई॥
लट उरझि रहीं सोइ लटकाई लट कारी।
साँची जोगिन पिय बिना वियोगिन नारी॥

गुरु बिरह दियो उपदेस सुनो ब्रजबाला।
पिय बिछुरन दुख को बिछाओ तुम मृगछाला॥
मन के मनके की जपो पिया की माला।
बिरहिन की तो हैं सभी निराली चाला॥
पीतम से लगी लौ अचल समाधि न टारी।
साँची जोगिन पिय बिना वियोगिन नारी॥

यह है सुहाग का अचल हमारे बाना।
असगुन की मूरति खाक न कभी चढ़ाना॥
सिर सेंदुर देकर चोटी गूँथ बनाना।
कर चूरी मुख में रंग तमोल जमाना॥
पीना प्याला भर रखना वही खुमारी।
साँची जोगिन पिय बिना वियोगिन नारी॥

है पंथ हमारा नैनों के मत जाना।

कुल लोक वेद सब औ परलोक मिटाना ॥
शिवजी से जोगी को भी जोग सिखाना।
हरिचंद एक प्यारे से नेह बढ़ाना ॥
ऐसे वियोग पर लाख जोग बलिहारी।
साँची जोगिन पिय बिना वियोगिन नारी ॥

चंद्रा०—(आप ही आप) हाय-हाय इसका गाना कैसा जी को बेधे डालता है। इसके शब्द का जी पर एक ऐसा विचित्र अधिकार होता है कि वर्णन के बाहर है। या मेरा जी ही चोटल हो रहा है। हाय-हाय ! ठीक प्राणप्यारे की सी इसकी आवाज है। (बलपूर्वक आँसुओं को रोककर और जी बहलाकर) कुछ इससे और गवाऊँ। (प्रगट) योगिन जो कष्ट न हो तो कुछ और गाओ। (कहकर कभी चाव से उसकी ओर देखती है और कभी नीचा सिर करके कुछ सोचने लगती है)

जोगिन—(मुसकाकर) अच्छा प्यारी ! सुनो। (गाती है)

जोगिन रूप-सुधा की प्यासी।
बिनु पिय मिलें फिरत बन ही बन छाई मुखहि उदासी ॥
भोग छोड़ि धन-धाम काम तजि भई प्रेम बनबासी।
पिय-हित अलख अलख रट लागी पीतम-रूप उपासी।
मनमोहन प्यारे तेरे लिये जोगिन बन-बन छान फिरी।
कोमल से तन पर खाक मली ले जोग स्वाँग सामान फिरी॥

तेरे दरसन कारन डगर-डगर करती तेरा गुन-गान फिरी।
अब तो सूरत दिखला प्यारे हरिचंद बहुत हैरान फिरी॥

चंद्रा०—(आप ही आप) हाय यह तो सभी बातें पते की कहती है। मेरा कलेजा तो एक साथ ऊपर को खिचा आता है। हाय! 'अब तो सूरत दिखला प्यारे।'

जोगिन—तो अब तुमको भी गाना होगा। यहाँ तो फकीर हैं। हम तुम्हारे सामने गावें तुम हमारे सामने न गाओगी। (आप ही आप) भला इसी बहाने प्यारी की अमृत बानी तो सुनेंगे। (प्रगट) हाँ! देखो हमारी यह पहिली भिच्छा खाली न जाय, हम तो फकीर हैं हमसे कौन लाज है?

चंद्रा०—भला मैं गाना क्या जानूँ। और फिर मेरा जी भी आज अच्छा नहीं है, गला बैठा हुआ है। (कुछ ठहर-कर नीची आँख करके) और फिर मुझे संकोच लगता है।

जोगिन—(मुसक्याकर) वाह रे संकोचवाली! भला मुझसे कौन संकोच है? मैं फिर रूठ जाऊँगी जो मेरा कहना न करेगी।

चंद्रा०—(आप ही आप) हाय-हाय! इसकी कैसी मीठी बोलन है जो एक साथ जी को छीने लेती है। जरा से झूठे क्रोध से जो इसने भौंहें तनेनी की हैं वह कैसी भली मालूम पड़ती हैं। हाय! प्राणनाथ कहीं तुम्हीं तो जोगिन नहीं बन आए हो। (प्रगट) नहीं-नहीं,

रूठो मत, मैं क्यों न गाऊँगी। जो भला बुरा आता है सुना दूँगी, पर फिर भी कहती हूँ आप मेरे गाने से प्रसन्न न होंगी। ऐ मैं हाथ जोड़ती हूँ मुझे न गवाओ। (हाथ जोड़ती है)

ललिता—वाह, तुझे नए पाहुने की बात अवश्य माननी होगी। ले मैं तेरे हाथ जोड़ूँ हूँ, क्यों न गावैगी। यह तो उससे बहाली बता जो न जानती हो।

चंद्रा०—तो तू ही क्यों नहीं गाती। दूसरों पर हुकुम चलाने को तो बड़ी मुस्तैद होती है।

जोगिन—हाँ हाँ, सखी तू ही न पहिले गा। ले मैं सरंगी से सुर की आस देती जाती हूँ।

ललिता—यह देखो। जो बोले सो घी को जाय। मुझे क्या, मैं अभी गाती हूँ।

(राग विहाग—गाती है)

अलख गति जुगल पिया प्यारी की।
को लखि सकै लखत नहिं आवै तेरी गिरिधारी की॥
बलि बलि बिछुरनि मिलनि हँसनि रूठनि नित ही यारी की।
त्रिभुवन की सब रति गति मति छवि या पर बलिहारी की॥

चंद्रा०—(आप ही आप) हाय! यहाँ आज न-जाने क्या हो रहा है, मैं कुछ सपना तो नहीं देखती। मुझे तो आज कुछ सामान ही दूसरे दिखाई पड़ते हैं। मेरे तो कुछ समझ ही नहीं पड़ता कि मैं क्या देख-सुन रही हूँ।

क्या मैंने कुछ नशा तो नहीं पिया है ! अरे यह योगिन कहीं जादूगर तो नहीं है। (घबड़ानी सी होकर इधर-उधर देखती है)

(इसकी दशा देखकर ललिता सकपकाती और जोगिन हँसती है)

ललिता—क्या ? आप हँसती क्यों हैं ?

जोगिन—नहीं, योंही मैं इसको गीत सुनाया चाहती हूँ पर जो यह फिर गाने का करार करे।

चंद्रा०--(घबड़ाकर) हाँ, मैं अवश्य गाऊँगी, आप गाइए। (फिर ध्यानावस्थित सी हो जाती है)

(जोगिन सारंगी बजाकर गाती है)

(संकरा)

तू केहि चितवति चकित मृगी सी ?
केहि ढूँढ़त तेरो कहा खोयो क्यों अकुलाति लखाति ठगी सी ॥
तन सुधि करु उघरत री आँचर कौन ख्याल तू रहति खगी सी।
उतर न देत जकी सी बैठी मद पीया कै रैन जगी सी ॥
चौंकि चौंकि चितवति चारहु दिस सपने पिय देखति उमगी सी।
भूलि बैखरी मृगछौनी ज्यौं निज दल तजि कहुँ दूर भगी सी ॥
करति न लाज हाट घर बर की कुलमरजादा जाति डगी सी।
हरीचंद ऐसिहि उरझो तौ क्यौं नहिं डोलत संग लगी सी ॥
तू केहि चितवति चकित मृगीसी ?

चंद्रा०—(उन्माद से) डोलूँगी-डोलूँगी संग लगी। (स्मरण करके लजाकर आप ही आप) हाय-हाय ! मुझे क्या

हो गया है। मैंने सब लज्जा ऐसी धो बहाई कि आए गए भीतर बाहरवाले सबके सामने कुछ बक उठती हूँ। भला यह एक दिन के लिये आई बिचारी जोगिन क्या कहेगी? तो भी धीरज ने इस समय बड़ी लाज रखी नहीं तो मैं—राम—राम—नहीं नहीं, मैंने धीरे से कहा था किसी ने सुना न होगा। अहा! संगीत और साहित्य में भी कैसा गुन होता है कि मनुष्य तन्मय हो जाता है। उस पर जले पर नोन। हाय नाथ! हम अपने उन अनुभवसिद्ध अनुरागों और बढ़े हुए मनोरथों को किसको सुनावें जो काव्य के एक-एक तुक और संगीत की एक-एक तान से लाख-लाख गुन बढ़ते हैं और तुम्हारे मधुर रूप और चरित्र के ध्यान से अपने आप ऐसे उज्ज्वल सरस और प्रेममय हो जाते हैं, मानो सब प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। पर हा! अंत में करुण रस में उनकी समाप्ति होती है क्योंकि शरीर की सुधि आते ही एक साथ बेबसी का समुद्र उमड़ पड़ता है।

जोगिन—वाह अब यह क्या सोच रही हो! गाओ ले, अब हम नहीं मानेंगी।

ललिता—हाँ सखी, अब अपना वचन सच कर।

चंद्रा०—(अर्द्धोन्माद की भाँति) हाँ हाँ, मैं गाती हूँ।

(कभी आँसू भरकर, कभी कई बेर, कभी ठहरकर, कभी भाव बताकर, कभी बेसुर-ताल ही, कभी ठीक-ठीक, कभी टूटी आवाज से पागल की भाँति गाती है)

मन की कासों पीर सुनाऊँ।
बकनो वृथा और पत खोनी सबै चबाई गाऊँ ॥
कठिन दरद कोऊ नहिं हरिहै धरिहै उलटो नाऊँ।
यह तो जो जानै सोइ जानै क्यों करि प्रगट जनाऊँ ॥
रोम-रोम प्रति नैन श्रवन मन केहि धुनि रूप लखाऊँ।
विना सुजान-शिरोमनि री केहि हियरो काढ़ि दिखाऊँ ॥
मरमिन सखिन वियोग दुखिन क्यों कहि निज दसा रोआऊँ।
हरीचंद पिय मिले तो पग परि गहि पटुका समुझाऊँ ॥

(गाते-गाते बेसुध होकर गिरा चाहती है कि एक बिजली सी चमकती है और जोगिन श्रीकृष्ण बनकर उठाकर गले लगाती है और नेपथ्य में बाजे बजते हैं)

ललिता—(बड़े आनंद से) सखी बधाई है, लाखन बधाई है। ले होश में आ जा। देख तो कौन तुझे गोद में लिए है !

चंद्रा०—(उन्माद की भाँति भगवान् के गले में लपटकर)

पिय तोहि राखौंगी भुजन मैं बाँधि।
जान न दैहौं तोहि पियारे धरौंगो हिए सों नाँधि ॥
बाहर गर लगाइ राखौंगो अंतर करौंगी समाधि।
हरीचंद छूटन नहिं पैहौ लाल चतुरई साधि ॥

पिय तोहि कैसे हिये राखौं छिपाय ?
सुंदर रूप लखत सब कोऊ यहै कसक जिय आय ॥
नैनन में पुतरी करि राखौं पलकन ओट दुराय।
हियरे में मनहूँ के अंतर कैसे लेउँ लुकाय ॥
मेरो भाग रूप पिय तुमरी छीनत सौतैं हाय।
हरीचंद जीवनधन मेरे छिपत न क्यौं इत धाय ॥
पिय तुम और कहूँ जिन जाहु।
लेन देहु किन मो रंकिन कों रूप-सुधा-रस लाहु ॥
जो-जो कहौ करौं सोइ-सोई धरि जिय अमित उछाहु।
राखौं हिये लगाइ पियारे किन मन माहिं समाहु ॥
अनुदिन सुंदर बदन-सुधानिधि नैन चकोर दिखाहु।
हरीचंद पलकन की ओटैं छिनहु न नाथ दुराहु ॥
पिय तोहि कैसे बस करि राखौं।
तुव दृग मैं तुव हिय मैं निज हियरो केहि विधि नाखौं।
कहा करौं का जतन विचारौं बिनती केहि विधि भाखौं।
हरीचंद प्यासी जनमन की अधरसुधा किमि चाखौं ॥

भगवान्—तौ प्यारी मैं तोहि छोड़िकै कहाँ जाउँगो, तू तौ मेरी स्वरूप ही है। यह सब प्रेम की शिक्षा करिवे कों तेरी लीला है।

ललिता—अहा ! इस समय जो मुझे आनंद हुआ है उसका अनुभव और कौन कर सकता है। जो आनंद चंद्रावली को हुआ है वही अनुभव मुझे भी होता है। सच है, युगल

के अनुग्रह बिना इस अकथ आनंद का अनुभव और किसको है ?

चंद्रा०—पर नाथ, ऐसे निठुर क्यों हौ ? अपनों को तुम कैसे दुखी देख सकते हो ? हा ! लाखों बातें सोची थीं कि जब कभी पाऊँगी तो यह कहूँगी, यह पूछूँगी पर आज सामने कुछ नहीं पूछा जाता !

भग०—प्यारी ! मैं निठुर नहीं हूँ। मैं तौ अपुने प्रेमिन को बिना मोल को दास हूँ। परंतु मोहि निहचै है कै हमारे प्रेमिन को हम सों हूँ हमारो बिरह प्यारो है। ताही सों मैं हूँ बचाय जाऊँ हूँ। या निठुरता मैं जे प्रेमी हैं बिन को तो प्रेम और बढ़ै और जे कच्चे हैं बिनकी बात खुल जाय। सो प्यारी यह बात हूँ दूसरेन की है। तुमारो का, तुम और हम तो एक ही हैं। न तुम हमसौं जुदी हो न प्यारीजू सों। हमने तो पहिले ही कही कै यह सब लीला है। (हाथ जोड़कर) प्यारी, छिमा करियौ, हम तौ तुम्हारे सबन के जनम जनम के रिनियाँ हैं। तुमसों हम कभू उरिन होइवेई के नहीं। (आँखों में आँसू भर आते हैं)

चंद्रा०—(घबड़ाकर दोनों हाथ छुड़ाकर आँसू भर के) बस बस नाथ, बहुत भई, इतनी न सही जायगी। आपकी आँखों में आँसू देखकर मुझसे धीरज न धरा जायगा। (गले लगा लेती है)

(विशाखा आती है)

विशाखा—सखी ! वधाई है। स्वामिनी ने आज्ञा दई है के प्यारे सों कही दै चंद्रावली की कुंज मैं सुखेन पधारौ।

चंद्रा०—(बड़े आनंद से घवड़ाकर ललिता-विशाखा से) सखियो, मैं तो तुम्हारे दिए पीतम पाए हैं। (हाथ जोड़कर) तुमारो गुन जनम-जनम गाऊँगी।

विशाखा—सखी, पीतम तेरो तू पीतम की, हम तौ तेरी टहलनी हैं। यह सब तौ तुम सबन की लीला है। यामैं कौन वोलै और वोलै हू कहा जौ कछू समझै तौ वोलै—या प्रेम की तौ अकथ कहानी है। तेरे प्रेम को परिलेख तो प्रेम की टकसाल होयगो और उत्तम प्रेमिन को छोड़ि और काहू की समझ ही मैं न आवैगो। तू धन्य, तेरो प्रेम धन्य, या प्रेम के समझिवेवारे धन्य और तेरे प्रेम को चरित्र जो पढ़ै सो धन्य। तो मैं और स्वामिनी मैं भेद नहीं है, ताहू मैं तू रस की पोषक ठहरी। वस, अव हमारी दोउन की यही विनती है कै तुम दोऊ गलवाहीं दै कै विराजौ और हम युगलजोड़ी को दर्शन करि आज नेत्र सफल करैं।

(गलबाहीं देकर जुगल स्वरूप बैठते हैं)

दोनों—नीके निरखि निहारि नैन भरि नैनन को फल आजु लहौ री।
जुगल रूप छवि अमित माधुरी रूप-सुधा-रस-सिंधु वहौ री॥
इनहीं सौं अभिलाख लाख करि इक इनहीं कों नितहि चहौ री।
जो नर-तनहि सफल करि चाहौ इनहीं के पद कंज गहौ री॥

करत ज्ञान संसार-जाल तजि बरु बदनामी कोटि सहौं री।
इनहीं के रस-मत्त मगन नित इनहीं के ह्वै जगत रहौं री॥
इनके बल जग-जाल कोटि अघ तृन सम प्रेम प्रभाव दहौं री।
इनहीं कों सरवस करि जानौं यहै मनोरथ जिय उमहौं री॥
राधा चंद्रावली कृष्ण व्रज जमुना गिरिवर मुखहिं कहौं री।
जनम-जनम यह कठिन प्रेमव्रत हरीचंद इकरस निबहौं री॥

भग०—प्यारी! और जो इच्छा होय सो कहौ। काहे सों कै जो तुम्हैं प्यारो है सोई हमैं हूँ प्यारो है।

चंद्रा०—नाथ! और कोई इच्छा नहीं, हमारी तो सब इच्छा की अवधि आपके दर्शन ही ताईं है तथापि भरत को यह वाक्य सफल होय—

परमारथ स्वारथ दोउ कहँ संग मेलि न सानैं।
जे आचरज होइ धरम निज तेहि पहिचानैं।
वृंदाविपिन विहार सदा सुख सों थिर होई।
जन वल्लभी कहाइ भक्ति बिनु हो नइ कोई॥

जगजाल छाड़ि अधिकार लहि कृष्णचरित सबही कहैं।
यह रतन-दीप हरि-प्रेम को सदा प्रकाशित जग रहै॥

(फूल की वृष्टि होती है, बाजे बजते हैं और जवनिका गिरती है)

विषस्य विषमौषधम्

भाग ३

संवत् १९३३

विषस्य विषमौषधम्

भाण



परतिय-रत रावन बध्यौ, पर-धन-रत तिमि कंस ।
राम कृष्ण जय सूर ससि, करन मोह-अघधंस ॥

(भंडाचार्य्य आता है)

भंडाचार्य्य—(लंबी साँस लेकर)

"पर-नारी पैनी छुरी, ताहि न लाओ अंग ।
रावनहू को सिर गयो, पर-नारी के संग ॥"

हमारी दशा भी अब रावण की हुआ चाहती है, तो क्या हुआ, होय ।

रावन ने दस सिर दिए, जनक-नंदिनी-काज ।
जौ मेरो इक सिर गयो, तो यामें कहँ लाज ॥

देखो पर-स्त्री-संग से चंद्रमा यद्यपि लांछित है तो भी जगत् को आनंद देता है वैसे ही (मोछों पर हाथ फेरकर) हम बड़े कलंकित सही पर हमीं इस नगर की शोभा हैं। भला दुष्ट बाबाभट्ट क्या हुआ तुमने हमारा सब भेद खोल

दिया, यह भेद खुलने पर भी हमने तुम्हें और कृष्णाबाई दोनों को न छकाया तो मेरा नाम भंडाचार्य्य नहीं। अब भी क्या खंडेराव का राज्य है कि पहलवानों की पूछ होगी, अब तो जो कुछ हैं हमीं लोग हैं। (ऊपर देखकर) क्या कहा कि 'इसी उपद्रव से न यह गति हुई' किसकी किसकी? महाराज मल्हारराव की? ए भाई जरा हाल तो कहे जाओ। (ऊपर देखकर) हैं चला गया, कौन गति हुई, इतना तो हमने भी सुना था कि कुछ दिन हुए एक खबीसन आई थी, क्या जाने कौन साहब उसके मालिक थे। उँः अरे वह तो इसी बात पर न आई थी कि महाराज की भेड़ियाँ उनसे अच्छी तरह नहीं चराई जातीं, तो फिर इससे क्या? अपनी नाक ठहरी चाहे जिधर फेर दिया। और फिर उसका प्रबंध करने तो उनके साढ़े तीन नातेदार आए न थे एक दादा, दूसरा भाई, तीसरा पति (नौरा) और आधी जीजी, क्या उनसे भी कुछ न हुआ। (ऊपर देखकर) क्या कहा, होता कहाँ से, मलहर जी कुछ करने देते तब तो। अजी बावले हुए हो, करने क्या देते? राजा होता है प्रभु और "कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु समर्थः प्रभुः" यह प्रभु का लक्षण है, फिर उनकी बकरी थी चाहे जिस घाट पानी पिलाया। हम तो अपने नौकरों से रात-दिन जो चाहते हैं काम लेते हैं। और फिर सुख भी तो हिंदुस्तान में तीन ही ने किया, एक मुहम्मदशाह ने दूसरे वाजिद-

अलीशाह ने तीसरे हमारे महाराज ने। मुहम्मदशाह के जमाने में नादिरशाही हुई, वाजिदअली से लखनऊ ही छूटा, अब देखें इनकी कौन गति होती है। इसका तो यही फल है, पर फिर कौन इस रंग में नहीं है, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि राजा-महाराजा नये-पुराने सभी तो इसमें फँसे हैं। अहा स्त्री वस्तु भी ऐसी ही है।

पुरुष जनन के मोहन को विधि यंत्र विचित्र बनायो है।
काम अनल लावन्य सुजल बल जाको विरचि चलायो है॥
कमर कमानी बार तार सों सुंदर ताहि सजायो है।
धरमघड़ी अरु रेलहु सों बढ़ि यह सबके मन भायो है॥

यह तो कल के अर्थ में यंत्र हुआ अब हिंदुस्तानी तंत्र के यंत्र का वर्णन सुनिए।

पुरुष जनन के मोहन को यह मंगल यंत्र बनायो है।
कामदेव के बीज मंत्र सों अंकित सब मन भायो है॥
ग्रहण दिवारी कारी चौदस सारी रात जगायो है।
सिद्ध भयो सबको मन मोहत नारी नाम धरायो है॥

(ऊपर देखकर) क्या कहा ? इसी यंत्र के अनुष्ठान का न यह फल हुआ कि सिर पर इतनी भारी जवाबदेही आ पड़ी। किसके-किसके ? किसके बल हम कूदते हैं ? अरे महाराज के ? क्या हुआ ? (ऊपर देखकर) क्या कहा ? "तुमको क्या नहीं मालूम" हमको यहाँ

तक तो मालूम है कि पहिले एक कमीशन आया था और फिर कुछ आया के आया जाया की गड़वड़ सुनी थी। छि: छि: स्त्री ऐसी ही वस्तु है उस पर भी कुमारी। बिजली को घन का पछड़। स्त्री और बिजली जिससे छू गई वह गया। (ऊपर देखकर) क्या कहा "गया भी ऐसा कि फिर न बहुरेगा" अरे कौन कौन? क्या कहा? वही जिसका तुम सवेरे से पचड़ा गा रहे हो! हाय-हाय! महाराज! अरे क्या हुए? गद्दी से उतारे गए? हाय! महा अनर्थ हुआ। महाराज नहीं गए हिंदुस्तान गया। भला पूरा हाल तो कहो। (कुछ ठहरकर ऊपर देखकर) हाँ समझा। हाय बहुत ही बुरा हुआ, बुढ़िया मरने का डर नहीं जम परचने का डर है। 'परचल गोह करौंदा खाय'। वाजिद-अलीशाह भी तो इसी खुराफात से उतरे थे "मा और भाई मलिक: से इनसाफ चाहने के लिये विलायत पहुँचे, दोनों अपनी जान मलिक: पर निछावर कर गुजरे" "सो बातैं सुनि राजसभा में है निशंक बिस्तारीं जू" भाई, 'यस्यास्ति भाग्यं स नर: कुलीन: स पण्डित: स श्रुतिमान् गुणज्ञ:। स एव दाता स च दर्शनीय: सर्व्वे गुणा: भाग्यवतामधीना:।' हमारा तो सुनकर जी जल गया कि कविवचनसुधा नाम का कोई अखबार सोने के और लाल टाइप में उस दिन छपा था जिस दिन महाराज उतारे गए। वाह रे सिफारशियो! अरे खुशामद की भी कुछ हद होती

है। एक बादशाह ने हुक्म दिया बड़े-बड़े खुशामदी लाओ। तीन आदमी हाजिर किए गए। बादशाह ने पूछा, तुम खुशामद कर सकोगे? पहिला बोला, हुजूर क्यों नहीं। बादशाह ने उसे निकाल दिया। दूसरे से पूछा, तुम खुशामद कर सकोगे? उसने कहा, जहाँपनाह जहाँ तक हो सकेगी। बादशाह ने उसे भी निकाल दिया। तीसरे से भी पूछा, तुम खुशामद कर सकोगे? बोला, गरीबपरवर क्या मजाल, भला मेरी ताकत है कि हुजूर की खुशामद कर सकूँ। बादशाह ने कहा, हाँ यह पक्का खुशामदी है। ठीक वही हाल है। और निबाह भी इसी से है, हजार जान दे मरो सिफारिश नहीं तो कुछ भी नहीं। जान भी दे तो बादशाह ही न था। पर भाई सिफारिशियों का कल्याण है। 'तो हमहुँ कहब अब ठकुरसोहाती। हँसब ठठाइ फुलाउब गालू॥' पर हमसे न होगा। भला कहाँ हिंदुस्तानी सिफारिशी दरबार, कहाँ हम से पंडित। "हरि सँग भोग कियो जा तन सों तासों कैसे जोग करैं!" पक्षपात नहीं है ऐसा ही है, लाखों सबूत दे सकते हैं पर कोई सुने भी। हाय! कोई सुननेवाला भी तो नहीं। "प्रानपियारे तिहारे बिना कहो काहि करेजो निकासी दिखाऊँ?" ए भाई कुछ कहना भी तो झख मारना है। 'पासा पड़े सो दाव, राजा करे सो न्याव'। कहें जो लोग बस उसको बजा-बजा कहिए। इनका राज गया तो क्या आश्चर्य है यह कुछ

आज ही थोड़े हुई है सनातन से चली आई है। और फिर राजनीति-रक्षा भी तो इसी से होती है। पर ऐसे ही सारे भारतवर्ष की प्रजा का सर्कार ध्यान नहीं रखती। रामपुर में दुरंत यवन हिंदुओं को इतना दुख देते हैं, पूजा नहीं करने देते, शंख नहीं बजता, पर सर्कार इस बात की पुकार नहीं सुनती। यद्यपि यह अनर्थ वहाँ है जहाँ पहिले सर्कारी राज्य था और जिस देश के विषय में पक्का अहदनामा हो चुका है। अहदनामे पर क्या, जैसे अधिकारी आते हैं वैसा बरताव होता है। सर्कार बिचारी कुछ देखने थोड़े ही आती है। धन्य है ईश्वर! सन् १५९९ में जो लोग सौदागरी करने आए थे वे आज स्वतंत्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं। वा यह तो बुद्धि का प्रभाव है। और यह तो इनके सुशासन और बल का फल है। साढ़े सत्रह सौ के सन् में जब आरकाट में क्लाइव किले में बंद था तो हिंदुस्तानियों ने कहा कि रसद घट गई है सिर्फ चावल है सो गोरे खाँय हम लोग माँड़ पीकर रहेंगे। सन् १६१७ में जब सर्कार से सब मरहटे-मात्र बिगड़े थे तब सिर्फ बड़ोदेवाले साथ थे। उनके कुल की यह दशा! यह तो जब पहिले कमीशन आया था तभी हम समझे थे। 'यदाऽश्रौषं माधवं वासुदेवं सर्वात्मना पांडवार्थे निविष्टं। यस्येमां गां विक्रममेकमाहुस्तदा नाशंसे विजयाय संजय'

जो हो, मलहर की यह करतूत भी कभी न भूलेगी। कलकत्ते के प्रसिद्ध राजा अपूर्वकृष्ण से किसी ने पूछा था कि आप लोग कैसे राजा हैं तो उन्होंने उत्तर दिया जैसे शतरंज के राजा, जहाँ चलाइए वहाँ चलें। (ऊपर देखकर) क्या कहा ? यह सब ठीक, पर कहे कौन ? सो तो ठीक है "कौन साहिब नू अक्खे" यों नहीं यों कर। राजा और दैव बराबर होते हैं, ये जो करें सो देखते चलो बोलने की तो जगही नहीं। मलहर सुनते ही तो यह नौबत काहे को होती। राजा बनारस के अधिकार के विषय में जब कौंसिल में चर्चा हुई तो हेस्टिंग्स साहिब ने रेजिडेंट लोगों के विषय में बहुत ठीक कहा था कि '‛अब और इलाके में रेजिडेंट न मुकर्रर हों, वे कंपनी को पटने के इलाके में मालगुजारी दिया करें। क्योंकि रेजिडेंट मुकर्रर होने से वह राजा और राज्य पर अपना अख्तियार जारी करने की कोशिश करेगा और इससे राजा के साथ उसका विवाद होने से कौंसिल में हमेशा नालिशें आवेंगी, जिसमें कि निस्संदेह रंजिडेंट की बात पर विश्वास करके राजा के विपक्ष फैसला होगा और पश्चात् एतद् द्वारा उनका सब नुकसान होकर उनको साधारण जमींदारी की अवस्था भोगनी पड़ेगी''* सो

* सन् १७७५ ई० के जून की १२ तारीख की गवर्नर-जेनरल की मिनट देखो।

उन्हीं रेजिडेंट से मलहर ने बिगाड़ कर लिया। ठीक है ठीक है; अरे भाई अपने हिंदुस्तानियों का चाल व्यवहार जितना हिंदुस्तानी समझेंगे उतना और कोई क्या समझेगा? वरंच ऐसे मामलों का अंतःसार हिंदुस्तानी ही लोग जानते हैं, "सहवासी विजानीयात् चरितं सहवासिनः"। हाय! ऐसे बड़े वंश की यह दुर्दशा! सच है, कुपुत्र बुरा होता है। इनका पुरखा दमाजी गायकवाड़ कैसा प्रतापी था, जिसके बल से पेशवा रघुनाथराव निःशंक रहता था। सन् १७६८ में जब माधवराव रघुनाथराव से जूती उछली थी तो इसी दमा ने अपने बेटे गोविंदराव को भेजा था। सुना है कि दमा के ४ बेटे थे, बड़ा, बड़ी रानी से गोविंदराव पर छोटी रानी से तो सियाजी छोटा। सबसे छोटकी रानी से फतेसिंह और माणिकजी। यही गोविंदराव बाप के मरने पर साढ़े पचास लाख रु० देकर और हरसाल उनहत्तर हजार रुपया और तीन हजार सवार, समय पड़े पाँच हजार सवार देने के करार पर सैना-खास-खेल हुआ। (ऊपर देखकर) क्या कहा? फतेसिंह भी तो लड़ा था? हाँ, सियाजी को राजा बनाकर वह लड़ता-भिड़ता रहा, पर बाजीराव ने पेशवा होकर गोविंदराव को पक्का न कर दिया, वरंच हरि फड़के चढ़ाव के समय फौज लेकर आप बरोदे गया और गोविंदराव को राजा बनाया।

सर्कार ही ने तो इन दोनों की कलह मिटाई थी जिसमें तै कर दिया था कि २६ लाख रु० तो तीन महीने में गायकवाड़ पेशवा रघुनाथ को दे और पेशवा उसको दस लाख की दक्षिण में जागीर दे और दो लाख तेरह हजार की जमीन गायकवाड़ सर्कार को दे। (ऊपर देखकर) क्या कहा ? कभी कर्नल गाड ने बड़ोदे का भी तो कुछ हिस्सा ले लिया था ? हाँ फतेसिंह ने कुछ गड़बड़ किया था उस पर कर्नल गाड ने हुमाय का शहर ले लिया था। (ऊपर देखकर) क्या कहा कि फिर क्या हुआ ? फिर यह तै हुआ कि मायी नदी के उत्तर की पृथ्वी पेशवा फतेसिंह ले और सर्कार को भरोच अठाविशी के अठाइसो परगने, शिनोर परगना और कुछ जमीन मिले। यह फतेसिंह नाना फड़नवीस के दौरदौरा में साढ़े पंद्रह लाख रु० दीवान को देकर सैना-खास-खेल हुआ। बिचारा सन् १७८१ ई० में गिरकर मर गया और उसका छोटा भाई माणिकजी सियाजी को नाँव का राजा बनाकर राज चलाने लगा। पर गोविंदराव ने, जो तब खेड़े गाँव में पूने के पास रहता था, पेशवा से कहा कि हमारा राज अब हमको मिले। यह सुनते ही माणिकजी ने तैंतीस लाख तेरह हजार रुपया नजर और ३८ लाख की बाकी देकर फड़नवीस से राज की सनद ले ली और इधर गोविंदा ने महाजी सेंधिया के पूना आने पर उनके द्वारा

सनद पाई। इसी बखेड़े में माणिकराव आप ही मर गया। तब भी नाना ने गोविंद को पहिली नजर दिए बिना जाने न दिया, देखो इन्हीं अँगरेजों ने पहिले तै हुई बात के विरुद्ध समझकर उस समय गोविंदा की सहायता की और नाना को समझाया कि सालपी में जो तै हो चुका है उसके बरखिलाफ अब नया तापी को दक्षिण का मुल्क विचारे गोविंदा से क्यों माँगते हो और इन्हीं की बदौलत बिचारा गोविंदा सन् १७९२ दिसंबर की १९ तारीख को राजा हुआ और सन् १७९९ में बंबई के गवर्नर डंकन साहब से मिलकर शिष्टाचार करके सूरत का चौथाई हिस्सा और चौरासी परगना दिया। (ऊपर देखकर) क्या कहा? हाँ कुछ बड़ोदा का हाल और भी कहो। सुनो, हम तो इस वंश के पुराने पुरोहित हैं सब शाखोच्चार करें। हाँ तो तब से गोविंदराव गद्दी पर बैठे, फिर आबा शेलूकर जो नाना के साथ कैद में पड़ा था सो सेंधिया को दस लाख रु० देकर छूटा और अहमदाबाद का हाकिम हुआ। बाजीराव ने गोविंदराव से और उससे बिगाड़ कराया जिससे इन दोनों में रात-दिन धौल-धप्पड़ होती रही पर डंकन साहब से गोविंदराव से मेल होने से आबा मंद पड़ गया, बिचारा गोविंदराव सन् १८१० में मर गया, कुछ मल्हारराव ही पुरुषार्थी नहीं हैं। गोविंदराव के समय से यह बात है; क्योंकि वह चार औरस और सात दासी-पुत्र छोड़ गए थे।

आनंदराव सबमें बड़ा था उसी को राजवाले मालिक समझते थे, पर वह बुद्धिमान् नहीं था इससे दूसरे हिस्सेदारों ने अपना तार जमाना चाहा। गोविंदराव ने दूसरे लड़के कान्होजी को फसादी जानकर अपने सामने से कैद किया था। पर पीछे आनंदराव से बहुत मिन्नत करके और फौज के अफसरों को बीच में डालकर छूटा और मुख्य दीवान हुआ पर उस पर संतोष न करके सारे राज पर सत्ता बढ़ाने लगा। अंत में रावजी आपा परभू पुराने कारिंदे ने प्रबल होकर उसको पदच्युत किया। इन दोनों ने सर्कार से सहायता चाही, जिसमें कान्होजी ने पुराने करार के सिवाय चिखली का परगना देने को कहा। आनंदराव और उसके दीवान आपा की मदद को सात हजार अरब सवार थे क्योंकि आपा का भाई बाबाजी उनका सरदार था। कान्होबा का पक्षपाती कड़ी का जमींदार मल्हारराव गायकवाड़ था और यह मनुष्य शूर चतुर था, इसने आनंदराव के राज में जब बहुत उपद्रव किया और बहुत से किले भी ले लिए तब आपा ने बंबई के गवर्नर को मदद के वास्ते लिखा और पाँच पल्टन इस शर्त पर माँगी कि उनका खर्च वह देगा। बंबई के गवर्नर ने बिना गवर्नर-जेनरल से पूछे पूरी मदद कैसे दें यह सोचकर मेजर वाकर साहब की मुहतमी में १६०० आदमी भेजे। आनंदराव पल्टन से मिलके कड़ी पर चढ़

दौड़े। उस समय मल्हारराव ने, मुझसे चूक हुई हम सब फेर देंगे, यह कहके मेल का पैगाम डाला। पर उसके जी में छल था। इसी से जब ये लोग बेखबर थे तब छापा मारा पर वाकर साहब की बुद्धिमानी से फौज बच गई। थोड़े दिन में मालूम हुआ कि मल्हार ने आनंदराव के बहुत से लोग मिला लिए जिससे वाकर साहब को उस समय अपनी रक्षा के सिवा और कुछ न सूझी और बंबई कुमक भेजने को लिखा। एप्रिल की २३ तारीख को बंबई से कुछ लोगों की मदद आ गई और वे लोग खाईं खोदकर कड़ी का किला घेरकर पड़े रहे। गायकवाड़ और सर्कार की फौज ने मिलकर कड़ी जीत लिया जिसमें ११३ सर्कारी आदमी मरे, मल्हारराव सर्कार के अधीन हुआ और सवा लाख रु० साल नरियाद की आमदनी में से देकर वहीं उसको नजरबंद रक्खा गया और कड़ी का किला गायकवाड़ के अधिकार में आया। मल्हारराव का पक्षपाती गणपतराव गायकवाड़ बड़ोदे के पास लड़ता था सो संकरे के किले में बंद हुआ। सर्कार ने वह किला भी छीन लिया और गणपतराव और गोविंदराव का दासीपुत्र मुरारराव ये दोनों धार भाग गए और वहाँ के पवाँर राजा के आश्रय में रहे, थोड़े दिन पीछे अरब लोगों ने अपनी तनखाह न मिलने के बहाने बड़ा उपद्रव किया, आनंदराव को कैद कर लिया और कान्होवा

को कैद से छोड़ दिया। मेजर बाकर ने पहिले तो उन्हें बहुत समझाया फिर दस दिन तक खूब लड़े और अंत में जब किले की दीवार तोड़ी तब अरब लोगों ने हारकर मेल करना चाहा। इस लड़ाई में अच्छे-अच्छे अँगरेजी सरदार मारे गए। सवा सत्रह लाख तनखाह बाकी देकर इस करार पर मेल हुआ कि वे लोग अपने देश या राज के बाहर चले जायँ। उसमें बहुत तो चले गए पर आवू जमादार राज पिंपली गाँव में कान्होवा से जा मिला। कान्होवा ने फिर मार-धाड़ लूट-खसोट शुरू की, पर अंत में होम्स साहब से हारकर उज्जैन में जा रहा। हाँ हाँ इसके सिवा एक बात और भी है। एक दफे वड़ोदा के वकील वाप मैराल को बाजीराव ने कहा कि वड़ोदावालों के यहाँ हमारा एक करोड़ रुपया बाकी है सो उसमें से सत्रह लाख हम छोड़ देते हैं बाकी इनसे दिलवा दो। बाजीराव ने केवल दगाबाजी से वड़ोदे पर हाथ डालने को यह युक्ति की थी। वड़ोदेवाले कहते थे कि हमने जो बहुत से पेशवा के काम किए हैं उसके बदले हमी को अभी कुछ चाहिए, गंगाधर शास्त्री पटवर्धन को गायकवाड़ ने सर्कार की रक्षा में पेशवा के यहाँ भेजा। पेशवा ने कुछ बात तै नहीं की और शिष्टाचार में लगाकर शास्त्री को लेकर वह अपने सलाही त्र्यंबकजी डेंगला के साथ पंढरपुर गया और वहाँ छल से १८१५ की

चौदहवीं जुलाई को शास्त्री को किसी सिपाही से मरवा डाला। सरकार ने इस बात पर अत्यंत क्रोध किया और चारों ओर से पेशवा पर फौज भेजी जिससे पेशवा ने अंत में हारकर त्र्यंबक को सरकार के हवाले किया और आगे से बड़ोदावालों को छेड़ने से हाथ उठाया। हाय! यह वही बड़ोदा है जिस पर सरकार की सदा से ऐसी छाया रही।

(ऊपर देखकर) क्या कहा? "हाँ कहे चलो" जाने दो। इन पुराने पचड़ों को लेकर कौन रोवे पर भाई अचिंसन साहब ने अपने अहदनामों में लिखा है कि खंडेराव और मल्हारराव के सिवाय पोलजी गायकवाड़ के असली और नसली वंश में और कोई नहीं है; तब मल्हारराव का वंश राज पर बैठने से रोका जाय यह तनिक अनुचित मालूम होता है। अनुचित काहे को है? सन् १८०२ में जो अहदनामे हुए हैं उनमें तो सरकार को गायकवाड़ की खानगी बातों में बिलकुल अधिकार है। फिर यह रोना क्या? हम तो जानते हैं कि जब मल्हारराव ने लक्ष्मीबाई से विवाह किया तभी से उसकी बड़ी बहिन दरिद्राबाई भी इनके ताक में थी और समय पाकर अपनी बहिन के पास आ गई। शास्त्रों में लिखा है कि लक्ष्मी दरिद्रा दोनों बहिन हैं। पर भाई! यह कन्या फली नहीं, मुद्राराक्षस की विष-कन्या हो गई।

अत्त भी तो बड़ी हुई। सुना है कि जब महाराज शहर के अमीरों के घर में जाते थे तो उनके घर को सारे औरतें कुएँ में उतारी जाती थीं। क्या हुआ सनातन से चली आई है। अग्निवर्ण भी तो ऐसा ही था।

"अंकमंकपरिवर्त्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गु वागपि च वामलोचना" ॥

और नहीं तो क्या? या बगल में माहताब हो या आफताब, या साकी हो या शराब। भला रावण इनसे बढ़के था कि ये रावण से बढ़के? एक बात में तो ये रावण से बढ़ गए कि ऐसे काल में और सरकार के राज्य में इन्होंने ऐसा उपद्रव किया! धन्य भारतभूमि! तुझे ऐसे ही पुत्र प्रसव करने थे! हाय! मुहम्मदशाह और वाजिदअलीशाह तो मुसलमान होके छूटे पर मल्हार-राव का कलंक हिंदुओं से कैसे छूटेगा। विधवा-विवाह सब कराया चाहते हैं पर इसने सौभाग्यवती-विवाह निकाला। भला मुसलमान होता तो तिलाक दिलवा के भी हलाल कर लेता। पर तिलाक कहाँ, लक्ष्मीबाई के खसम ने तो नालिश की थी। सच है, यह ऐसे ही हजरत थे। हमारी सरकार के विरुद्ध जो कुछ कहे वह झख मारे। यदि ऐसे लोगों के उचित दंड न हो तो ये लोग न-जाने क्या अनर्थ करें। कहा भी तो है।

"अदंड्यान् दंडयन् राजा दंड्यानेवाभिनंदयन् ।
अयशो महदाप्नोति नारकीं च गतिं पराम् ॥ १ ॥"

(ऊपर देखकर) क्या कहा ? और खानदेश का एक कुमार गद्दी पर बैठा भी तो दिया गया। लो भया तब क्या ? हहाहा ! भला तब हम क्या इतना झँखते थे। अहा धन्य है सर्कार! यह बात कहीं नहीं है। दूध का दूध पानी का पानी। और कोई बादशाह होता तो राज जप्त हो जाता। यह इन्हीं का कलेजा है। हे ईश्वर, जब तक गंगा-यमुना में पानी है तब तक इनका राज स्थिर रहे। अहा! हमारी तो पुरोहिती फिर जगी। हमें मल्हारराव से क्या काम, हमें तो उस गद्दी से काम है "कोउ नृप होउ हमैं का हानी" धन्य अँगरेज! राम और युधिष्ठिर का धर्मराज्य इस काल में प्रत्यक्ष कर दिखाया, अहाहा! (ऊपर देखकर) क्या कहा? कहो और क्या चाहते हौ। भला और क्या चाहेंगे, हमारा भंडपना जारी ही रहा, बड़ोदा का राज फिर सुख से बसा तो अब और क्या चाहिए। और मल्हारराव का जो कहो तो उसका कौन सोच है, जैसे व्रत वैसे उद्यापन, विषस्य विषमौषधं, तो भी यह भरत-वाक्य सफल हो।

परतिय परधन देखि, न नृपगन चित्त चलावें।
गाय दूध बहु देहिं, मेघ सुभ जल बरसावें॥

हरि-पद में रति होइ, न दुख कोऊ कहँ व्यापै।
अँगरेजन को राज ईस इत थिर करि थापै॥
श्रुति-पंथ चलैं सज्जन सबै सुखी होहिं तजि दुष्ट-भय।
कबिबानी थिर रस सों रहै भारत की नित होइ जय॥

(जवनिका गिरती है)

भारतदुर्दशा

नाट्यरासक

संवत १९३७

भारतदुर्दशा



(मंगलाचरण)

जय सतजुग थापन करन, नासन म्लेच्छ अचार।
कठिन धार तरवार कर, कृष्ण कल्कि अवतार ॥



पहिला अंक

स्थान—वीथी

(एक योगी गाता है)

(लावनी)

रोअहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा ! भारतदुर्दशा न देखी जाई ॥ ध्रुव ॥
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो ॥
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो ॥
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई ॥

जहँ भए शाक्य हरिचंदरु नहुष ययाती ।
जहँ राम युधिष्ठिर वासुदेव सर्याती ॥
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती ।
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती ॥
अब जहँ देखहु तहँ दुःखहि दुःख दिखाई ।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई ॥

लरि वैदिक जैन डुबाई पुस्तक सारी ।
करि कलह बुलाई जवनसैन पुनि भारी ॥
तिन नासी बुधि बल विद्या धन बहु वारी ।
छाई अब आलस कुमति कलह अँधियारी ॥
भए अंध पंगु सब दीन हीन बिलखाई ।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई ॥

अँगरेजराज सुख साज सजे सब भारी ।
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी ॥
ताहू पै महँगी काल रोग बिस्तारी ।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री ॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई ।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई ॥

(पटोत्तोलन)

दूसरा अंक

स्थान— श्मशान, टूटे-फूटे मंदिर

कौआ, कुत्ता, स्यार घूमते हुए, अस्थि इधर-उधर पड़ी है।

(भारत ✻ का प्रवेश)

भारत—हा! यह वही भूमि है जहाँ साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णचंद्र के दूतत्व करने पर भी वीरोत्तम दुर्योधन ने कहा था "शून्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव" और आज हम उसी भूमि को देखते हैं कि श्मशान हो रही है। अरे यहाँ की योग्यता, विद्या, सभ्यता, उद्योग, उदारता, धन, बल, मान, दृढ़चित्तता, सत्य सब कहाँ गए? अरे पामर जयचंद्र! तेरे उत्पन्न हुए बिना मेरा क्या डूबा जाता था? हाय! अब मुझे कोई शरण देनेवाला नहीं। (रोता है) मातः, राजराजेश्वरि, विजयिनि! मुझे बचाओ। अपनाए की लाज रक्खो। अरे दैव ने सब कुछ मेरा नाश कर दिया पर अभी संतुष्ट नहीं हुआ। हाय! मैंने जाना था कि अँगरेजों के हाथ में आकर हम अपने दुखी मन को पुस्तकों से बहलावेंगे और सुख मानकर जन्म

✻ फटे कपड़े पहिने, सिर पर अर्द्ध किरीट, हाथ में टेकने की छड़ी, शिथिल अंग।

बितावेंगे पर दैव से वह भी न सहा गया। हाय! कोई बचानेवाला नहीं।

(गीत)

कोऊ नहिं पकरत मेरो हाथ।
बीस कोटि सुत होत फिरत मैं हा हा होय अनाथ॥
जाकी सरन गहत सोइ मारत सुनत न कोउ दुखगाथ।
दीन बन्यौ इत सों उत डोलत टकरावत निज माथ॥
दिन-दिन बिपति बढ़त सुख छीजत देत कोऊ नहिं साथ।
सब विधि दुख सागर मैं डूबत धाइ उबारौ नाथ॥

(नेपथ्य में गंभीर और कठोर स्वर से)

अब भी तुझको अपने नाथ का भरोसा है! खड़ा तो रह। अभी मैंने तेरी आशा की जड़ न खोद डाली तो मेरा नाम नहीं।

भारत—(डरता और काँपता हुआ रोकर) अरे यह विकराल-वदन कौन मुँह वाए मेरी ओर दौड़ता चला आता है? हाय-हाय इससे कैसे बचेंगे? अरे यह तो मेरा एक ही कौर कर जायगा। हाय! परमेश्वर वैकुंठ में और राज-राजेश्वरी सात समुद्र पार, अब मेरी कौन दशा होगी? हाय अब मेरे प्राण कौन बचावेगा? अब कोई उपाय नहीं। अब मरा, अब मरा। (मूर्छा खाकर गिरता है)

(निर्लज्जता * आती है)

निर्लज्जता—मेरे आछत तुमको अपने प्राण की फिक्र। छिः छिः ! जीओगे तो भीख माँग खाओगे। प्राण देना तो कायरों का काम है। क्या हुआ जो धन-मान सब गया "एक ज़िंदगी हज़ार नेआमत है।" (देखकर) अरे सचमुच बेहोश हो गया तो उठा ले चलें। नहीं-नहीं, मुझसे अकेले न उठेगा। (नेपथ्य की ओर) आशा! आशा! जल्दी आओ।

(आशा † आती है)

निर्लज्जता—यह देखो भारत मरता है, जल्दी इसे घर उठा ले चलो।

आशा—मेरे आछत किसी ने भी प्राण दिया है? ले चलो, अभी जिलाती हूँ।

(दोनों उठाकर भारत को ले जाती हैं)

———

* जाँघिया—सिर खुला—ऊँची चोली—दुपट्टा ऐसा गिरता पड़ता कि अंग खुले, सिर खुला, खानगियों का सा वेष।

† लड़की के वेष में।

तीसरा अंक

स्थान—मैदान

(फौज के डेरे दिखाई पड़ते हैं। भारतदुर्दैव* आता है)

भारतदु०—कहाँ गया भारत मूर्ख! जिसको अब भी परमेश्वर और राजराजेश्वरी का भरोसा है? देखो तो अभी इसकी क्या-क्या दुर्दशा होती है।

(नाचता और गाता हुआ)

अरे!

उपजा ईश्वर कोप से, औ आया भारत बीच।
छार-खार सब हिंद करूँ मैं, तो उत्तम नहिं नीच॥
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी॥
कौड़ी-कौड़ी को करूँ, मैं सबको मुहताज।
भूखे प्रान निकालूँ इनका, तो मैं सच्चा राज॥ मुझे०
काल भी लाऊँ महँगी लाऊँ, और बुलाऊँ रोग।
पानी उलटा कर बरसाऊँ, छाऊँ जग में सोग॥ मुझे०
फूट वैर औ कलह बुलाऊँ, ल्याऊँ सुस्ती जोर।
घर-घर में आलस फैलाऊँ, छाऊँ दुख घनघोर॥ मुझे०
काफिर काला नीच पुकारूँ, तोड़ूँ पैर औ हाथ।
दूँ इनको संतोष खुशामद, कायरता भी साथ॥ मुझे०

* क्रूर, आधा क्रिस्तानी आधा मुसल्मानी वेष, हाथ में नंगी तलवार लिए।

मरी बुलाऊँ देस उजाड़ूँ, महँगा करके अन्न।
सबके ऊपर टिकस लगाऊँ, धन है मुझको धन्न॥
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी॥

(नाचता है)

अब भारत कहाँ जाता है, ले लिया है। एक तस्सा बाकी है, अब की हाथ में वह भी साफ है! भला हमारे बिना और ऐसा कौन कर सकता है कि अँगरेजी अमलदारी में भी हिंदू न सुधरें! लिया भी तो अँगरेजों से औगुन! हहाहा! कुछ पढ़े-लिखे मिलकर देश सुधारा चाहते हैं! हहा हाहा! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे। ऐसे लोगों को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना बड़ा मेडल और खिताब दो। हैं! हमारी पालिसी के विरुद्ध उद्योग करते हैं, मूर्ख! यह क्यों? मैं अपनी फौज ही भेजके न सब चौपट करता हूँ। (नेपथ्य की ओर देखकर) अरे कोई है? सत्यानाश फौजदार को तो भेजो।

(नेपथ्य में से "जो आज्ञा" का शब्द सुन पड़ता है)

देखो मैं क्या करता हूँ। किधर-किधर भागेंगे।

(सत्यानाश फौजदार आते हैं)

(नाचता हुआ)

सत्या०फौ०-हमारा नाम है सत्यानास। आए हैं राजा के हम पास॥

धरके हम लाखों ही भेस। किया चौपट यह सारा देस॥
वहुत हमने फैलाए धर्म्म। बढ़ाया छुआछूत का कर्म्म॥
होके जयचंद हमने इक वार। खोल ही दिया हिंद का द्वार॥
हलाकू चंगेजी तैमूर। हमारे अदना अदना सूर॥
दुरानी अहमद नादिरसाह। फौज के मेरे तुच्छ सिपाह॥
हैं हममें तीनो कल बल छल। इसी से कुछ नहिं सकती चल॥
पिलावैंगे हम खूब शराब। करैंगे सबको आज खराब॥

भारतदु०—अहा सत्यानाशजी आए। आओ, देखो अभी फौज को हुक्म दो कि सब लोग मिलके चारों ओर से हिंदुस्तान को घेर लें। जो पहिले से घेरे हैं उनके सिवा औरों को भी आज्ञा दो कि बढ़ चलें।

सत्या० फौ०—महाराज! "इंद्रजीत सन जो कछु भाखा, सो सब जनु पहिलहिं करि राखा।" जिनको आज्ञा हो चुकी है वे तो अपना काम कर ही चुके और जिसको जो हुक्म हो, कह दिया जाय।

भारतदु०—किस किसने क्या क्या किया है?

सत्या० फौ०—महाराज! धर्म्म ने सबके पहिले सेवा की।
रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाए।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए॥
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान पान संबंध सबन सों बरजि छुड़ायो॥

जन्मपत्र विधि मिले व्याह नहिं होन देत अब।
बालकपन में व्याहि प्रीति-बल नास कियो सब॥
करि कुलीन के बहुत व्याह बल बीरज मारयौ।
विधवा-व्याह निषेध कियो विभिचार प्रचारयौ॥
रोकि विलायत-गमन कूपमंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो॥
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर सौं सब विमुख किए हिंदू घबराई॥

भारतदु०—आहा! हाहा! शाबाश! शाबाश! हाँ, और भी कुछ धर्म्म ने किया?

सत्या० फौ०—हाँ महाराज।

अपरस सोल्हा छूत रचि, भोजन-प्रीति छुड़ाय।
किए तीन तेरह सबै, चौका चौका लाय॥

भारतदु०—और भी कुछ?

सत्या० फौ०—हाँ,

रचिकै मत वेदांत को, सबको ब्रह्म बनाय।
हिंदुन पुरुषोत्तम कियो, तोरि हाथ अरु पाय॥

महाराज, वेदांत ने बड़ा ही उपकार किया। सब हिंदू ब्रह्म हो गए। किसी को इतिकर्त्तव्यता बाकी ही न रही। ज्ञानी बनकर ईश्वर से विमुख हुए, रुक्ष हुए, अभिमानी हुए और इसी से स्नेहशून्य हो गए। जब

स्नेह ही नहीं तब देशोद्धार का प्रयत्न कहाँ ? बस, जय शंकर की।

भारतदु०—अच्छा, और किसने-किसने क्या किया ?

सत्या० फौ०—महाराज, फिर संतोष ने भी बड़ा काम किया। राजाप्रजा सबको अपना चेला बना लिया। अब हिंदुओं को खाने मात्र से काम, देश से कुछ काम नहीं। राज न रहा, पेनशन ही सही। रोजगार न रहा, सूद ही सही। वह भी नहीं, तो घर ही का सही, 'संतोषं परमं सुखं', रोटी ही को सराह-सराह के खाते हैं। उद्यम की ओर देखते ही नहीं। निरुद्यमता ने भी संतोष को बड़ी सहायता दी। इन दोनों को बहादुरी का मेडल जरूर मिले। व्यापार को इन्हीं ने मार गिराया।

भारतदु०—और किसने क्या किया ?

सत्या० फौ०—फिर महाराज जो धन की सेना बची थी उसको जीतने को भी मैंने बड़े बाँके वीर भेजे। अपव्यय, अदालत, फैशन और सिफारिश इन चारों ने सारी दुशमन की फौज तितिर बितिर कर दी। अपव्यय ने खूब लुट मचाई। अदालत ने भी अच्छे हाथ साफ किए। फैशन ने तो बिल और टोटल के इतने गोले मारे कि अंटाधार कर दिया और सिफारिश ने भी खूब ही छकाया। पूरब से पच्छिम और पच्छिम से पूरब तक पीछा करके खूब भगाया। तुहफे, घूस, और चंदे के ऐसे बम के गोले

चलाए कि "बम बोल गई बाबा की चारों दिसा" धूम निकल पड़ो। मोटा भाई बना-बनाकर मूँड़ लिया। एक तो खुद ही यह सब पँड़िया के ताऊ, उस पर चुटकी बजी, खुशामद हुई, डर दिखाया गया, बराबरी का झगड़ा उठा, धायँ धायँ गिनी गई*, वर्णमाला कंठ कराई †, बस हाथी के खाए कैथ हो गए। धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र के पार ही शरण मिली।

भारतदु०—और भला कुछ लोग छिपाकर भी दुशमनों की ओर भेजे थे ?

सत्या० फौ०—हाँ, सुनिए। फूट, डाह, लोभ, भय, उपेक्षा, स्वार्थपरता, पक्षपात, हठ, शोक, अश्रुमार्जन और निर्बलता इन एक दरजन दूती और दूतों को शत्रुओं की फौज में हिला-मिलाकर ऐसा पंचामृत बनाया कि सारे शत्रु बिना मारे घंटा पर के गरुड़ हो गए। फिर अंत में भिन्नता गई। इसने ऐसा सबको काई की तरह फाड़ा कि भाषा, धर्म्म, चाल, व्यवहार, खाना, पीना सब एक-एक योजन पर अलग-अलग कर दिया। अब आवें बचा ऐक्य ! देखें आ ही के क्या करते हैं !

भारतदु०—भला भारत का शस्य नामक फौजदार अभी जीता है कि मर गया ? उसकी पलटन कैसी है ?

---

* सलामी मिली।

† सी० आई० ई० आदि उपाधियाँ मिलीं।

सत्या० फौ०—महाराज! उसका बल तो आपकी अतिवृष्टि और अनावृष्टि नामक फौजों ने बिलकुल तोड़ दिया। लाही, कीड़े, टिड्डी और पाला इत्यादि सिपाहियों ने खूब ही सहायता की : बीच में नील ने भी नील बनकर अच्छा लंकादहन किया।

भारतदु०—वाह! वाह! बड़े आनंद की बात सुनाई। तो अच्छा तुम जाओ। कुछ परवाह नहीं, अब ले लिया है। बाकी साकी अभी सपराए डालता हूँ। अब भारत कहाँ जाता है। तुम होशियार रहना और रोग, महर्घ, कर, मद्य, आलस और अंधकार को जरा क्रम से मेरे पास भेज दो।

सत्या० फौ०—जो आज्ञा। [जाता है

भारतदु०—अब उसको कहीं शरण न मिलेगी। धन, बल और विद्या तीनों गई। अब किसके बल कूदेगा?

(जवनिका गिरती है)

चौथा अंक

(कमरा अंगरेजी सजा हुआ, मेज, कुरसी लगी हुई।
कुरसी पर भारतदुर्दैव बैठा है)

(रोग का प्रवेश)

रोग—(गाता हुआ) जगत सब मानत मेरी आन।
मेरी ही टट्टी रचि खेलत नित सिकार भगवान॥
मृत्यु कलंक मिटावत मैं ही मो सम और न आन।
परम पिता हमहीं वैद्यन के अत्तारन के प्रान॥

मेरा प्रभाव जगतविदित है। कुपथ्य का मित्र और पथ्य का शत्रु मैं ही हूँ। त्रैलोक्य में ऐसा कौन है जिस पर मेरा प्रभुत्व नहीं। नजर, श्राप, भूत, प्रेत, टोना, टनमन, देवी-देवता, सब मेरे ही नामांतर हैं। मेरी ही बदौलत ओझा, दरसनिए, सयाने, पंडित, सिद्ध लोगों को ठगते हैं। (आतंक से) भला मेरे प्रबल प्रताप को ऐसा कौन है जो निवारण करे। हह! चुंगी की कमेटी सफाई करके मेरा निवारण करना चाहती है, यह नहीं जानती कि जितनी सड़क चौड़ी होगी उतने ही हम भी "जस जस सुरसा बदन बढ़ावा, तासु दुगुन कपि रूप दिखावा"। (भारतदुर्दैव को देखकर) महाराज! क्या आज्ञा है ?

भारतदु०—आज्ञा क्या है, भारत को चारों ओर से घेर लो।

रोग—महाराज! भारत तो अब मेरे प्रवेश-मात्र से मर जायगा। घेरने का कौन काम है? धन्वंतरि और काशिराज दिवोदास का अब समय नहीं है और न सुश्रुत-वाग्भट्ट-चरक ही हैं। बैदगी अब केवल जीविका के हेतु बची है। काल के बल से औषधों के गुणों और लोगों की प्रकृति में भी भेद पड़ गया। बस अब हमें कौन जीतेगा और फिर हम ऐसी सेना भेजेंगे जिनका भारतवासियों ने कभी नाम तो सुना ही न होगा; तब भला वे उसका प्रतिकार क्या करेंगे! हम भेजेंगे विस्फोटक, हैजा, डेंगू, अपाप्लेक्सी। भला इनको हिंदू लोग क्या रोकेंगे? ये किधर से चढ़ाई करते हैं और कैसे लड़ते हैं जानेंगे तो हई नहीं, फिर छुट्टी हुई। वरंच महाराज, इन्हीं से मारे जायँगे और इन्हीं को देवता करके पूजेंगे, यहाँ तक कि मेरे शत्रु डाक्टर और विद्वान् इसी विस्फोटक के नाश का उपाय टीका लगाना इत्यादि कहेंगे तो भी ये सब उसको शीतला के डर से न मानेंगे और उपाय आछत अपने हाथ अपने प्यारे बच्चों की जान लेंगे।

भारतदु०—तो अच्छा तुम जाओ। महर्घ और टिकस भी यहाँ आते होंगे सो उनको साथ लिए जाओ। अतिवृष्टि, अना-वृष्टि की सेना भी वहाँ जा चुकी है। अनैक्य और अंध-

कार की सहायता से तुम्हें कोई भी रोक न सकेगा। यह लो पान का बीड़ा लो। (बीड़ा देता है)

(रोग बीड़ा लेकर प्रणाम करके जाता है)

भारतदु०—बस, अब कुछ चिंता नहीं, चारों ओर से तो मेरी सेना ने उसको घेर लिया, अब कहाँ बच सकता है।

(आलस्य * का प्रवेश)

आलस्य—हहा ! एक पोस्ती ने कहा, पोस्ती ने पी पोस्त नौ दिन चले अढ़ाई कोस। दूसरे ने जवाब दिया, अबे वह पोस्ती न होगा डाक का हरकारा होगा। पोस्ती ने जब पोस्त पी तो या कूँड़ी के उस पार या इस पार ठीक है। एक बारी में हमारे दो चेले लेटे थे और उसी राह से एक सवार जाता था। पहिले ने पुकारा "भाई सवार सवार, यह पक्का आम टपककर मेरी छाती पर पड़ा है, जरा मेरे मुँह में तो डाल दो।" सवार ने कहा "अजी तुम बड़े आलसी हो। तुम्हारी छाती पर आम पड़ा है सिर्फ हाथ से उठाकर मुँह में डालने में यह आलस है !" दूसरा बोला "ठीक है साहब, यह बड़ा ही आलसी है। रात भर कुत्ता मेरा मुँह चाटा किया और यह पास ही पड़ा था पर इसने न हाँका।" सच है किस जिंदगी के वास्ते तकलीफ उठाना, मजे में हालमस्त पड़े रहना।

---

* मोटा आदमी जँभाई लेता हुआ धीरे-धीरे आवेगा।

सुख केवल हम में हैं "आलसी पड़े कुएँ में वहीं चैन है।"

(गाता है)

(गज़ल)

दुनियाँ में हाथ-पैर हिलाना नहीं अच्छा।
मर जाना पै उठके कहीं जाना नहीं अच्छा॥
बिस्तर प मिस्ले लोथ पड़े रहना हमेशा।
बंदर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा॥
"रहने दो जमीं पर मुझे आराम यहीं है।"
छेड़ो न नक्शेपा हैं मिटाना नहीं अच्छा॥
उठ करके घर से कौन चले यार के घर तक।
"मौत अच्छी है पर दिल का लगाना नहीं अच्छा॥"
धोती भी पहिने जब कि कोई गैर पिन्हा दे।
उमरा को हाथ-पैर चलाना नहीं अच्छा॥
सिर भारी चीज है इसे तकलीफ हो तो हो।
पर जीभ विचारी को सताना नहीं अच्छा॥
फाकों से मरिए पर न कोई काम कीजिए।
दुनियाँ नहीं अच्छी है जमाना नहीं अच्छा॥
सिजदे से गर बिहिश्त मिले दूर कीजिए।
दोजख ही सही सिर का झुकाना नहीं अच्छा॥
मिल जाय हिंद खाक में हम काहिलों को क्या।
ऐ मीरेफर्श रंज उठाना नहीं अच्छा॥

और क्या। काजीजी दुबले क्यों हैं शहर के अंदेशे से। अरे 'कोउ नृप होउ हमैं का हानी, चेरि छाँड़ि नहिं होउब रानी।' आनंद से जन्म बिताना। 'अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम। दास मलूका कह गए, सब के दाता राम॥' "जो पढ़तव्यं सो मरतव्यं, जो न पढ़तव्यं सो भी मरतव्यं, तब फिर दंतकटाकट किं कर्तव्यं?" भई जात में ब्राह्मण, धर्म में वैरागी, रोजगार में सूद और दिल्लगी में गप सब से अच्छी। घर बैठे जन्म बिताना, न कहीं जाना और न कहीं आना। बस खाना, हगना, मूतना, सोना, बात बनाना, तान मारना और मस्त रहना। अमीर के सिर पर और क्या सुरखाब का पर होता है, जो कोई काम न करे वही अमीर। 'तवंगरी बदिलस्त न बमाल।' दोई तो मस्त हैं या मालमस्त या हालमस्त। (भारतदुर्दैव को देखकर उसके पास जाकर प्रणाम करके) महाराज! मैं सुख से सोया था कि आपकी आज्ञा पहुँची, ज्यों-त्यों कर यहाँ हाजिर हुआ। अब हुक्म?

भारतदु०—तुम्हारे और साथी सब हिंदुस्तान की ओर भेजे गए हैं, तुम भी वहीं जाओ और अपनी जोगनिद्रा से सब को अपने वश में करो।

आलस्य—बहुत अच्छा। (आप ही आप) आह रे बप्पा! अब हिंदुस्तान में जाना पड़ा। तब चलो धीरे-धीरे चलें।

हुक्म न मानेंगे तो लोग कहेंगे "सरबस खाइ भोग करि नाना, समरभूमि भा दुरलभ प्राना।" और करने को दैव आप ही करेगा, हमारा कौन काम है, पर चलें।

(यही सब बुड़बुड़ाता हुआ जाता है)

(मदिरा * आती है)

मदिरा—भगवान् सोम की मैं कन्या हूँ। प्रथम वेदों ने मधु नाम से मुझे आदर दिया। फिर देवताओं की प्रिया होने से मैं सुरा कहलाई और मेरे प्रचार के हेतु श्रौत्रामणि यज्ञ की सृष्टि हुई। स्मृति और पुराणों में भी प्रवृत्ति मेरी नित्य कही गई। तंत्र तो केवल मेरे ही हेतु बने। संसार में चार मत बहुत प्रबल हैं, हिंदू, बौद्ध, मुसलमान और क्रिस्तान। इन चारों में मेरी चार पवित्र प्रतिमूर्ति विराजमान हैं। सोमपान, बीराचमन, शराबुन्तहूरा और बापटैज़िंग वाइन। भला कोई कहे तो इनको अशुद्ध? या जो पशु हैं उन्होंने अशुद्ध कहा ही तो क्या हमारे चाहनेवालों के आगे वे लोग बहुत होंगे तो फी सैकड़े दस होंगे, जगत् में तो हम व्याप्त हैं। हमारे चेले लोग सदा यही कहा करते हैं। और फिर सरकार के राज्य के तो हम एकमात्र भूषण हैं।

दूध सुरा दधिहू सुरा, सुरा अन्न धन धाम।
वेद सुरा ईश्वर सुरा, सुरा स्वर्ग को नाम॥

---

* सांवली सी स्त्री, लाल कपड़ा, सोने का गहना, पैर में घुँघरू।

जाति सुरा विद्या सुरा, विनु मद रहै न कोय।
सुधरी आजादी सुरा, जगत सुरामय होय॥
ब्राह्मण चत्री वैश्य अरु, सैयद सेख पठान।
दै बताइ मोहि कौन जो, करत न मदिरा पान॥
पियत भट्ट के ठट्ट अरु, गुजरातिन के वृंद।
गौतम पियत अनंद सों, पियत अग्र के नंद॥
होटल में मदिरा पियें, चोट लगे नहिं लाज।
लोट लए ठाढ़े रहत, टोटल दैवे काज॥
कोऊ कहत मद नहिं पियैं, तो कछु लिख्यो न जाय।
कोऊ कहत हम मद्यबल, करत वकीली आय॥
मद्यहि के परभाव सों, रचत अनेकन ग्रंथ।
मद्यहि के परकास सों, लखत धरम को पंथ॥
मद पी विधि जग कों करत, पालत हरि करि पान।
मद्यहि पी कै नाश सब, करत शंभु भगवान॥
विष्णु बारुणी पोर्ट पुरु-षोत्तम मद्य मुरारि।
शांपिन शिव गौड़ी गिरिश, ब्रांडी ब्रह्म बिचारि॥
मेरी तो धन बुद्धि बल, कुल लज्जा पति गेह।
माय बाप सुत धर्म्म सब, मदिरा ही न सँदेह॥
सोक-हरन आनँद-करन, उमगावन सब गात।
हरि मैं तपविनु लय करनि, केवल मद्य लखात॥
सरकारहि मंजूर जो, मेरो होत उपाय।
तो सब सों बढ़ि मद्य पै, देती कर बैठाय॥

हमहीं कों या राज की, परम निसानी जान।
कीर्ति-खंभ सी जग गड़ी, जब लों थिर ससि भान ॥
राजमहल के चिन्ह नहिं, मिलिहैं जग इत कोय।
तबहू बोतल टूक बहु, मिलिहैं कीरति होय ॥

हमारी प्रवृत्ति के हेतु कुछ यत्न करने की आवश्यकता नहीं। मनु पुकारते हैं 'प्रवृत्तिरेपा भूतानां' और भागवत में कहा है 'लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्ति जंतोः।' उस पर भी वर्त्तमान समय की सभ्यता की तो मैं मुख्य मूलसूत्र हूँ। पंच विषयेंद्रियों के सुखानुभव मेरे कारण द्विगुणित हो जाते हैं। संगीत-साहित्य की तो एकमात्र जननी हूँ। फिर ऐसा कौन है जो मुझसे विमुख हो ?

(गाती है)

(राग काफी, धनाश्री का मेल, ताल धमार)

मदवा पीले पागल जोबन बीत्यौ जात।
बिनु मद जगत सार कछु नाहीं मान हमारी बात ॥
पी प्याला छक छक आनँद से नितहि साँझ औ प्रात।
झूमत चल डगमगी चाल से मारि लाज को लात ॥
हाथी मच्छड़, सूरज जुगुनू जाके पिये लखात।
ऐसी सिद्धि छोड़ि मन मूरख काहे ठोकर खात ॥

(राजा को देखकर) महाराज ! कहिए क्या हुक्म है ?

भारतदु०—हमने बहुत से अपने वीर हिंदुस्तान में भेजे हैं परंतु मुझको तुमसे जितनी आशा है उतनी और किसी से नहीं है। जरा तुम भी हिंदुस्तान की तरफ जाओ और हिंदुओं से समझो तो।

मदिरा—हिंदुओं के तो मैं मुद्दत से मुँहलगी हूँ, अब आपकी आज्ञा से और भी अपना जाल फैलाऊँगी और छोटे-बड़े सबके गले का हार बन जाऊँगी। [जाती है

(रंगशाला के दीपों में से अनेक बुझा दिए जायँगे)

(अंधकार का प्रवेश)

[आँधी आने की भाँति शब्द सुनाई पड़ता है]

अंधकार—(गाता हुआ स्खलित नृत्य करता है)

(राग काफी)

जै जै कलियुग राज की, जै महामोह महराज की।
अटल छत्र सिर फिरत थाप जग मानत जाके काज की॥
कलह अविद्या मोह मूढ़ता सबै नास के साज की॥

हमारा सृष्टि-संहार-कारक भगवान् तमोगुण जी से जन्म है। चोर उलूक और लंपटों के हम एकमात्र जीवन हैं। पर्वतों की गुहा, शोकितों के नेत्र, मूर्खों के मस्तिष्क और खलों के चित्त में हमारा निवास है। हृदय के और प्रत्यक्ष, चारों नेत्र हमारे प्रताप से बेकाम हो जाते हैं। हमारे दो स्वरूप हैं, एक आध्यात्मिक और एक आधिभौतिक, जो लोक में अज्ञान और अँधेरे के नाम से

प्रसिद्ध हैं। सुनते हैं कि भारतवर्ष में भेजने को मुझे मेरे परम पूज्य मित्र दुर्दैव महाराज ने आज बुलाया है। चलें देखें क्या कहते हैं। (आगे बढ़कर) महाराज की जय हो, कहिए, क्या अनुमति है ?

भारतदु०—आओ मित्र ! तुम्हारे बिना तो सब सूना था। यद्यपि मैंने अपने बहुत से लोग भारतविजय को भेजे हैं पर तुम्हारे बिना सब निर्बल हैं। मुझको तुम्हारा बड़ा भरोसा है, अब तुमको भी वहाँ जाना होगा।

अंध०—आपके काम के वास्ते भारत क्या वस्तु है, कहिए मैं विलायत जाऊँ।

भारतदु०—नहीं, विलायत जाने का अभी समय नहीं, अभी वहाँ त्रेता, द्वापर है।

अंध०—नहीं, मैंने एक बात कही। भला जब तक वहाँ दुष्टा विद्या का प्राबल्य है, मैं वहाँ जाही के क्या करूँगा ! गैस और मैगनीशिया से मेरी प्रतिष्ठा भंग न हो जायगी।

भारतदु०—हाँ, तो तुम हिंदुस्तान में जाओ और जिसमें हमारा हित हो सो करो। बस "बहुत बुझाइ तुमहिं का कहऊँ, परम चतुर मैं जानत अहऊँ।"

अंध०—बहुत अच्छा, मैं चला। बस जाते ही देखिए क्या करता हूँ।

(नेपथ्य में वैतालिक गान और गीत की समाप्ति में क्रम से पूर्ण अंधकार और पटाक्षेप)

निहचै भारत को अब नास ।
जब महराज विमुख उनसों तुम निज मति करी प्रकास ॥
अब कहुँ सरन तिन्हैं नहिं मिलिहै ह्वै है सब बल चूर ।
बुधि विद्या धन धान सबै अब तिनको मिलिहैं धूर ॥
अब नहिं राम धर्म्म अर्जुन नहिं शाक्यसिंह अरु व्यास ।
करिहै कौन पराक्रम इनमें को दैहै अब आस ॥
सेवाजी रनजीतसिंह हू अब नहिं बाकी जौन ।
करिहैं कछू नाम भारत को अब तो सब नृप मौन ॥
वही उदैपुर जैपुर रीवाँ पन्ना आदिक राज ।
परबस भए न सोच सकहिं कछु करि निज बल बेकाज ॥
अँगरेजहु को राज पाइकै रहे कूढ़ के कूढ़ ।
स्वारथ-पर विभिन्न-मति-भूले हिंदू सब ह्वै मूढ़ ॥
जग के देस बढ़त बदि-बदि के सब बाजी जेहि काल ।
ताहू समय रात इनको है ऐसे ये बेहाल ॥
छोटे चित अति भीरु बुद्धि मन चंचल बिगत उछाह ।
उदर-भरन-रत, ईस-बिमुख सब भए प्रजा नरनाह ॥
इनसों कछू आस नहिं ये तो सब विधि बुधि-बल-हीन ।
बिना एकता बुद्धि कला के भए सबहि बिधि दीन ॥
बोझ लादि कै पैर छानि कै निज-सुख करहु प्रहार ।
ये रासभ से कछु नहिं कहिहैं मानहु छमा-अगार ॥

"हित अनहित पशु पंछी जाना" पै ये जानहिं नाहिं।
भूले रहत आपुने रँग में फँसे मूढ़ता माहिं॥
जे न सुनहिं हित, भलो करहिं नहिं तिनसों आसा कौन।
डंका दै निज सैन साजि अब करहु उतै सब गौन॥

(जवनिका गिरती है)

पाँचवाँ अंक

स्थान—किताबखाना

(सात सभ्यों की एक छोटी सी कमेटी; सभापति चक्करदार टोपी पहने, चश्मा लगाए, छड़ी लिए; छः सभ्यों में एक बंगाली, एक महाराष्ट्र, एक अखबार हाथ में लिए एडिटर, एक कवि और दो देशी महाशय)

सभापति—(खड़े होकर) सभ्यगण ! आज की कमेटी का मुख्य उद्देश्य यह है कि भारतदुर्दैव की, सुना है कि, हम लोगों पर चढ़ाई है। इस हेतु आप लोगों को उचित है कि मिलकर ऐसा उपाय सोचिए कि जिससे हम लोग इस भावी आपत्ति से बचें। जहाँ तक हो सके अपने देश की रक्षा करना ही हम लोगों का मुख्य धर्म है। आशा है कि आप सब लोग अपनी-अपनी अनुमति प्रगट करेंगे। (बैठ गए, करतलध्वनि)

बंगाली—(खड़े होकर) सभापति साहब जो बात बोला बहुत ठीक है। इसका पेशतर कि भारतदुर्दैव हम लोगों का शिर पर आ पड़े कोई उसके परिहार का उपाय शोचना अत्यंत आवश्यक है। किंतु प्रश्न एई है जे हम लोग उसका दमन करने शाकता कि हमारा बीर्ज्जोबल के बाहर का बात है। क्यों नहीं शाकता ? अलबत्त

शकैगा, परंतु जो शब लोग एक मत्त होगा। (करतल-ध्वनि) देखो हमारा बंगाल में इसका अनेक उपाय शाधन होते हैं। ब्रिटिश इंडियन असोसिएशन लोग इत्यादि अनेक शभा भी होते हैं। कोई थोड़ा बी बात होता हम लोग मिल के बड़ा गोल करते। गवर्नमेंट तो केवल गोल-माल शे भय खाता। और कोई तरह नहीं शोनता। ओ हुआँ का अखबारवाला सब एक बार ऐसा शोर करता कि गवर्नमेंट को अलबत्त शुनने होता। किंतु हेंयाँ, हम देखते हैं कोई कुछ नहीं बोलता। आज सब आप सभ्य लोग एकत्र हैं, कुछ उपाय इसका अवश्य शोचना चाहिए। (उपवेशन)

प० देशी—(धीरे से) यहीं, मगर जब तक कमेटी में हैं तभी तक। बाहर निकले कि फिर कुछ नहीं!

दू० देशी—(धीरे से) क्यों भाई साहब, इस कमेटी में आने से कमिश्नर हमारा नाम तो दरबार से खारिज न कर देंगे?

एडिटर—(खड़े होकर) हम अपने प्राणपण से भारतदुर्दैव को हटाने को तैयार हैं। हमने पहिले भी इस विषय में एक बार अपने पत्र में लिखा था परंतु यहाँ तो कोई सुनता ही नहीं। अब जब सिर पर आफत आई तो आप लोग उपाय सोचने लगे। भला अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है जो कुछ सोचना हो जल्द सोचिए। (उपवेशन

कवि—(खड़े होकर) मुहम्मदशाह से भाँड़ों ने दुश्मन की फौज से बचने का एक बहुत उत्तम उपाय कहा था। उन्होंने बतलाया कि नादिरशाह के मुकाबले में फौज न भेजी जाय। जमना-किनारे कनात खड़ी कर दी जायँ, कुछ लोग चूड़ी पहिने कनात के पीछे खड़े रहें। जब फौज इस पार उतरने लगे, कनात के बाहर हाथ निकाल कर उँगली चमकाकर कहें "मुए इधर न आइयो इधर जनाने हैं" बस सब दुश्मन हट जायँगे। यही उपाय भारतदुर्दैव से बचने को क्यों न किया जाय?

बंगाली—(खड़े होकर) अलबत्त, यह भी एक उपाय है किंतु असभ्यगण आकर जो स्त्री लोगों का बिचार न करके सहसा कनात को आक्रमण करेगा तो? (उपवेशन)

एडि०—(खड़े होकर) हमने एक दूसरा उपाय सोचा है, एडूकेशन की एक सेना बनाई जाय। कमेटी की फौज। अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले मारे जायँ। आप लोग क्या कहते हैं? (उपवेशन)

दू० देशी—मगर जो हाकिम लोग इससे नाराज हों तो? (उपवेशन)

बंगाली—हाकिम लोग काहे को नाराज होगा। हम लोग शदा चाहता कि अँगरेजों का राज्य उत्सन्न न हो, हम लोग केवल अपना बचाव करता। (उपवेशन)

महा०—परंतु इसके पूर्व्व यह होना अवश्य है कि गुप्त रीति से यह बात जाननी कि हाकिम लोग भारतदुर्दैव की सैन्य से मिल तो नहीं जायँगे।

दू० देशी—इस बात पर बहस करना ठीक नहीं। नाहक कहीं लेने के देने न पड़ें, अपना काम देखिए। (उपवेशन और आप ही आप) हाँ. नहीं तो अभी कल ही झाड़बाजी होय।

महा०—तो सार्व्वजनिक सभा का स्थापन करना। कपड़ा बीनने की कल मँगानी। हिंदुस्तानी कपड़ा पहिनना। यह भी सब उपाय हैं।

दू० देशी—(धीरे से) बनात छोड़कर गजी पहिरेंगे, हें हें।

एडि०—परंतु अब समय थोड़ा है जल्दी उपाय सोचना चाहिए।

कवि—अच्छा तो एक उपाय यह सोचो कि सब हिंदू मात्र अपना फैशन छोड़कर कोट-पतलून इत्यादि पहिरें जिस में जब दुर्दैव की फौज आवे तो हम लोगों को योरोपियन जानकर छोड़ दे।

प० देशी—पर रंग गोरा कहाँ से लावेंगे?

बंगाली—हमारा देश में भारतउद्धार नामक एक नाटक बना है। उसमें अँगरेजों को निकाल देने का जो उपाय लिखा, सोई हम लोग दुर्दैव का वास्ते काहे न अवलंबन करें। ओ लिखता पाँच जन बंगाली मिल के अँगरेजों को निकाल देगा। उसमें एक तो पिशान लेकर स्वेज का नहर पाट

देगा। दूसरा बाँस काट-काट के पिवरी नामक जलयंत्र विशेष बनावेगा। तीसरा उस जलयंत्र से अँगरेजों की आँख में धूर और पानी डालेगा।

महा०—नहीं नहीं, इस व्यर्थ की बात से क्या होना है। ऐसा उपाय करना जिससे फलसिद्धि हो।

प० देशी—(आप ही आप) हाय! यह कोई नहीं कहता कि सब लोग मिलकर एक-चित्त हो विद्या की उन्नति करो, कला सीखो, जिससे वास्तविक कुछ उन्नति हो। क्रमशः सब कुछ हो जायगा।

एडि०—आप लोग नाहक इतना सोच करते हैं, हम ऐसे-ऐसे आर्टिकिल लिखेंगे कि उसके देखते ही दुर्दैव भागेगा।

कवि—और हम ऐसी ही ऐसी कविता करेंगे।

प० देशी—पर उनके पढ़ने का और समझने का अभी संस्कार किसको है?

(नेपथ्य में से)

भागना मत, अभी मैं आती हूँ।

(सब डरके चौकन्ने से होकर इधर-उधर देखते हैं)

दू० देशी—(बहुत डरकर) बाबा रे, जब हम कमेटी में चले थे तब पहिले ही छींक हुई थी। अब क्या करें। (टेबुल के नीचे छिपने का उद्योग करता है)

(डिसलायलटी* का प्रवेश)

सभापति—(आगे से ले आकर बड़े शिष्टाचार से) आप क्यों यहाँ तशरीफ लाई हैं? कुछ हम लोग सर्कार के विरुद्ध किसी प्रकार की सम्मति करने को नहीं एकत्र हुए हैं। हम लोग अपने देश की भलाई करने को एकत्र हुए हैं।

डिसलायलटी—नहीं, नहीं, तुम सब सर्कार के विरुद्ध एकत्र हुए हो, हम तुमको पकड़ेंगे।

बंगाली—(आगे बढ़कर क्रोध से) काहे को पकड़ेगा, कानून कोई वस्तु नहीं है। सर्कार के विरुद्ध कौन बात हम लोग बोला? व्यर्थ का विभीषिका!

डिस०—हम क्या करें, गवर्नमेंट की पालिसी यही है। कवि-वचनसुधा नामक पत्र में गवर्नमेंट के विरुद्ध कौन बात थी? फिर क्यों उसके पकड़ने को हम भेजे गए? हम लाचार हैं!

दू० देशी—(टेबुल के नीचे से रोकर) हम नहीं, हम नहीं, हम तमाशा देखने आए थे।

महा०—हाय-हाय! यहाँ के लोग बड़े भीरु और कापुरुष हैं। इसमें भय की कौन बात है! कानूनी है।

सभा०—तो पकड़ने का आपको किस कानून से अधिकार है?

* पुलिस की वर्दी पहिने।

डिस०—इँगलिश पालिसी नामक ऐक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से।

महा०—परंतु तुम?

दू० देशी—(रोकर) हाय-हाय! भटवा तुम कहता है अब मरे।

महा०—पकड़ नहीं सकतीं, हमको भी दो हाथ दो पैर हैं। चलो हम लोग तुम्हारे संग चलते हैं, सवाल-जवाब करेंगे।

बंगाली—हाँ चलो, ओ का बात—पकड़ने नहीं शेकता।

सभा०—(स्वगत) चेयरमैन होने से पहिले हमी को उत्तर देना पड़ेगा, इसी से किसी बात में हम अगुआ नहीं होते।

डिस०—अच्छा चलो। (सब चलने की चेष्टा करते हैं)

(जवनिका गिरती है)

छठा अंक

स्थान—गंभीर वन का मध्यभाग

(भारत एक वृक्ष के नीचे अचेत पड़ा है)

(भारतभाग्य का प्रवेश)

भारतभाग्य—(गाता हुआ—राग चैती गौरी)

जागो जागो रे भाई !
सोअत निसि बैस गँवाई । जागो जागो रे भाई ॥
निसि की कौन कहै दिन बीत्यो काल राति चलि आई ।
देखि परत नहिं हित-अनहित कछु परे बैरि-बस जाई ॥
निज उद्धार पंथ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई ।
अबहूँ चेति, पकरि राखो किन जो कछु बची बड़ाई ॥
फिर पछिताए कछु नहिं ह्वैहै रहि जैहौ मुँह बाई ।
जागो जागो रे भाई ॥

(भारत को जगाता है और भारत जब नहीं जागता तब अनेक यत्न से फिर जगाता है, अंत में हारकर उदास होकर)

हाय ! भारत को आज क्या हो गया है ? क्या निस्संदेह परमेश्वर इससे ऐसा ही रूठा है ? हाय क्या अब भारत के फिर वे दिन न आवेंगे ? हाय यह वही भारत है जो किसी समय सारी पृथ्वी का शिरोमणि गिना जाता था ?

भारत के भुज-बल जग रच्छित।
भारत विद्या लहि जग सिच्छित॥
भारत तेज जगत विस्तारा।
भारत भय कंपत संसारा॥
जाके तनिकहिं भौंह हिलाए।
थर-थर कंपत नृप डरपाए॥
जाके जय की उज्जल गाथा।
गावत सब महि मंगल साथा॥
भारत किरिन जगत उँजियारा।
भारत जीव जिअत संसारा॥
भारत वेद कथा इतिहासा।
भारत वेद प्रथा परकासा॥
फिनिक मिसिर सीरीय युनाना।
भे पंडित लहि भारत दाना॥
रह्यौ रुधिर जब आरज-सीसा।
ज्वलित अनल समान अवनीसा॥
साहस बल इन सम कोउ नाहीं।
तबै रह्यौ महिमंडल माहीं॥
कहा करी तकसीर तिहारी।
रे विधि रुष्ट याहि की बारी॥
सबै सुखी जग के नर-नारी।
रे विधना भारत हि दुखारी॥

हाय रोम तू अति बड़भागी।
　　बर्बर तोहि नास्यो जय लागी॥
तोड़े कीरति-थंभ अनेकन।
　　ढाहे गढ़ बहु करि प्रण टेकन॥
मंदिर महलनि तोरि गिराए।
　　सबै चिह्न तव धूरि मिलाए॥
कछु न बची तुव भूमि निसानी।
　　सो बरु मेरे मन अति मानी॥
भारत-भाग न जात निहारे।
　　थाप्यो पग ता सीस उघारे॥
तोरयो दुर्गन महल ढहायो।
　　तिनहीं में निज गेह बनायो॥
ते कलंक सब भारत केरे।
　　ठाढ़े अजहूँ लखो घनेरे॥
काशी प्राग अयोध्या नगरी।
　　दीन रूप सम ठाढ़ी सगरी॥
चंडालहु जेहि निरखि घिनाई।
　　रहीं सबै भुव मुँह मसि लाई॥
हाय पंचनद हा पानीपत।
　　अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत॥
हाय चितौर निलज तू भारी।
　　अजहुँ खरो भारतहि मँझारी॥

जा दिन तुव अधिकार नसायो।
सो दिन क्यों नहिं धरनि समायो॥
रह्यो कलंक न भारत नामा।
क्यों रे तू बारानसि धामा॥
सब तजि कै भजि कै दुखभारो।
अजहुँ बसत करि भुव मुख कारो॥
अरे अग्रवन तीरथराजा।
तुमहुँ बचे अबलौं तजि लाजा॥
पापिनि सरजू नाम धराई।
अजहूँ बहत अवधतट जाई॥
तुम में जल नहिं जमुना गंगा।
बढ़हु बेग करि तरल तरंगा॥
धोवहु यह कलंक की रासी।
बोरहु किन झट मथुरा कासी॥
कुस कन्नौज अंग अरु बंगहि।
बोरहु किन निज कठिन तरंगहि॥
बोरहु भारत भूमि सबेरे।
मिटै करक जिय की तब मेरे॥
अहो भयानक भ्राता सागर।
तुम तरंगनिधि अति बल-आगर॥
बोरे बहु गिरि बन अस्थाना।
पै बिसरे भारत हित जाना॥

बढ़हु न वेगि धाइ क्यों भाई।
देहु भरत भुव तुरत डुबाई॥
घेरि छिपावहु बिंध्य हिमालय।
करहु सकल जल भीतर तुम लय॥
धोवहु भारत अपजस पंका।
मेटहु भारतभूमि कलंका॥

हाय! यहीं के लोग किसी काल में जगन्मान्य थे।

जेहि छिन बलभारे हे सबै तेग धारे।
तब सब जग धाई फेरते हे दुहाई॥
जग सिर पग धारे धावते रोस भारे।
बिपुल अवनि जीती पालते राजनीती॥
जग इन बल काँपै देखिकै चंड दापै।
सोइ यह प्रिय मेरे ह्वै रहे आज चेरे॥

ये कृष्ण-बरन जब मधुर तान।
करते अमृतोपम बेद गान॥
तब मोहत सब नर-नारि-वृंद।
सुनि मधुर बरन सज्जित सुछंद॥
जग के सबहीं जन धारि स्वाद।
सुनते इनहीं को बीन नाद॥
इनके गुन होतो सबहि चैन।
इनहीं कुल नारद तानसैन॥

इनहीं के क्रोध किए प्रकास।
सब काँपत भूमंडल अकास॥
इनहीं के हुंकृति शब्द घोर।
गिरि काँपत हे सुनि चारु ओर॥
जब लेत रहे कर में कृपान।
इनहीं कहँ हो जग तृन समान॥
सुनि कै रनबाजन खेत माहिं।
इनहीं कहँ हो जिय संक नाहिं॥

याही भुव महँ होत है, हीरक आम कपास।
इतही हिमगिरि गंगजल, काव्य गीत परकास॥
जाबाली जैमिनि गरग पातंजलि सुकदेव।
रहे भारतहि अंक में, कबहि सबै भुवदेव॥
याही भारत मध्य में, रहे कृष्ण मुनि व्यास।
जिनके भारत गान सों, भारत बदन प्रकास॥
याही भारत में रहे, कपिल सूत दुरवास।
याही भारत में भए, शाक्य सिंह संन्यास॥
याही भारत में गए, मनु भृगु आदिक होय।
तब तिनसों जग में रह्यो, घृना करत नहिं कोय॥
जासु काव्य सों जगत मधि, अब लौं ऊँचो सीस।
जासु राज बल धर्म की, तृषा करहिं अवनीस॥
सोई व्यास अरु राम के, बंस सबै संतान।
ये मेरे भारत भरे, सोइ गुन रूप समान॥

सोई बंश रुधिर वही, सोई मन विश्वास।
वही वासना चित वही, आसय वही बिलास॥
कोटि कोटि ऋषि पुन्य तन, कोटि कोटि अतिसूर।
कोटि कोटि बुध मधुर कवि, मिले यहाँ की धूर॥
सोइ भारत की आजं यह, भई दुरदसा हाय।
कहा करैं कित जायँ नहिं, सूझत कछू उपाय॥

(भारत को फिर उठाने की अनेक चेष्टा करके उपाय निष्फल होने पर रोकर)

हा ! भारतवर्ष को ऐसी मोहनिद्रा ने घेरा है कि अब इस के उठने की आशा नहीं। सच है, जो जान-बूझकर सोता है उसे कौन जगा सकेगा ? हा दैव ! तेरे विचित्र चरित्र हैं, जो कल राज करता था वह आज जूते में टाँका उधार लगवाता है। कल जो हाथी पर सवार फिरते थे आज नंगे पाँव बन-बन की धूली उड़ाते फिरते हैं। कल जिनके घर लड़के-लड़कियों के कोलाहल से कान नहीं दिया जाता था, आज उनका नाम लेवा और पानी देवा कोई नहीं बचा और कल जो घर अन्न धन पूत लक्ष्मी हर तरह से भरे-पूरे थे आज उन घरों में तू ने दिया बालनेवाला भी नहीं छोड़ा।

हा ! जिस भारतवर्ष का सिर व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, पाणिनि, शाक्यसिंह, बाणभट्ट प्रभृति कवियों के नाममात्र से अब भी सारे संसार से ऊँचा है, उस भारत

की यह दुर्दशा ! जिस भारतवर्ष के राजा चंद्रगुप्त और अशोक का शासन रूम-रूस तक माना जाता था, उस भारत की यह दुर्दशा ! जिस भारत में राम, युधिष्ठिर, नल, हरिश्चंद्र, रंतिदेव, शिवि इत्यादि पवित्र चरित्र के लोग हो गए हैं उसकी यह दशा ! हाय, भारत भैया, उठो ! देखो विद्या का सूर्य्य पश्चिम से उदय हुआ चला आता है। अब सोने का समय नहीं है। अँगरेज का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जागोगे। मूर्खों के प्रचंड शासन के दिन गए, अब राजा ने प्रजा का स्वत्व पहिचाना। विद्या की चरचा फैल चली, सबको सब कुछ कहने-सुनने का अधिकार मिला, देश-विदेश से नई-नई विद्या और कारीगरी आई। तुमको उस पर भी वही सीधी बातें, भाँग के गोले, ग्रामगीत, वही बाल्यविवाह, भूत-प्रेत की पूजा, जन्मपत्री की विधि! वही थोड़े में संतोष, गप हाँकने में प्रीति और सत्यानाशी चालें! हाय अब भी भारत की यह दुर्दशा! अरे अब क्या चिता पर सम्हलेगा। भारत भाई! उठो, देखो, अब यह दुःख नहीं सहा जाता, अरे कब तक बेसुध रहोगे? उठो, देखो, तुम्हारी संतानों का नाश हो गया। छिन्न-भिन्न होकर सब नरक की यातना भोगते हैं, उसपर भी नहीं चेतते। हाय! मुझसे तो अब यह दशा नहीं देखी जाती। प्यारे जागो। (जगाकर और नाड़ी देखकर)

हाय इसे तो बड़ा ही ज्वर चढ़ा है! किसी तरह होश में नहीं आता। हा भारत! तेरी क्या दशा हो गई! हे करुणासागर भगवान्, इधर भी दृष्टि कर। हे भगवती राजराजेश्वरी, इसका हाथ पकड़ो। (रोकर) अरे कोई नहीं जो इस समय अवलंब दे। हा! अब मैं जी के क्या करूँगा? जब भारत ऐसा मेरा मित्र इस दुर्दशा में पड़ा है और मैं उसका उद्धार नहीं कर सकता, तो मेरे जीने पर धिक्कार है! जिस भारत का मेरे साथ अब तक इतना संबंध था उसकी ऐसी दशा देखकर भी मैं जीता रहूँ तो बड़ा कृतघ्न हूँ! (रोता है) हा विधाता, तुझे यही करनी थी! (आतंक से) छिः छिः इतना क्लैव्य क्यों? इस समय यह अधीरजपना! बस, अब धैर्य्य! (कमर से कटार निकालकर) भाई भारत! मैं तुम्हारे ऋण से छूटता हूँ! मुझसे वीरों का कर्म्म नहीं हो सकता। इसी से कातर की भाँति प्राण देकर उऋण होता हूँ। (ऊपर हाथ उठाकर) हे सर्व्वांतर्यामी! हे परमेश्वर! जन्म-जन्म मुझे भारत सा भाई मिले! जन्म-जन्म गंगा-यमुना के किनारे मेरा निवास हो!

(भारत का मुँह चूमकर और गले लगाकर)

भैया, मिल लो, अब मैं बिदा होता हूँ। भैया, हाथ क्यों नहीं उठाते? मैं ऐसा बुरा हो गया कि जन्म भर

के वास्ते मैं बिदा होता हूँ तब भी ललककर मुझसे नहीं मिलते। मैं ऐसा ही अभागा हूँ तो ऐसे अभागे जीवन ही से क्या, बस यह लो। (कटार का छाती में आघात और साथ ही जवनिका पतन)

नीलदेवी

गीतिरूपक

संवत् १९३८

'गर्ज गर्ज क्षणं मूढ मधु यावत्पिबाम्यहम्।
मया त्वयि हतेऽत्रैव गर्जिष्यन्त्याशु देवता: ॥'
'त्रैलोक्यमिंद्रो लभतां देवा: सन्तु हविर्भुज:।
यूयं प्रयात पातालं यदि जीवितुमिच्छथ ॥'
'इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदाऽवतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम् ॥'
'स्त्रिय: समस्ता: सकला जगत्सु। त्वयैकया पूरितमंबयैतत्'
—दुर्गापाठ

"For the kiss she gave him was his first and last"
Kiss of dagger, driven to his heart and past.
At her feet he wallowed, choked with wicked blood;
In his breast the katar stood quivered where it stood,
At the hilt his fingers vainly-wildy-try.
Then they stiffen feeble; die! thou slayer die!
From his jewelled scabbard drew she Shureef's sword,
Cut at vain the neck bone of the Muslim Lord,
Underneath, the star-light sooth a sight of dead!
Like the Goddess Kali, comes she with the head.
Comes to where her brothers guard their murdered Chief;
All the camp is silent but the night is brief.
At his feet she flings it, flings her burden vile;
"Suraj! I keep my promise! Brothers! Build the pile."

मातृ-भगिनी-सखी-तुल्या आर्य ललनागण !

आज बड़ा दिन है। क्रिस्तान लोगों को इससे बढ़कर कोई आनंद का दिन नहीं है। किंतु मुझको आज उलटा और दुःख है। इसका कारण मनुष्य-स्वभाव-सुलभ ईर्षा मात्र है। मैं कोई सिद्ध नहीं कि रागद्वेष से विहीन हूँ। जब मुझे अँगरेजी रमणी लोग मेदसिंचित केश-राशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविधवर्ण वसन से भूपित, क्षीण कटिदेश कसे, निज निज पतिगण के साथ, प्रसन्नवदन इधर से उधर फर-फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगी युवती-समूह की भाँति हमारी कुललक्ष्मी-गण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें; किंतु और बातों में जिस भाँति अँगरेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं; अपना स्वत्त्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं,

और इतने समुन्नत मनुष्य-जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोतीं, उसी भाँति हमारी गृहदेवता भी वर्त्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति-पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्त्तमान कुलपरंपरा-मात्र है और कुछ नहीं है। आर्य्य-जन-मात्र को विश्वास है कि हमारे यहाँ सर्व्वदा स्त्रीगण इसी अवस्था में थीं। इस विश्वास के भ्रम को दूर करने ही के हेतु यह ग्रंथ विरचित होकर आप लोगों के कोमल कर-कमलों में समर्पित होता है। निवेदन यही है कि आप लोग इन्हीं पुण्यरूप स्त्रियों के चरित्र को पढ़ें-सुनें, और क्रम से यथाशक्ति अपनी वृद्धि करें।

२५ दिसंबर, १८८१ ग्रंथकर्त्ता।

नीलदेवी

ऐतिहासिक गीतिरूपक

(वियोगांत)

—:❊:—

पहला अंक

स्थान—हिमगिरि का शिखर

(तीन अप्सरा गान करती हुई दिखाई देती हैं)

अप्सरागण—(झिंझौटी जल्द तिताला)

धन धन भारत की छत्रानी।
वीरकन्यका वीरप्रसविनी वीरवधू जग जानी॥
सतीसिरोमनि धरमधुरंधर बुधि-बल-धीरज-खानी।
इनके जस की तिहूँ लोक में अमल धुजा फहरानी॥

सब मिलि गाओ प्रेमबधाई।
यह संसार रतन इक प्रेमहिं और बादि चतुराई॥
प्रेम बिना फीकी सब बातैं कहहु न लाख बनाई।

जोग ध्यान जप तप व्रत पूजा प्रेम विना विनसाई ॥
हाव भाव रस रंग रीति बहु काव्य केलि कुसलाई।
बिना लोन बिंजन सो सबही प्रेम-रहित दरसाई ॥
प्रेमहि सो हरि हू प्रगटत हैं जदपि ब्रह्म जगराई।
तासों यह जग प्रेमसार है और न आन उपाई ॥

दूसरा अंक

स्थान—युद्ध के डेरे खड़े हैं

(एक शामियाने के नीचे अमीर अबदुश्शरीफ खाँ सूर बैठा है और मुसाहिब लोग इर्द-गिर्द बैठे हैं)

शरीफ—(एक मुसाहिब से) अबदुस्समद ! खूब होशियारी से रहना। यहाँ के राजपूत बड़े काफिर हैं। इन कमबख्तों से खुदा बचाए। (दूसरे मुसाहिब से) मलिक सज्जाद ! तुम शब के पहरों का इंतिजाम अपने जिम्मे रखो, ऐसा न हो कि सूरजदेव शबेखून मारे। (काजी से) काजी साहब ! मैं आपसे क्या बयान करूँ, वल्लाही सूरजदेव एक ही बदबला है। इहातए पंजाब में ऐसा बहादुर दूसरा नहीं।

काजी—बेशक हुजूर ! सुना गया है कि वह हमेशा खेमों ही में रहता है। आसमान शामियाना और जमीन ही उसे फर्श है। हजारों राजपूत उसे हर वक्त घेरे रहते हैं।

शरीफ—वल्लाह तुमने सच कहा, अजब बदकिरदार से पाला पड़ा, जान तंग है। किसी तरह यह कमबख्त हाथ आता तो और राजपूत खुद बखुद पस्त हो जाते।

एक मुसाहिब—खुदावंद ! हाथ आना दूर रहा, उसके खौफ से अपने खेमे में रहकर भी खाना-सोना हराम हो रहा है।

शरीफ—कभी उस बेईमान से सामने लड़कर फतह नहीं मिलनी है। मैंने तो अब जी में ठान ली है कि मौका पाकर एक शब उसको सोते हुए गिरफ्तार कर लाना। और अगर खुदा को इस्लाम की रोशनी का जिल्वा हिंदोस्तान जुल्मतनिशान में दिखलाना मंजूर है तो बेशक मेरी मुराद बर आएगी।

काजी—इन्शा अल्लाह तआला।

शरीफ—क़सम है कलामे शरीफ की, मेरी खुराक आगे से इस तफक्कुर में आधी हो गई है। (सब लोगों से) देखो, अब मैं सोने जाता हूँ, तुम सब लोग होशियार रहना।

(गजल)

(उठकर सबकी तरफ देखकर)

इस राजपूत से रहो हुशियार खबरदार।
गफलत न जरा भी हो खबरदार खबरदार ॥
ईमाँ की कसम दुश्मने जानी है हमारा।
काफिर है य पंजाब का सरदार खबरदार ॥
अजदर है भभूका है जहन्नुम है बला है।
बिजली है गजब इसकी है तलवार खबरदार ॥

दरबार में वह तेग शररबार न चमके।
घरबार से बाहर से भी हर बार खबरदार ॥
इस दुश्मने ईमाँ को है धोखे से फँसाना।
लड़ना न मुकाबिल कभी जिनहार खबरदार ॥

[सब जाते हैं

तीसरा अंक

स्थान—पहाड़ की तराई

(राजा सूर्य्यदेव, रानी नीलदेवी और चार राजपूत बैठे हैं)

सूर्य्य०—कहो भाइयो ! इन मुसलमानों ने तो अब बड़ा उपद्रव मचाया है।

प०—तो महाराज! जब तक प्राण है तब तक लड़ेंगे।

दु०—महाराज ! जय-पराजय तो परमेश्वर के हाथ है परंतु हम अपना धर्म्म तो प्राण रहे तक निबाहेंगे ही।

सूर्य्य०—हाँ हाँ, इसमें क्या संदेह है। मेरा कहने का मतलब यह है कि सब लोग सावधान रहें।

ती०—महाराज ! सब सावधान हैं। धर्म्म-युद्ध में तो हमको जीतनेवाला कोई पृथ्वी पर नहीं है।

नीलदेवी—पर सुना है कि ये दुष्ट अधर्म से बहुत लड़ते हैं।

सूर्य्य०—हे प्यारी ! वे अधर्म्म से लड़ें, हम तो अधर्म्म नहीं कर सकते। हम आर्य्यवंशी लोग धर्म छोड़कर लड़ना क्या जानें ? यहाँ तो सामने लड़ना जानते हैं। जीते तो निज भूमि का उद्धार और मरे तो स्वर्ग। हमारे तो दोनों हाथ लड्डू है; और यश तो जीतें तो भी हमारे साथ है और मरें तो भी।

चौथा रा०—महाराज ! इसमें क्या संदेह है, और हम लोगों को एकाएकी अधर्म्म से भी जीतना कुछ दाल-भात का गस्सा नहीं है।

नीलदेवी—तो भी इन दुष्टों से सदा सावधान ही रहना चाहिए। आप लोग सब तरह चतुर हो, मैं इसमें विशेष क्या कहूँ। स्नेह कुछ कहलाए बिना नहीं रहता।

सूर्य्य०—(आदर से) प्यारी ! कुछ चिंता नहीं है, अब तो जो कुछ होगा देखा ही जायगा न। (राजपूतों से)

सावधान सब लोग रहहु सब भाँति सदा हीं।
जागत ही सब रहैं रैन हूँ सोअहिं नाहीं॥
कसे रहैं कटि रात-दिवस सब वीर हमारे।
अस्वपीठ सों होंहिं चारजामें जिनि न्यारे॥
तोड़ा सुलगत चढ़े रहैं घोड़ा बंदूकन।
रहैं खुली ही म्यान प्रतंचे नहिं उतरें छन॥
देखि लेहिंगे कैसे पामर यवन बहादुर।
आवहिं तो चढ़ि सनमुख कायर क्रूर सबै जुर॥
देहैं रन को स्वाद तुरंतहि तिनहिं चखाई।
जो पै इक छन हू सनमुख ह्वै करहिं लराई॥

(जवनिका गिरती है)

———

चौथा अंक

स्थान—सराय

(भठियारी, चपरगट्टू खाँ, और पीकदानअली)

चपर०—क्यों भाई अब आज तो जशन होगा न? आज तो वह हिंदू न लड़ेगा न?

पीक०—मैंने पक्की खबर सुनी है। आज ही तो पुलाव उड़ने का दिन है।

चपर०—भई, मैं तो इसी से तीन-चार दिन दरबार में नहीं गया। सुना वे लोग लड़ने जायँगे। मैंने कहा जान थोड़ी ही भारी पड़ी है। यहाँ तो सदा भागतों के आगे मारतों के पीछे। जबान की तेग कहिए दस हजार हाथ झारूँ।

पीक०—भई, इसी से तो कई दिन से मैं भी खेमों की तर्फ नहीं गया। अभी एक हफ्ता हुआ, मैं उस गाँव में एक खानगी है उसके यहाँ से चला आता था कि पाँच हिंदुओं के सवारों ने मुझे पकड़ लिया और तुरक-तुरक करके लगे चपतियाने। मैंने देखा कि अब तो बेतरह फँसे मगर वल्लाह मैंने भी अपनी कौम और दीन की इतनी मजम्मत और हिंदुओं की इतनी तारीफ की कि उन लोगों

को छोड़ते ही बन आई। ले ऐसे मौके पर और क्या करता ? मुसलमानी के पीछे अपनी जान देता ?

चपर०—हाँ जी, किसकी मुसलमानी और किसका कुफ्र। यहाँ अपने माड़े-हलुए से काम है।

भठि०—तो मियाँ आज जशन में जाना तो देखो मुझको भूल मत जाना। जो कुछ इनआम मिले उसमें से भी कुछ देना। हाँ ! देखो मैंने कई दिन खिदमत की है।

पीक०—जरूर-जरूर जान छल्ला। यह कौन बात है। तुम्हारे ही वास्ते तो जी पर खेलकर यहाँ उतरे हैं। (चपरगट्टू से कान में) यह सुनिए, जान झोंकें हम माल चाभें वी भठियारी। यह नहीं जानतीं कि यहाँ इनकी ऐसी-ऐसी हजारों चराकर छोड़ दी हैं।

चपर०—(धीरे से) अजी कहने दो, कहने से कुछ दिए ही थोड़े देते हैं। भठियारी हो चाहे रंडी, आज तक तो किसी को कुछ दिया नहीं है, उलटा इन्हीं लोगों का खा गए हैं। (भठियारी से) वाह जान साहिब ! तुम जब माँगोगी तब देंगे। रुपया-पैसा कौन चीज है, जान तक हाजिर है। जब कहो गरदन काटकर सामने रख दूँ। (खूब घूरता है)

भठि०—(आँखें नचाकर) तो मैं भी तो मियाँ की खिदमत से किसी तरह बाहर नहीं हूँ।

(दोनों गाते हैं)

पिकदानो चपरगट्टू है बस नाम हमारा।
इक मुफ्त का खाना है सदा काम हमारा॥
उमरा जो कहें रात तो हम चाँद दिखा दें।
रहता है सिफारिश से भरा जाम हमारा॥
कपड़ा किसी का खाना कहीं सोना किसी जा।
गैरों ही से है सारा सरंजाम हमारा॥
हो रंज जहाँ पास न जाएँ कभी उसके।
आराम जहाँ हो है वहाँ काम हमारा॥
जर दीन है कुरआन है ईमाँ है नबी है।
जर ही मेरा अल्लाह है जर राम हमारा॥

भठि०—ले मैं तो मियाँ के वास्ते खाना बनाने जाती हूँ।

पीक०—तो चलो भाई हम लोग भी तब तक जरा 'रहे लाखों बरस साकी तेरा आबाद मैखाना'।

चपर०—चलो।

(जवनिका गिरती है)

पाँचवाँ अंक

स्थान—सूर्य्यदेव के डेरे का बाहरी प्रांत

[रात्रि-समय देवासिंह सिपाही पहरा देता हुआ घूमता

(नेपथ्य में गान)

(राग कलिंगड़ा)

सोओ सुख-निंदिया प्यारे ललन।
नैनन के तारे दुलारे मेरे वारे,
सोओ सुख-निंदिया प्यारे ललन।
भई आधी रात बन सनसनात,
पथ पंछी कोउ आवत न जात,
जग प्रकृति भई मनु थिर लखात,
पातहु नहिं पावत तरुन हलन॥
झलमलत दीप सिर धुनत आय,
मनु प्रिय पतंग हित करत हाय,
सतरात अंग आलस जनाय,
सन-सन लगी सीरी पवन चलन।
सोए जग के सब नींद घोर,
जागत कामी चिंतित चकोर,
बिरहिन बिरही पाहरु चोर,
इन कहँ छन रैन हूँ हाय कल न॥

सिपाही—बरसों घर छूटे हुए। देखें कब इन दुष्टों का मुँह काला होता है। महाराज घर फिरकर चलें तो देस फिर से बसे। रामू की माँ को देखे कितने दिन हुए। बच्चों की तो खबर तक नहीं मिली। (चौंककर ऊँचे स्वर से) कौन है? खबरदार जो किसी ने झूठमूट भी इधर देखने का विचार किया। (साधारण स्वर से) हाँ—कोई यह न जाने कि देवासिंह इस समय जोरू-लड़कों की याद करता है इससे भूला है। क्षत्री का लड़का है। घर की याद आवे तो और प्राण छोड़कर लड़े। (पुकारकर) खबरदार। जागते रहना।

(इधर-उधर फिरकर एक जगह बैठकर गाता है)

(कलिंगड़ा)

प्यारी बिन कटत न कारी रैन।
पल छिन न परत जिय हाय चैन॥
तन पीर बड़ी सब छुट्यो धीर,
कहि आवत नहिं कछु मुखहु बैन।
जिय तड़फड़ात सब जरत गात,
टप टप टपकत दुख भरे नैन॥
परदेस परे तजि देस हाय,
दुख मेटनहारो कोउ है न।
सजि बिरह सैन यह जगत जैन,

मारत मरोरि मोहि पापी मैन ॥
प्यारी बिन कटत न कारी रैन।

(नेपथ्य में कोलाहल)

कौन है ! यह कैसा शब्द आता है ! खबरदार।

(नेपथ्य में विशेष कोलाहल)

(घबड़ाकर) हैं ! यह क्या है ? अरे क्यों एक साथ इतना कोलाहल हो रहा है। बीरसिंह ! बीरसिंह ! जागो। गोविंदसिंह दौड़ो !

(नेपथ्य में बड़ा कोलाहल और मार-मार का शब्द। शस्त्र खींचे हुए अनेक यवनों का प्रवेश। अल्ला अकबर का शब्द। देवासिंह का युद्ध और पतन। यवनों का डेरे में प्रवेश।)

(जवनिका गिरती है)

छठा अंक

स्थान—अमीर का खेमा

(मसनद पर अमीर अबदुश्शरीफखाँ सूर बैठा है, इधर-उधर मुसलमान लोग हथियार बाँधे मोछ पर ताव देते बड़ी शान से बैठे हैं।)

अमीर—अलहमदुलिल्लाह ! इस कम्बख्त काफिर को तो किसी तरह गिरफ्तार किया। अब बाकी फौज भी फतह हो जायगी।

एक सर्दार—ऐ हुजूर ! जब राजा ही कैद हो गया तो फौज क्या चीज है। खुदा और रसूल के हुक्म से इसलाम की हर जगह फतह है। हिंदू हैं क्या चीज। एक तो खुदा की मार दूसरे बेवकूफ आनन्-फानन् में सब जहन्नुम रसीद होंगे।

दू० सर्दार—खुदावंद ! इसलाम के आफताब के आगे कुफ्र की तारीकी कभी ठहर सकती है ? हुजूर अच्छी तरह से यकीन रक्खें कि एक दिन ऐसा आवेगा जब तमाम दुनिया में ईमान का जिल्वा होगा। कुफ्फार सब दाखिले-दोजख होंगे और पयगम्बरे आखिरूल जमाँ सल्लल्लाह अल्लेहुसल्लम का दीन तमाम रुए जमीन पर फैल जायगा।

अमीर—आमीं आमीं।

काजी—मगर मेरी राय है कि और गुफ्तगू के पेश्तर शुकरिया अदा किया जाय, क्योंकि जिस हकतआला की मिहरबानी से यह फतह हासिल हुई है सबके पहले उस खुदा का शुक्र अदा करना जरूर है।

सब—बेशक, बेशक।

(काजी उठकर सबके आगे घुटने के बल झुकता है और फिर अमीर आदि भी उसके साथ झुकते हैं)

काजी—(हाथ उठाकर) काफिर प मुसल्माँ को फतहयाब बनाया।

सब—(हाथ उठाकर) अलहम्द् उल्लिल्लाह।

काजी—की मेह्र बड़ी तूने य बस मेरे खुदा या।

सब—अलहम्द् उल्लिल्लाह।

काजी—सदके में नबी सैयदे मक्की मुदनी के, अतफाले अली के, असहाब के, लश्कर मेरा दुश्मन से बचाया।

सब—अलहम्द् उल्लिल्लाह।

काजी—खाली किया इक आन में दैरों को सनम से, शमशीर दिखाके, बुतखान: गिरा करके हरम तू ने बनाया।

सब—अलहम्द् उल्लिल्लाह।

काजी—इस हिंद से सब दूर हुई कुफ्र की जुल्मत, की तूने व रहमत, नक्कारए ईमाँ को हरेक सिम्त बजाया।

सब—अलहम्द् उल्लिल्लाह।

काजी—गिरकर न उठे काफिरे बदकार जमीं से, ऐसे हुए गारत। आमीं कहो—।

सब—आमीं।

काजी—मेरे महबूब खुदाया।

सब—अलहम्द् उल्लिल्लाह।

(जवनिका गिरती है)

सातवाँ अंक

स्थान—कैदखाना

(महाराज सूर्य्यदेव एक लोहे के पिंजड़े में मूर्छित पड़े हैं। एक देवता सामने खड़ा होकर गाता है)

देवता—

(लावनी)

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा।
अब तजहु वीर-बर भारत की सब आसा॥
अब सुख सूरज को उदय नहीं इत ह्वैहै।
सो दिन फिर इत अब सपनेहूँ नहि ऐहै॥
स्वाधीनपनो बल धीरज सबहि नसैहै।
मंगलमय भारत भुव मसान ह्वै जैहै॥
दुख ही दुख करिहै चारहु ओर प्रकासा।
अब तजहु वीर-बर भारत की सब आसा॥
इत कलह विरोध सबन के हिय घर करिहै।
मूरखता को तम चारहु ओर पसरिहै॥
वीरता एकता ममता दूर सिधरिहै।
तजि उद्यम सब ही दासवृत्ति अनुसरिहै॥
ह्वै जैहैं चारहु बरन शूद्र बनि दासा।
अब तजहु वीर-बर भारत की सब आसा॥

ह्वैहैं इतके सब भूत पिशाच उपासी।
कोऊ बनि जैहैं आपुहि स्वयं प्रकासी॥
नसि जैहैं सगरे सत्य धर्म अविनासी।
निज हरि सों ह्वैहैं विमुख भरत भुववासी॥
तजि सुपथ सबहि जन करिहैं कुपथ विलासा।
अब तजहु बीर-वर भारत की सब आसा॥
अपनी वस्तुन कहँ लखिहैं सबहि पराई।
निज चाल छोड़ि गहिहैं औरन की धाई॥
तुरकन हित करिहैं हिंदू संग लराई।
यवनन के चरनहिं रहिहैं सीस चढ़ाई॥
तजि निज-कुल करिहैं नीचन संग निवासा।
अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा॥
रहे हमहुँ कबहुँ स्वाधीन आर्य बलधारी।
यह दैहैं जिय सों सब ही बात बिसारी॥
हरि-बिमुख धरम बिनु धन, बलहीन दुखारी।
आलसी मंद तन छीन छुधित संसारी॥
सुख सों सहिहैं सिर यवनपादुका त्रासा।
अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा॥

(जाता है)

सूर्य०—(सिर उठाकर) यह कौन था? इस मरते हुए शरीर पर इसने अमृत और विष दोनों एक साथ क्यों बरसाया? अरे अभी तो यहाँ खड़ा गा रहा था अभी

कहाँ चला गया ? निस्संदेह यह कोई देवता था। नहीं तो इस कठिन पहरे में कौन आ सकता है। ऐसा सुंदर रूप और ऐसा मधुर सुर और किसका हो सकता है। क्या कहता था? 'अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा' ऐं! यह देववाक्य क्या सचमुच सिद्ध होगा ? क्या अब भारत का स्वाधीनता-सूर्य फिर न उदय होगा? क्या हम क्षत्रिय राजकुमारों को भी अब दासवृत्ति करनी पड़ेगी ? हाय! क्या मरते-मरते भी हमको यह वज्र शब्द सुनना पड़ा ? और क्या कहा, 'सुख सों सहिहैं सिर यवनपादुका त्रासा।' हाय! क्या अब यहाँ यही दिन आवेंगे ? क्या भारतजननी अब एक भी वीर पुत्र न प्रसव करेगी ? क्या दैव को अब इस उत्तम भूमि की यही नीच गति करनी है ? हा! मैं यह सुनकर क्यों नहीं मरा कि आर्यकुल की जय हुई और यवन सब भारतव से निकाल दिए गए।

(हाय-हाय करता और रोता हुआ मूर्छित हो जाता है)

(जवनिका गिरती है)

आठवाँ अंक

स्थान—मैदान, वृक्ष

(एक पागल आता है)

पागल—मार मार मार—काट काट काट—ले ले ले—ईबी—सीबी—बीबी—तुरक तुरक तुरक—अरे आया आया आया—भागो भागो भागो। (दौड़ता है) मार मार मार—और मार दे मार—जाय न जाय न—दुष्ट चांडाल गोभक्षी जवन—अरे हाँ रे जवन लाल डाढ़ी का जवन—विना चोटी का जवन—हमारा सत्यानाश कर डाला। हमारा हमारा हमारा। इसी ने इसी ने—लेना, जाने न पावे। दुष्ट म्लेच्छ—हुँ! हम को राजा बनावेगा। छत्र चँवर मुरछल सिंहासन सब—पर जवन का दिया—मार मार मार—शस्त्र न हो तो मंत्र से मार। मार मार मार। ह्रां ह्रीं ह्रूं फट चट पट—जवन पट—षट—छट पट आं ईं ऊँ आकास बाँध पाताल—चोटी कटा निकाल। फः—ह्रां ह्रीं ह्रीं—जवन जवन मारय मारय उच्चाटय उच्चाटय...वेधय वेधय ...नाशय...नाशय...फाँसय फाँसय—त्रासय त्रासय ...स्वाहा फूः सब जवन स्वाहा फूः अब भी नहीं गया ? मार मार मार। हमारा देश—हम राजा हम रानी। हम

मंत्री। हम प्रजा। और कौन? मार मार मार। तलवार तलवार। टूट गई टूटी। टूटी से मार! ढेले से मार। हाथ से मार। मुक्का जूता लात लाठी सोंटा ईंटा पत्थर-पानी सबसे मार। हम राजा हमारा देश हमारा भेस हमारा पेड़-पत्ता कपड़ा-लत्ता छाता-जूता सब हमारा। ले चला ले चला। मार मार मार— जाय न जाय न—सूरज में जाय चंद्रमा में जाय जहाँ जाय तारा में जाय उतारा में जाय पारा में जाय जहाँ जाय वहीं पकड़—मार मार मार। मींयाँ मींयाँ मींयाँ चींयाँ चींयाँ चींयाँ। अल्ला अल्ला अल्ला हल्ला हल्ला हल्ला। मार मार मार। लोहे के नाती की दुम से मार। पहाड़ की स्त्री के दिए से मार—मार मार—अंड का वंड का संड का खंड—धूप छाँह चना मोती अगहन पूस माघ कपड़ा लत्ता डोम चमार मार मार। ईंट की आँख में हाथी का बान—बंदर की थैली में चूने की कमान—मार मार मार— एक एक एक मिल मिल मिल छिप छिप छिप—खुल खुल खुल—मार मार मार—

(एक मियाँ को आता देखकर)

मार मार मार—मुसल मुसल मुसल—मान मान मान—सलाम सलाम सलाम कि मार मार मार—नबी नबी नबी—सबी सबी सबी—ऊँट के अंडे की चरबी का खर। कागज के धप्पे कर सप्पे की सर—मार मार मार।

(मियाँ के पास जाकर)

तुरुक तुरुक तुरुक-घुरुक घुरुक घुरुक—मुरुक मुरुक मुरुक-फुरुक फुरुक फुरुक-याम शाम लीम लाम ढाम—

(मियाँ को पकड़ने दौड़ता है)

मियाँ—(आप ही आप) यह तो बड़ी हत्या लगी। इससे कैसे पिंड छुटेगा। (प्रगट) दूर दूर।

पागल—दूर दूर दूर—चूर चूर चूर—मियाँ की डाढ़ी में दोजख की हूर—दन तड़ाक छू मियाँ की माईं में मोयों की मूँ—मार मार मार—मियाँ छार खार—

(मियाँ के पास जाकर अट्टहास करके

रावण का साला दुर्योधन का भाई अमरूत के पेड़ को पसेरी बनाता है—अच्छा अच्छा—नहीं नहीं तैंने तो हमको उस दिन मारा था न ! हाँ हाँ यही है यही—जाने न पावे। मार मार—

(मियां की गरदन पकड़कर पटक देता है और छाती पर चढ़कर बैठता है)

रावण का साला दिल्ली का नवाब वेद की किताब—बोल हम राजा कि तू राजा—(मियाँ की डाढ़ी पकड़कर खींचने से कृत्रिम डाढ़ी निकल आती है। विष्णुशर्मा को पहिचानकर अलग हो जाता है) रावण का साला मियाँ का भेस विष्णु के कान में शर्मा का केस। मेरी शक्ति

गुरु की भक्ति फुरो मंत्र ईश्वरोवाच डाढ़ी जगावे तो मियाँ साँच।

(आँख से इंगित करता है)

मियाँ—(फिर डाढ़ी लगाकर) लाहौल वला कूवत क्या बेख-बर पागल है। इसके घर के लोग इसके लौटने के मुन-तजिर हैं यह यहीं पड़ा है।

पागल—पड़ा घड़ा सड़ा—घूम घाम जड़ा—एक एक बात—जात सात धात—नास नास नास—घास छास फास।

मियाँ—क्या सचमुच—दरहकीकत—यह बड़ा भारी पागल है।

पागल—सचमुच नास—राजा अकास—ढाल बे ढाल मियाँ मतवाल।

(आँख से दूर जाने को इंगित करता है। मियाँ आगे बढ़ते हैं—यह पीछे धूल फेंकता दौड़ता है)

मार मार मार। बरसा की धार। लेना जाने न पावे। मियाँ का खच्चर। (दोनों एकांत में जाकर खड़े होते हैं)

मियाँ—(चारों ओर देखकर) अरे वसंत! क्या सचमुच सर्वनाश हो गया ?

पागल—पंडितजी! कल सबेरी रात ही महाराज ने प्राण त्याग किए। (रोता है)

मियाँ—हाय! महाराज, हम लोगों को आप किसके भरोसे छोड़ गए! अब हमको इन नीचों का दासत्व भोगना

पड़ेगा! हाय! (चारों ओर देखकर) हाँ, समाचार तो कहो क्या हुआ।

पागल—कल उन दुष्ट यवनों ने महाराज से कहा कि तुम जो मुसलमान हो जाओ तो हम तुमको अब भी छोड़ दें। इस समय वह दुष्ट अमीर भी वहीं खड़ा था। महाराज ने लोहे के पिंजड़े में से उसके मुँह पर थूक दिया, और क्रोध करके कहा कि दुष्ट! हमको पिंजड़े में बंद और परवश जानकर ऐसी बात कहता है। क्षत्री कहीं प्राण के भय से दीनता स्वीकार करते हैं! तुझ पर थू और तेरे मत पर थू।

मियाँ—(घबड़ाकर) तब तब।

पागल—इस पर सब यवन बहुत बिगड़े। चारों ओर से पिंजड़े के भीतर शस्त्र फेंकने लगे। महाराज ने कहा इस बंधन में मरना अच्छा नहीं। बड़े बल से लोहे के पिंजड़े का डंडा खींचकर उखाड़ लिया और पिंजड़े के बाहर निकल उसी लोहे के डंडे से सत्ताईस यवनों को मारकर उन दुष्टों के हाथ से प्राण त्याग किए। हाय! (रोता है)

मियाँ—(चारों ओर देखकर) और अब क्या होता है? महाराज का शरीर कहाँ है? तुमने यह सब कैसे जाना?

पागल—सब इन्हीं दुष्टों के मुख से सुना। इसी भेष में घूमते हैं। महाराज का शरीर अभी पिंजड़े में रक्खा है।

कल जशन होगा। कल सब शराब पीकर मस्त होंगे। (चारों ओर देखकर) कल ही अवसर है।

मियाँ—तो कुमार सोमदेव और महारानी से हम जाकर यह वृत्त कह देते हैं, तुम इन्हीं लोगों में रहना।

पागल—हाँ, हम तो यहीं हई हैं। (रोकर) हम अब स्वामी के विना वहाँ जाकर ही क्या करेंगे !

मियाँ—हाय ! अब भारतवर्ष की कौन गति होगी ? अब त्रैलोक्य-ललाम सुता भारत कमलिनी को यह दुष्ट यवन यथासुख दलन करेंगे। अब स्वाधीनता का सूर्य्य हम लोगों में फिर न प्रकाश करेगा। हाय ! परमेश्वर तू कहाँ सो रहा है। हाय ! धार्मिक वीर पुरुष की यह गति !

(उदास स्वर से गाता है)

(विहाग)

कहाँ करुनानिधि केसव सोए !
जागत नेक न यदपि बहुत विधि भारतवासी रोए॥
इक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं भारतहित बिसराए।
इतके पसु गज कों आरत लखि आतुर प्यादे धाए॥
इक इक दीन हीन नर के हित तुम दुख सुनि अकुलाई।
अपनी संपति जानि इनहि तुम रछ्यौ तुरंतहि धाई॥
प्रलयकाल सम जौन सुदरसन असुर प्रानसंहारी।
ताकी धार भई अब कुंठित हमरी बेर मुरारी॥

दुष्ट जवन बरबर तुव संतति घास साग सम काटैं।
एक-एक दिन सहस-सहस नर-सीस काटि भुव पाटैं॥
ह्वै अनाथ आरत कुल-विधवा विलपहिं दीन दुखारी।
बल करि दासी तिनहिं बनावहिं तुम नहिं लजत खरारी॥
कहाँ गए सब शास्त्र कही जिन भारी महिमा गाई।
भक्तबछल करुनानिधि तुम कहँ गायो बहुत बनाई॥
हाय सुनत नहिं निठुर भए क्यों परम दयाल कहाई।
सब बिधि बूड़त लखि निज देसहि लेहु न अबहुँ बचाई॥

(दोनों रोते हैं)

(जवनिका गिरती है)

नवाँ अंक

स्थान—राजा सूर्य्यदेव के डेरे

(एक भीतरी डेरे में रानी नीलदेवी बैठी हैं और बाहरी डेरे में क्षत्री लोग पहरा देते हैं)

नील०—(गाती और रोती हुई)

तजी मोहि काके ऊपर नाथ !
मोहि अकेली छोड़ि गए तजि बालपने को साथ ॥
याद करहु जो अगिनि साखि दै पकर्यो मेरो हाथ ।
सो सब मोह आज तजि दीनो कीनो हाय अनाथ ॥

प्यारे क्यों सुधि हाय बिसारी ?
दीन भई बिड़री हम डोलत हा हा होय तुमारी ॥
कबहुँ कियो आदर जा तन को तुम निज हाथ पियारे ।
ताही की अब दीन दसा यह कैसे लखत दुलारे ॥
आदर के धन सम जा तन कहँ निज अंकम तुम धार्यौ ।
ताही कहँ अब पर्यौ धूर में कैसे नाथ निहार्यौ ॥

प्यारे कितै गई सो प्रीति ?
निठुर होइ तजि मोहि सिधारे नेह निबाहन रीति ॥
कह्यो रह्यो जो छिन नहिं तजिहैं मानहु बचन प्रतीति ।
सो मोहि जीवन लौं दुख दीनो करी हाय बिपरीति ॥

(कुमार सोमदेव चार राजपूतों के साथ बाहरी डेरे में आते हैं)

सोम०—भाइयो! महाराज का समाचार तो आप लोगों ने सुना। अब कहिए क्या कर्त्तव्य है? मेरी तो शोक से मति विकल हो रही है। आप लोगों की जो अनुमति हो, किया जाय।

प० राज०—कुमार! आप ऐसी बात कहेंगे कि शोक से मति विकल हो रही है तो भारतवर्ष किसका मुँह देखेगा! इस शोक का उत्तर हम लोग अश्रुधारा से न देकर कृपाणधारा से देंगे।

दू० राज०—बहुत अच्छा!!! उन्मत्त सिंह, तुमने बहुत अच्छा कहा। इन दुष्ट चांडाल यवनों के रुधिर से हम जब तक अपने पितरों का तर्पण न कर लेंगे, हम कुमार की शपथ करके प्रतिज्ञा करके कहते हैं कि हम पितृ-ऋण से कभी उऋण न होंगे।

ती० राज०—शाबाश! विजयसिंह, ऐसा ही होगा। चाहे हमारा सर्वस्व नाश हो जाय परंतु आकल्पांत लोह-लेखनी से हमारी यह प्रतिज्ञा दुष्ट यवनों के हृदय पर लिखी रहेगी। धिक्कार है उस क्षत्रियाधम को जो इन चांडालों के मूलनाश में न प्रवृत्त हो।

चौ० राज०—शत बार धिक्कार है सहस्र बार धिक्कार है उसको जो मनसा, वाचा, कर्मणा किसी तरह इन कापुरुषों

से डरे। लक्ष बार कोटि बार धिक्कार है उसको जो इन चांडालों के दमन करने में तृण-मात्र भी त्रुटि करे। (बायाँ पैर आगे बढ़ाकर) म्लेच्छ-कुल के और उसके पक्षपातियों के सिर पर यह मेरा बायाँ पैर है, जो शरीर के हजार टुकड़े होने तक ध्रुव की भाँति निश्चल है, जिस पामर को कुछ भी सामर्थ्य हो, हटावे।

सोम०—धन्य आर्य्यवीर पुरुषगण! तुम्हारे सिवा और कौन ऐसी बात कहेगा। तुम्हारी ही भुजा के भरोसे हम लोग राज्य करते हैं। यह तो केवल तुम लोगों का जी देखने को मैंने कहा था। पिता की वीरगति का शोच किस क्षत्रिय को होगा? हाँ, जो हम लोग इन दुष्ट यवनों का दमन न करके दासत्व स्वीकार करें तो निस्संदेह दुःख हो। (तलवार खींचकर) भाइयो! चलो इसी क्षण हम लोग उस पामर नीच यवन के रक्त से अपने आर्य्य पितरों को तृप्त करें।

चलहु बीर उठि तुरत सबै जय-ध्वजहि उड़ाओ।
लेहु म्यान सों खड्ग खींचि रनरंग जमाओ॥
परिकर कसि कटि उठो धनुष पै धरि सर साधौ।
केसरिया बानो सजि सजि रनकंकन बाँधौ॥
जौ आरजगन एक होइ निज रूप सम्हारैं।
तजि गृहकलहहिं अपनी कुल-मरजाद विचारैं॥

तौ ये कितने नीच कहा इनको बल भारी।
सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मँझारी॥
पदतल इन कहँ दलहु कीट त्रिन सरिस जवनचय।
तनिकहु संक न करहु धर्म्म जित जय तित निश्चय॥
आर्य्य वंश को बधन पुन्य जा अधम धर्म्म मैं।
गोभच्छन द्विज श्रुति हिंसन नित जासु कर्म्म मैं॥
तिनको तुरितहिं हतौ मिलैं रन कै घर माहीं।
इन दुष्टन सों पाप कियेहूँ पुन्य सदाहीं॥
चिउँटिहु पदतल दबे डसत ह्वै तुच्छ जंतु इक।
ये प्रतच्छ अरि इनहिं उपेछै जौन ताहि धिक॥
धिक तिन कहँ जे आर्य्य होइ जवनन को चाहैं।
धिक तिन कहँ जे इनसों कछु संबंध निबाहैं॥
उठहु बीर तरवार खींचि मारहु घन संगर।
लोह-लेखनी लिखहु आर्य-बल जवन-हृदय पर।
मारू बाजे बजैं कहौ धौंसा घहराहीं।
उड़हिं पताका सत्रुहृदय लखि-लखि थहराहीं॥
चारन बोलहिं आर्य्य-सुजस बंदी गुन गावैं।
छुटहिं तोप घनघोर सबै बंदूक चलावैं॥
चमकहिं असि भाले दमकहिं ठनकहिं तन बखतर।
हींसहिं हय झनकहिं रथ गज चिक्करहिं समर थर॥
छन महँ नासहिं आर्य्य नीच जवनन कहँ करि छय।
कहहु सबै भारत जय भारत जय भारत जय॥

सब वीर—भारतवर्ष की जय—आर्यकुल की जय—महाराज सूर्यदेव की जय—महारानी नीलदेवी की जय—कुमार सोमदेव की जय—क्षत्रियवंश की जय।

(आगे-आगे कुमार उसके पीछे तलवार खींचकर क्षत्रिय लोग चलते हैं। रानी नीलदेवी बाहर के घर में आती है)

नील०—पुत्र की जय हो। क्षत्रिय-कुल की जय हो। बेटा, एक बात हमारी सुन लो तब युद्ध-यात्रा करो।

सोम०—(रानी को प्रणाम करके) माता! जो आज्ञा हो।

नील०—कुमार, तुम अच्छी तरह जानते हो कि यवन-सेना कितनी असंख्य है और यह भी भली भाँति जानते हो कि जिस दिन महाराज पकड़े गए उसी दिन बहुत से राजपूत निराश होकर अपने-अपने घर चले गए। इससे मेरी बुद्धि में यह बात आती है कि इनसे एक ही बार सम्मुख युद्ध न करके कौशल से लड़ाई करना अच्छी बात है।

सोम०—(कुछ क्रोध करके) तो क्या हम लोगों में इतनी सामर्थ्य नहीं कि यवनों को युद्ध में लड़कर जीतें?

सब क्षत्री—क्यों नहीं?

नील०—(शांत भाव से) कुमार, तुम्हारी सर्व्वदा जय है। मेरे आशीर्वाद से तुम्हारा कहीं पराजय नहीं है। किंतु मा की आज्ञा मानना भी तो तुमको योग्य है।

सब क्षत्री—अवश्य, अवश्य।

सोम०—(हाथ जोड़कर) मा, जो आज्ञा होगी वही करूँगा !

नील०—अच्छा सुनो। (पास बुलाकर कान में सब विचार कहती हैं)

(एक ओर से कुमार और दूसरी ओर से रानी जाती हैं)

(जवनिका गिरती है)

दसवाँ अंक

स्थान—अमीर की मजलिस

(अमीर गद्दी पर बैठा है। दो-चार सेवक खड़े हैं। दो-चार मुसाहिब बैठे हैं। सामने शराब के पियाले, सुराही, पानदान, इतरदान रखा है। दो गवैए सामने गा रहे हैं। अमीर नशे में झूमता है)

गवैए—आज यह फत्ह का दरबार मुबारक होए।
मुल्क यह तुझको शहरयार मुबारक होए ॥
शुक्र सद शुक्र कि पकड़ गया वह दुश्मनेदीन।
फत्ह अब हमको हरेक बार मुबारक होए ॥
हमको दिन-रात मुबारक हो फत्ह हो।
ऐशो उरूज काफिरों का सदा फिटकार मुबारक होए ॥
फत्हे पंजाब से सब हिंद की उम्मीद हुई।
मोमिनो नेक य आसार मुबारक होए ॥
हिंदू गुमराह हों बेजर हों बनें अपने गुलाम।
हमको ऐशो तरबोतार मुबारक होए ॥

अमीर—आमीं आमीं। वाह-वाह वल्लाही खूब गाया। कोई है? इन लोगों को एक-एक जोड़ा दुशाला इनआम दो। (मद्यपान)

(एक नौकर आता है)

नौकर—खुदामंद निश्रामत ! एक परदेस की गानेवाली बहुत ही अच्छी खेमे के दरवाजे पर हाजिर है। वह चाहती है कि हुजूर को कुछ अपना करतब दिखलाए। जो इरशाद हो बजा लाऊँ।

अमीर—जरूर लाओ। कहो साज मिलाकर जल्द हाजिर हो।

नौकर—जो इरशाद। [जाता है

अमीर—आज के जशन का हाल सुनकर दूर-दूर से नाचने-गानेवाले चले आते हैं।

मुसाहिब—बजा इरशाद है, और उनको इनआम भी तो बहुत जियादः मिलता है, न क्यों आवें ?

(चार समाजियों के साथ एक गायिका का प्रवेश)

अमीर—(आप ही आप) यह तायफा तो बहुत ही खूबसूरत है ! (प्रगट) तुम्हारा क्या नाम है ? (मद्यपान)

गायिका—मेरा नाम चंडिका है। मैं बड़ी दूर से आपका नाम सुनकर आती हूँ।

अमीर—बहुत अच्छी बात है। जल्द गाना शुरू करो। तुम्हारा गाना सुनने को मेरा इश्तियाक हर लहजे बढ़ता जाता है। जैसी तुम खूबसूरत हो वैसा ही तुम्हारा गाना भी खूबसूरत होगा। (मद्यपान)

गायिका—जो हुकुम। (गाती है)

(ठुमरी तिताला)

हां, मोसे सेजिया चढ़लि नहिं जाई हो।
पिय बिनु साँपिनी सी डसै बिरह रैन॥
छिन-छिन बढ़त बिथा तन सजनी,
कटत न कठिन बियोग की रजनी।
बिनु हरि अति अकुलाई हो॥

अमीर—वाह-वाह क्या कहना है! (मद्यपान) क्यों फिदा-हुसैन! कितना अच्छा गाया है।

मुसाहिब—सुबहानअल्लाह! हुजूर क्या कहना है। वल्लाह मेरा तो क्या जिक्र है मेरे बुजुर्गों ने ख्वाब में भी ऐसा गाना नहीं सुना था।

(अमीर अंगूठी उतारकर देना चाहता है)

गायिका—मुझको अभी आपसे बहुत कुछ लेना है। अभी आप इसको अपने पास रखें, अखीर में एक साथ मैं सब ले लूँगी।

अमीर—(मद्यपान करके) अच्छा! कुछ परवाह नहीं। हाँ, इसी धुन की एक और हो; मगर उसमें फुरकत का मजमून न हो क्योंकि आज खुशी का दिन है।

गायिका—जो हुकुम। (उसी चाल में गाती है)

जाओ जाओ काहे आओ प्यारे कतराए हो।
काहे चली छाँह से छाँह मिलाए हो॥
जिय को मरम तुम साफ कहत किन काहे फिरत मड़राए हो।
एहो हरि देखि यह नयो मेरो जोवन हम जानी तुम जो लुभाए हो॥

अमीर—(मद्यपान करके अत्यंत रीझना नाट्य करता है) कसम खुदा की ऐसा गाना मैंने आज तक नहीं सुना था। दरहकीकत हिंदोस्तान इल्म का खजाना है। वल्लाह, मैं बहुत ही खुश हुआ।

(मुसाहिबगण वल्लाह, बजा इरशाद, बेशक इत्यादि सिर और दाढ़ी हिला-हिलाकर कहते हैं)

अमीर—तुम शराब नहीं पीतीं ?

गायिका—नहीं हुजूर।

अमीर—तो आज हमारी खातिर से पीओ।

गायिका—अब तो आपके यहाँ आई ही हूँ। ऐसी जल्दी क्या है। जो-जो हुजूर कहेंगे सब करूँगी।

अमीर—अच्छा कुछ परवाह नहीं। (मद्यपान) थोड़ा और आगे बढ़ आओ।

(गायिका आगे बढ़कर बैठती है)

अमीर—(खूब घूरकर स्वगत) हाय-हाय! इसको देखकर मेरा दिल बिलकुल हाथ से जाता रहा। जिस

तरह हो, आज ही इसको काबू में लाना जरूर है। (प्रगट) वल्लाह, तुम्हारे गाने ने मुझको बेअख्तियार कर दिया है। एक चीज और गाओ इसी धुन की। (मद्यपान)

गायिका—जो हुकुम। (गाती है)

हाँ गरवा लगावै गिरधारी हो, देखो सखी लाज सरम सब जग की।
छोड़ि चट निपट निलज मुख चूमै वारी वारी।
अति मदमाती हरि कछु न गिनत छैल बरजि रही मैं होइ होइ
बलिहारी।
अब कहाँ जाऊँ कहा करूँ लाज की मैं मारी!

अमीर—(मद्यपान करके उन्मत्त की भाँति) वाह-वाह! क्या कहना है। (गिलास हाथ में उठाकर) एक गिलास तो अब तुमको जरूर ही पीना होगा। लो तुमको मेरी कसम, वल्लाह मेरे सिर की कसम जो न पी जाओ।

गायिका—हुजूर, मैंने आज तक शराब नहीं पी है। मैं जो पीऊँगी तो बिल्कुल बेहोश हो जाऊँगी।

अमीर—कुछ परवा नहीं, पीओ।

गायिका—(हाथ जोड़कर) हुजूर, एक दिन के वास्ते शराब पीकर मैं क्यों अपना ईमान छोड़ूँ?

अमीर—नहीं-नहीं, तुम आज से हमारी नौकर हुई, जो तुम चाहोगी तुमको मिलेगा। अच्छा, हमारे पास आओ। हम तुमको अपने हाथ से शराब पिलावेंगे।

(गायिका अमीर के अति निकट बैठती है)

अमीर—लो जान साहब !

(पियाला उठाकर अमीर जिस समय गायिका के पास ले जाता है उसी समय गायिका बनी हुई नीलदेवी चोली से कटार निकालकर अमीर को मारती है और चारों समाजी बाजा फेंककर शस्त्र निकालकर मुसाहिब आदि को मारते हैं।)

नीलदेवी—ले चांडाल पापी ! मुझको जान साहब कहने का फल ले, महाराज के वध का बदला ले। मेरी यही इच्छा थी कि मैं इस चांडाल का अपने हाथ से वध करूँ। इसी हेतु मैंने कुमार को लड़ने से रोका, सो इच्छा पूर्ण हुई। (और आघात) अब मैं सुखपूर्वक सती हूँगी।

अमीर—(मृतावस्था में) दगा—वल्लाह चंडिका—

(रानी नीलदेवी ताली बजाती है। तंबू फाड़कर शस्त्र खींचे हुए कुमार सोमदेव राजपूतों के साथ आते हैं। मुसलमानों को मारते और बाँधते हैं। क्षत्री लोग 'भारतवर्ष की जय; आर्य्यकुल की जय; क्षत्रियवंश की जय; महाराज सूर्य्यदेव की जय; महारानी नीलदेवी की जय; कुमार सोमदेव की जय' इत्यादि शब्द करते हैं)

(जवनिका गिरती है)

अंधेर-नगरी

चौपट्ट राजा

टके सेर भाजी टके सेर खाजा

प्रहसन

संवत १६३८

समर्पण

मान्य योग्य नहिं होत कोऊ कोरो पद पाए ।
मान्य योग्य नर ते, जे केवल परहित जाए ॥
जे स्वारथ-रत धूर्त्त हंस से काक-चरित-रत ।
ते औरन हति वंचि प्रभुहिं नित होहिं समुन्नत ॥
जदपि लोक की रीति यही पै अंत धर्म्म जय ।
जौ नाहीं यह लोक तदपि छलियन अति जम भय ॥
नरसरीर में रत्न वही जो परदुख साथी ।
खात पियत अरु स्वसत स्वान मंडुक अरु भाथी ॥
तासों अब लौं करो, करो सो, पै अब जागिय ।
गो श्रुति भारत देस समुन्नति मैं नित लागिय ॥
साँच नाम निज करिय कपट तजि अंत बनाइय ।
नृप तारक हरि-पद भजि साँच बड़ाई पाइय ॥

ई ॥ ।

अंधेर-नगरी

चौपट्ट राजा

टके सेर भाजी टके सेर खाजा

पहला अंक

स्थान—वाह्य प्रांत

(महंतजी दो चेलों के साथ गाते हुए आते हैं)

सब—राम भजो राम भजो राम भजो भाई ।
राम के भजे से गनिका तर गई,
राम के भजे से गीध गति पाई ।
राम के नाम से काम बनै सब,
राम के भजन बिनु सबहि नसाई ।।
राम के नाम से दोनों नयन बिनु,
सूरदास भए कविकुल-राई ।
राम के नाम से घास जंगल की,
तुलसीदास भए भजि रघुराई ।।

महंत—बच्चा नारायणदास, यह नगर तो दूर से बड़ा सुंदर दिखलाई पड़ता है! देख, कुछ भिच्छा-उच्छा मिलै तो ठाकुरजी को भोग लगै। और क्या।

नारायण०—गुरुजी महाराज, नगर तो नारायण के आसरे से बहुत ही सुंदर है जो है सो, पर भिच्छा सुंदर मिलै तो बड़ा आनंद होय।

महंत—बच्चा गोबरधनदास, तू पच्छिम की ओर से जा और नारायणदास पूरब की ओर जायगा। देख, जो कुछ सीधा-सामग्री मिले तो श्रीशालग्रामजी का बालभोग सिद्ध हो।

गोबरधन०—गुरुजी, मैं बहुत सी भिच्छा लाता हूँ। यहाँ लोग तो बड़े मालवर दिखलाई पड़ते हैं। आप कुछ चिंता मत कीजिए।

महंत—बच्चा बहुत लोभ मत करना। देखना, हाँ—

लोभ पाप को मूल है, लोभ मिटावत मान।
लोभ कभी नहिं कीजिए, यामैं नरक निदान॥

(गाते हुए सब जाते हैं)

———

दूसरा अंक

स्थान—बाजार

कबाबवाला—कबाब गरमागरम मसालेदार—चौरासी मसाला बहत्तर आँच का—कबाब गरमागरम मसालेदार—खाय सो होंठ चाटै, न खाय सो जीभ काटै। कबाब लो, कबाव का ढेर—बेचा टके सेर।

घासीराम—चने जोर गरम—

चने बनावैं घासीराम। जिनकी झोली में दूकान॥
चना चुरमुर चुरमुर बोलै। बाबू खाने को मुँह खोलै॥
चना खावै तौकी मैना। बोलै अच्छा बना चबैना॥
चना खायँ गफूरन मुन्ना। बोलैं और नहीं कुछ सुन्ना॥
चना खाते सब बंगाली। जिनकी धोती ढीली-ढाली॥
चना खाते मियाँ जुलाहे। डाढ़ी हिलती गाह बगाहे॥
चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लगाते॥
चने जोर गरम—टके सेर।

नरंगीवाली—नरंगी ले नरंगी—सिलहट की नरंगी, बुटवल की नरंगी। रामबाग की नरंगी, आनंदबाग की नरंगी। भई नीबू से नरंगी। मैं तो पिय के रंग न रंगी। मैं तो भूली लेकर संगी। नरंगी ले नरंगी। कँवला

नीबू, मीठा नीबू, रंगतरा, संगतरा। दोनों हाथों लो—नहीं पीछे हाथ ही मलते रहोगे। नरंगी ले नरंगी। टके सेर नरंगी।

हलवाई—जलेबियाँ गरमागरम। ले सेव इमरती लड्डू गुलाबजामुन खुरमा बुँदिया बरफी समोसा पेड़ा कचौड़ी दालमोट पकौड़ी घेवर गुपचुप। हलुआ हलुआ ले हलुआ मोहनभोग। मोयनदार कचौडी कचाका हलुआ नरम चभाका। घी में गरक चीनी में तरातर चासनी में चभाचभ। ले भूरे का लड्डू। जो खाय सो भी पछताय। जो न खाय सो भी पछताय। रेवड़ी कड़ाका। पापड़ पड़ाका। ऐसी जात हलवाई जिसके छत्तिस कौम हैं भाई। जैसे कलकत्ते के विलसन मंदिर के भितरिए, वैसे अंधेर-नगरी के हम। सब सामान ताजा। खाजा ले खाजा। टके सेर खाजा।

कुँजड़िन—ले धनिया मेथी सोआ-पालक चौराई बथुवा करेमू नोनियाँ कुलफा कसारी चना सरसों का साग। मरसा ले मरसा। ले बैंगन लौआ कोंहड़ा आलू अरुई बंडा नेनुआँ सूरन रामतरोई तरोई मुरई। ले आदी मिरचा लहसुन पियाज टिकोरा। ले फालसा खिरनी आम अमरूत निबुआ मटर होरहा। जैसे काजी वैसे पाजी। रैयत राजी टके सेर भाजी। ले हिंदुस्तान का मेवा फूट और बैर।

मुगल—बादाम पिस्ते अखरोट अनार विहीदाना मुनक्का किशमिश अंजीर आबजोश आलूबोखारा चिलगोजा सेब नाशपाती बिही सरदा अंगूर का पिटारी। आमारा ऐसा मुल्क जिसमें अँगरेज का भी दाँत कट्टा ओ गेया। नाहक को रुपया खराब किया। हिंदुस्तान का आदमी लक लक हमारे यहाँ का आदमी बुंबक बुंबक। लो सब मेवा टके सेर।

पाचकवाला—

चूरन अमलवेद का भारी। जिसको खाते कृष्ण मुरारी॥
मेरा पाचक है पचलोना। जिसको खाता श्याम सलोना॥
चूरन बना मसालेदार। जिसमें खट्टे की बहार॥
मेरा चूरन जो कोइ खाय। मुझको छोड़ कहीं नहिं जाय॥
हिंदू चूरन इसका नाम। विलायत पूरन इसका काम॥
चूरन जब से हिंद में आया। इसका धन बल सभी घटाया॥
चूरन ऐसा हट्टा-कट्टा। कीना दाँत सभी का खट्टा॥
चूरन चला डाल की मंडी। इसको खाएँगी सब रंडी॥
चूरन अमले सब जो खावैं। दूनी रिशवत तुरत पचावैं॥
चूरन नाटकवाले खाते। इसकी नकल पचाकर लाते॥
चूरन सभी महाजन खाते। जिससे जमा हजम कर जाते॥
चूरन खाते लाला लोग। जिनको अकिल अजीरन रोग॥
चूरन खावैं एडिटर जात। जिनके पेट पचै नहिं बात॥
चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिंद हजम कर जाता॥

चूरन पूलिसवाले खाते। सब कानून हजम कर जाते॥
ले चूरन का ढेर, बेचा टके सेर।

मछलीवाली—मछरी ले मछरी।

मछरिया एक टके कै विकाय।
लाख टका के वाला जोबन, गाँहक सब ललचाय॥
नैन मछरिया रूप जाल में, देखत ही फँसि जाय।
बिनु पानी मछरी सो बिरहिया, मिले बिना अकुलाय॥

जातवाला (ब्राह्मण)—जात ले जात, टके सेर जात। एक टका दो, हम अभी अपनी जात बेचते हैं। टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जायँ और धोबी को ब्राह्मण कर दें, टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दें। टके के वास्ते झूठ को सच करें। टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिंदू से क्रिस्तान। टके के वास्ते धर्म्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचें, टके के वास्ते झूठी गवाही दें। टके के वास्ते पाप को पुण्य मानें, टके के वास्ते नीच को भी पितामह बनावें। वेद धर्म्म कुल-मरजादा सचाई-बड़ाई सब टके सेर। लुटाय दिया अनमोल माल। ले टके सेर।

बनिया—आँटा दाल लकड़ी नमक घी चीनी मसाला चावल ले टके सेर।

(बाबाजी का चेला गोबरधनदास आता है और सब बेचनेवालों की आवाज सुन-सुनकर खाने के आनंद में बड़ा प्रसन्न होता है)

गोबरधन०—क्यों भाई बनिये, आँटा कितने सेर ?

बनियाँ—टके सेर।

गोबरधन०—औ चावल ?

बनियाँ—टके सेर।

गोबरधन०—औ चीनी ?

बनियाँ—टके सेर।

गोबरधन०—औ घी ?

बनियाँ—टके सेर।

गोबरधन—सब टके सेर! सचमुच।

बनियाँ—हाँ महाराज, क्या झूठ बोलूँगा ?

गोबरधन०—(कुँजड़िन के पास जाकर) क्यों माई, भाजी क्या भाव ?

कुँजड़िन—बाबाजी, टके सेर। निनुआँ मुरई धनियाँ मिरचा साग सब टके सेर।

गोबरधन०—सब भाजी टके सेर! वाह-वाह! बड़ा आनंद है। यहाँ सभी चीज टके सेर। (हलवाई के पास जाकर) क्यों भाई हलवाई! मिठाई कितने सेर ?

हलवाई—बाबाजी! लडुआ हलुआ जलेबी गुलाबजामुन खाजा सब टके सेर।

गोबरधन०—वाह! वाह!! बड़ा आनंद है। क्यों बच्चा, मुझसे मसखरी तो नहीं करता? सचमुच सब टके सेर ?

हलवाई—हाँ बाबाजी, सचमुच सब टके सेर। इस नगरी की चाल ही यही है। यहाँ सब चीज टके सेर बिकती है।

गोबरधन०—क्यों बच्चा! इस नगरी का नाम क्या है?

हलवाई—अंधेरनगरी।

गोबरधन०—और राजा का क्या नाम है?

हलवाई—चौपट्ट राजा।

गोबरधन०—वाह! वाह! अंधेर नगरी चौपट्ट राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा। (यही गाता है और आनंद से बगल बजाता है)

हलवाई—तो बाबाजी, कुछ लेना-देना हो तो लो-दो।

गोबरधन०—बच्चा, भिक्षा माँगकर सात पैसे लाया हूँ, साढ़े तीन सेर मिठाई दे दे, गुरु-चेले सब आनंदपूर्वक इतने में छक जायँगे।

(हलवाई मिठाई तौलता है—बाबाजी मिठाई लेकर खाते हुए और अंधेरनगरी गाते हुए जाते हैं)

(जवनिका गिरती है)

तीसरा अंक

स्थान—जंगल

(महंतजी और नारायणदास एक ओर से "राम भजो" इत्यादि गाते हुए आते हैं और दूसरी ओर से गोबरधनदास अंधेरनगरी गाते हुए आते हैं)

महंत—बच्चा गोबरधनदास ! कह, क्या भिक्षा लाया ? गठरी तो भारी मालूम पड़ती है।

गोबरधन०—बाबाजी महाराज ! बड़े माल लाया हूँ, साढ़े तीन सेर मिठाई है।

महंत—देखूं बच्चा ! (मिठाई की झोली अपने सामने रखकर खोलकर देखता है) वाह ! वाह ! बच्चा ! इतनी मिठाई कहाँ से लाया ? किस धर्म्मात्मा से भेंट हुई ?

गोबरधन०—गुरुजी महाराज ! सात पैसे भीख में मिले थे, उसी से इतनी मिठाई मोल ली है।

महंत—बच्चा ! नारायणदास ने मुझसे कहा था कि यहाँ सब चीज टके सेर मिलती है, तो मैंने इसकी बात का विश्वास नहीं किया। बच्चा, यह कौन सी नगरी है और इसका कौन सा राजा है, जहाँ टके सेर भाजी और टके ही सेर खाजा है ?

गोबरधन०--अंधेरनगरी चौपट्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।

महंत--तो बच्चा! ऐसी नगरी में रहना उचित नहीं है, जहाँ टके सेर भाजी और टके ही सेर खाजा हों।

दोहा

सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास।
ऐसे देस कुदेस में, कबहुँ न कीजै वास ॥
कोकिल बायस एक सम, पंडित मूरख एक।
इंद्रायन दाड़िम विषय, जहाँ न नेकु विवेक ॥
बसिए ऐसे देस नहिं, कनक-वृष्टि जो होय।
रहिए तो दुख पाइए, प्रान दीजिए रोय ॥

सो बच्चा चलो यहाँ से। ऐसी अंधेरनगरी में हजार मन मिठाई मुफ्त की मिले तो किस काम की? यहाँ एक छन नहीं रहना।

गोबरधन०—गुरुजी, ऐसा तो संसार भर में कोई देस ही नहीं है। दो पैसा पास रहने ही से मजे में पेट भरता है। मैं तो इस नगर को छोड़कर नहीं जाऊँगा। और जगह दिन भर माँगो तो भी पेट नहीं भरता। वरंच बाजे-बाजे दिन उपास करना पड़ता है। सो मैं तो यहीं रहूँगा।

महंत—देख बच्चा, पीछे पछतायगा।

गोबरधन०—आपकी कृपा से कोई दुख न होगा; मैं तो यही कहता हूँ कि आप भी यहीं रहिए।

महंत—मैं तो इस नगर में अब एक क्षण भर नहीं रहूँगा। देख, मेरी बात मान, नहीं पीछे पछताएगा। मैं तो जाता हूँ, पर इतना कहे जाता हूँ कि कभी संकट पड़े तो हमारा स्मरण करना।

गोवरधन०—प्रणाम गुरुजी, मैं आपका नित्य ही स्मरण करूँगा। मैं तो फिर भी कहता हूँ कि आप भी यहीं रहिए।

(महंतजी नारायणदास के साथ जाते हैं, गोबरधनदास बैठकर मिठाई खाता है)

(जवनिका गिरती है)

चौथा अंक

स्थान—राजसभा

(राजा, मंत्री और नौकर लोग यथास्थान स्थित हैं)

एक सेवक—(चिल्लाकर) पान खाइए, महाराज।

राजा—(पीनक से चौंकके घबड़ाकर उठता है) क्या कहा? सुपनखा आई ए महाराज। (भागता है)

मंत्री—(राजा का हाथ पकड़कर) नहीं नहीं, यह कहता है कि पान खाइए महाराज।

राजा—दुष्ट लुच्चा पाजी। नाहक हमको डरा दिया। मंत्री इसको सौ कोड़े लगें।

मंत्री—महाराज! इसका क्या दोष है? न तमोली पान लगाकर देता, न यह पुकारता।

राजा—अच्छा, तमोली को दो सौ कोड़े लगें।

मंत्री—पर महाराज, आप पान खाइए सुनकर थोड़े ही डरे हैं, आप तो सुपनखा के नाम से डरे हैं, सुपनखा की सजा हो।

राजा—(घबड़ाकर) फिर वही नाम? मंत्री तुम बड़े खराब आदमी हो। हम रानी से कह देंगे कि मंत्री बेर-बेर तुमको सौत बुलाने चाहता है। नौकर! नौकर! शराब—

दूसरा नौकर—(एक सुराही में से एक गिलास में शराब उझलकर देता है) लीजिए महाराज। पीजिए महाराज।

राजा—(मुँह बना-बनाकर पीता है) और दे।

(नेपथ्य में—दुहाई है दुहाई का शब्द होता है)

कौन चिल्लाता है—पकड़ लाओ।

(दो नौकर एक फर्यादी को पकड़ लाते हैं)

फ०—दोहाई है महाराज दोहाई है। हमारा न्याव होय।

राजा—चुप रहो। तुम्हारा न्याव यहाँ ऐसा होगा कि जैसा जम के यहाँ भी न होगा—बोलो क्या हुआ ?

फ०—महाराज ! कल्लू बनियाँ की दीवार गिर पड़ी सो मेरी बकरी उसके नीचे दब गई। दोहाई है महाराज, न्याव हो।

राजा—(नौकर से) कल्लू बनिये की दीवार को अभी पकड़ लाओ।

मंत्री—महाराज, दीवार नहीं लाई जा सकती।

राजा—अच्छा, उसका भाई, लड़का, दोस्त, आशना जो हो उसको पकड़ लाओ।

मंत्री—महाराज ! दीवार ईंट-चूने की होती है, उसको भाई-बेटा नहीं होता।

राजा—अच्छा, कल्लू बनिये को पकड़ लाओ। (नौकर

लोग दौड़कर बाहर से बनिये को पकड़ लाते हैं) क्यों बे बनिये ! इसकी लरकी, नहीं बरकी क्यों दबकर मर गई ?

मंत्री—बरकी नहीं महाराज, बकरी।

राजा—हाँ हाँ, बकरी क्यों मर गई—बोल, नहीं अभी फांसी देता हूँ।

कल्लू—महाराज ! मेरा कुछ दोष नहीं। कारीगर ने ऐसी दीवार बनाई कि गिर पड़ी।

राजा—अच्छा, इस मल्लू को छोड़ दो, कारीगर को पकड़ लाओ। (कल्लू जाता है, लोग कारीगर को पकड़कर लाते हैं) क्यों बे कारीगर ! इसकी बकरी किस तरह मर गई ?

कारीगर—महाराज, मेरा कुछ कसूर नहीं, चूनेवाले ने ऐसा बोदा बनाया कि दीवार गिर पड़ी।

राजा—अच्छा, इस कारीगर को बुलाओ, नहीं नहीं निकालो, उस चूनेवाले को बुलाओ। (कारीगर निकाला जाता है, चूनेवाला पकड़कर लाया जाता है) क्यों बे खैर-सुपाड़ी-चूनेवाले ! इसकी कुबरी कैसे मर गई ?

चूनेवाला—महाराज ! मेरा कुछ दोष नहीं; भिश्ती ने चूने में पानी ढेर दे दिया, इसी से चूना कमजोर हो गया होगा।

राजा—अच्छा, चुन्नीलाल को निकालो, भिश्ती को पकड़ो। (चूनेवाला निकाला जाता है, भिश्ती लाया जाता है) क्यों बे भिश्ती! गंगा-जमुना की किश्ती! इतना पानी क्यों दिया कि इसकी बकरी गिर पड़ी और दीवार दब गई ?

भिश्ती—महाराज! गुलाम का कोई कसूर नहीं, कस्साई ने मसक इतनी बड़ी बना दी कि उसमें पानी जादे आ गया।

राजा—अच्छा, कस्साई को लाओ, भिश्ती निकालो। (लोग भिश्ती को निकालते हैं कस्साई को लाते हैं) क्यों बे कस्साई, मशक ऐसी क्यों बनाई कि दीवार लगाई बकरी दबाई ?

कस्साई—महाराज! गँड़ेरिया ने टके पर ऐसी बड़ी भेड़ मेरे हाथ बेची कि उसकी मशक बड़ी बन गई।

राजा—अच्छा कस्साई को निकालो, गँड़ेरिए को लाओ। (कस्साई निकाला जाता है, गँड़ेरिया आता है) क्यों बे ऊख पौंड़े के गँड़ेरिया, ऐसी बड़ी भेड़ क्यों बेची कि बकरी मर गई ?

गँड़ेरिया—महाराज! उधर से कोतवाल साहब की सवारी आई, सो उसके देखने में मैंने छोटी बड़ी भेड़ का खयाल नहीं किया, मेरा कुछ कसूर नहीं।

राजा—अच्छा, इसको निकालो, कोतवाल को अभी सरब-मुहर पकड़ लाओ। (गँड़ेरिया निकाला जाता है, कोतवाल पकड़ा आता है) क्यों बे कोतवाल! तैंने सवारी ऐसी धूम से क्यों निकाली कि गँड़ेरिए ने घबड़ाकर बड़ी भेड़ बेची, जिससे बकरी गिरकर कल्लू वनियाँ दब गया?

कोतवाल—महाराज महाराज! मैंने तो कोई कसूर नहीं किया, मैं तो शहर के इंतजाम के वास्ते जाता था।

मंत्री—(आप ही आप) यह तो बड़ा गजब हुआ, ऐसा न हो कि यह बेवकूफ इस बात पर सारे नगर को फूँक दे या फाँसी दे। (कोतवाल से) यह नहीं, तुमने ऐसे धूम से सवारी क्यों निकाली?

राजा—हाँ हाँ, यह नहीं, तुमने ऐसे धूम से सवारी क्यों निकाली कि उसकी बकरी दबी?

कोतवाल—महाराज महाराज—

राजा—कुछ नहीं, महाराज महाराज ले जाओ, कोतवाल को अभी फाँसी दो। दरबार बरखास्त।

(लोग एक तरफ से कोतवाल को पकड़कर ले जाते हैं, दूसरी ओर से मंत्री को पकड़कर राजा जाते हैं)

(जवनिका गिरती है)

———

पाँचवाँ अंक

स्थान—अरण्य

(गोबरधनदास गाते हुए आते हैं)

(राग काफी)

अंधेर नगरी अनबूझ राजा। टका सेर भाजी टका सेर खाजा॥
नीच ऊँच सब एकहि ऐसे। जैसे भडुए पंडित तैसे॥
कुल-मरजाद न मान बड़ाई। सबै एक से लोग-लुगाई॥
जात-पाँत पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि को होई॥
वेश्या जोरू एक समाना। बकरी गऊ एक करि जाना॥
साँचे मारे मारे डोलैं। छली दुष्ट सिर चढ़ि चढ़ि बोलैं॥
प्रगट सभ्य अंतर छलधारी। सोई राजसभा बल भारी॥
साँच कहैं ते पनही खावैं। झूठे बहु बिधि पदवी पावैं॥
छलियन के एका के आगे। लाख कहौ एकहु नहिं लागे॥
भीतर होइ मलिन की कारो। चहिए बाहर रँग चटकारो॥
धर्म अधर्म एक दरसाई। राजा करै सो न्याव सदाई॥
भीतर स्वाहा बाहर सादे। राज करहिं अमले अरु प्यादे॥
अंधाधुंध मच्यौ सब देसा। मानहुँ राजा रहत बिदेसा॥
गो द्विज श्रुति आदर नहिं होई। मानहुँ नृपति बिधर्मी कोई॥
ऊँच नीच सब एकहि सारा। मानहुँ ब्रह्म-ज्ञान बिस्तारा॥

अंधेर नगरी अनबूझ राजा। टका सेर भाजी टका सेर खाजा॥

(बैठकर मिठाई खाता है)

—गुरुजी ने हमको नाहक यहाँ रहने को मना किया था। माना कि देस बहुत बुरा है, पर अपना क्या? अपने किसी राजकाज में थोड़े हैं कि कुछ डर है, रोज मिठाई चाभना, मजे में आनंद से रामभजन करना।

(मिठाई खाता है चार प्यादे चार ओर से आकर उसको पकड़ लेते हैं)

प० प्या०—चल बे चल, बहुत मिठाई खाकर मुटाया है। आज पूरी हो गई।

दू० प्या०—बाबाजी चलिए, नमोनारायन कीजिए।

गोबरधन०—(घबड़ाकर) हैं! यह आफत कहाँ से आई! अरे भाई, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है जो मुझको पकड़ते हो?

प० प्या०—आपने बिगाड़ा है या बनाया है इससे क्या मतलब, अब चलिए। फाँसी चढ़िए।

गोबरधन०—फाँसी! अरे बाप रे बाप फाँसी! मैंने किसकी जमा लूटी है कि मुझको फाँसी! मैंने किसके प्राण मारे कि मुझको फाँसी!

दू० प्या०—आप बड़े मोटे हैं, इस वास्ते फाँसी होती है।

गोबरधन०—मोटे होने से फाँसी? यह कहाँ का न्याय है! अरे, हँसी फकीरों से नहीं करनी होती।

प० प्या०—जब सूली चढ़ लीजिएगा तब मालूम होगा कि हँसी है कि सच। सीधी राह से चलते हो कि घसीट-कर ले चलें ?

गोबरधन०—अरे बाबा, क्यों बेकसूर का प्राण मारते हो ? भगवान के यहाँ क्या जवाब दोगे ?

प० प्या०—भगवान को जवाब राजा देगा। हमको क्या मतलब। हम तो हुक्मी बंदे हैं।

गोबरधन०—तब भी बाबा बात क्या है कि हम फकीर आदमी को नाहक फाँसी देते हो ?

प० प्या०—बात यह है कि कल कोतवाल को फाँसी का हुकुम हुआ था। जब फाँसी देने को उसको ले गए, तो फाँसी का फंदा बड़ा हुआ, क्योंकि कोतवाल साहब दुबले हैं। हम लोगों ने महाराज से अर्ज किया, इस पर हुक्म हुआ कि एक मोटा आदमी पकड़कर फाँसी दे दो, क्योंकि बकरी मारने के अपराध में किसी न किसी को सजा होनी जरूर है, नहीं तो न्याव न होगा। इसी वास्ते तुमको ले जाते हैं कि कोतवाल के बदले तुमको फाँसी दें।

गोबरधन०—तो क्या और कोई मोटा आदमी इस नगर भर में नहीं मिलता जो मुझ अनाथ फकीर को फाँसी देते हैं ?

प० प्या०—इसमें दो बात है—एक तो नगर भर में राजा के न्याव के डर से कोई मुटाता ही नहीं, दूसरे और किसी

को पकड़ें तो वह न-जानें क्या बात बनावे कि हमीं लोगों के सिर कहीं न घहराय और फिर इस राज में साधू महात्मा इन्हीं लोगों की तो दुर्दशा है, इससे तुम्हीं को फाँसी देंगे।

गोवरधन०—दुहाई परमेश्वर की, अरे मैं नाहक मारा जाता हूँ! अरे यहाँ बड़ा ही अंधेर है, अरे गुरुजी महाराज का कहा मैंने न माना उसका फल मुझको भोगना पड़ा। गुरुजी कहाँ हो! आओ, मेरे प्राण बचाओ, अरे मैं बेअपराध मारा जाता हूँ। गुरुजी गुरुजी—

(गोवरधनदास चिल्लाता है, प्यादे उसको पकड़कर ले जाते हैं)

(जवनिका गिरती है)

छठा अंक

स्थान--श्मशान

(गोबरधनदास को पकड़े हुए चार सिपाहियों का प्रवेश

गोवरधन०—हाय वाप रे! मुझे वेकसूर ही फाँसी देते हैं। अरे भाइयो, कुछ तो धरम विचारो! अरे मुझ गरीब को फाँसी देकर तुम लोगों को क्या लाभ होगा? अरे मुझे छोड़ दो। हाय! हाय! (रोता है और छुड़ाने का यत्न करता है)

प० सिपाही—अबे, चुप रह—राजा का हुकुम भला कहीं टल सकता है? यह तेरा आखरी दम है, राम का नाम ले—वेफाइदा क्यों शोर करता है? चुप रह--

गोवरधन०—हाय! मैंने गुरुजी का कहना न माना, उसी का यह फल है। गुरुजी ने कहा था कि ऐसे नगर में न रहना चाहिए, यह मैंने न सुना! अरे! इस नगर का नाम ही अंधेरनगरी और राजा का नाम चौपट्ट है, तब वचने की कौन आशा है। अरे! इस नगर में ऐसा कोई धर्मात्मा नहीं है जो इस फकीर को वचावे। गुरुजी कहाँ हो? वचाओ--गुरुजी—गुरुजी—

(रोता है, सिपाही लोग उसे घसीटते हुए ले चलते हैं। गुरुजी और नारायणदास आते हैं)

गुरु—अरे बच्चा गोवरधनदास! तेरी यह क्या दशा है?

गोबरधन०—(गुरु को हाथ जोड़कर) गुरुजी ! दीवार के नीचे बकरी दब गई, सो इसके लिये मुझे फाँसी देते हैं, गुरुजी बचाओ।

गुरु—अरे बच्चा ! मैंने तो पहिले ही कहा था कि ऐसे नगर में रहना ठीक नहीं; तैने मेरा कहना नहीं सुना।

गोबरधन०—मैंने आपका कहा नहीं माना, उसी का यह फल मिला। आप के सिवा अब ऐसा कोई नहीं है जो रक्षा करे। मैं आप ही का हूँ, आपके सिवा और कोई नहीं। (पैर पकड़कर रोता है)

गुरु—कोई चिंता नहीं, नारायण सब समर्थ है। (भौं चढ़ाकर सिपाहियों से) सुनो, मुझको अपने शिष्य को अंतिम उपदेश देने दो, तुम लोग तनिक किनारे हो जाओ, देखो मेरा कहना न मानोगे तो तुम्हारा भला न होगा।

सिपाही—नहीं महाराज, हम लोग हट जाते हैं। आप बेशक उपदेश कीजिए।

(सिपाही हट जाते हैं। गुरुजी चेले के कान में कुछ समझाते हैं)

गोबरधन०—(प्रगट) तब तो गुरुजी हम अभी फाँसी चढ़ेंगे।

गुरु—नहीं बच्चा, मुझको चढ़ने दे।

गोबरधन०—नहीं गुरुजी, हम फाँसी पड़ेंगे।

गुरु—नहीं बच्चा हम। इतना समझाया नहीं मानता, हम बूढ़े भए, हमको जाने दे।

गोबरधन०—स्वर्ग जाने में बूढ़ा जवान क्या? आप तो सिद्ध हो, आपको गति-अगति से क्या? मैं फाँसी चढ़ूँगा।

(इसी प्रकार दोनों हुज्जत करते हैं—सिपाही लोग परस्पर चकित होते हैं)

प० सिपाही—भाई! यह क्या माजरा है, कुछ समझ नहीं पड़ता।

दू० सिपाही—हम भी नहीं समझ सकते कि यह कैसा गबड़ा है।

(राजा, मंत्री, कोतवाल आते हैं)

राजा—यह क्या गोलमाल है?

प० सिपाही—महाराज! चेला कहता है मैं फाँसी पड़ूँगा, गुरु कहता है मैं पड़ूँगा; कुछ मालूम नहीं पड़ता कि क्या बात है।

राजा—(गुरु से) बाबाजी! बोलो। काहे को आप फाँसी चढ़ते हैं?

गुरु—राजा! इस समय ऐसी साइत है कि जो मरेगा सीधा वैकुंठ जायगा।

मंत्री—तब तो हमीं फाँसी चढ़ेंगे।

गोबरधन०—हम हम। हमको तो हुकुम है।

कोतवाल—हम लटकेंगे। हमारे सबब तो दीवार गिरी।

राजा—चुप रहो, सब लोग। राजा के आछत और कौन वैकुंठ जा सकता है! हमको फाँसी चढ़ाओ, जल्दी, जल्दी।

गुरु—जहाँ न धर्म्म न बुद्धि नहिं, नीति न सुजन समाज।
ते ऐसहि आपुहि नसे, जैसे चौपटराज॥

(राजा को लोग टिकठी पर खड़ा करते हैं)

(जवनिका गिरती है)

तीसरा खंड

अपूर्ण ग्रंथ

प्रेमजोगिनी

नाटिका

संवत् १९३२

प्रेमजोगिनी

नाटिका

(नांदी पाठ)

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर ॥

और भी—

जिन तृन सम किय जानि जिय, कठिन जगत-जंजाल।
जयतु सदा सो ग्रंथ कवि, प्रेमजोगिनी बाल ॥

(मलिन मुख किए सूत्रधार और पारिपार्श्वक आते हैं)

सूत्रधार—(नेत्र से आँसू पोंछ और ठंढी साँस भरकर) हा! कैसे ईश्वर पर विश्वास आवे!

पारिपार्श्वक—मित्र, आज तुम्हें क्या हो गया है और क्या बकते हो और इतने उदास क्यों हो ?

(सूत्रधार के नेत्र से जल की धारा बहती है और रोकने से भी नहीं रुकती)

पारि०—(अपने गले से सूत्रधार को लगाकर और आँसू पोंछकर) मित्र, आज तुम्हें हो क्या गया है? यह

क्या सूझी है ? क्या आज लोगों को यही तमाशा दिखाओगे ?

सूत्र०—हो क्या गया है ? क्या मैं झूठ कहता हूँ ?—इससे बढ़कर और दुःख का विषय क्या होगा कि मेरा आज इस जगत् के कर्त्ता और प्रभु पर से विश्वास उठा जाता है और सच है क्यों न उठे, यदि कोई हो तब न न उठे। हा! क्या ईश्वर है तो उसके यही काम हैं जो संसार में हो रहे हैं ? क्या उसकी इच्छा के बिना भी कुछ होता है ? क्या लोग दीनबंधु दयासिंधु उसको नहीं कहते ? क्या माता-पिता के सामने पुत्र की, स्त्री के सामने पति की और बंधुओं के सामने बंधुओं की मृत्यु उसकी इच्छा बिना ही होती है ? क्या सज्जन लोग विद्यादि सुगुण से अलंकृत होकर भी उसकी इच्छा बिना ही दुखी होते हैं और दुष्ट मूर्खों के अपमान सहते हैं ? केवल प्राणमात्र नहीं त्याग करते, पर उनकी सब गति हो जाती है। क्या इस कमलवनरूप भारतभूमि को दुष्ट गजों ने उसकी इच्छा बिना ही छिन्न-भिन्न कर दिया ? क्या जब नादिर चंगेजखाँ ऐसे निर्दयों ने लाखों निर्दोषी जीव मार डाले तब वह सोता था ? क्या अब भरतखंड के लोग ऐसे कापुरुष और दीन उसकी इच्छा के बिना ही हो गए ? हा! (आँसू बहते हैं) लोग कहते हैं कि यह उसके खेल हैं। छिः! ऐसे निर्दय को भी लोग दयासमुद्र किस मुँह से पुकारते हैं ?

पारि०—इतना क्रोध एक साथ मत करो। यह संसार तो दुःखरूप आप ही है, इसमें सुख का तो केवल आभास-मात्र है।

सूत्र०—आभास-मात्र है—तो फिर किसने यह बखेड़ा बनाने और पचड़ा फैलाने को कहा था? उस पर भी न्याय करने और कृपालु बनने का दावा! (आँख भर आती है)

पारि०—आज क्या है? किस बात पर इतना क्रोध किया है? भला यहाँ ईश्वर का निर्णय करने आए हो कि नाटक खेलने आए हो?

सूत्र०—क्या नाटक खेलें क्या न खेलें, लो इसी खेल ही में देखो। क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परमबंधु, पिता-मित्र-पुत्र सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एकमात्र मूर्त्ति, सत्य का एकमात्र आश्रय, सौजन्य का एकमात्र पात्र, भारत का एकमात्र हित, हिंदी का एकमात्र जनक, भाषा नाटकों का एकमात्र जीवनदाता, हरिश्चंद्र ही दुखी हो! (नेत्र में जल भर-कर)—हा सज्जनशिरोमणे! कुछ चिंता नहीं, तेरा तो बाना है कि 'कितना भी दुख हो उसे सुख ही मानना' लोभ के परित्याग के समय नाम और कीर्त्ति तक का परित्याग कर दिया है और जगत् से विपरीत गति चलके तूने प्रेम की टकसाल खड़ी की है। क्या हुआ जो

निर्दय ईश्वर तुझे प्रत्यक्ष आकर अपने अंक में रखकर आदर नहीं देता और खल लोग तेरी नित्य एक नई निंदा करते हैं और तू संसारी वैभव से सूचित नहीं है; तुझे इससे क्या, प्रेमी लोग जो तेरे और तू जिन्हें सरबस है वे जब जहाँ उत्पन्न होंगे तेरे नाम को आदर से लेंगे और तेरी रहन-सहन को अपनी जीवनपद्धति समझेंगे। (नेत्रों से आँसू गिरते हैं) मित्र, तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनों भूल जाते हो; तुम्हें इनकी निंदा से क्या ? इतना चित्त क्यों क्षुब्ध करते हो ? स्मरण रक्खो ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोकबहिष्कृत होकर भी इनके सिर पर पैर रखके विहार करोगे, क्या तुम अपना वह कवित्त भूल गए—"कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि-भरि पाछे प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी।" मित्र मैं जानता हूँ कि तुम पर सब आरोप व्यर्थ है; हा! बड़ा विपरीत समय है। (नेत्र से आँसू बहते हैं)

पारि०—मित्र, जो तुम कहते हो सो सब सत्य है, पर काल भी तो बड़ा प्रबल है, कालानुसार कर्म्म किए बिना भी तो काम नहीं चलता।

सूत्र०—हाँ, न चले तो हम लोग काल के अनुसार चलेंगे, कुछ वह लोकोत्तर-चरित्र थोड़े ही काल के अनुसार चलेगा !!

पारि०—पर उसका परिणाम क्या होगा ?

सूत्र०—क्या कोई परिणाम होना अभी बाकी है? हो चुका जो होना था।

पारि०—तो फिर आज जो ये लोग आए हैं सो यही सुनने आए हैं।

सूत्र०—तो ये सब सभासद तो उसके मित्रवर्गों में हैं और जो मित्रवर्गों में नहीं हैं उनका जी भी वो उसी की बातों में लगता है। ये क्यों न इन बातों को आनंदपूर्वक सुनेंगे?

पारि०—परंतु मित्र बातों ही से तो काम न चलेगा न! देखो ये हिंदी भाषा में नाटक देखने की इच्छा से आए हैं, इन्हें कोई खेल दिखाओ।

सूत्र०—आज मेरा चित्त तो उन्हीं के चरित्र में मगन है। आज मुझे और कुछ नहीं अच्छा लगता।

पारि०—तो उनके चरित्र के अनुरूप ही कोई नाटक करो।

सूत्र०—ऐसा कौन नाटक है? यों तो सभी नायकों के चरित्र किसी-किसी विषय में उससे मिलते हैं, पर आनुपूर्व्वी चरित्र कैसे मिलेगा?

पारि०—मित्र! मृच्छकटिक हिंदी में खेलो, क्योंकि उसके नायक चारुदत्त का चरित्रमात्र इनसे सब मिलता है, केवल वसंतसेना और राजा की हानि है।

सूत्र०—तो फिर भी आनुपूर्वी न हुआ और पुराने नाटक खेलने में इनका जी भी न लगेगा, कोई नया खेलें।

पारि०—(स्मरण करके) हाँ हाँ, वह नाटक खेलो जो तुम उस दिन उद्यान में उनसे सुनते थे। वह उनके और इस घोर काल के बड़ा ही अनुरूप है। उसके खेलने से लोगों को वर्त्तमान समय का ठीक नमूना दिखाई पड़ेगा और वह नाटक भी नई-पुरानी दोनों रीति मिलके बना है।

सूत्र०—हाँ हाँ प्रेमजोगिनी—अच्छी सुरत पड़ी—तो चलो योंही सही, इसी बहाने उसका स्मरण करें।

पारि०—चलो। [दोनों जाते हैं

(आधी जवनिका गिरती है)

———

पहिला अंक

पहिला गर्भांक

स्थान—मंदिर का चौक

(झपटिया इधर-उधर घूम रहा है)

झपटिया—आज अभी तक कोई दरसनी-परसनी नाहीं आए और कहाँ तक अभहिंन तक मिसरो नहीं आए अभहीं तक नींद न खुली होइहै। खुलै कहाँ से ? आधी रात तक बाबू किहाँ बैठ के ही-ही ठी-ठी करा चाहैं, फिर सवेरे नींद कैसे खुलै।

(दोहर माथे में लपेटे आँखें मलते मिश्र आते हैं—देखकर)

झप०—का हो मिसिरजी, तोरी नींद नहीं खुलती ? देखो शंखनाद होय गवा, मुखियाजी खोजत रहे।

मिश्र—चले तो आईथे, अधियै रात के शंखनाद होय तो हम का करें ! तोरे तरह से हमहू के घर में से निकसके मंदिर में घुस आवना होता तो हमहू जल्दी अउते। हियाँ तो दारानगर से आवना पड़त है। अबहीं सुरजौ नाहीं उगे।

झप०—भाई, सेवा बड़ै कठिन है, लोहे का चना चबावे के पड़थै, फोकटै थोरे होथी।

मिश्र—भवा चलो अपना काम देखो। (बैठ गया)

(स्नान किए तिलक लगाए दो गुजराती आते हैं)

एक गुज०—मिसिरजी, जय श्रीकृष्ण। कहो का समय है?

मिश्र—अच्छो समय है मंगला की आधी समय है। बैठो।

एक गुज०—अच्छा मथुरादासजी बैसी जाओ। (बैठते हैं)

(धोती पहिने एक धोती ओढ़े छक्कूजी आते हैं और उसी वेष से माखनदास भी आए)

छक्कूजी—(माखनदास की ओर देखकर) काहो माखनदास एहर आवो।

माखन०—(आगे बढ़कर हाथ जोड़कर) जै सीकृष्ण साहब।

छक्कूजी—जै श्रीकृष्ण, बैठो। कहो आजकल बाबू रामचंद का क्या हाल है?

माखन०—हाल जौन है तौन आप जनते हौ, दिन दूना रात चौगुना। अभईं कल्हौ हम ओ रास्ते रात के आवत रहे तो तबला ठनकत रहा। बस रात-दिन हा-हा ठी-ठी बहुत भवा दुइ-चार कवित्त बनाय लिहिन बस होय चुका।

छक्कूजी—अरे कवित्त तो इनके बापौ बनावत रहे। कवित्त बनावै से का होथै और कवित्त बनावना कुछ अपने लोगन का काम थोरै हय, ई भाँटन का काम है।

माखन०—ई तो हई है पर उन्हें तो ऐसी सेखी है कि सारा जमाना मूरख हैं औ मैं पंडित। थोड़ा सा कुछ पढ़-वढ़ लिहन हैं।

छक्कूजी—पढ़िन का है पढ़ा-वढ़ा कुछ भी नहिनी, एहर-ओहर की दुइ-चार बात सीख लिहिन किरिस्तानी मते की, अपने मारग की बात तो कुछ जनवै नाहीं कतैं, अबहीं कल के लड़का हैं।

माखन०—और का।

(बालमुकुंद और मलजी आते हैं)

दोनों—(छक्कू की ओर देखकर) जय श्रीकृष्ण बाबू साहब।

छक्कूजी—जय श्रीकृष्ण, आओ बैठो, कहो नहाय आयो?

बाबूसाहब—जी, भय्याजी का तो नेम है कि बडे सवेरे नहाकर फूलघर में जाते हैं तब मंगला के दर्शन करके तब घर में जायकर सेवा में नहाते हैं और मैं तो आजकल कार्तिक के सबब से नहाता हूँ, तिस पर भी देर हो जाती है। रोकड़ का मेरे जिम्मे काकाजी ने कर रखा है इस्से विध-विध मिलाते देर हो जाती है, फिर कीर्त्तन होते प्रसाद बटते ब्यालु-वालू कर्तें बारह कभी एक बजते हैं।

छक्कूजी—अच्छी है जो निबही जाय; कहो कातिक नहाय बाबू रामचंद जार्थे कि नाहीं?

बाबू—क्यों, जाते क्यों नहीं? अब की दोनों भाई जाते हैं, कभी दोनों साथ, कभी आगे-पीछे, कभी इनके साथ मसाल,

कभी उनके, मुझको अक्सर करके जब मैं जाता हूँ तब वह नहाकर आते रहते हैं।

छक्कूजी—मसाल काहे ले जाथैं मेहरारून का मुँह देखै के?

बाबू—(हँसकर) यह मैं नहीं कह सकता।

छक्कूजी—कहो मलजी, आज फूलघर में नाहीं गयो हिंअई बैठ गयो?

मलजी—आज देर हो गई, दर्शन करके जाऊँगा।

छक्कूजी—तोरे हियाँ ठाकुरजी जागे होहिंहै कि नाहीं?

मलजी—जागे तो न होंगे पर अब तैयारी होगी। मेरे हियाँ तो स्त्रियें जगाकर मंगल भोग धर देती हैं। फिर जब मैं दर्शन करके जाता हूँ तो भोग कराकर आरती करता हूँ।

छक्कूजी—कहो तोसे रामचंद से बोलाचाली है कि नाहीं?

मलजी—बोलचाल तो है, पर अब वह बात नहीं है। आगे तो दर्शन करने का सब उत्सवों पर बुलावा आता था अब नहीं आता, तिस्में बड़े साहब तो ठीक-ठीक, छोटे चित्त के बड़े खोटे हैं।

(नेपथ्य)

गरम जल की गागर लाओ।

झप०—(गली की ओर देखकर जोर से) अरे कौन जल-घरिया है? एतनी देर भई अभहीं तोरे गागर लिआवै की बखत नाहीं भई?

(सड़सी से गरम जल की गगरी उठाए सनिया लपेटे जलघरिया आता है)

झप०—कहो जगेसर, ई नाहीं कि जब शंखनाद होय तब झटपट अपने काम से पहुँच जावा करो।

जलघरिया—अरे चल्लो तो आवथई का भहराय पड़ीं? का सुत्तल थोड़े रहलीं? हमहूँ के झापट कंधे पर रखके एहर-ओहर घूमै के होतै तब न। इहाँ तो गगरा ढोवत-ढोवत कंधा छिल जाला। (यह कहकर जाता है)

(मैली धोती पहिने दोहर सिर में लपेटे टेकचंद आए)

टेकचंद—(मथुरादास की ओर देखकर) कहो मथुरा-दासजी, रूडा छो?

मलजो—हाँ साहेब, अच्छे हैं। कहिए तो सही आप इतने बड़े उच्छव में कलकत्ते से नहीं आए! हियाँ बड़ा सुख हुआ था बहुत से महाराज लोग पधारे थे। षट रुत छप्पन भोग में बड़े आनंद हुए।

टेक०—भाई साहब, अपने लोगन का निकास घर से बड़ा मुसकिल है। एक तो अपने लोगन का रेल के सवारी से बड़ा बखेड़ा पड़ता है, दुसरे जब जौन काम के वास्ते जाओ जब तक ओका सब इंतजाम न बैठ जाय तब तक हुँवा जाए से कौन मतलब है और सुख तो भाई साहब श्रीगिरराजजी महाराज के आगे जो-जो देखा है सो

अव सपने में भी नहीं है। अहा! वह श्रीगोविंदरायजी के पधारने का सुख कहाँ तक कहें।

(धनदास और वनितादास आते हैं)

धनदास—कहो यार का तिगथी ?

बनितादास—भाई साहेब, बड़ी देर से देख रहे हैं, कोई पंछी नजर नाहीं आया।

धन०—भाई साहेब, अपने तो ऊ पंछी काम का जे भोजन सोजन दूनो दे।

बनिता०—तोहरे सिद्धांत से भाई साहेब हमरा काम तो नाहीं चलता।

धन०—तबै न सुरमा घुलाय के आँख पर चरणामृत लगाए हौ जे में पलकबाजी खूब चलै, हाँ एक पलक एहरो।

बनिता०—(हँसकर) भाई साहेब अपने तो वैष्णव आदमी हैं, वैष्णवन से काम रक्खित है।

धन०—तो भला महाराज के कबौं समर्पन किए हौ कि नाहीं ?

बनिता०—कौन चीज ?

धन०—अरे कोई चौकाली ठल्लो मावड़ी पामरी ठोमलो अपने घरवालो।

बनिता०—अरे भाई गोसाँइयन पर तो ससुरी सब आपै भहराई पड़थीं पवित्र होवै के वास्ते, हम का पहुँचावें।

धन०—गुरु, इन सबन का भाग बड़ा तेज है, मालो लूटैं मेह-रुवो लूटैं।

बनिता०—भाई साहब, बड़ेन का नाम बेचथैं और इन सबन में कौन लच्छन हैं, न पढ़ना जानैं न लिखना, रात-दिन हा-हा ठी-ठी यैहै कि और कुछ ?

धन०—और गुरु इनके बदौलत चार जीवन के और चैन है, एक तो भट दुसरे इनके सरबस खवास तिसरे बिर-कत और चौथी बाई।

बनिता०—कुछ कहै की बात नहीं है। भाई मंदिर में रहै से स्वर्ग में रहै। खाए के अच्छा पहिरै के परसादी से महाराज कब्बों गाढ़ा तो पहिरवै न करियैं, मलमल नागपुरी ढाँकै पहिरियैं, अतरे फुलेल केसर परसादी बीड़ा चाभो सबसे सेबकी ल्यौ, ऊपर से ऊ बात का सुख अलगै है।

धन०—क्या कहैं, भाई साहब ! हमरो जनम दियँई होता।

बनिता०—अरे गुरु, गली-गली तो मेहरारू मारी फिरथीं तो हैं एहू पर रोनै बना है। अब तो मेहरारू टके सेर हैं। अच्छे-अच्छे अमीरनौ के घर की तो पैसा के वास्ते हाथ फैलावत फिरथीं।

धन०—तो गुरु, हम तो ऊ तार चाही थै जहाँ से उलटा हमैं कुछ मिलै।

बनिता०—भाग होय तो ऐसियो मिल जायँ। देखो लाड़ली-प्रसाद के और वच्चू के ऊ नागरनी और ब्रह्मनिया मिली हैं कि नहीं !

धन०—गुरु, हियाँ तो चाहे मूड़ मुड़ाए हो चाहे मुँह में एको दाँत न होय पताली खेल होय, पर जो हथफेर दे सो काम की।

बनिता०—तोहरी हमरी राय ई बात में न मिलिए।

(रामचंद ठीक उन दोनें के पीछे का किवाड़ खोलकर आता है)

छक्कूजी—(धीरे से मुँह बनाके) ई आएँ। (सब लोगों से जय श्रीकृष्ण होती है)

बाबू—(रामचंद को अपने पास बैठाकर) कहिए बाबू साहब, आजकल तो आप मिलते ही नहीं क्या खफगी रहती है ?

रामचंद—भला आप ऐसे मित्र से कोई खफा हो सकता है ? यह आप कैसी बात कहते हैं ?

बाबू—कार्त्तिक नहान होता न है ?

रामचंद—(हँसकर) इसमें भी कोई संदेह है !

बाबू—हँहँहँ फिर आप तो जो काम करेंगे एक तजवीज के साथ ऐं।

(रामचंद का हाथ पकड़ के हँसता है)

रामचंद--भाई ये दोनों (धनदास और बनितादास को दिखाकर) बड़े दुष्ट हैं। मैं किवाड़ो के पीछे खड़ा सुनता था। घंटों से ये स्त्रियों ही की बात करते थे।

बाबू--यह भवसागर है। इसमें कोई कुछ बात करता है, कोई कुछ बात करता है। आप इन बातों का कहाँ तक खयाल कीजिएगा ऐं! कहिए कचहरी जाते हैं कि नहीं?

रामचंद--जाते हैं कभी-कभी--जी नहीं लगता, मुफत की बेगार और फिर हमारा हरिदास बाबू का साथ कुकुर-झौंझौं, हुज्जते-बंगाल, माथा खाली कर डालते हैं। खाँव-खाँव करके, थूँक-थूँक के, वीभत्स रस के आलंबन-सूर्यनंदन—

बाबू—(हँसकर) उपमा आपने बहुत अच्छी दी और कहिए। और अंधरी मजिस्टरों का क्या हाल है?

रामचंद—हाल क्या है सब अपने-अपने रंग में मस्त हैं। काशीपरसाद अपना कोठीवाली ही में लिखते हैं, सह-जादे साहब तीन घंटे में एक सतर लिखते हैं; उसमें भी सैकड़ों गलती। लक्ष्मीसिंह और शिवसिंह अच्छा काम करते हैं और अच्छा प्रयागलाल भी करते हैं; पर वह पुलिस के शत्रु हैं। और विष्णुदास बड़े Cunning chap हैं। दीवानराम हईं नहीं, बाकी रहे फिजिशियन

सो वे तो अँगरेज ही हैं, पर भाई मूर्खों को बड़ा अभिमान हो गया है, बात-बात में तपाक दिखाते और छः महीने को भेज दूँगा कहते हैं।

बाबू—मैं कनमचाप नहीं समझा।

रामचंद—कनिङ्चैप माने कुटीचर।

(नेपथ्य में)

श्रीगोविंदरायजी की श्री मंगला खुली। (सब दौड़ते हैं)

(जवनिका गिरती है)

दूसरा गर्भांक

स्थान—गैबी, पेड़, कूवा, पास बावली

(दलाल, गंगापुत्र, दूकानदार, भंडेरिया और झूरीसिंह बैठे हैं)

दलाल—कहो गहन यह कैसा बीता ? ठहरा भोग बिलासी ।
माल-वाल कुछ मिला, या हुआ कोरा सत्यानासी ?
कोई चूतिया फँसा या नहीं ? कोरे रहे उपासी ?

गंगा०—मिलै न काहे भैया, गंगा मैया दौलत दासी ॥
हम से पूत कपूत को दाता, मनकनिका सुखरासी ।
भूखे पेट कोई नहिं सुतता, ऐसी है ई कासी ॥

दूकान०—परदेसिया बहुत रहे आए ?—

गंगा०— और साल से बढ़कर ।

भंड०—पितर-सौंदनी रही न अमसिया,—

झूरी०— रंग है पुराने झंझर ॥
खूब बचा ताड़यो, का कहना,
तूँ हौ चूतिया हंटर ।

भंड०—हम न तड़वै तो के तड़िए ? यही किया जनम भर ॥

दलाल—जो हो, अब की भली हुई यह अमावसी पुनवासी ।

गंगा०—भूखे पेट कोई नहिं सुतता ऐसी है ई कासी ॥

झूरी०—यार लोग तो रोजै कड़ाका करथै ऐ पैजामा ।

गंगा०—ई तो झूठ कहथौ, सिंहा—

झूरी०— तू सच बोल्यो, मामा ॥

गंगा०—तौहैं, का तू मार-पीट के करथौ अपना कामा।
कोई का खाना, कोई की रंडो, कोई का पगड़ी-जामा ॥
झूरी०—ऊ दिन खीपट दूर गए अब सोरहो दंड एकासी।
गंगा०—भूखे पेट कोई नहीं सुतता ऐसी है ई कासी ॥
झूरी०—जब से आए नए मजिस्टर तब से आफत आई। जान छिपावत फिरीथै, खटमल—
दूकान०— ई तो सच है भाई ॥
झूरी०—ई है ऐसा तेज गुरू बरसन के देथै लदाई।
गोविंद पालक मेकलौडो से एकी जबर दोहाई ॥
जान बचावत छिपत फिरीथै घुस गइ सब बदमासी।
गंगा०—भूखे पेट तो कोई नहीं सुतता ऐसी है ई कासी ॥
झूरी० —तोरे आँख में चरबी छाई माल न पायो गोजर।
कैसी दून की सूझ रही है असमानों के उप्पर ॥
तर न भए हौ पैदा करके, घर के माल चुतरे तर।
बछिया के बाबा पँडिया के ताऊ, घुसनि के घुसघुस झरझर ॥
कहाँ की ई तूँ बात निकास्यो खासी सत्यानासी।
भूखे पेट कोई नहिं सुतता ऐसी है ई कासी ॥

(गाता हुआ एक परदेसी आता है)

पर०—देखी तुमरी कासी—लोगो, देखी तुमरी कासी।
जहाँ विराजैं बिश्वनाथ बिश्वेश्वरजी अविनासी ॥
आधी कासी भाट-भँडेरिया ब्राह्मन औ संन्यासी।
आधी कासी रंडी मुंडी राँड़ खानगी खासी ॥

लोग निकम्मे भंगी गंजड़ लुच्चे बे-बिसवासी।
महा आलसी झूठे शुहदे बे-फिकरे बदमासी॥
आप काम कुछ कभी करैं नहिं कोरे रहैं उपासी।
और करे तो हँसैं बनावैं उसको सत्यानासी॥
अमीर सब झूठे औ निंदक करें घात विश्वासी।
सिपारसी डरपुकने सिट्टू बोलैं बात अकासी॥
मैली गली भरी कतवारन सड़ी चमारिन पासी।
नीचे नल से बदबू उबलै मनो नरक चौरासी॥
कुत्ते भूकत काटन दौड़ैं सड़क साँड़ सों नासी।
दौड़ैं बंदर बने मुछंदर कूदैं चढ़े अगासी॥
घाट जाओ तो गंगापुत्तर नोचैं देइ गलाँसी।
करैं घाटिया बस्तर मोचन दे देके सब झाँसी॥
राह चलत भिखमंगे नोचैं बात करैं दाता सी।
मंदिर बीच भँड़ेरिया नोचैं करैं धरम की गाँसी॥
सौदा लेत दलालो नोचैं देकर लासालासी।
माल लिए पर दुकनदार नोचैं कपड़ा दे रासी॥
चोरी भए पर पूलिस नोचैं हाथ गले विच ढाँसी।
गए कचहरी अमला नोचैं मोंचि बनावैं घासी॥
फिरैं उचक्का दे दे धक्का लूटैं माल मवासी।
कैद भए की लाज तनिक नहिं बे-सरमी नंगा सी॥
साहेब के घर दौड़ं जावैं चंदा देहिं निकासी।
चढ़ै बुखार नाम मंदिर का सुनतहि होय उदासी॥

घर की जोरू-लड़के भूखे बने दास औ दासी।
दाल की मंडी रंडी पूजें मानो इनकी मासी॥
आप माल कचरैं छानैं उठि भोरहिं कागाबासी।
बाप के तिथि दिन ब्राह्मण आगे धरैं सड़ा औ बासी॥
करि बेवहार साक बाँधैं सब पूरी दौलत दासी।
घालि रुपैया काढ़ि दिवाला माल डेकारैं ठाँसी॥
काम कथा अमृत सो पीयैं समुझैं ताहि बिलासी।
रामनाम मुँह से नहिं निकलैं सुनतहि आवै खाँसी॥
देखी तुमरी कासी—भैया, देखी तुमरी कासी॥

झूरी०—कहो ई सरवा अपने सहर की एतनी निंदा कर गवा; तूँ लोग कुछ बोलत्यौ नाहीं?

गंगा०—भैया, अपना तो जिजमान है अपने न बोलैंगे चाहे दस गारी दे ले।

भंडे०—अपनो जिजमानै ठहरा।

दलाल—और अपना भी गाहकै है।

दूकान०—और भाई हमहूँ चार पैसा एके बदौलत पावा है।

झूरी०—तू सब का बोलबो, तू सब निरे दब्बू चप्पू हौ, हम बोलवै (परदेसी से) ए चिड़ियाबावली के परदेसी फरदेसी! कासी की बहुत निंदा मत करो। मुँह बस्सैये, का कहैं के साहिब मजिस्टर हैं नाहीं तो निंदा करना निकास देते।

पर०—निकास क्यों देते? तुमने क्या किसी का ठीका लिया है?

झूरी०—हाँ हाँ, ठीका लिया है मटियाबुर्ज।

पर०—तो क्या हम झूठ कहते हैं?

झूरी०—राम राम, तू भला कबौं झूठ बोलबो, तू तो निरे पोथी के वेठन हौ।

पर०—वेठन क्या ?

झूरी०—वे ते मत करो गप्पो के, नाहीं तो तोरी अरबी-फारसी घुसेड़ देवै।

पर०—तुम तो भाई अजब लड़ाके हौ, लड़ाई मोल लेते फिरते हौ। वे वे किसने किया है? यह तो अपनी-अपनी राय है; कोई किसी को अच्छा कहता है, कोई बुरा कहता है, इससे बुरा क्या मानना।

झूरी०—सच है पनचोरा, तू कहै सो सच्च, बुड्ढी तू कहे सो सच।

पर०—भाई अजब शहर है, लोग बिना बात ही लड़े पड़ते हैं।

(सुधाकर आता है)

(सब लोग आशीर्वाद, दंडवत्, आओ-आओ शिष्टाचार करते हैं)

गंगा०—भैया इनके दम के चेन है। ई अमीरन के खेलउना हैं।

झूरी०—खेलउना का हैं टाल खजानची खिदमतगार सबै कुछ हैं।

सुधाकर—तुम्हें साहब चर्रियै बूकना आता है।

झूरी०—चर्री का हमहन झूठ बोलील:; अरे बखत पड़े पर तूँ रंडी ले आव:, मंगल के मुजरा मिले ओमें दस्तूरी काट:, पैर दाव:, रुपया-पैसा अपने पास रक्ख:, यारन के दूरे से झाँसा बताव: ऐ! ले गुरु तोहीं कह: हम झूठ कहथई।

गंगा०—अरे भैया बिचारे ब्राह्मण कोई तरह से अपना काल-क्षेप करथैं, ब्राह्मण अच्छे हैं।

भंडे०—हाँ भाई न कोई के बुरे में, न भले में और इनमें एक बड़ी बात है कि इनकी चाल एक-रंगै हमेसा से देखी थै।

गंगा०—और साहेब एक अमीर पास रहै से इनकी चार जगह जान-पहिचान होय गई। अपनी बात अच्छी बनाय लिहिन है।

दूकान०—हाँ भाई, बजार में भी इनकी साक बँधी है।

सुधाकर—भया भया, यह पचड़ा जाने दो; कहो यह नई मूरत कौन है?

झूरी०—गुरु साहब, हम हियाँ भाँग का रगड़ा लगावत रहे, बीच में गहन के मारे-पीटे ई धूआँकस आय गिरे। पिंजड़े में फँसा अब तो पुराना चंडूल। लगी गुलसन की हवा, दुम का हिलाना गया भूल॥ (परदेसी के मुँह के पास चुटकी बजाता है और नाक के पास से उँगली लेकर दूसरे हाथ की उँगली घुमाता है)

पर०—भाई तुम्हारे शहर सा तुम्हारा ही शहर है, यहाँ की लीला ही अपरंपार है।

भूरी०—तोहूँ लीला करथौ।

पर०—क्या ?

भूरी०—नहीं ई जे तोहूँ रामलीला में जाथौ कि नाहीं ?

(सब हँसते हैं)

पर०—(हाथ जोड़कर) भाई, तुम जीते हम हारे, माफ करो।

भूरी०—(गाता है) तुम जीते हम हारे साधो, तुम जीते हम हारे।

सुधा०—(आप ही आप) हा ! क्या इस नगर की यही दशा रहेगी ? जहाँ के लोग ऐसे मूर्ख हैं वहाँ आगे किस बात की वृद्धि की संभावना करें! केवल यह मूर्खता छोड़ इन्हें कुछ आता ही नहीं! निष्कारण किसी को बुरा-भला कहना ! बोली ही बोलने में इनका परम पुरुषार्थ ! अनाब-शनाब जो मुँह से आया बक उठे, न पढ़ना न लिखना! हाय ! भगवान् इनका कब उद्धार करेगा !!

भूरी०—गुरु, का गुड़बुड़-गुड़बुड़ जपथौ ?

सुधा०—कुछ नाहीं भाई यही भगवान का नाम।

भूरी०—हाँ भाई, संझा भई एह बेरा टें टें न किया चाहिए, राम-राम का वखत भई तो चलो न गुरु।

सब—चलो भाई।

(जवनिका गिरती है)

तीसरा गर्भांक

स्थान—मुगलसराय का स्टेशन

(मिठाईवाले, खिलौनेवाले, कुली और चपरासी इधर-उधर फिरते हैं। सुधाकर, एक विदेशी पंडित और दलाल बैठे हैं)

दलाल—(बैठके पान लगाता है) या दाता राम ! कोई भागवान से भेंट कराना।

विदेशी पंडित—(सुधाकर से) आप कौन हैं ? कहाँ से आते हैं ?

सुधाकर—मैं ब्राह्मण हूँ, काशी में रहता हूँ और लाहोर से आता हूँ।

वि० पंडित—क्या आपका घर काशीजी ही में है ?

सुधा०—ज़ी हाँ।

वि० पंडित—भला काशी कैसा नगर है ?

सुधा०—वाह ! आप काशी का वृत्तांत अब तक नहीं जानते ? भला त्रैलोक्य में और दूसरा ऐसा कौन नगर है जिसको काशी की समता दी जाय ?

वि० पंडित—भला कुछ वहाँ की शोभा हम भी सुनें।

सुधा०—सुनिए, काशी का नामांतर वाराणसी है, जहाँ भगवती जह्नुनंदिनी उत्तरवाहिनी होकर धनुषाकार तीन

ओर से ऐसी लपटी हैं, मानो इसको शिव की प्यारी जानकर गोद में लेकर आलिंगन कर रही हैं, और अपने पवित्र जलकण के स्पर्श से तापत्रय दूर करती हुई मनुष्य-मात्र को पवित्र करती हैं। उसी गंगा के तट पर पुण्यात्माओं के बनाए बड़े-बड़े घाटों के ऊपर दोमंजिले चौमंजिले, पँचमंजिले और सतमंजिले ऊँचे-ऊँचे घर आकाश से बातें कर रहे हैं, मानो हिमालय के श्वेत शृंग सब गंगा-सेवन करने को एकत्र हुए हैं। उसमें भी माधोराय के दोनों धरहरे तो ऐसे दूर से दिखाई देते हैं मानो बाहर के पथिकों को काशी अपने दोनों हाथ ऊँचे कर के बुलाती है। साँझ-सबेरे घाटों पर असंख्य स्त्री-पुरुष नहाते हुए, ब्राह्मण लोग संध्या वा शास्त्रार्थ करते हुए, ऐसे दिखलाई देते हैं मानो कुबेरपुरी में अलकनंदा में किन्नरगण और ऋषिगण अवगाहन करते हैं; और नगाड़ा-नफीरी, शंख-घंटा, झाँझ-स्तव और जय का तुमुल शब्द ऐसा गूँजता है मानो पहाड़ों की तराई में मयूरों की प्रतिध्वनि हो रही है; उसमें भी जब कभी दूर से साँझ को वा बड़े सबेरे नौबत की सुहानी धुन कान में आती है तो कुछ ऐसी भली मालूम पड़ती है कि एक प्रकार की झपकी सी आने लगती है। और घाटों पर सबेरे धूप की झलक और साँझ को जल में घाटों की परछाहीं की शोभा भी देखते ही बन आती है।

जहाँ ब्रज-ललना-लालित चरण-युगल पूर्ण परब्रह्म सच्चिदानंद घन वासुदेव आप ही श्री गोपाललाल रूप धारण करके प्रेमियों को दर्शन-मात्र से कृत-कृत्य करते हैं और भी बिंदुमाधवादि अनेक रूप से अपने नाम-धाम के स्मरण, दर्शन, चिंतनादि से पतितों को पावन करते हुए विराजमान हैं।

जिन मंदिरों में प्रातःकाल संध्या समय दर्शकों की भीड़ जमी हुई है, कहीं कथा, कहीं हरिकीर्त्तन, कहीं नाम-कीर्त्तन, कहीं नाटक, कहीं भगवत-लीला-अनुकरण इत्यादि अनेक कौतुकों के मिस से भी भगवान के नाम-गुण में लोग मग्न हो रहे हैं।

जहाँ तारकेश्वर विश्वेश्वरादि नामधारी भगवान भवानी-पति तारकब्रह्म का उपदेश करके तनुत्याग मात्र से ज्ञानियों को भी दुर्लभ अपुनर्भव परम मोक्षपद—मनुष्य, पशु, कीट, पतंगादि आपामर जीवमात्र को देकर उसी क्षण अनेक कल्पसंचित महापापपुंज भस्म कर देते हैं।

जहाँ अंधे, लँगड़े, लूले, बहरे, मूर्ख और निरुद्यम आलसी जीवों को भी भगवती अन्नपूर्णा अन्न-वस्त्रादि देकर माता की भाँति पालन करती हैं।

जहाँ अब तक देव, दानव, गंधर्व, सिद्ध, चारण, विद्याधर, देवर्षि, राजर्षिगण और सब उत्तम-उत्तम तीर्थ—कोई मूर्त्तिमान, कोई छिपकर और कोई रूपांतर करके नित्य निवास करते हैं।

जहाँ मूर्त्तिमान सदाशिव प्रसन्न-वदन आशुतोष सकल-सद्गुणैकरत्नाकर, विनयैकनिकेतन, निखिल विद्याविशारद, प्रशांतहृदय, गुणिजनसमाश्रय, धार्मिकप्रवर, काशी-नरेश महाराजाधिराज श्रीमदीश्वरीप्रसाद नारायणसिंह बहादुर और उनके कुमारोपम कुमार श्री प्रभुनारायण-सिंह बहादुर दान धर्म्मसभा रामलीलादि के मिस से धर्म्मोन्नति करते हुए और असत् कर्म्म नीहार को सूर्य की भाँति नाशते हुए पुत्र की तरह अपनी प्रजा का पालन करते हैं।

जहाँ श्रीमती चक्रवर्त्तिनिचयपूजितपादपीठा श्रीमती महाराज्ञी विक्टोरिया के शासनानुवर्त्ती अनेक कमिश्नर, जज, कलेक्टरादि अपने-अपने काम में सावधान प्रजा को हाथ पर लिए रहते हैं और प्रजा उनके विकट दंड के सर्वदा जागने के भरोसे नित्य सुख से सोती है।

जहाँ राजा शंभूनारायणसिंह, बाबू फतहनारायणसिंह, बाबू गुरुदास, बाबू माधवदास, विश्वेश्वरदास, राय नारायणदास इत्यादि बड़े-बड़े प्रतिष्ठित और धनिक तथा श्री बापूदेव शास्त्री, श्रीबाल शास्त्री से प्रसिद्ध पंडित, श्रीराजा शिवप्रसाद, सैयद अहमद खाँ बहादुर ऐसे योग्य पुरुष, मूलचंद्र मिस्तरी से शिल्पविद्या-निपुण, वाजपेयीजी से तन्त्रीकार, श्री पंडित बेचनजी, शीतलजी, श्रीताराचरण से संस्कृत के सेवक और हरिश्चंद्र से भाषा के कवि, बाबू

अमृतलाल, मुंशी गन्नलाल, श्यामसुंदरलाल से शास्त्रव्यसनी और एकांतसेवी, श्रीस्वामी विश्वरूपानंद से यति, श्रीस्वामी विशुद्धानंद से धर्म्मोपदेष्टा, दातृगणैकाग्रगण्य श्रीमहाराजाधिराज विजयनगराधिपति से विदेशी सर्वदा निवास करके नगर की शोभा दिन दूनी रात चौगुनी करते रहते हैं।

जहाँ क्वींस कालिज (जिसके भीतर-बाहर चारों ओर श्लोक और दोहे खुदे हैं) जयनारायण कालिज से बड़े, बंगाली टोला, नार्मल और लंडन मिशन से मध्यम, तथा हरिश्चंद्र स्कूल से छोटे अनेक विद्यामंदिर, जिनमें संस्कृत, अँगरेजी, हिंदी, फारसी, बँगला, महाराष्ट्री की शिक्षा पाकर प्रति व ͨ अनेक विद्यार्थी विद्योत्तीर्ण होकर प्रतिष्ठालाभ करते हैं; इनके अतिरिक्त पंडितों के घर में तथा हिंदी-फारसी पाठकों की निज शाला में अलग ही लोग शिक्षा पाते हैं, और राय संकटाप्रसाद के परिश्रमोत्पन्न पबलिक लाइब्रेरी, मुंशी सीतलप्रसाद का सरस्वती-भवन, हरिश्चंद्र का सरस्वती-भंडार इत्यादि अनेक पुस्तक-मंदिर हैं, जिनमें साधारण लोग सब विद्या की पुस्तकें देखने पाते हैं।

जहा मानमंदिर ऐसे यंत्रभवन, सारनाथ की धमेख से प्राचीनावशेष चिह्न, विश्वनाथ के मंदिर का वृषभ और स्वर्णशिखर, राजा चेतसिंह के गंगा-पार के मंदिर, कश्मीरीमल की हवेली और क्वींस कालिज की शिल्पविद्या और

माधोराय के धरहरे की उँचाई देखकर विदेशी जन सर्वदा चकित रहते हैं।

जहाँ महाराज विजयनगर के तथा सरकार के स्थापित स्त्री-विद्यामंदिर, औषधालय, अंधभवन, उन्मत्तागार, इत्यादिक लोकद्वय-साधक अनेक कीर्त्तिकर कार्य, वैसे ही चूड़वाले इत्यादि महाजनों का सदावर्त्त और श्री महाराजाधिराज सेंधिया आदि के अटल सत्र से ऐसे अनेक दीनों के आश्रयभूत स्थान हैं जिनमें उनको अनायास ही भोजनाच्छादन मिलता है।

जहाँ अहोवल शास्त्री, जगन्नाथ शास्त्री, पंडित काकाराम, पंडित मायादत्त, पंडित हीरानंद चौबे, काशीनाथ शास्त्री, पंडित भवदेव, पंडित सुखलाल ऐसे धुरंधर पंडित और भी जिनका नाम इस समय मुझे स्मरण नहीं आता, अनेक ऐसे-ऐसे हुए हैं जिनकी विद्या मानो मंडन मिश्र की परंपरा पूरी करती थी।

जहाँ विदेशी अनेक तत्ववेत्ता धार्म्मिक धनीजन घर-बार कुटुंब देश-विदेश छोड़कर निवास करते हुए तत्त्वचिंता में मग्न सुख-दुःख भुलाए संसार को यथारूप में देखते सुख से निवास करते हैं।

जहाँ पंडित लोग विद्यार्थियों को ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, महाभारत, रामायण, पुराण, उपपुराण, स्मृति, न्याय, व्याकरण, सांख्य, पातंजल, वैशेषिक, मीमांसा,

वेदांत, शैव, वैष्णव, अलंकार, साहित्य, ज्योतिष इत्यादि शास्त्र सहज में पढ़ाते हुए मूर्तिमान गुरु और व्यास से शोभित काशी की विद्यापीठता सत्य करते हैं।

जहाँ भिन्न देशनिवासी आस्तिक विद्यार्थीगण परस्पर देवमंदिरों में, घाटों पर, अध्यापकों के घर में, पंडित-सभाओं में वा मार्ग में मिलकर शास्त्रार्थ करते हुए अन-र्गल धारा-प्रवाह संस्कृत भाषण में सुननेवालों का चित्त हरण करते हैं।

जहाँ स्वर लय छंद मात्रा, हस्तकंपादि से शुद्ध वेदपाठ की ध्वनि से जो मार्ग में चलते वा घर बैठे सुन पड़ती है, तपोवन की शोभा का अनुभव होता है।

जहाँ द्रविड़, मगध, कान्यकुब्ज, महाराष्ट्र, बंगाल, पंजाब, गुजरात इत्यादि अनेक देश के लोग परस्पर मिले हुए अपना-अपना काम करते दिखाते हैं और वे एक-एक जाति के लोग जिन मुहल्लों में बसे हैं वहाँ जाने से ऐसा ज्ञात होता है मानो उसी देश में आए हैं, जैसे बंगाली टोले में ढाके का, लहौरी टोले में अमृतसर का और ब्रह्माघाट में पूने का भ्रम होता है।

जहाँ निराहार, पयाहार, यताहार, भिक्षाहार, रक्ता-म्बर, श्वेताम्बर, नीलाम्बर, चर्म्माम्बर, दिगम्बर, दंडी, संन्यासी, ब्रह्मचारी, योगी, यती, सेवड़ा, फकीर, सुथरेसाईं, कनफटे, ऊर्ध्वबाहु, गिरी, पुरी, भारती, वन, पर्वत, सरस्वती,

किनारामी, कवीरी, दादूपंथी, नान्हकसाही, उदासी, रामानंदी, कौल, अघोरी, शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य, सौर इत्यादि हिंदु और ऐसे ही अनेक भाँति के मुसलमान फकीर नित्य इधर से उधर भिक्षा उपार्जन करते फिरते हैं और इसी भाँति सब अंधे, लँगड़े, लूले, दीन, पंगु, असमर्थ लोग भी भिक्षा पाते हैं, यहाँ तक कि आधी काशी केवल दाता लोगों के भरोसे नित्य अन्न खाती है।

जहाँ हीरा, मोती, रुपया, पैसा, कपड़ा, अन्न, घी, तेल, अतर, फुलेल, पुस्तक, खिलौने इत्यादि की दूकानों पर हजारों लोग काम करते हुए मोल लेते बेंचते दलाली करते दिखाई पड़ते हैं।

जहाँ की बनी कमखाब, बाफता, हमरू, समरू, गुलबदन, पोत, बनारसी साड़ी, दुपट्टे, पीताम्बर, उपरने, चोलखंड, गोंटा, पट्ठा, इत्यादि अनेक उत्तम वस्तुएँ देश-विदेश जाती हैं और जहाँ की मिठाई, खिलौने, चित्र, टिकुली, बीड़ा इत्यादि और भी अनेक सामग्री ऐसी उत्तम होती हैं कि दूसरे नगर में कदापि स्वप्न में भी नहीं बन सकतीं।

जहाँ प्रसादी तुलसी-माला फूल से पवित्र और स्नायी स्त्री-पुरुषों के अंग के विविध चंदन, कस्तूरी, अतर इत्यादि सुगंधि द्रव्य के मादक आमोद संयुक्त परम शीतल तापत्रय-विमोचक गंगाजी के कण, स्पर्श

मात्र से अनेक लौकिक अलौकिक ताप से तापित मनुष्यों का चित्त सर्वदा शीतल करते हैं।

जहाँ अनेक रंगों के कपड़े पहने, सोरहो सिंगार, बत्तीसो आभरण सजे, पान खाए, मिस्सी की धड़ी जमाए, जोबन-मदमाती झमझमाती हुई बारबिलासिनी देव-दर्शन, वैद्य. ज्योतिषी, गुणीगृहगमन, जार-मिलन, गान-श्रावण, उपवन-भ्रमण इत्यादि अनेक बहानों से राजपथ में इधर-उधर झूमती-घूमती नैनों के पटे फेरतो विचारे दीन पुरुषों को ठगती फिरती हैं और कहाँ तक कहैं काशी काशी ही है। काशी सी नगरी त्रैलोक्य में दूसरी नहीं है। आप देखिएगा तभी जानिएगा, बहुत कहना व्यर्थ है।

वि० पंडित—वाह-वाह! आपके वर्णन से मेरे चित्त का काशी-दर्शन का उत्साह चतुर्गुण हो गया। यों तो मैं सीधा कलकत्ते जाता, पर अब काशी बिना देखे कहीं न जाऊँगा। आपने तो ऐसा वर्णन किया मानो चित्र सामने खड़ा कर दिया। कहिए वहाँ और कौन-कौन गुणी और दाता लोग हैं जिनसे मिलूँ।

सुधा०—मैं तो पूर्व ही कह चुका हूँ कि काशी गुणी और धनियों की खान है, यद्यपि यहाँ के बड़े-बड़े पंडित जो स्वर्गवासी हुए उनसे अब होने कठिन हैं, तथापि अब भी जो लोग हैं दर्शनीय और स्मरणीय हैं।

फिर इन व्यक्तियों के दर्शन भी दुर्लभ हो जायँगे, और यहाँ के दाताओं का तो कुछ पूछना ही नहीं। चूड़ की कोठीवालों ने पंडित काकारामजी के ऋण के हेतु एक साथ बीस सहस्र मुद्रा दीं। राजा पटनीमल के बाँधे धर्म्मचिह्न कर्मनाशा का पुल और अनेक धर्म्मशाला, कूएँ, तालाब, पुल इत्यादि भारतवर्ष के प्रायः सब तीर्थों पर विद्यमान हैं। साह गोपालदास के भाई साह भवानीदास की भी ऐसी ही उज्ज्वल कीर्त्ति है और भी दीवान केवलकृष्ण चम्पतराय अमीन इत्यादि बड़े-बड़े दानी इसी सौ वर्ष के भीतर हुए हैं। बाबू राजेन्द्र मित्र की बाँधी देवी-पूजा, बाबू गुरुदास मित्र के यहाँ, अब भी बड़े धूम से प्रति वर्ष होती है। अभी राजा देव-नारायणसिंह ही ऐसे गुणज्ञ हो गए हैं कि उनके यहाँ से कोई खाली हाथ नहीं फिरा। अब भी बाबू हरिश्चंद्र इत्यादि गुणग्राहक इस नगर की शोभा की भाँति विद्य-मान हैं। अभी लाला बिहारीलाल और मुंशी राम-प्रतापजी ने कायस्थ जाति का उद्धार करके कैसा उत्तम कार्य्य किया, आप मेरे मित्र रामचंद्र ही को देखिएगा उसने बाल्यावस्था ही में लक्षावधि मुद्रा व्यय कर दी है। अभी बाबू हरखचंद मरे हैं जो एक गोदान नित्य करके जलपान करते थे। कोई भी फकीर यहाँ से खाली नहीं गया। दस-पंद्रह रामलीला इन्हीं काशी-

वालों के व्यय से प्रति वर्ष होती है और भी हजारों पुण्यकार्य यहाँ हुआ ही करते हैं। आपको सबसे मिलाऊँगा आप काशी चलें तो सही।

वि० पंडित--लाहोर क्यों गए थे ?

सुधा०—(लम्बी साँस लेकर) कुछ न पूछिए योंही सैर को गया था।

दलाल--(सुधाकर से) का गुरु। कुछ पंडितजी से बोहनी वाड़े का तार होय तो हम भी साथै चलूँचैं।

सुधा०—तार तो पंडित बाड़ा है कुछ विशेष नहीं जान पड़ता।

दलाल—तब भी फोंक सऊड़े का मालवाड़ा कहाँ तक न लेऊचियै।

सुधा०—अब जो पलते पलते पलै।

वि० पंडित—यह इन्होंने किस भाषा में बात की ?

सुधा०—यह काशी ही की बोली है, ये दलाल हैं, सो पूछते थे कि पंडितजी कहाँ उतरेंगे।

वि० पंडित—तो हम तो अपने एक संबंधी के यहाँ नीलकंठ पर उतरेंगे।

सुधा०—ठीक है, पर मैं आपको अपने घर अवश्य ले जाऊँगा।

वि० पंडित—हाँ हाँ, इसमें कोई संदेह है ? मैं अवश्य चलूँगा।

(स्टेशन का घंटा बजता है और जवनिका गिरती है)

चौथा गर्भांक

स्थान—वुभुक्षित दीक्षित की बैठक

(वुभुक्षित दीक्षित, गप्प पंडित, रामभट्ट, गोपाल शास्त्री, चंबूभट्ट, माधव शास्त्री आदि लोग पान-बीड़ा खाते और भांग-बूटी की तजवीज करते बैठे हैं; इतने में महाश कोतवाल अर्थात् निमंत्रण करनेवाला आकर चौक में से दीक्षित को पुकारता है)

महाश—काहो—वुभुक्षितदीक्षित आहेत ?

वुभुक्षित—(इतना सुनते ही हाथ का पान रखकर) खोण आहे ? (महाश आगे बढ़ता है) वाह महाश तु आहेश काय ? काय बाबा आज किती ब्राह्मण आमच्या तड़ांत देतोस ? सरदारांनी किती सांगीतलेत ? (थोड़ा ठहरकर) कायरे ठोक्याच्या कमर्यांत सहस्रभोजन कुणाच्या यजमानाचे चालले आहे ?

महाश—दीक्षितजी ! आज ब्राह्मणाची अशी मारामार झाली कि मी काँहीं सांगूँ शकत नाहीं—कोण तो पचड़ा !!

वुभु०—खरें, काय मारामार झाली ? अच्छा ये वर बैठकेंत पण आखेरीस आमचे तड़ाची काय व्यवस्था ? ब्राह्मण आणलेस की नाहीं ? कीं हात हलवीतच आलास ?

महाश—(बैठक में बैठकर जल माँगता है) दीक्षितजी थोड़ेंसें पाणी द्या, तहान बहुत लागली आहे ।

बुभु०—अच्छा भाई, थोड़ा सा ठहर अत्ता उनातून आला आहेस, बूटी ही बनतेच आहे। पाहिजे तर बूटीचेंच पाणी पी। अच्छा साँग तर कसे काय ब्राह्मण किती मिलाले ?

महाश—गुरु, ब्राह्मण तो आज २५ निकाले, यार लोग आपके शागिर्द हैं कि और किसके ?

चंबूभट्ट—(बड़े आनंद से) क्या भाई सच कहो—२५ ब्राह्मण मिलाले ?

महाश—हो गुरु ! २५ ब्राह्मण तर नुसते सहस्त्रभोजनाचे, परन्तु आजचे वसंतपूजेचे तर शिवाय च—आणखी सभेकरतां तर पेष लावलाच आहे पण—

गोपाल, माधव शास्त्री—(घवड़ाकर) काय महाश पण काँ ? सभेचें काम कुणाकड़े आहे ? अणखी सभा कधीं होणार ? आँ ?

महाश—पण-इतकेंच कीं हा यजमान पाप नगरांत रहतो, आणि याला एक कन्या आहे ती गत-भर्तृका असून सकेशा आहे आणि तीर्थस्थलीं तर चौर करणें अवश्य पण चौरेकरून कन्येंची शोभा जाईल या करितां जर कोणी असा शास्त्रीय आधार दाखवील तर एक हजार रुपयांची सभा करण्याचा त्यांचा विचार आहे व या कामांत धनतुंदिल शास्त्रीनी हात घातला आहे।

गप्प पंडित—अं:, तो ऐसी क्षुल्लक बात के हेतु शास्त्राधार का क्या काम है ? इसमें तो वहुत से आधार मिलेंगे।

माधव शास्त्री—हाँ पंडितजी आप ठीक कहते हैं, क्योंकि हम लोगों का वाक्य और ईश्वर का वाक्य समान ही समझना चाहिए "विप्रवाक्यं जनार्दनः" "ब्राह्मणो मम दैवतं" इत्यादि।

गोपाल—ठीकच आहे, आणि जरि कदाचित् असल्या दुर्घट कामानो आम्ही लोकदृष्ट्या निन्द्य झालों तथापि वन्द्यच आहों, कारण श्रीमद्भागवतांत ही लिहलें आहे "विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्येत कश्चनेत्यादि"।

गप्प पंडित—हाँजी, और इसमें निन्द्य होने का भी क्या कारण? इसमें शास्त्र के प्रमाण बहुत से हैं और युक्ति तो हई है। पहिले यही देखिए कि इस चौर कर्म से दो मनुष्यों को अर्थात् वह कन्या और उसके स्वजन इनको बहुत ही दुःख होगा और उसके प्रतिबंध से सबको परम आनंद होगा। तब यहाँ इस वचन को देखिए—

"येन केनाप्युपायेन यस्य कस्यापि देहिनः।
संतोषं जनयेत् प्राज्ञस्तदेवेश्वरपूजनं॥"

बुभु०—और ऐसे बहुत से उदाहरण भी इसी काशी में होते आए हैं। दूसरा काशीखंड ही में कहा है "येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसीगतिः।"

चंबूभट्ट—मूर्खतागार का भी यह वाक्य है "अथवा वाललवनं जीवनार्द्दनवद्भवेत्" संतोषसिंधु में भी "सकेशैव हि संस्थाप्या यदि स्यात्तोषदा नृणां"।

महाश—दीक्षितजी ! बूटी झाली—अब छने जल्दी कारण बहुत प्यासा जीव होऊन गेला अणखो अभून पुष्कल ब्राह्मण सांगायचे आहेत।

बुभु०—(भाँग की गोली और जल, बरतन, कटोरा, साफी लेकर) शास्त्रीजी ! थोड़े से बढ़ा तर।

माधव शास्त्री—दीक्षितजी ! हें माँझें कांम नह्वें, कारण मी अपला खाली पीण्याचा मालिक आहे, मला छानतां येत नाहीं। (गोपाल शास्त्री की ओर दिखलाकर) ये इसमें परम प्रवीण हैं।

गोपाल शास्त्री—अच्छा दीक्षितजी—मीच आलों सही।

चंबूभट्ट—(इन सबों को अपने काम में निमग्न देखकर) बरें मग महाश अखेरीस तड़ाचे किती ब्राह्मण सहस्रभोजनाचे व वसंतपूजेचे किती ?

महाश—दीक्षिताचे तड़ांत आज एकंदर २५ ब्राह्मण; पैकीं १५ सहस्रभोजनाकड़े आणि १० वसंतपूजेकड़े—

माधव शास्त्री—आणि सभेचे ?

महाश—सभेचे तर मी सांगीतलेंच कीं धनतुंदिल शास्त्रीचे अधिकारांत आहे, आणि दोन तीन दिवसांत ते बंदोवस्त करणार आहेत।

गप्प पंडित—क्यों महाश ! इस सभा में कोई गौड़ पंडित भी हैं वा नहीं ?

महाश—हाँ पंडितजी, वह बात छोड़ दीजिए, इसमें तो केवल दाक्षिणात्य, द्राविड़ और कचित् तैलंग भी होंगे, परंतु सुना है कि जो इसमें अनुमति करेंगे वे भी अवश्य सभासद होंगे।

गप्प पंडित—इतना ही न—तब तो मैंने पहिले ही कहा है, माधव शास्त्री ! अब भाई यह सभा दिलवाना आपके हाथ में है।

माधव—हाँ पंडितजी, मैं तो अपने शक्त्यनुसार प्रयत्न करता हूँ, क्योंकि प्रायः काका (धनतुंदिल शास्त्री) जो कुछ करते हैं उसका सब प्रबंध मुझे ही सौंप देते हैं। (कुछ ठहरकर) हाँ, पर पंडितजी, अच्छा स्मरण हुआ, आपसे और न्यू फांड (New fond) शास्त्री से बहुत परिचय है, उन्हीं से आप प्रवेश कीजिए, क्योंकि उनसे और काकाजी से गहरी मित्रता है।

गप्प पंडित—क्या क्या शास्त्रीजी ? न्यू—क्या ? मैंने यह कहीं सुना नहीं।

गोपाल—कभी सुना नहीं इसी हेतु न्यू फांड।

गप्प पंडित—मित्र ! मेरा ठट्ठा मत करो। मैं यह तुम्हारी बोली नहीं समझता। क्या यह किसी का नाम है ? मुझे मालूम होता है कि कदाचित् यह द्रविड़ त्रिलिंग आदि देश के मनुष्य का नाम होगा। क्योंकि उधर की बोली मैंने सुनी है उसमें मूर्द्धन्य वर्ण प्रायः बहुत रहते हैं।

माधव शास्त्री—ठीक पंडितजी, अब आपका तर्कशास्त्र पढ़ना आधा सफल हुआ। अस्तु ये उधर ही के हैं जो आपके साथ रामनगर गए थे, जिन्होंने घर में तमाशे-वाले की बैठक की थी—

गप्प पंडित—हाँ हाँ, अब स्मरण हुआ, परंतु उनका नाम परोपकारी शास्त्री है और तुम क्या भांड कहते हो ?

गोपाल शास्त्री—वाह पंडितजी, भांड नहीं कहा फांड कहा—न्यू फांड अर्थात् नये शौखीन। सारांश प्राचीन शौखीन लोगों ने जो-जो कुछ पदार्थ उत्पन्न किए, उपभुक्त किए उन ही उनके उच्छिष्ट पदार्थ का अवलम्बन करके वा प्राचीन रसिकों की चाल-चलन को अच्छी समझ हम को भी लोक वैसा ही कहें आदि से खींच-खींच के रसिकता लाना, क्या शास्त्रीजी ऐसा न इसका अर्थ ?—

माधव शास्त्री—भाई, मुझे क्यों नाहक इसमें डालते हो—

गप्प पंडित—अच्छा, जो होय मुझे उसके नाम से क्या काम। व्यक्ति मैंने जानी परन्तु माधवजी आप कहते हैं और मुझसे उनसे भी पूर्ण परिचय है, और उनको उनका नाम सच शोभता है, परन्तु भाई वे तो बड़े आढ्य मान्य हैं और कंजूस भी हैं—और क्या तुमसे उनसे मित्रता नहीं मुझसे अधिक है। यहाँ तक शयनासन तक वे तुमको परकीय नहीं समझते।

माधव शास्त्री—पंडितजी ! वह सर्व ठीक है, परंतु अब वह भूतकालीन हुई। कारण 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'—

बुभु०—हाँ पंडितजी! अब क्षण भर इधर बूटी को देखिए, लीजिए। (एक कटोरा देकर पुनः दूसरा देते हैं)

गप्प पंडित—वाह दीक्षितजी, बहुत ही बढ़िया हुई।

चंबूभट्ट—(सबको बूटी देकर अपनी पारी आई देखकर) हाँ हाँ दीक्षितजी, तिकड़ेच खतम करा मी आज काल पीत नाहीं।

गोपाल, माधव—काँ भटजी! पुरे आतां, हे नखरे कुठे शिकलात, या—प्या—हवेने व्यर्थ थंडी होते।

चंबूभट्ट—नाहीं भाई मी सत्य साँगतों, मला सोसत नाहीं। तुम्हाला माझे नखरे वाटतात पण हे प्राय: इथले काशीतलेच आहेत, व अपल्या सारख्यांच्या परम प्रियतम सफेत खड़खड़ीत उपर्णा पाँघरणार अनाथा वालानींच शिकविलेंत बरें।

(सब आग्रह करके उसको पिलाते हैं)

महाश—कां गुरु दीक्षितजी अब पलेती जमविली पाहिजे।

बुभु०—हाँ भाई, घे तो वंटा आणि लाव तर एक दोन चार।

महाश—(इतने में अपना पान लगाकर खाता है और दीक्षितजी से) दीक्षितजी, १५ ब्राह्मण ठोक्याच्या कमरांत पाठवा; दाहा वाजतां पानें मांडलो जातील,

आणि आज रात्री वसंतपूजेस १० ब्राह्मण लवकर पाठवा कारण मग दूसरे तड़ाचे ब्राह्मण येतील। (ऐसा कहता हुआ चला जाता है)

बुभु०—(उसको पुकारते हुए जाते हैं) महाश! दक्षिणा कितनी ?

(महाश वहीं से चार अँगुली दिखाकर गंडा कहकर गया)

माधव—दीक्षितजी! क्या कहीं बहरी ओर चलिएगा ?

गोपाल—(दीक्षित से) हाँ गुरु, चलिए आज बड़ी वहाँ लहरा है।

बुभु०—भाई वहरीवर मी जाऊन इकडचा बंदोबस्त कोण करील ?

गोपाल—अें: गुरु इतके १५ ब्राह्मणांत घवड़ावता। सर्वभक्षास साँगीतले ब्राह्मण जे झाले। आज न्यूफांड की पत्ती है।

गप्प पंडित—क्या परोपकारी की पत्ती है? खाली पत्ती ही है कि और भी कुछ है? नहीं तो मैं भी चलूँ।

माधव शास्त्री—पत्ती क्या बड़ी-बड़ी लहरा है, एक तो बड़ा भारी प्रदर्शन होगा और नाना रीति के नाँच, नए-नए रंग देख पड़ेंगे।

गप्प पंडित—क्यों शास्त्रीजी, मुझे यह बड़ा आश्चर्य्य ज्ञात होता है और इससे परिहासोक्ति सी देख पड़ती है।

क्योंकि उसके यहाँ नाच-रंग होना सूर्य का पश्चिमाभ-मुख उगना है।

गोपाल—पंडितजी ! इसी कारण इनका नाम न्यू फांड है। और तिस पर यह एक गुह्य कारण से होता है। वह मैं और कभी आपसे निवेदन करूँगा, वा मार्ग में—

बुभु०—(सर्वभक्ष नाम अपने लड़के को सब व्यवस्था कहकर आप पान-पलेती और रस्सी-लोटा और एक पंखी लेकर) हाँ भाई मेरी सब तैयारी है।

माधव, गोपाल—चलिए पंडितजी, वैसे ही धनतुंदिल शास्त्री जी के यहाँ पहुँचेंगे। (सब उठकर बाहर आते हैं)

चंद्रभट्ट—मैं तो भाई जाता हूँ क्योंकि संध्या समय हुआ।

[चला जाता है

गप्प पंडित—किधर जाना पड़ेगा ?

माधव शास्त्री—शंखोद्धारा क्योंकि आजकल श्रावण मास में और कहाँ लहरा? घराऊ कजरी, श्लोक, लावनी, ठुमरी, कटौवल, बोली-ठोली सब उधर ही।

गप्प पंडित—ठीक शास्त्रीजी, अब मेरे ध्यान में पहुँचा, आजकाल शंखोद्धारा का बड़ा माहात्म्य है। भला पर यह अब कहाँ सुनने में आवेगा? क्योंकि इसमें घराऊ विशेषण दिया है।

गोपाल—आः हमारा माधव शास्त्री जहाँ है वहाँ सब कुछ ठीक ही होगा, इसका परम आश्रय प्राणप्रिय रामचंद्र

बाबू आपको विदित है कि नहीं ? उसके यहाँ ये सब नित्य कृत्य हैं ।

गप्प पंडित—रामचंद्र हम ही को क्या परंतु मेरे जान प्रायः यह जिसको विदित नहीं ऐसा स्वल्प ही निकलेगा। विशेष करके रसिकों को; उसको तो मैं खूब जानता हूँ।

गोपाल—कुछ रोज हमारे शास्त्रीजी भी थे, परंतु हमारा क्या उनका कहिए ऐसा दुर्भाग्य हुआ कि अब वर्ष-वर्ष दर्शन नहीं होने पाता। रामचंद्रजी तो इनको अपने भ्राता के समान पालन करते थे और इनसे बड़ा प्रेम रखते थे। अस्तु सारांश पंडितजी वहाँ रामचंद्रजी के बगीचे में जायँगे। वहाँ सब लहरा देख पड़ेगी और इस मिस से तौ भी उनका दर्शन होगा।

बुभु०—अरे पहिले नवे शौखिनाचे इथे जाऊँ तिथे काय आहे हें पाहूं आणि नंतर रामचंद्राकड़े भुकूँ ।

माधव शास्त्री—अच्छा तसेच होय आजकल न्यू फांड शास्त्री यानी ही बहुत उदारता धरलो आहे बहुत सी पाखरें ही पालली आहेत तो सर्व दृष्टीस पड़तील पण भाई मी आँत यायचा नाहीं। कारण मला पाहून त्यांना त्रास होतो।

गोपाल—अच्छा तिथ वर तर चलशील आगे देखा जायगा।

(सब जाते हैं और जवनिका गिरती है)

सतीप्रताप

नाटक

संवत् १९४०

सतीप्रताप

(एक गीतिरूपक)

पहला अंक

स्थान—हिमालय का अधोभाग

(तृण-लता-वेष्टित एक टीले पर बैठी हुई तीन अप्सरा गाती हैं)

प० अप्सरा—

(राग झिंझौटी)

जय जय श्री रुकमिन महरानी ।
निज पति त्रिभुवन-पति हरिपद में छाया सी लपटानी ॥
सती-सिरोमनि रूपरासि करुनामय सब गुनखानी ।
आदिशक्ति जगकारनि पालनि निज भक्तन सुखदानी ॥

दू० अप्सरा—

(राग जंगला या पीलू)

जग में पतिव्रत सम नहिं आन ।
नारि हेतु कोउ धर्म न दूजो जग में यासु समान ॥
अनसूया सीता सावित्री इनके चरित प्रमान ।

पति-देवता तीय जग धन-धन गावत वेद-पुरान ॥
धन्य देस कुल जहँ निबसत हैं नारी सती सुजान।
धन्य समय जब जन्म लेत ये धन्य व्याह असथान ॥
सब समर्थ पतिबरता नारी इन सम और न आन।
याही ते स्वर्गहु में इनको करत सबै गुन-गान ॥

ती० अप्सरा—

(रागिनी बहार)

नवल बन फूलीं द्रुम-बेली।
लहलह लहकहिं महमह महकहिं मधुर सुगंधहिं रेली ॥
प्रकृति नवोढ़ा सजे खरी मनु भूषन बसन बनाई।
आँचर उड़त बात-बस फहरत प्रेम-धुजा लहराई ॥
गूँजहिं भँवर बिहंगम डोलहिं बोलहिं प्रकृति बधाई।
पुतली सी जित-तित तितली-गन फिरहिं सुगंध लुभाई ॥
लहरहिं जल लहकहिं सरोज मन हिलहिं पात तरु डारी।
लखि रितुपति आगम सगरे जग मनहुँ कुलाहल भारी ॥

(जवनिका गिरती है)

दूसरा अंक

स्थान—तपोवन। लतामंडप में सत्यवान बैठा हुआ है

(रंग गीति—पीलू—धमार)

(नेपथ्य में गान)

क्यों फकीर बन आया वे मेरे वारे जोगी।
नई बैस कोमल अंगन पर काहे भभूत रमाया वे॥
किन वे मात-पिता तेरे जोगी जिन तोहि नाहिं मनाया वे।
कार्चे जिय कहु काके कारन प्यारे जोग कमाया वे॥

(चैती गौरी—तिताला)

बिदेसिया बे प्रीति की रीति न जानी।
प्रीति की रीति कठिन अति प्यारे कोई विरले पहिचानी॥

सत्यवान—यह कोमल स्वर कहाँ से कान में आया? प्रतिध्वनि के साथ यह स्वर ऐसा गूँज रहा है कि मेरी सारी कदंबखंडी शब्द-ब्रह्ममय हो गई। बीच-बीच में मोर कुहुक-कुहुक कर और भी गूँज दूनी कर देते हैं। (कुछ सोचकर) हाय! मेरा मन इस समय भी स्थिर नहीं। हाय! प्रासादों में स्फटिक की छत पर चलने में जिनके चरण को कष्ट होता था आज वह कंटकमय पथ में नंगे पाँवों फिर रहे हैं और दुग्ध-फेन सी सेज के बदले आज मृगचर्म पर सोते हैं। हाय! हमारे माता-पिता बुढ़ापे से सामर्थ्यहीन तो थे ही ऊपर से दैव ने उन्हें अंधा भी

बनाया। हाय! अभागे सत्यवान से भी कभी माता-पिता की सेवा न बन पड़ी। कभी उनके वात्सल्य-पूर्ण प्रेमामृत-वचन ने मेरे कान न शीतल किए। और न ऐसा होना है। जनमते ही तो तपस्या करनी पड़ी। धन्य विधाता! दरिद्र को धनवान् और धनवान् को दरिद्र करना तो तुम्हें एक खेल है। किंतु दरिद्र बना के फिर क्यों कष्ट देते हो! दरिद्र ही सही, पर मन को तो शांति दो। भला दो घड़ी भी वृद्ध माता-पिता की सेवा करने पावें। (चिंता

(सावित्री को घेरे हुए गाते-गाते म करी, सुरबाला और लवंगी का आना और फूल बीनना)

(गौरी)

सखीजन—

भौंरा रे बौरान्यो लखि बौर।
लुबध्यौ उतहि फिरत मडरान्यौ जात कहूँ नहिं और—
भौंरा रे बौरान्यो।

(चैती गौरी)

फूलन लगे राम वन नवल गुलववा।
फूलन लागे राम—महुआ फले आम बौराने डारहि डार
भँवरवा झूलन लगे राम।

(गौरी)

पवन लगि डोलत बन की पतियाँ।
मानहुँ पथिकन निकट बुलावहिं कहन प्रेम की बतियाँ॥

अलक हिलत फहरत तन सारी होत हैं सीतल छतियाँ।
यह छबि लखि ऐसी जिय आवत इतहि बितैये रतियाँ॥

सुरबाला—सखी, कैसा सुंदर वन है।

लवंगी—और यह बारी भी कैसी मनोहर है।

मधुकरी—आहा! तपोवन ऋषि-मुनि लोगों को कैसा सुखदायक होता है।

सावित्री—सखी, ऋषि-मुनि क्या, तपोवन सभी को सुख देता है।

सुर०—क्योंकि यहाँ सदा वसंत ऋतु रहती है न।

सावित्री—वसंत ही से न तपोवन ऐसा नहीं है।

मधु०—अहा! यह कुंज कैसा सुंदर है। सखी, देखो माधवी लता इस कुंज पर कैसी घनघोर छाई हुई है।

सावित्री—सहज वस्तुएँ सभी मनोहर होती हैं। देखो, इस पर फूल कैसे सुंदर फूले हैं जैसे किसी ने देवता की फूल-मंडली बनाई हो।

सुर०—और उधर से हवा कैसी ठंढी आती है।

लवंगी—और हवा में सुगंध कैसी है।

मधु०—सखी! एक-टक उधर ही क्यों देख रही हो!

सुर०—सच तो सखी। वहाँ क्या है जो उधर ही ऐसी दृष्टि गड़ा रही हो?

लवंगी—तू क्या जाने। तपोवन में सैकड़ों वस्तुएँ ऐसी होती हैं।

(राग सोरठ)

सावित्री—

लखो सखि भूतल चंद खस्यो।
राहु-केतु-भय छोड़ि रोहिनिहि या वन आइ बस्यो॥
कै सिव-जय-हित करत तपस्या मनसिज इत निबस्यो।
कै कोऊ वनदेव कुंज में बनविहार विलस्यो॥

मधु०—सच तो, तपसियों में ऐसा रूप!

सुर०—जाने दे। वनवासी तपस्वी में ऐसा रूप कहाँ?

सावित्री—यह मत कहो। बिधना की कारीगरी जैसी नगर में वैसी ही वन में।

(सत्यवान की ओर सतृष्ण दृष्टिपात)

सुर०—देखती हो? एक-मन एक-प्रान होकर कैसा सोच रही है?

लवंगी—(परिहास से) आज जो यह तापस-कुमार के बदले राजकुमार होते तो घर बैठे गंगा बही थी।

मधु०—सखी, इसका कुछ नेम नहीं है कि राजकुमारी का ब्याह राजकुमार ही से हो।

सावित्री—विधाता ने जिस भाव में राजपुत्र को सिरजा है उसी भाव में मुनि-पुत्र को। और फिर राजधन से तपोधन कुछ कम नहीं होता।

सत्य०—(आप ही आप) यह क्या वनदेवी आई हैं!

मधु०--हम उनके पास जाकर प्रणाम तो कर आवें।

(मधुकरी का कुंज की ओर बढ़ना और सत्यवान का लतामंडप से निकलकर बाहर बैठना)

मधु०--(सत्यवान के पास जाकर) प्रणाम। (हाथ जोड़कर सिर झुकाना)

सत्य०--आयुष्मती भव। आप लोग कौन हैं?

मधु०--हम लोग अपनी सखा मद्र देश के जयंतीनगर के राजा अश्वपति की कुमारी सावित्री के साथ फूल बीनने आई हैं।

सत्य०--(स्वगत) राजकुमारी! वामन को चंद्रस्पर्श।

मधु०--कृपानिधान! आप सदा यहीं निवास करते हैं?

सत्य०--जब तक दैव अनुकूल न हो, यहीं निवास है।

मधु०--इससे तो बोध होता है कि किसी राजभवन को सूना करके आप यहाँ आए हैं।

सत्य०--सखो! उन बातों को जाने दो।

मधु०--हमारे अनुरोध से कहना ही होगा। दयालु सज्जनगण अतिथि की यांचा व्यर्थ नहीं करते, विशेष करके पहले ही पहल।

सत्य०--हम शाल्व देश के राजा द्युमत्सेन के पुत्र हैं। हमारा नाम चित्राश्व वा सत्यवान है। इस मेध्यारण्य नामक वन में पिता की सेवा करते हैं।

मधु०--(आप ही आप) तभी! गंगा समुद्र छोड़कर और जलाशय की ओर नहीं झुकती। (प्रगट) तो आज्ञा हो तो अब प्रणाम करूँ।

सत्य०--(कुछ उदास होकर) यह क्यों? बिना आतिथ्य स्वीकार किए हुए?

मधु०—इसका तो मैं सखी से पूछ लूँ तो उत्तर दूँ। (सावित्री के पास आकर) सखी! कुमार तापस कहते हैं कि आतिथ्य स्वीकार करना होगा।

(सावित्री सखियां का मुख देखती है)

लवंगी—(परिहास से) अवश्य अवश्य। इसमें क्या हानि है।

सावित्री—(कुछ लज्जा करके) सखा, उनसे निवेदन कर दे कि हम लोग माता-पिता की आज्ञा लेकर तब किसी दिन आतिथ्य स्वीकार करेंगे, आज विलंब भी हुआ है।

मधु०—(सत्यवान के पास जाकर) कुमारी कहती हैं कि किसी दिन माता-पिता की आज्ञा लेकर हम आवेंगे तब आतिथ्य स्वीकार करेंगे। आप तो जानते ही हैं कि आर्यकुल की ललनागण किसी अवस्था में भी स्वतंत्र नहीं हैं। इससे आज क्षमा कीजिए।

सत्य०—(कुछ उदास होकर) अच्छा। (सखियों के साथ सावित्री का प्रस्थान। उधर ही देखता है) यह क्या? चित्त में ऐसा विकार क्यों? क्या स्वर्ण और

रत्न में भी मलिनता ? क्या अग्नि में भो कीट की उत्पत्ति ? उह ! फिर वही ध्यान ! यह क्या ! अब तो जी नहीं मानता। चलें आगे बढ़कर बदली में छिपते हुए चंद्रमा की शोभा देखकर जी को शांति दें।

[जाता है

(जवनिका गिरती है)

तीसरा अंक

स्थान—जयंती नगर का गृहोद्यान

(जोगिन बनी हुई सावित्री ध्यान करती है)

(नेपथ्य में वैतालिक गान)

प्र० वै०—नैन लाल कुसुम पलास से रहे हैं फूलि,
फूल-माल गरें बन झालरि सी लाई है।
भँवर-गुँजार हरि-नाम को उचार तिमि,
कोकिला सी कुहुकि वियोग राग गाई है॥
हरीचंद तजि पतझार घर-बार सबै,
बौरी बनि दौरी चारु पौन ऐसी धाई है।
तेरे बिछुरे तें प्रान कंत कै हिमंत अंत,
तेरी प्रेम जोगिनी वसंत बनि आई है॥

द्वि० वै०—पीरो तन पर्यौ फूली सरसों सरस सोई,
मन मुरझान्यौ पतझार मनो लाई है।
सीरी स्वास त्रिबिध समीर सी वहति सदा,
अँखियाँ बरसि मधुझरि सी लगाई है॥
हरीचंद फूले मन मैन के मसूसन सों,
ताही सों रसाल बाल बदि कै बौराई है।
तेरे बिछुरे तें प्रान कंत कै हिमंत अंत,
तेरी प्रेम जोगिनी वसंत बनि आई है॥

प्र० वै०—"बरुनी बघंबर मैं गुदरी पलक दोऊ,
कोए राते बसन भगौंहैं भेख रखियाँ।
बूड़ी जल ही मैं दिन जामिनी हूँ जागैं भौंह,
धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ॥
आँसू ज्यौं फटिक-माल काजर की सेली पैन्हि,
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ।
दीजिए दरस देव कीजिए सँजोगिन ये,
जोगिन ह्वै बैठी हैं बियोगिन की अँखियाँ॥"

द्वि० वै०—एकै ध्यान एकै ज्ञान एकै मन एकै प्रान,
दसो दिसि अबिचल एकै तान तानो है।
जग मैं बसत हूँ मनहुँ जग बाहिर सी,
हियौ तन दोऊ निसि दिवस तपानो है॥
हरीचंद जोग की जुगति रिद्धि सिद्धि सब,
तजि तिनका सी एक नेह को निभानो है।
बिना फल आस सीस सहनी सहस्र त्रास,
जोगिन सों कठिन बियोगिन को बानो है॥

(सावित्री ध्यान से आंख खोलती है)

सावित्री—अहा! एक पहर दिन आ गया। सखीगण अब तक नहीं आईं। इसी से ध्यान भी निर्विघ्न हुआ। हमारी वासना सत्य है तो अंतर्गति जाननेवाली सतीकुल-सरोजिनी भगवती भवानी हमारी भावना अवश्य पूर्ण करेंगी। मन बच कर्म से हमारी भक्ति पति के चरणारविंद में है

तो वे हमको अवश्य ही मिलेंगे। अथवा न भी मिलें तो इस जन्म में तो दूसरा पति हो नहीं सकता। स्त्रीधर्म बड़ा कठिन है। जिसको एक बेर मन से पति कहकर वरण किया उसको छोड़कर स्त्री-शरीर की अब इस जगत् में कौन गति है। पिता-माता बड़े धार्मिक हैं। सखियों के मुख से यह संवाद सुनकर वह अवश्य उचित ही करेंगे। वा न करेंगे तो भी इस जन्म में अन्य पुरुष अब मेरे हेतु कोई है नहीं। (अपना वेष देखकर) अहा! यह वेष मुझको कैसा प्रिय बोध होता है। जो वेष हमारे जीवितेश्वर धारण करें वह क्यों न प्रिय हो। इसके आगे बहुमूल्य हीरों के हार और चमत्कार-दर्शक वस्त्र सब तुच्छ हैं। वही वस्तु प्यारी है जो प्यारे को प्यारी हो। नहीं तो सर्वसंपत्ति की मूल-कारण-स्वरूपा देवी पार्वती भगवान् भूतनाथ की परिचर्या इस वेष से क्यों करतीं? सतीकुलतिलका देवी जनकनंदिनी को अयोध्या के बड़े-बड़े स्वर्ग-विनिंदक प्रासाद और शचीदुर्लभ गृह-सामग्री से भी वन की पर्णकुटी और पर्वतशिला अति प्रिय थीं, क्योंकि सुख तो केवल प्राणनाथ की चरणपरिचर्या में है। जब तक अपना स्वतंत्र सुख है तब तक प्रेम नहीं। पत्नी का सुख एक-मात्र पति की सेवा है। जिस बात में प्रियतम की रुचि उसी में सहधर्मिणी की रुचि। अहा! वह भी कोई धन्य दिन आवेगा जब हम भी अपने प्राण-

राध्य देवता प्रियतम पति की चरणसेवा में नियुक्त होंगी। वृद्ध श्वशुर और सास के हेतु पाक आदि निर्माण करके उनका परितोष करेंगी। कुसुम, दूर्वा, तुलसी, समिधा इत्यादि बिनने को पति के साथ वन में घूमेंगी। परिश्रम से थकित प्राणनायक के स्वेद-सीकर अपने अंचल से पोंछ-कर मंद-मंद वनपत्र के व्यजनवायु से उनका श्रीअंग शीतल और चरण-संवाहनादि से श्रमगत करेंगी। (नेत्र से आँसू गिरते हैं)

(ग न करते हुए सखीगण का आगमन)

(ठुमरी)

सखीत्रय—

देखो मेरी नई जोगिनियाँ आई हो—जोगी पिय मन भाई हो।
खुले केस गोरे मुख सोहत जोहत दृग सुखदाई हो॥
नव छाती गाती कसि बाँधी कर जप माल सुहाई हो।
तन कंचन दुति बसन गेरुआ दूनी छवि उपजाई हो॥
देखो मेरी नई जोगिनियाँ आई हो।

(सावित्री के पास जाकर)

(लावनी)

लवंगी—

सखि ! बाले जोवन महा कठिन व्रत कीनो।
यह जोग भेख कोमल अंगन पर लीनो॥

अबहीं दिन तुमरे खेल-कूद के प्यारी।
पितु मातु चाव सों भवन बसो सुकुमारी॥
ओढ़ौ पहिरौ लखि सुख पावै महतारी।
बिलसौ गृह संपति सखो गईं बलिहारी॥
तजि देहु स्वाँग जो सबही बिधि सों हीनो।
यह जोग-भेष जो कोमल अँग पर लीनो॥

मधु०—सखि! यही जगत की चाल जिती हैं क्वारी।
उनके सबही विधि मात-पिता अधिकारी॥
जेहि चाहैं ताकहँ दान करैं निज बारो।
यामैं कछु कहनो तजनो लाज दुलारी॥
विनती मानहु हठ माँहि बृथा चित दीनो।
यह जोग-भेष जो कोमल अँग पर लीनो॥

सुर०—सखि! औरहु राजकुमार बहुत जग माँहीं।
विद्या बुधि गुन बल रूप समूह लखाहीं॥
चिरजीवी प्रेमी धनी अनेक सुनाहीं।
का उन सम कोऊ और जगत में नाहीं॥
जाके हित तुम तजि राजभेष सुख-भीनो।
यह जोग-भेष निज कोमल अँग पर लीनो॥

सावित्री—(ईषत् क्रोध से)
बस-बस! रसना रोको ऐसी मति भाखो।
कछु धरमहु को भय अपने जिय मैं राखो॥

कुल-कामिनि ह्वै गनिका-धरमहि अभिलाखो।
तजि अमृतफल क्यों विषमय विषयहि चाखो॥
सब समुझि-बूझि क्यों निदहु मूरख तीनों।
यह जोग-भेष जो कोमल अँग पर लीनो॥

लवंगी—सखी को कैसा जल्दी क्रोध आया है?

सावित्री—अनुचित बात सुनकर किसको क्रोध न आवेगा?

सुर०—सखी! हम लोगों ने जो वचन दिया था वह पूरा किया।

सावित्री—वचन कैसा?

सुर०—सखी, तुम्हारे माता-पिता ने हम लोगों से वचन लिया था कि जहाँ तक हो सकेगा हम लोग तुमको इस मनोरथ से निवृत्त करेंगे।

सावित्री—निवृत्त करोगी? धर्मपथ से? सत्य प्रेम से? और इसी शरीर में?

सुर०—सखी, शांत भाव धारण करो। हम लोग तुम्हारी सखी हैं, कोई अन्य नहीं हैं। जिसमें तुमको सुख मिले वही हम लोगों को करना है। यह सब जो कुछ कहा-सुना गया, केवल ऊपरी जी से।

सावित्री—तब कुछ चिंता नहीं। चलो, अब हमलोग माता के पास चलें। किंतु वहाँ मेरे सामने इन बातों को मत छेड़ना।

सखीगण—अच्छा, चलो।

(जवनिका गिरती है)

चौथा अंक

स्थान—तपोवन। द्युमत्सेन का आश्रम

(द्युमत्सेन, उनकी स्त्री और ऋषि बैठे हैं)

द्युमत्सेन—ऐसे ही अनेक प्रकार के कष्ट उठाए हैं, कहाँ तक वर्णन किया जाय।

पहला ऋषि—यह आपकी सज्जनता का फल है।

(छप्पय)

क्यौं उपज्यौ नरलोक ? ग्राम के निकट भयो क्यौं ?
सघन पात सों सीतल छाया दान दयो क्यौं ?
मीठे फल क्यौं फल्यो ? फल्यौ तो नम्र भयो कित ?
नम्र भयो तो सहु सिर पैं बहु बिपति लोक कृत।
तोहि तोरि मरोरि उपारिहैं पाथर हनिहैं सबहि नित।
जे सज्जन ह्वै नै कै चलहिं तिनकी यह दुरगति उचित॥

दूसरा ऋषि—ऐसा मत कहिए। वरंच यों कहिए—

चातक को दुख दूर कियो पुनि दीनो सबै जग जीवन भारी।
पूरे नदी-नद ताल-तलैया किए सब भाँति किसान सुखारी॥
सूखेहू रूखन कीने हरे जग पूर्यौ महामुद दै निज बारी।
हे घन आसिन लौं इतनी करि रीते भए हूँ बड़ाई तिहारी॥

द्युमत्सेन—मोहि न धन के सोच भाग्य-बस होत जात धन।
पुनि निरधन सो दोस न होत यहौ गुन गुनि मन॥

मोकहँ इक दुख यहै जु प्रेमिन हू मोहि त्याग्यौ।
विना द्रव्य के स्वानहु नहिं मोसों अनुराग्यौ॥
सब मित्रन छोड़ो मित्रता बंधुन हू नाता तज्यौ।
जो दास रह्यौ मम गेह को मिलनहुँ मैं अब सो लज्यौ॥

प० ऋषि—तो इसमें आपकी क्या हानि है? ऐसे लोगों से न मिलना ही अच्छा है।

द्युमत्सेन—नहीं, उनके न मिलने का मुझको अणुमात्र शोच नहीं है। मुझको तो ऐसे तुच्छमना लोगों के ऊपर उलटी दया उत्पन्न होती है। मुझको अपनी निर्धनता केवल उस समय अति गढ़ाती है जब किसी सत्पुरुष कुलीन को द्रव्य के अभाव से दुःखी देखता हूँ। उस समय मुझको निस्संदेह यह हाय होती है कि आज द्रव्य होता तो मैं उसकी सहायता करता।

दू० ऋषि—आपके मन में इसका खेद होता है तो मानसिक पुण्य आपको हो चुका। और आपकी मनोवृत्ति ऐसी है तो वह अवश्य एक न एक दिन फलवती होगी।

प० ऋषि—सज्जनगण स्वयं दुर्दशाग्रस्त रहते हैं, तब भी उनसे जगत में नाना प्रकार के कल्याण ही होते हैं।

द्युमत्सेन—अब मुझसे किसी का क्या कल्याण होगा! बुढ़ापे से शरीर में पौरुष हई नहीं। एक आँख थी सो भी गई। तीर्थभ्रमण और देवदर्शन से भी रहित हुए।

प० ऋषि—आपके नेत्रों के इतने निर्बल हो जाने का क्या कारण है? अभी कुछ आपकी अवस्था अति वृद्ध नहीं हुई है।

द्युमत्सेन—वही कारण जो हमने कहा था। (उदास होकर) पुत्रशोक से बढ़कर जगत में कोई शोक नहीं है। गणक लोगों ने यह कहकर कि तुम्हारा पुत्र अल्पायु है, मेरा चित्त और भी तोड़ रखा है। इसी से न मैं ऐसा घर, ऐसी लक्ष्मी सी बहू पाकर भी अभी विवाह-संबंध नहीं स्थिर करता।

दू० ऋषि—अहा! तभी महाराज अश्वपति और उनकी रानी इस संबंध से इतने उदास हैं। केवल कन्या के अनुरोध से संबंध करने कहते हैं।

(हरिनाम गान करते हुए नारदजी का आगमन)

नारद—(नाचते और वीणा बजाते हुए)

(चाल नामकीर्तन महाराष्ट्री कटाव)

जय केशव करुणा कंदा। जय नारायण गोविंदा॥
जय गोपीपति राधा नायक। कृष्ण कमल-लोचन सुखदायक॥
माधव सुरपति रावण-हंता। सीतापति जदुपति श्रीकंता॥
बुद्ध नृसिंह परशुधर बावन। मच्छ कच्छ बपुधर गज-पावन॥
कल्कि बराह मुकुंदा। जय केशव करुणा कंदा॥
जय जय विष्णु भक्तभयहारी। बृंदावन बैकुंठ विहारी॥
जसुदा-सुअन देवकीनंदन। जगबंदन प्रभु कंसनिकंदन॥

शंख चक्र कौमोदकि-धारी। वंशीधर वकवदन-विदारी॥
जय वृंदावन चंदा। जय केशव करुणा कंदा॥
जय नारायण गोविंदा।

(सब लोग प्रणाम करके बैठाते हैं)

द्युमत्सेन—हमारे धन्य भाग कि इस दीनावस्था में आपके दर्शन हुए।

नारद—राजन्! तुम्हारे पास सत्यधन, तपोधन, धैर्यधन अनेक धन हैं, तुम क्यों दीन हो? और आज हम तुमको एक अति शुभ संदेश देने को आए हैं। तुम्हारे पुत्र का विवाह-संबंध हम अभी स्थिर किए आते हैं। सावित्री के पिता को भी समझा आए हैं कि उनकी कन्या सावित्री अपने उज्ज्वल पातिव्रत्य धर्म के प्रभाव से सब आपत्तियों को उल्लंघन करके सुखपूर्वक कालयापन करेगी और अपने पवित्र चरित्र से दोनों कुल का मान बढ़ावेगी। तुमसे भी यही कहने आए हैं कि सब संदेह छोड़कर विवाह का संबंध पक्का करो।

द्युमत्सेन—मुझको आपकी आज्ञा कभी उल्लंघनीय नहीं है। किंतु—

नारद—किंतु फिंतु कुछ नहीं। विशेष हम इस समय नहीं कह सकते। इतना मात्र निश्चय जानो कि अंत में सब कल्याण है।

द्युमत्सेन—जो आज्ञा।

नारद—अब हम जाते हैं।

(गान चाल भैरव, ताल इकताला वा बाउल भजन की
चाल पर ताल आड़ा)

बोलो कृष्ण कृष्ण राम राम परम मधुर नाम ।
गोविंद गोविंद केशव केशव गोपाल गोपाल माधव माधव ।
हरि हरि हरि वंशीधर वंशीधर श्याम नारायण वासुदेव ।
नंदनंदन जगबंदन वृंदावन चारु चंद्र गरे गुंजदाम ।
हरीचंद जन-रंजन सरन सुखद म[illegible] मूर्ति
राधापति पूर्ण करन सतत भक्त काम ॥

(नृत्य और गीत)

(जवनिका गिरती है)

परिशिष्ट

नाटक

परिशिष्ट

संवत् १९४०

उपक्रम

—:-०-:—

मुद्राराक्षस का जब मैंने अनुवाद किया तब यह इच्छा थी कि नाटकों के वर्णन का विषय भी इसके साथ दिया जाय। किंतु एक तो ग्रंथ के बढ़ने के भय से दूसरे कई मित्रों के अनुरोध से यह विषय स्वतंत्र, पुस्तकाकार मुद्रित हुआ। इसके लिखित विषय दशरूपक भारतीय नाट्यशास्त्र, साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश, विल्सन्स हिन्दू थिएटर्स, लाइफ आव दि एमिनेंट परसन्स, ड्रामेटिस्ट्स ऐंड नावेलिस्ट्स, हिस्टरी डि इटालिक थिएटर्स, और आर्य दर्शन से लिए गए हैं। आशा है कि हिंदी भाषा में नाटक बनानेवालों को यह ग्रंथ बहुत ही उपयोगी हो। एक तो मनुष्यबुद्धि ही भ्रमात्मिका है, दूसरे मेरी ठीक रुग्णावस्था में यह विषय लिखा गया है, इससे बहुत सी अशुद्धियाँ सम्भव हैं। आशा है कि सज्जन-गण गुण मात्र ग्रहण करके मेरा श्रम सफल करेंगे। इसके निर्माण में मुझको जिससे सहायता मिली है उसको धन्य-वाद देने की आवश्यकता नहीं क्योंकि दक्षिण हस्त के परिवर्त्त में वाम हस्त जो कार्य करे वह भी निज कृत ही है।

चैत्र शुक्ला १५, संवत् १९४० } हरिश्चंद्र.

समर्पण



हे मायाजवनिकाच्छन्न! जगन्नाटक-सूत्रधार! मदंगरंग-नायक! नटनागर!

जिसने इस इतने बड़े संसार-नाटक को रचकर खड़ा किया है, जगदंत:पाती वस्तुमात्र उसी को समर्पणीय है, विशेष कर नाटक-संबंधी और वह भी उसी के एक अभिमानी जन की।

नाथ! आज एक सप्ताह होता कि मेरे इस मनुष्य-जीवन का अंतिम अंक हो चुकता, किंतु न जाने क्या सोचकर और किस पर अनुग्रह करके उसकी आज्ञा नहीं हुई। नहीं तो यह ग्रंथ प्रकाश भी न होने पाता। यह भी आप ही का खेल है कि आज इसके प्रकाश का दिन आया। जब प्रकाश होता है तो समर्पण भी होना अवश्य हुआ। अतएव—

त्वदीयं वस्तु गोविंद! तुभ्यमेव समर्पये।

अपनाए हुए की वस्तु समझकर अंगीकार कीजिए।

यद्यपि संसार के कुरोग से मन प्राण तो नित्य ग्रस्त थे ही किंतु चार महीने से शरीर से भी रोगग्रस्त तुम्हारा

हरिश्चंद्र।

बपु लख चौरासी सजे नट सम रिझवन तोहि ।
निरखि रीझि गति देहु कै खीझि निवारहु मोहि ॥

कृष्ण त्वदीयपदपंकजपंजरांते
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः ।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः
कंठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥

चैत्र शुक्ला पूर्णिमा
महारास की समाप्ति
संवत् १९४०



नाटक

अथवा

दृश्य काव्य

नाटक शब्द का अर्थ है नट लोगों की क्रिया। नट कहते हैं विद्या के प्रभाव से अपने वा किसी वस्तु के स्वरूप के फेर कर देनेवाले को, वा स्वयं दृष्टि रोचन के अर्थ फिरने को। नाटक में पात्रगण अपना स्वरूप परिवर्तन करके राजादिक का स्वरूप धारण करते हैं वा वेषविन्यास के पश्चात् रंगभूमि में स्वकीय कार्य-साधन के हेतु फिरते हैं। काव्य दो प्रकार के हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य वह है जो कवि की वाणी को उसके हृदयगत आशय और हाव-भाव सहित प्रत्यक्ष दिखला दे। जैसा कालिदास ने शाकुंतल में भ्रमर के आने पर शकुंतला की सूधी चितवन से कटाक्षों का फेरना जो लिखा है, उसको प्रथम चित्रपटी द्वारा उस स्थान का, शकुंतलावेषसज्जित स्त्री द्वारा उसके रूप-यौवन और वनोचित शृंगार का, उसके नेत्र, सिर, हस्तचालनादि द्वारा उसके अंगभंगी और हाव-भाव का, तथा कवि-कथित वाणी के उसी के मुख से कथन द्वारा काव्य का, दर्शकों के चित्त पर खचित कर देना ही दृश्यकाव्यत्व है। यदि श्रव्यकाव्य द्वारा ऐसी चित-

वन का वर्णन किसी से सुनिए या ग्रंथ में पढ़िए तो जो काव्य-जनित आनंद होगा, यदि कोई प्रत्यक्ष अनुभव करा दे तो उससे चतुर्गुणित आनंद होता है। दृश्यकाव्य की संज्ञा रूपक है। रूपकों में नाटक ही सबसे मुख्य है इससे रूपक मात्र को नाटक कहते हैं। इसी विद्या का नाम कुशीलव-शास्त्र भी है। ब्रह्मा, शिव, भरत, नारद, हनुमान्, व्यास, वाल्मीकि, लव-कुश, श्रीकृष्ण, अर्जुन, पार्वती, सरस्वती और तुंबुरु आदि इसके आचार्य हैं। इनमें भरत मुनि इस शास्त्र के मुख्य प्रवर्त्तक हैं।

अथ भेद

नाटक शब्द की अर्थग्राहिता यदि रंगस्थ खेल ही में की जाय तो हम इसके तीन भेद करेंगे। काव्यमिश्र, शुद्ध कौतुक और भ्रष्ट। शुद्ध कौतुक यथा—कठपुतली वा खिलौने आदि से सभा इत्यादि का दिखलाना, गूँगे-बहिरे का नाटक, बाजीगरी वा घोड़े के तमाशे में संवाद, भूत-प्रेतादि की नकल और सभ्यता की अन्यान्य दिल्लगियों को कहेंगे। भ्रष्ट अर्थात् जिनमें अब नाटकत्व नहीं शेष रहा है यथा भाँड़, इंद्रसभा, रास, यात्रा, लीला और झाँकी आदि। पारसियों के नाटक, महाराष्ट्रों के खेल आदि यद्यपि काव्यमिश्र हैं तथापि काव्यहीन के कारण वे भी भ्रष्ट ही समझे जाते हैं। काव्य-मिश्र नाटकों को दो श्रेणी में विभक्त करना उचित है। प्राचीन और नवीन—

अथ प्राचीन

प्राचीन समय में अभिनय नाट्य, नृत्य, नृत्त, तांडव और लास्य इन पाँच भेदों में बँटा हुआ था। इनमें नृत्य भावसहित नाचने को, नृत्त केवल नाचने को और तांडव और लास्य भी एक प्रकार के नाचने ही को कहते हैं। इससे केवल नाट्य में नाटक आदि का समावेश होगा; शेष चारों नाचनेवालों पर छोड़ दिए जायँगे। नाट्य रूपक और उपरूपक में दो भेदों से बँटा है। रूपक के दश भेद हैं। यथा—

१ नाटक

काव्य के सर्वगुण संयुक्त खेल को नाटक कहते हैं। इसका नायक कोई महाराज (जैसा दुष्यंत) वा ईश्वरांश (जैसा श्रीराम) वा प्रत्यक्ष परमेश्वर (जैसा श्रीकृष्ण) होना चाहिए। रस शृंगार वा वीर। अंक पाँच के ऊपर और दस के भीतर। आख्यान मनोहर और अत्यंत उज्ज्वल होना चाहिए। उदाहरण शाकुंतल, वेणीसंहार आदि।

२ प्रकरण

यह और बातों में नाटक के तुल्य होना चाहिए किंतु इसका उपाख्यान लौकिक हो। नायक कोई मंत्री, धनी वा ब्राह्मण हो। इसकी नायिका मंत्रिकन्या, किसी के घर में आश्रित भाव से रहनेवाली, वा वेश्या हो। प्रथमावस्था में शुद्ध और द्वितीयावस्था में प्रकरण की संकर संज्ञा होती है। उदाहरण मल्लिकामारुत, मालतीमाधव और मृच्छकटिक।

३ भाण

भाण में एक ही अंक होता है। इसमें नट ऊपर देख-देखकर, जैसे किसी से बात करे, आप ही सारी कहानी कह जाता है। बीच में हँसना, गाना, क्रोध करना, गिरना इत्यादि आप ही दिखलाता है। इसका उद्देश्य हँसी, भाषा उत्तम और बीच-बीच में संगीत भी होता है। उदाहरण "विषस्य विषमौषधम्।"

४ व्यायोग

युद्ध का निदर्शन, स्त्री-पात्र-रहित और एक ही दिन की कथा का होता है। नायक कोई अवतार* वा वीर होना चाहिए। ग्रंथ नाटक की अपेक्षा छोटा। उदाहरण 'धनंजय-विजय।'

५ समवकार

यह तीन अंक में हो। इसमें १२ तक नायक हो सकते हैं। कथा दैवी हो। छंद वैदिक हों। युद्ध, आश्चर्य, माया इत्यादि इसमें दिखलाई जाती हैं। उदाहरण भाषा में नहीं है।

---

* अवतारों का वर्णन भक्तमाल में एक ही छप्पय में लिखा है :—

जय जय मीन बराह कमठ नरहरि बलि बावन।
परसुराम रघुबीर कृष्ण कीरति जगपावन॥
बौध कलंकी व्यास पृथू हरि हंस मन्वंतर।
यज्ञ ऋषभ हयग्रीव ध्रुवहि वर देन धन्वंतर॥
बद्रीपति दत्त कपिल देव सनकादिक करुना करौ।
चौबीस रूप लीला रुचिर अग्रदास उर पद धरौ॥

६ डिम

यह भी वैसा ही किंतु इसमें उपद्रव-दर्शन विशेष होता है। अंक चार, नायक देवता वा दैत्य वा अवतार। (उदाहरण नहीं)

७ ईहामृग

चार अंक, नायक ईश्वर वा अवतार। नायिका देवी। प्रेम इत्यादि वर्णित होता है। नायिका द्वारा युद्धादि कार्य संपादन होता है। (उदाहरण नहीं)

८ अंक

एक ही अंक में खेल दिखलाना। नायक गुणी और आख्यान प्रसिद्ध हो। (उदाहरण नहीं)

९ वीथी

भाण की भाँति एक अंक में। इसमें दो पुरुष आकर बात कर सकते हैं और अपनी वार्त्ता में विविध भाव द्वारा किसी का प्रेम वर्णन करेंगे किंतु हँसाते जायँगे। (उदाहरण नहीं)

✓ १० प्रहसन

हास्य रस का मुख्य खेल। नायक राजा वा धनी वा ब्राह्मण वा धूर्त कोई हो। इसमें अनेक पात्रों का समावेश होता है। यद्यपि प्राचीन रीति से इसमें एक ही अंक होना चाहिए किंतु अब अनेक दृश्य दिए बिना नहीं लिखे जाते। उदाहरण—हास्यार्णव, वैदिकी हिंसा, अंधेर नगरी।

महानाटक

नाटक के लक्षणों से पूर्ण ग्रंथ यदि दश अंकों में पूर्ण हो तो उसको महानाटक कहते हैं।

अथ उपरूपक

उपरूपक के अठारह भेद हैं। यथा नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित (श्रीरासिका), शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका।

नाटिका

नाटिका में चार अंक होते हैं और स्त्री पात्र अधिक होते हैं तथा नाटिका की नायिका कनिष्ठा होती है अर्थात् नाटिका के नायक की पूर्व-प्रणयिनी के वश में रहती है। उदाहरण—रत्नावली, चंद्रावली इत्यादि।

त्रोटक

इसमें सात, आठ, नौ या पाँच अंक होते हैं। और प्राय: प्रति अंक में विदूषक होता है। नायक दिव्य मनुष्य होता है। उदाहरण—विक्रमोर्वशी।

गोष्ठी

नौ या दस साधारण मनुष्य और पाँच-छः स्त्री जिसमें हों और कैशिकी वृत्ति तथा एक ही अंक हो। (उदाहरण नहीं)

सट्टक

जो सब प्राकृत में हो और प्रवेशक, विष्कंभक जिसमें न हों और शेष सब नाटिका की भाँति हो वह सट्टक है। उदाहरण—कर्पूरमंजरी।

नाट्यरासक

इसमें एक अंक, नायक उदात्त, नायिका वासकसज्जा, पीठमर्द उपनायक, और अनेक प्रकार के गान नृत्य होते हैं।

अथ शेष उपरूपक

योंही थोड़े-थोड़े भेद में और भी शेष उपरूपक होते हैं। न तो सबों के भाषा में उदाहरण हैं न इन सबों का काम ही विशेष पड़ता है, इससे सविस्तर वर्णन नहीं किया गया।

भरत मुनि ने उपरूपकों के भेद नहीं लिखे हैं। दश प्रकार के रूपक लिखकर नाटक के दो भेद और माने हैं यथा नाटिका और त्रोटक। 'मल्लिका-मारुत'-प्रकरणकार दंडी कवि रूपक मात्र को मिश्रकाव्य नाम से व्यवहृत करते हैं।

अथ नवीन भेद

आज-कल योरोप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं और वंग देश में जिस चाल के बहुत से नाटक बन भी चुके हैं वह सब नवीन भेद में परिगणित हैं। प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारंवार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक-अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है क्योंकि इस समय में नाटक के लेखों

के साथ विविध दृश्यों का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है। इन अंक और गर्भांकों की कल्पना यों होनी चाहिए, यथा पाँच वर्ष के आख्यान का एक नाटक है तो उसमें वर्ष-वर्ष के इतिहास के एक-एक अंक और उस अंक के अंतःपाती विशेष-विशेष समयों के वर्णन का एक-एक गर्भांक। अथवा पाँच मुख्य घटना-विशिष्ट कोई नाटक है तो प्रत्येक घटना के संपूर्ण वर्णन का एक-एक अंक और भिन्न-भिन्न स्थानों में विशेष घटनांतःपाती छोटी-छोटी घटनाओं के वर्णन में एक-एक गर्भांक। ये नवीन नाटक मुख्य दो भेदों में बँटे हैं—एक नाटक, दूसरा गीतिरूपक। जिनमें कथा भाग विशेष और गीति न्यून हों वह नाटक और जिसमें गीति विशेष हों वह गीतिरूपक। यह दोनों कथाओं के स्वभाव से अनेक प्रकार के हो जाते हैं किंतु उनके मुख्य भेद इतने किए जा सकते हैं यथा—१ संयोगांत—अर्थात् प्राचीन नाटकों की भाँति जिसकी कथा संयोग पर समाप्त हो। २ वियोगांत—जिसकी कथा अंत में नायिका वा नायक के मरण वा और किसी आपद घटना पर समाप्त हो। (उदाहरण "रणधीर प्रेम-मोहिनी") ३ मिश्र—अर्थात् जिसके अंत में कुछ लोगों का तो प्राणवियोग हो और कुछ सुख पावें।

इन नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य ये होते हैं यथा—१ शृंगार २ हास्य ३ कौतुक ४ समाज-संस्कार ५ देश-वत्सलता। शृंगार और हास्य के उदाहरण देने की आवश्य-

कता नहीं, जगत् में प्रसिद्ध है। कौतुकविशिष्ट वह है जिसमें लोगों के चित्तविनोदार्थ किसी यंत्रविशेष-द्वारा या और किसी प्रकार अद्‍भुत घटना दिखाई जायँ। समाज-संस्कारक नाटकों में देश की कुरीतियों का दिखलाना मुख्य कर्तव्य कर्म है। यथा शिक्षा की उन्नति, विवाह-संबंधी कुरीति-निवारण, अथवा धर्म-संबंधी अन्यान्य विषयों में संशोधन इत्यादि। किसी प्राचीन कथाभाग का इस बुद्धि से संगठन कि, देश की उससे कुछ उन्नति हो इसी प्रकार के अंतर्गत है। (इसके उदाहरण, सावित्री-चरित्र, दुःखिनी बाला, बाल्यविवाहविदूषक, जैसा काम वैसा ही परिणाम, जय नारसिंह की, चक्षुदान इत्यादि।) देशवत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़नेवालों वा देखनेवालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है और ये प्रायः करुण और वीर रस के होते हैं। (उदाहरण—भारतजननी, नीलदेवी, भारतदुर्दशा इत्यादि।) इन पाँच उद्देश्यों को छोड़कर वीर, सख्य इत्यादि अन्य रसों में भी नाटक बनते हैं।

अथ नाटक-रचना

प्राचीन समय में संस्कृत भाषा में महाभारत आदि का कोई प्रख्यात वृत्तांत अथवा कवि-प्रौढ़ोक्ति-संभूत, किंवा लोकाचारसंघटित, कोई कल्पित आख्यायिका अवलंबन करके, नाटक प्रभृति दशविध रूपक और नाटिका प्रभृति अष्टादश प्रकार उपरूपक लिपिबद्ध होकर, सहृदय सभासद लोगों की तात्कालिक रुचि अनुसार, उक्त नाटक-नाटिका प्रभृति दृश्यकाव्य किसी

राजा की अथवा राजकीय उच्चपदाभिषिक्त लोगों की नाट्य-शाला में अभिनीत होते थे।

प्राचीन काल के अभिनयादि के संबंध में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शकमंडली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्य काव्य-रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त-विनोदन कर गए हैं। किंतु वर्त्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे संप्रति प्राचीन मत अवलंबन करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता।

जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदयगण के अंत:करण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना योग्य है।

नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मत-पोषिका होंगी वह सब अवश्य ग्रहण होंगी। नाट्यकला-कौशल दिखलाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्वकाल में लोकातीत

असंभव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयहारिणी होती थी, वर्त्तमान काल में नहीं होती।

अब नाटकादि दृश्यकाव्य में अस्वाभाविक सामग्री-परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य-मंडली को नितांत अरुचिकर है; इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदय-ग्राहिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक में कहीं 'आशी:'* प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी' †, कहीं 'विलोभन' ‡, कहीं 'संफेट' §, 'पंचसंधि' ¶, वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भांति हिंदी नाटक में इनका अनुसंधान करना, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिंदी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उलटा फल होता

---

* आशी: नाटक में जो आशीर्वाद कहा जाय। यथा शाकुंतल में 'ययातेरिव शर्मिष्ठा पत्युर्बहुमता भव'।

† 'प्रकरी नायकस्य स्यान्नाटकीयफलांतरम्'।

‡ 'गुणाख्यानं विलोभनं' यथा वेणीसंहार में 'नाथ किं दुक्करं तुए परिकुविदेते'।

§ 'संफेटो रोपभाषणम्' यथा वेणीसंहार में राजा—अरे मरुत्तनय! वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निंदितमप्यात्मकर्म श्लाघयसि'।

¶ पंचसंधि यथा—'मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्ष उपसंहृतिः। इति पंचास्यभेदाः स्युः'।

है और यत्न व्यर्थ हो जाता है। संस्कृत नाटकादि रचना के निमित्त महामुनि भरतजी जो सब नियम लिख गए हैं, उनमें जो हिंदी नाटक-रचना के नितांत उपयोगी हैं और इस काल के सहृदय सामाजिक लोगों की रुचि के अनुयायी हैं वे ही नियम यहाँ प्रकाशित होते हैं।

अथ प्रतिकृति (Scenes)

किसी चित्रपट-द्वारा नदी, पर्वत, वन वा उपवन आदि की प्रतिच्छाया दिखलाने को प्रतिकृति कहते हैं। इसी का नामांतर अंत:पटी वा चित्रपट वा दृश्य वा स्थान है*। यद्यपि महामुनि भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र में, चित्रपट-द्वारा प्रासाद, वन, उपवन किंवा शैल प्रभृति की प्रतिच्छाया दिखाने का कोई नियम स्पष्ट नहीं लिखा है, किंतु अनुधावन करने से बोध होता है कि तत्काल में भी अंत:पटी परिवर्त्तन द्वारा वन, उपवन वा पर्वतादि की प्रतिच्छाया अवश्य दिखलाई जाती थी। ऐसा न होता तो पौर-जानपदवर्ग के अपवाद-भय से श्रीरामकृत सीता-परिहार के समय में उसी रंगस्थल में एक ही बार अयोध्या का राज-प्रासाद और फिर उसी समय वाल्मीकि का तपोवन कैसे दिखलाई पड़ता। इससे निश्चय होता है कि प्रतिकृति के परिवर्त्तन-द्वारा पूर्वकाल में यह सब अवश्य दिखलाया जाता था। ऐसे ही अभिज्ञान-शाकुंतल

---

* वर्त्तमान समय में जहां-जहां ये दृश्य बदलते हैं, उसी को गर्भांक कहते हैं।

नाटक के अभिनय करने के समय सूत्रधार एक ही स्थान में रहकर परदा बदले बिना कैसे कभी तपोवन और कभी दुष्यंत का राजप्रासाद दिखला सकेगा* । यही सब बात प्रमाण हैं कि उस काल में भी चित्रपट अवश्य होते थे। ये चित्रपट नाटक में अत्यंत प्रयोजनीय वस्तु हैं और इनके बिना खेल अत्यंत नीरस होता है।

जवनिका वा बाह्यपटी † (Drop Scene)

कार्य-अनुरोध से समस्त रंगस्थल को आवरण करने के लिए नाट्यशाला के सम्मुख जो चित्र प्रात्तप्त रहता है उसका नाम जवनिका वा बाह्यपटी है। जब रंगशाला में चित्रपट-

---

* मुद्राराक्षस में भी कई उदाहरण इसके प्रत्यक्ष मिलते हैं। मलयकेतु राक्षस से मिलने जाता है, यह कहकर उसी अंक में कहते हैं कि आसन पर बैठा राक्षस दिखलाई पड़ा। श्मशान से चंदनदास को लेकर चांडाल कुछ बढ़कर पुकारता है कि भीतर कौन है, अमात्य चाणक्य से कहो इत्यादि। अर्थात् पूर्व के दोनों दृश्य बदलकर राक्षस के और चाणक्य के घर के दृश्य दिखलाई पड़े। यह न हो तब तो नाटक निरे व्यर्थ हो जाते हैं जैसा रास में महाराष्ट्रों के नाटक में शतरंजी और मशालची को दिखलाकर नायिका नायक कहते हैं कि अहा देखो! यह फुलवारी वा नदी कैसी सुंदर है। इससे जहाँ पात्र जैसे स्थान का अपने वाक्य में वर्णन करे वा जिस स्थान की वह कथा हो, उसका चित्र पीछे पड़ा रहना बहुत ही आवश्यक है।

† इस परदे पर कोई सुन्दर मनोहर नदी, पर्वत, नगर इत्यादि का दृश्य वा किसी प्रसिद्ध नाटक के किसी अंक का चित्र दिखलाना अच्छा होता है।

परिवर्त्तन का प्रयोजन होता है उस समय यह जवनिका गिरा दी जाती है। संस्कृत नाटकों में जवनिका-पतन का नियम देखने से और भी प्रतीत होता है कि अंत:पटी-परिवर्त्तन-द्वारा गिरि-नदी आदि की प्रतिच्छाया उस काल में भी अवश्य दिखलाई जाती थी।

"तत: प्रविशन्त्यपटीक्षेपेणाप्सरस:"

अर्थात् जवनिका विना गिराए ही (उर्व्वशी-विरहातुर) अप्सरागण ने रंगस्थल में प्रवेश किया इत्यादि दृष्टांत ही इसके प्रमाण हैं।

अथ प्रस्तावना

नाटक की कथा आरंभ होने के पूर्व नटी, विदूषक किंवा पारिपार्श्वक सूत्रधार से मिलकर प्रकृत प्रस्ताव-विषयक जो कथोपकथन करें, नाटक के इतिवृत्त-सूचक उस प्रस्ताव को प्रस्तावना कहते हैं। नाटक की नियमावली में मुनिवर भरताचार्य ने पांच प्रकार की प्रस्तावना लिखी हैं। वह पाँचों प्रणाली अति आश्चर्य-भरित और सुंदर हैं। उसमें से चार हिंदी नाटक में भी व्यवहार की जा सकती हैं। सूत्रधार के पार्श्वचर बंधु को पारिपार्श्वक कहते हैं। पारिपार्श्वक की अपेक्षा नट कुछ न्यून होता है। अत्र पूर्व-लिखित पाँच प्रकार की प्रस्तावना लिखते हैं।

यथा—१ उद्घात्यक, २ कथोद्घात, ३ प्रयोगातिशय, ४ प्रवर्त्तक, और ५ अवगलित।

अथ उद्घात्यक

सूत्रधार प्रभृति की बात सुनकर अन्य प्रकार अर्थ प्रतिपादनपूर्वक जहाँ पात्र प्रवेश होता है उसे उद्घात्यक प्रस्तावना कहते हैं।

उदाहरण—मुद्राराक्षस

सूत्र०—प्यारी, मैंने जोतिःशास्त्र के चौसठों अंगों में बड़ा परिश्रम किया है। जो हो रसोई तो होने दो। पर आज गहन है, यह तो किसी ने तुम्हें धोखा ही दिया है। क्योंकि—

चंद्रबिंब पूरन भए, क्रूर केतु हठ दाप।
बल सों करि है ग्रास कह—

(नेपथ्य में)

हैं! मेरे जीते चंद्र को कौन बल से ग्रास कर सकता है?

सूत्र०— जेहि बुध रच्छत आप।

यहाँ सूत्रधार ने तो ग्रहण का विषय कहा था किंतु चाणक्य ने चंद्र शब्द का अर्थ चंद्रगुप्त प्रगट करके प्रवेश करना चाहा, इसी से उद्घात्यक प्रस्तावना हुई।

अथ कथोद्घात

जहाँ सूत्रधार की बात सुनकर उसके साथ वाक्य के अर्थ का मर्म ग्रहण करके पात्र प्रविष्ट होते हैं उसे कथोद्घात कहते हैं।

यथा रत्नावली में, सूत्रधार के इस कहने पर कि ईश्वरेच्छा से द्वीपांतर किंवा समुद्र के मध्य की वस्तु भी सहज में मिल जाती है, यौगंधरायण का आना।

यहाँ सूत्रधार के वाक्य का मर्म यह था कि जिस नाटक में द्वीपांतर की नायिका आती है, वह खेला जायगा इसी को समझकर अन्य नट मंत्री बनकर आया।

अथ प्रयोगातिशय

एक प्रयोग करते-करते घुणाक्षरन्याय से दूसरे ही प्रकार का प्रयोग कौशल में प्रयुक्त और उसी प्रयोग का आश्रय करके पात्र प्रवेश करें तो उसको प्रयोगातिशय प्रस्तावना कहते हैं।

जैसे कुंदबाला नामक नाटक में सूत्रधार ने नृत्य प्रयोग के निमित्त अपनी भार्या को आह्वान करने के प्रयोग विशेष-द्वारा सीता और लक्ष्मण का प्रवेश सूचित किया*। इस प्रकार से नाटक की प्रस्तावना शेष होने पर पात्र प्रवेश और नाटकीय इतिवृत्त की सूचना होगी।

* जान पड़ता है कि यहाँ भूल से प्रवर्त्तक और अवगलित की कारिका छूट गई है। जहाँ सूत्रधार किसी गुप्त बात का वर्णन करता है, और उसी के आश्रय से किसी पात्र का प्रवेश होता है, उसे प्रवर्त्तक कहते हैं। और जहाँ एक प्रयोग में किसी प्रकार के सादृश्य आदि की उद्भावना के द्वारा किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाय, उसे अवगलित कहते हैं।

अथ चर्चरिका

जब-जब एक-एक विषय समाप्त होगा जवनिका-पात करके पात्रगण अन्य विषय दिखलाने को प्रस्तुत होंगे तब पटाक्षेप के साथ ही नेपथ्य में चर्चरिका आवश्यक है, क्योंकि बिना उसके अभिनय शुष्क हो जाता है। जहाँ बहुत स्वर मिलकर कोई बाजा बजे या गान हो उसको चर्चरिका कहते हैं। इसमें नाटक की कथा के अनुरूप गीतों का वा रागों का बजना योग्य है। जैसे सत्य हरिश्चंद्र में प्रथम अंक की समाप्ति में जो चर्चरिका बजै वह भैरवी आदि सवेरे के राग की और तीसरे अंक की समाप्ति पर जो बजै वह रात के राग की होनी चाहिए।

कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती वृत्ति

अथ कैशिकी वृत्ति

जो वृत्ति अति मनोहर, स्त्रीजनोचित भूषण से भूषित, और रमणी-बाहुल्य नृत्य* गीतादि परिपूर्ण और भोगादि

---

* हिंदुस्तान से नृत्यविद्या उठ गई। यह विद्या आगे इस देश में ऐसी प्रचलित थी कि सब अच्छे लोग इसको सीखते थे। इसके शास्त्र अब तक कहीं-कहीं लब्ध होते हैं और उनसे इस विद्या का महत्त्व प्रत्यक्ष प्रगट होता है। संगीतशास्त्र का यह एक अंग है। वाद्य, नृत्य और गाना यह तीनों वस्तु जिसमें हों उसकी संगीत संज्ञा है। इस काल में हिंदुस्तान में संगीत शास्त्र जाननेवालों का कुछ आदर नहीं और लोग इस विद्या से लज्जा करते हैं, परंतु यही इस देश के दुर्दिन का उदाहरण है। अब भी भारतवर्ष के जिस प्रदेश में यह विद्या बच गई है वहां

विविध विलास-युक्त होती है उसका नाम कैशिकी वृत्ति है। यह वृत्ति शृंगाररस-प्रधान नाटकों की उपयोगिनी है।

अथ सात्वती वृत्ति

जिस वृत्ति-द्वारा शौर्य, दान, दया और दाक्षिण्य प्रभृति से वीरोचिता, विविध गुणान्विता, आनन्द-विशेषोद्भाविनी, सामान्य विलास-युक्ता, विशोका और उत्साहवर्द्धिनी वाग्भंगी नायक-कर्तृक प्रयुक्त होती है उसका नाम सात्वती वृत्ति है। वीररस-प्रधान नाटक में इसकी आवश्यकता होती है।

बहुत अच्छी है जैसा कि १८७१ ई० में श्री महाराज व्यङ्कटगिरि के संग एक नर्त्तकी शारदा नाम की आई थी। निस्संदेह वह इस विद्या में बहुत प्रवीण थी। नृत्त और नृत्य दोनों में अपूर्व काम करती थी। इस देश की नर्त्तकी तो केवल मुखावलोकन ही के योग्य होती हैं, गुण तो उनके पास से भी नहीं निकलता। परंतु वह "यथानाम तथागुणाः" को सत्य करती थी। नृत्य और नृत्त में यह भेद है कि "भवेद्भावाश्रयं नृत्तं नृत्यंताललयाश्रयम्" जिसमें भाव मुख्य हो वह नृत्त और जिसमें लय मुख्य हो वह नृत्य कहलाता है। भाव नेत्र, भौंह, मुख और हाथ तथा स्वर से भी प्रगट होते हैं। लय भी हाथ, पैर, गले और भौंह से होती है। नृत्य के शास्त्रों में १०८ भेद लिखे हैं और लाग, डाँट, उड़प, तिरप, हस्तक भेद इत्यादि इसके अंग हैं, जिसमें केवल घुँघरू बजाने के ७ मुख्य भेद हैं। लास्य और तांडव इसके दो मुख्य अंग हैं और यह नृत्त एक से लेकर बहुत से मनुष्यों से भी होता है। पुरुष और स्त्री दोनों इसके अधिकारी हैं परंतु नृत्तभेद से किसी में केवल पुरुष, किसी में केवल स्त्री और किसी में दोनों होते हैं। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि यह विद्यासंबंधी संगीत शास्त्र हम लोगों में फैले और यह प्रचलित मूर्खतामय लज्जा का कारण विषयरूपी संगीत हमारे शत्रुओं को मिले।

अथ आरभटी

माया, इंद्रजाल, संग्राम, क्रोध, आघात, प्रतिघात और बंधनादि विविध रौद्रोचितकार्यजड़ित वृत्ति का नाम आरभटी है। रौद्ररस वर्णन के स्थल में इस वृत्ति पर दृष्टि रखनी चाहिए।

अथ भारती

साधुभाषाबाहुल्य वृत्ति का नाम भारती वृत्ति है। वीभत्स रस वर्णन-स्थल में यह व्यवहृत होती है। नाटककर्त्ता ग्रंथ-गुंफन करने के समय यदि आद्यरस-प्रधान नाटक लिखने की इच्छा करेंगे, तो उनको कैशिकी वृत्ति ही में समस्त वर्णन करना योग्य है। आद्यरस वर्णन करने के समय ताल ठोकना, मुद्गर घुमाना, वा असिक्षेप प्रभृति वीरोचित विषयक कोई भी वर्णन नहीं करना चाहिए। सात्वती प्रभृति वृत्तियों के पक्ष में भी ठीक यही चाल है।

अथ उपक्षेप

अभिनय कार्य के प्रथम संक्षेप में समस्त नाटकीय विवरण कथन का नाम उपक्षेप है।

पूर्वकाल में मुद्रायंत्र * की सृष्टि नहीं हुई थी, इस हेतु रंगस्थल में नट, नटी, सूत्रधार अथवा पारिपार्श्वक कर्तृक

* यद्यपि छापे की विद्या बहुत दिनों से भारतवर्ष में प्रचलित है इसमें कुछ संदेह नहीं, किंतु आजकल जैसी इसकी उन्नति है और इससे पत्र और पुस्तक आदि छप-छप के प्रकाशित होते हैं, यह भी कभी यहाँ था कि नहीं सो कुछ निश्चय नहीं है। श्रीकृष्ण के समय जब राजा

उपक्षेप का उल्लेख होता था। आजकल मुद्रायंत्र के प्रभाव से इसकी कुछ आवश्यकता नहीं रही। प्रोग्राम बाँट देने ही से वह काम सिद्ध हो जायगा।

शाल्व ने द्वारवतीपुरी को आक्रमण किया, उस समय वहाँ यह बंदोबस्त किया था कि "नचाऽमुद्रोऽभिनिर्याति नैवांतःप्रविशेदपि" महाभारत वन-पर्व; अर्थात् बिना राजकीय नाम की मोहर छाप के कोई नगर से निकल नहीं सके और कोई भीतर भी न आवे। यहाँ स्पष्ट ही देख लीजिए कि छापे की मुद्रा से, एक जगह के अक्षर दूसरी जगह उतारे जाते थे। मुद्राराक्षस नाटक, जो राजा चंद्रगुप्त के समसामयिक वा कुछ उत्तरवर्त्ती काल में बना है, यहाँ भी राक्षस-नामांकित मुद्रा प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार यद्यपि मुद्रण-विधि का मूल तो आर्य्य शास्त्रों में प्रायः मिलता है, किंतु इसकी उन्नति करके देशांतरीय लोगों ने जैसा इससे लाभ उठाया है वैसा भारतीय आर्य्य लोगों ने कुछ भी नहीं किया, यह सभी कोई कह सकते हैं; अतएव यह मुद्रण-विद्या देशांतर ही से चली और अनार्य्य लोग ही इसके आद्य आचार्य्य हुए, यह बात हमको भी खुले मुँह कहनी पड़ती है।

छापा यंत्र बनाने के निमित्त अनेक लोग ही सम्मान प्राप्त होने के योग्य हैं, किंतु वास्तव में इंगलैंड देश के हार्लेम नगर में यह यंत्र पहिले ही पहिले निर्मित हुआ, यह प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। उक्त नगर के शासनकर्त्ता लौरेंस कोंभर साहिब ने, शक १४४० चौदह सौ चालीस में, इसका निर्माण किया और आद्य प्रादुर्भावकर्त्ता के निमित्त, सब से प्रथम वही सम्माननीय हुआ। वह एक दिन अपने समीपस्थ किसी बगीचे में जाके एक वृक्ष की गीली त्वचा काट के, उससे अपने नाम के अक्षर बना-बना एक क्रीड़ा सी कर रहा था। वे ही अक्षर काट-काट के जब उसने एक किसी कागज के ऊपर रख दिए थे, उसी समय एक वायु का

पूर्वकाल में नाटक मात्र में उपक्षेप उपन्यस्त होता था, यह नियम नहीं था; क्योंकि सब नाटकों में उपक्षेप का उल्लेख दिखाई नहीं पड़ता। वेणीसंहार में इसका उल्लेख है किंतु यह भीमकृत उपन्यस्त हुआ है।

यथा भीम—

झोंका आया और वे अक्षर जो उस वृक्ष के रस से गीले हो रहे थे, उनकी समस्त आकृति वायुवेग से हठात् उस कागज पर उखड़ आई। साहिब ने जब उक्त घटना देखी तो पीछे अपनी विवेचना द्वारा वह और-और भी अनेक प्रकार की परीक्षा करने लगा, फिर उसने काष्ठ के अक्षर बना के एक प्रकार सघन और द्रव वस्तु में उनको डुबा के छापा किया, तब और भी कुछ उत्तम छपा हुआ मालूम दिया। शेष में उसने सीसा एवं मीसा और रांगा मिले हुए धातु से अक्षर बना के, यंत्र के निमित्त एक स्वतंत्र स्थान निर्माण किया। इस प्रकार उस काल से ले के अद्य पर्यंत इस उत्तम मुद्रणविद्या की वृद्धि होती ही चली आती है। उक्त लौरेंस साहिब के पास एक उसका नौकर "योहन्फस्तस्" नामक रहता था। उसने गुप्त भाव से अपने स्वामी की विद्या चुराई और वहां से आ के मेंडस नामक नगर में, उक्त मुद्रणविद्या का प्रकाश किया। अतएव वह उस देश में उस नूतन विद्या द्वारा विद्वान् और मायावी के नाम से स्वयं विख्यात हुआ।

भारतवर्षीय उन्नति के समय और उसके बाद जब यूनान और रोमदेशीय लोगों की उन्नति का समय आया तो, वहां भी केवल जो धनी और बड़े आदमी होते थे, अथवा अधिक परिश्रम करते थे, वही हस्त-लिखित पुस्तकों-द्वारा विद्या उपार्जन कर सकते थे, किन्तु आज छापे-द्वारा विविध विद्याविभूषित पुस्तकें, सर्वसाधारण को सहज ही में प्राप्त हो सकती हैं, इससे मनुष्य-समाज में एक नूतन युग सा आविर्भूत हुआ दिखाई देता है, इसमें कुछ संदेह नहीं। (ध० दि०)

"लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
　　प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्
　　सुस्था भवन्ति मयि जीवति धार्त्तराष्ट्राः ?"

अथ प्ररोचना

जिसके अनुष्ठान द्वारा अभिनयदर्शन में सामाजिक लोगों की प्रवृत्ति जन्मती है उसका नाम प्ररोचना है। यह सूत्रधार, नट, पारिपार्श्वक वा नटी के द्वारा विगीत होती है।

अथ नेपथ्य

रंगस्थल के पश्चात् भाग में जो एक गुप्त स्थान रहता है उसका नाम नेपथ्य है।

अलंकारयिता इसी स्थान में पात्रों को वेश-भूषणादि से साजते हैं। जव रंगभूमि में आकाशवाणी, दैवी वाणी अथवा और कोई मानुषी वाणी का प्रयोजन होता है तो वह नेपथ्य ही में से गाई या कही जाती है।

अथ उद्देश्यवीज

गुंफित आख्यायिका के समग्र मर्म्म का नाम उद्देश्य-वीज है। कवि जो इसका साधन न कर सकेगा तो उसका ग्रंथ नाटक में परिगणित न होगा।

अथ वस्तु

नाटकीय इतिहास अथवा कोई विवरण विशेष का नाम वस्तु है। वस्तु दो प्रकार की है यथा—आधिकारिक वस्तु और प्रासंगिक वस्तु।

अथ आधिकारिक वस्तु

जो समस्त इतिवृत्त का प्रधान नायक होता है उसको अधिकारी कहते हैं। अधिकारी का आश्रय करके जो वस्तु विरोचित होती है, उसका नाम आधिकारिक वस्तु है। जैसा उत्तरचरित।

अथ प्रासंगिक वस्तु

इस आधिकारिक इतिवृत्त का रस पुष्ट करने के लिए प्रसंग-क्रम में जो वृत्त लिखा होता है, उसका नाम प्रासंगिक वस्तु है। जैसा बालरामायण में सुग्रीव-विभीपणादि का चरित्र।

अथ मुख्य उद्देश्य

प्रसंग-क्रम से नाटक में कितनी भी शाखा-प्रशाखा विस्तृत हों, और गर्भांक के द्वारा आख्यायिका के अतिरिक्त और कोई विपय वर्णित हो किंतु मूल प्रस्ताव निष्कंप रहै तो उसकी रस-पुष्टि करने को मुख्य उद्देश्य कहा जाता है।

अथ अभिनय

कालकृत अवस्था-विशेष के अनुकरण का नाम अभिनय है। अवस्था यथा, रामाभिपेक, सीता-निर्वासन, द्रौपदी का केशभाराकर्षण इत्यादि।

अथ पात्र

जो लोग राम युधिष्ठिरादि का रूप धारण करके कथित अवस्था का अनुकरण करते हैं, उन लोगों को पात्र कहते हैं। नाटक के जो सब अंश स्त्रीगणकर्तृक प्रदर्शित होते हैं, उनमें

भाव, हाव, हेला प्रभृति यौवन-संभूत अष्टाविंशति प्रकार के अलंकारों का उन लोगों को अभ्यास नहीं करना पड़ता, किंतु पुरुषों को स्त्री-वेश धारण के समय अभ्यास द्वारा वह भाव दिखलाना पड़ता है।

अथ अभिनय प्रकार

अभिनय चार प्रकार का होता है यथा—आंगिकाभिनय, वाचिकाभिनय, आहार्याभिनय और सात्विकाभिनय।

अथ आंगिकाभिनय

केवल अंगभंगी-द्वारा जो अभिनय कार्य साधन करते हैं, उसका नाम आंगिकाभिनय है। जैसे सती नाटक में नंदी। सती ने शिव की निंदा श्रवण करके देह त्याग किया। यह सुनकर महावीर नंदी ने जब त्रिशूल हस्त में ले करके रंग-स्थल में प्रवेश किया तब केवल आंगिकभाव द्वारा क्रोध दिखलाना चाहिए।

अथ वाचिकाभिनय

केवल वाक्य-विन्यास द्वारा जो अभिनय-कार्य समाहित होता है, उसका नाम वाचिकाभिनय है। यथा तोतले आदि का वेश।

अथ आहार्याभिनय

वेप भूषणादि निष्पाद्य का नाम आहार्याभिनय है। जैसा सत्यहरिश्चंद्र में चोवदार वा मुसाहिब लोग जब राजा के साथ रंगस्थल में प्रवेश करते हैं तब इनको कुछ बात नहीं

करनी पड़ती। केवल आहार्याभिनय के द्वारा आत्मकार्य निष्पन्न करना होता है।

अथ सात्विकाभिनय

स्तंभ, स्वेद, रोमांच, कंप और अश्रु प्रभृति द्वारा अवस्थानुकरण का नाम सात्विकाभिनय है। जैसा सती का मृत देह देखकर नंदी का व्यवहार और अश्रुपात इत्यादि।

अथ वीभत्साभिनय

एक पात्र-द्वारा जब कथित अभिनय में से दो वा तीन अथवा सब प्रदर्शित होते हैं तो उसको वीभत्साभिनय कहते हैं।

अथ अंगांगी भेद

नाटक में जो प्रधान नायक होता है उसको समस्त इतिवृत्ति का अंगी कहते हैं। जैसे सत्यहरिश्चंद्र में हरिश्चंद्र।

अथ अंग

अंगी के कार्यसाधक पात्रगण अंग कहलाते हैं। जैसे वीरचरित में सुग्रीव, विभीषण, अंगद इत्यादि।

अथ वैषम्यपात दोष

नाटक में अंगी को अवनत करके अंग का प्राधान्य करने से वैषम्यपात नामक दोष होता है।

अथ अंक लक्षण

नाटक के एक-एक विभाग को एक-एक अंक कहते हैं। अंक में वर्णित नायक-नायिकादि पात्र का चरित्र और आचार-व्यवहारादि दिखलाया जाता है। अनावश्यक कार्य का

उल्लेख नहीं रहता। अंक में अधिक पद्य का समावेश दूषणावह होता है।

अथ अंकावयव

नाटक का अवयव बृहत् होने से एक रात्रि में अभिनय-कार्य समाहित नहीं होगा। इस हेतु दश अंक से अधिक नाटक निर्माणविधि और युक्ति के विरुद्ध है। प्रथम अंक का अवयव जितना होगा द्वितीयांक का अवयव तदपेक्षा न्यून होना चाहिए। ऐसे ही क्रम-क्रम से अंक का अवयव छोटा करके ग्रंथ समाप्त करना चाहिए।

अथ विरोधक

नाटक में जिन विषयों का वर्णन निषिद्ध है, उनका नाम विरोधक है।

उदाहरण

दूराह्वान, अति विस्तृत युद्ध, राज्य देशादि का विप्लव, प्रवल वात्या, दंतच्छद, नखक्षत, अश्वादि बृहत्काय जंतु का अति वेग से गमन, नौका-परिचालन और नदी में संतरण प्रभृति अघटनीय विषय।

अथ नायक निर्वाचन

विनय, शीलता, वदान्यता, दक्षता, क्षिप्रता, शौर्य, प्रिय-भाषिता, लोकरंजकता, वाग्मिता प्रभृति गुणसमूह-संपन्न सद्वंशसंभूत युवा को नायक होने का अधिकार है। नायक की भाँति नायिका में भी यथासंभव वही गुण रहना आव-

श्यक है। प्रहसन आदि रूपक-विशेष के नायकादि अन्य प्रकार के होते हैं।

अथ परिच्छद-विवेक

नाटकांतर्गत कौन पात्र कैसा परिच्छद पहरें यह ग्रंथ-कार कर्तृक उल्लिखित नहीं होता, न किसी प्राचीन नाटककार ने इसका उल्लेख किया है। नाटक में किसी-किसी स्थान में उत्तम परिच्छद का परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। जैसा सत्य-हरिश्चंद्र में "दरिद्र वेष से हरिश्चंद्र का प्रवेश।"

ऐसी अवस्था भिन्न स्पष्ट रूप से परिच्छद का वर्णन किसी स्थान में उल्लिखित नहीं रहता, इससे अभिनय में वेश-रचयिता पात्रगण का स्वभाव और अवस्था विचार करके वेशरचना कर दे। नेपथ्य कार्य सुन्दर रूप से निर्वाह के हेतु एक रसज्ञ वेषविधायक की आवश्यकता रहती है।

अथ देशकाल प्रवाह

अति दीर्घकाल संपाद्य घटना सकल नाटक में अल्पकाल के मध्य में वर्णन करना यद्यपि दूषणावह नहीं है तथापि नाटक में देशगत और कालगत वैलक्षण्य वर्णन करना अतिशय अनुचित है।

अथ विष्कंभक

नाटक में विष्कंभक रखने का तात्पर्य यह है कि नाटकीय वस्तु-रचना में जो जो अंश अत्यंत नीरस और आडंबरात्मक हैं उनके सन्निवेशित होने से सामाजिक लोगों

को विरक्ति और अरुचि हो जाती है। नाटक-प्रणेतृगण इन घटनाओं को पात्र विशेष के मुख से संक्षेप में विनिर्गत कराते हैं।

अथ नाटकरचना-प्रणाली

नाटक लिखना आरंभ करके, जो लोग उद्देश्य वस्तु परंपरा से चमत्कारजनक और अति मधुर वस्तु निर्व्वाचन करके भी स्वाभाविक सामग्री परिपोष के प्रति दृष्टिपात नहीं करते उनका नाटक नाटकादि दृश्य काव्य लिखने का प्रयास व्यर्थ है क्योंकि नाटक आख्यायिका की भाँति श्रव्य काव्य नहीं है।

ग्रंथकर्त्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रों की बात-चीत रचना करै कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बात भी विरचित हो। नाटक में वाचाल पात्र की मितभाषिता, मितभाषी की वाचालता, मूर्ख की वाक्पटुता और पंडित का मौनीभाव विडंबना मात्र है। पात्र की बात सुन-कर उसके स्वभाव का परिचय ही नाटक का प्रधान अंग है। नाटक में वाक्-प्रपंच एक प्रधान दोष है। रसविशेष द्वारा दर्शकों के अंतःकरण को उन्नत अथवा एकबारगी शोकावनत करने को समधिक वागाडंबर करने से कभी उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। नाटक में वाचालता की अपेक्षा मितभाषिता के साथ वाग्मिता का ही सम्यक् आदर होता है। नाटक में प्रपंच रूप से किसी भाव को व्यक्त करने का नाम गौण उपाय

है और कौशल विशेष द्वारा थोड़ी बात में गुरुतर भाव व्यक्त करने का नाम मुख्योपाय है। थोड़ी सी बात में अधिक भाव की अवतारणा ही नाटक जीवन का महौषध है। जैसा उत्तर-रामचरित में महात्मा जनकजी आकर पूछते हैं—'क्वास्ते प्रजावत्सलो रामः'? यहाँ प्रजावत्सल शब्द से महाराज जनक के हृदय के कितने विकार बोध होते हैं, केवल सहृदय ही इसका अनुभव करेंगे। चित्रकार्य के निमित्त जिन-जिन उपकरणों का प्रयोजन और स्थान-विशेष की उच्चता-नीचता दिखलाने की जैसी आवश्यकता होती है वैसे ही वही उपकरण और उच्चता-नीचता प्रदानपूर्वक अति सुंदर रूप से मनुष्य के बाह्य भाव और कार्यप्रणाली के चित्रण द्वारा सहज भाव से उनका दिखलाना प्रशंसा का विषय है। जो इस भाँति दूसरे का अंतरभाव व्यक्त करने को समर्थ हैं, उन्हीं को नाटककार संबोधन दिया जा सकता है और उन्हीं के प्रणीत ग्रंथ नाटक में परिगणित होते हैं।

नाटक में अंतर का भाव कैसे चित्रित किया जाता है इसका एक अति आश्चर्य दृष्टांत अभिज्ञान शाकुंतल* से उद्धृत किया गया।

---

* इस प्रसिद्ध नाटक के मंगलाचरण का श्लोक "या स्रष्टुः सृष्टिराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री। ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्॥ यामाहुस्सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवंतः। प्रत्यक्षाभिः प्रसन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभि-

शकुंतला श्वशुरालय में गमन करेगी इस पर भगवान कण्व जिस भाँति खेदप्रकाश करते हैं वह यह है।

रीशः ॥" बहुत प्रसिद्ध है और सब टीकाकारों ने इसके अनेक अर्थ किए हैं तथापि मुझे ऐसा निश्चित होता है कि कालिदास ने क्षिति इत्यादि शब्दों से श्रीशिवजी का विराट स्वरूप वर्णन नहीं किया है क्योंकि उन मूर्त्तियों का 'प्रत्यक्षाभिः' यह विशेषण दिया है और लोग "या स्रष्टुः सृष्टिराद्या" इसका अर्थ आकाश करते हैं तो आकाश क्या अक्षि का विषय है ? इससे मेरे ध्यान में आता है कि शिवजी की जो प्रत्यक्ष परम सुंदरी मूर्त्ति है यह उसी का वर्णन है। जैसे—

'या स्रष्टुः सृष्टिराद्या' अर्थात् जल 'शीर्षे च मंदाकिनी' जिस मूर्त्ति में जल सब के ऊपर है।

'वहति विधिहुतं या हविः' अर्थात् अग्नि, 'वंदे सूर्य्यशशाङ्कवह्नि-नयनं' जिस मूर्त्ति का एक मुख्य अंग अर्थात् नेत्र अग्नि है वा मुख वर्णन किया 'मुखो वै अग्निः, मुखादग्निः'।

'या च होत्री' अर्थात् यजमानस्वरूपा जो मूर्त्ति कर्म्ममार्ग स्थापन करनेवाली है 'अभिवाद्यो महाकर्म्मा तपस्वी भूतभावनः' 'सर्व्वकर्म्मा' 'सर्व्वयज्ञकृत्' इत्यादि नाम प्रसिद्ध हैं, 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षं पुरुषं' इत्यादि की दो-तीन ऋचा में यज्ञोत्पत्ति कही है।

'ये द्वे कालं विधत्तः' अर्थात् चंद्रमा और सूर्य्य 'सूर्य्यशशाङ्कवह्नि-नयनं' जिसकी दो नेत्र स्वरूप मूर्त्तियाँ काल का विधान करती हैं और शिव के निमिष में प्रलयादिक होते हैं यह भी पुराण-प्रसिद्ध वा सूर्य्य नेत्र चंद्रमा सिर पर वा मन स्वरूप 'चंद्रमा मनसो जातश्चक्षोस्सूर्यो अजायत'।

'श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वं' अर्थात् वाणीस्वरूपी मूर्त्ति, जिसकी वाणी वेद स्वरूप विश्व को अपने नियम में व्याप्त कर

कण्व—(मन में चिंता करके) आहा आज शकुंतला पतिगृह में जायगी यह सोचकर हमारा हृदय कैसा उत्कंठित होता है, अंतर में जो वाष्पभर का उच्छ्वास हुआ है

के स्थित है क्योंकि शिवजी वाणी के अधिदेवता 'वागीशः' 'अहं कलानां ऋषभोपि' 'विद्याकामस्तु गिरिशं' 'वाणी व्याकरणं यस्य' इत्यादि पुराण में प्रसिद्ध हैं वा वेदों का विषय होकर जो मूर्त्ति एकदेशावच्छिन्ना होकर भी विश्व को व्याप्त करके स्थित है 'स भूमिं सर्व्वतो-वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्' वा नाभि अंग का वर्णन किया है, 'यस्य नाभिर्वै आकाशः' 'नाभ्या आसीदंतरिक्षं' इत्यादि।

'यामाहुः सर्व्वबीजप्रकृतिरिति' अर्थात् पृथ्वी को आपने भस्म स्वरूप से सर्व्वांग में धारण किया है 'भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गः' 'भस्मोद्धूलित-विग्रहः' इत्यादि वा पृथ्वी, गंगा, शिर, नेत्र, मुख, नाभि इत्यादि अंगो को वर्णन करके चरण का वर्णन करते हैं जिसके चरण पृथ्वी स्वरूप हैं 'चरणे धरा' 'पद्भ्याम्भूमिः' इत्यादि।

'यया प्राणिनः प्राणवंतः' अर्थात् आत्मा, तो इसमें मूर्त्ति ही में आत्मा का वर्णन इस हेतु किया जिसमें भगवान् के देह में आत्मा अलग है यह संदेह न हो क्योंकि 'यथा सैंधवघनो' इत्यादि परमात्मा का स्वरूप है तो सब मूर्त्तियों का वर्णन करके व्यापकत्व और आत्म-स्वरूपत्व कहा वा कानों का वर्णन मानों 'श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च' वा आप प्राणायामस्थ हैं यह ध्यान किया है।

तो इन आठों मूर्त्तियों से विशिष्ट प्रत्यक्ष शिवजी का वर्णन कालि-दास ने किया, कुछ संसार स्वरूप भगवान् का वर्णन नहीं है क्योंकि अंत में भी 'नीललोहितः' विशेषण दिया है और यों मानने से क्रम से शिर पर गंगा फिर मुख और उनके यज्ञादिक कर्म्म और चंद्रचूड़ तथाच नेत्र फिर वाणी का वा नाभि का और भस्मधारण का तथा चरण का

उससे वाग्जड़ता हो गई है, और दृष्टिशक्ति चिंता से जड़ीभूत हो रही है। हाय! हम वनवासी तपस्वी हैं। सो जब हमारे हृदय में ऐसा वैक्लव्य होता है तो कन्या के वियोग के अभिनव दुःख में बेचारे गृहस्थों की क्या दशा होती होगी!

सहृदय पाठक! आप विवेचना करके देखिए कि इस स्थान में कविश्रेष्ठ कालिदास कुलपति कण्व ऋषि का रूप धारण करके ठीक उनका मानसिक भाव व्यक्त कर सके हैं कि नहीं।

इसके बदले कालिदास यदि कण्व ऋषि का छाती पीटकर रोना वर्णन करते तो उनके ऋषि-जनोचित धैर्य की क्या दुर्दशा होती अथवा कण्व का शकुंतला के जाने पर शोक ही न वर्णन करते तो कण्व का स्वभाव मनुष्य-स्वभाव से कितना दूर जा पड़ता। इसी हेतु कविकुलमुकुट-माणिक्य भगवान् कालिदास ने ऋषि-जनोचित भाव ही में कण्व का शोक वर्णन किया।

नाटक-रचना में शैथिल्य दोष कभी न होना चाहिए। नायक-नायिका द्वारा किसी कार्य विशेष की अवतारणा करके अपरिसमाप्त रखना अथवा अन्य व्यापार की अवतारणा करके उसका मूलच्छेद करना नाटक-रचना का उद्देश्य नहीं है।

और फिर मुख्य स्वरूप आत्मा का क्रमशः वर्णन हो गया तो मेरी बुद्धि में आता है कि कालिदास का अभिप्राय भी यही होगा क्योंकि 'प्रत्यक्षाभिः' का दोष और नाटक के उपसंहार में सगुण शिव नीललोहित करके वर्णन इत्यादि का इस अर्थ में विरोध नहीं आता।

जिस नाटक की उत्तरोत्तर कार्य-प्रणाली संदर्शन करके दर्शक लोग पूर्व-पूर्व कार्य विस्मृत होते जाते हैं वह नाटक कभी प्रशंसा-भाजन नहीं हो सकता। जिन लोगों ने केवल उत्तम-उत्तम वस्तु चुनकर एकत्र किया है उनकी गुंफित वस्तु की अपेक्षा जो उत्कृष्ट, मध्यम और अधम तीनों का यथास्थान निर्वाचन करके प्रकृति की भावभंगी उत्तम रूप से चित्रित करने में समर्थ हैं वही काव्यामोदी रसज्ञ-मंडली को अपूर्व आनंद वितरण कर सकते हैं। कालिदास, भवभूति और शेक्सपियर प्रभृति नाटककार इसी हेतु पृथ्वी में अमर हो रहे हैं। कोई सामग्री संग्रह नहीं है, अथच नाटक लिखना होगा यह अलीक संकल्प करके जो लोग नाटक लिखने को लेखनी धारण करते हैं उनका परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। यदि किसी को नाटक लिखने की वासना हो तो नाटक किसको कहते हैं इसका तात्पर्य हृदयंगम करके, नाटकरचयिता को सूक्ष्म रूप से ओतप्रोत भाव में मनुष्य की प्रकृति आलोचना करनी चाहिए। जो अनालोचित-मानव-प्रकृति हैं उनके द्वारा मानव जाति के अंतर्भाव सब विशुद्ध रूप से चित्रित होंगे, यह कभी संभव नहीं है। इसी कारण कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतल और शेक्सपियर के मैकबेथ और हमलेट इतने विख्यात हो के पृथ्वी के सर्व स्थान में एकादर से परिभ्रमण करते हैं। मानव प्रकृति की समालोचना करनी हो तो नाना देशों में भ्रमण करके नाना प्रकार के लोगों के साथ कुछ दिन वास करे; तथा नाना

प्रकार के समाज में गमन करके विविध लोगों का आलाप सुने तथा नाना प्रकार के ग्रंथ अध्ययन करे; वरंच समय में अश्वरक्षक, गोरक्षक, दास, दासी, ग्रामीण, दस्यु प्रभृति नीच-प्रकृति और सामान्य लोगों के साथ कथोपकथन करे। यह न करने से मानवप्रकृति समालोचित नहीं होती। मनुष्यों की मानसिक वृत्ति परस्पर जिस प्रकार अदृश्य है उन लोगों के हृदयस्थ भाव भी उसी रूप अप्रत्यक्ष हैं। केवल बुद्धि-वृत्ति की परिचालना-द्वारा तथा जगत् के कतिपय बाह्य कार्यों पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसके अनुशीलन में प्रवृत्त होना होता है। और किसी उपकरण-द्वारा नाटक लिखना झख मारना है।

राजनीति, धर्म्मनीति, आन्वीक्षिकी, दण्डनीति, संधि, विग्रह प्रभृति राजगुण; मंत्रणा, चातुरी, आद्य, करुणा प्रभृति रस विभाव, अनुभाव, व्यभिचार भाव तथा सात्विक भाव तथा व्यय वृद्धि, स्थान प्रभृति त्रिवर्ग की समालोचना में सम्यक् रूप समर्थ हो तब नाटक लिखने को लेखनी धारण करे।

स्वदेशीय तथा भिन्नदेशीय सामाजिक रीति, व्यवहारिक रीति पद्धति का निदान फल और परिणाम इन तीनों का विशिष्ट अनुसंधान, नाटक-रचना का उत्कृष्ट उपाय है।

वेश और वाणी दोनों ही पात्र के योग्यतानुसार होनी चाहिएँ। यदि भृत्यपात्र प्रवेश करे तो जैसे बहुमूल्य परिच्छद उसके हेतु अस्वाभाविक है वैसे ही पंडितों के संभाषण की भाँति विशेष संस्कृत-गर्भित भाषा भी उसके लिए अस्वाभाविकी

है। महामुनि भरताचार्य पात्र-स्वभावानुकूल भाषण रखने का वर्णन अत्यंत सविस्तर कर गए हैं। यद्यपि उनके नांदो-रचनादि विषय के नियम हिंदी में प्रयोजनीय नहीं किंतु पात्र-स्वभाव-विषयक नियम तो सर्वथा शिरोधार्य हैं।

नाटक पठन वा दर्शन में स्वभाव-रक्षा मात्र एक उपाय है जो पाठक और दर्शकों के मनःसमुद्र को भाव-तरंगों से आस्फालित कर देता है।

अथ विदूषक

नाटकदर्शकगण विदूषक के नाम से अपरिचित नहीं हैं, किंतु विदूषक का प्रवेश किस स्थान में योग्य है इसका विचार लोग नहीं करते। वहुत से नाटक-लेखकों का सिद्धांत है कि अथ इति की भाँति विदूषक की नाटक में सहज आवश्यकता है किंतु यह एक भ्रम मात्र है। वीर वा करुणरस-प्रधान नाटक में विदूषक का प्रयोजन नहीं रहता। शृंगार की पुष्टि के हेतु विदूषक का प्रयोजन होता है, सो भी सब स्थलों में नहीं, क्योंकि किसी-किसी अवसर पर विदूषक के बदले विट, चेट, पीठमर्द, नर्मसखा प्रभृति का प्रवेश विशेष स्वाभाविक होता है। प्राचीन शास्त्रों के अनुसार कुसुमवसंतादिक नामधारी, नाटा, मोटा, वामन, कुबड़ा, टेढ़े अंग का वा और किसी विचित्र आकृति का, किंवा हकला, तोतला, भोजनप्रिय, मूर्ख, असंगत, किंतु हास्य रस के अविरुद्ध वात कहनेवाला विदूषक होना चाहिए और उसका परिच्छद भी ऐसा हो जो हास्य का उद्दीपक हो।

संयोग शृंगार वर्णन में इसकी स्थिति विशेष स्वाभाविकी होती है।

अथ रस वर्णन

शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, वीभत्स, शांत, भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद वा आनंद।

शृंगार, संयोग और वियोग दो प्रकार का। यथा शकुंतला के पहले और दूसरे अंक में संयोग, पाँचवें छठें अंक में वियोग।

हास्य, यथा भाण और प्रहसनों में।

करुण, यथा सत्यहरिश्चंद्र में शैव्या के विलाप में।

रौद्र, यथा धनंजयविजय में युद्धभूमि-वर्णन।

वीर रस ४ प्रकार। यथा दानवीर, सत्यवीर, युद्धवीर और उद्योगवीर। दानवीर, यथा सत्यहरिश्चंद्र में 'जेहि पाली इक्ष्वाकु सों' इत्यादि। सत्यवीर, यथा सत्यहरिश्चंद्र में 'बेचि देह दारा सुअन' इत्यादि। युद्धवीर यथा नीलदेवी। उद्योग-वीर* मुद्राराक्षस। भयानक, अद्भुत और वीभत्स, यथा सत्यहरिश्चंद्र में श्मशानवर्णन।

शांत यथा प्रबोध-चंद्रोदय में; भक्ति यथा संस्कृत चैतन्य-चंद्रोदय में; प्रेम यथा चंद्रावली में। वात्सल्य और प्रमोद के उदाहरण नहीं हैं।

---

* मुद्राराक्षस में मुख्य अंगीभाव से कोई रस न पाकर मुझको उद्योगवीर की कल्पना करनी पड़ी।

अथ रसविरोध

नाटक-रचना में विरोधी रसों को बहुत बचाना चाहिए। जैसे शृंगार के हास्य वीर विरोधी नहीं किंतु अति करुण वीभत्स रौद्र भयानक और शांत विरोधी हैं; तो जिस नाटक में शृंगार-रस प्रधान अंगी भाव से हो उसमें ये न आने चाहिएँ। अति करुण लिखने का तात्पर्य यह है कि सामान्य करुण तो वियोग में भी वर्णित होगा किंतु पुत्रशोकादिवत् अति करुण का वर्णन शृंगार का विरोधी है। हाँ नवीन (ट्रैजेडी) वियोगांत नाटक-लेखक तो यह रस-विरोध करने को बाधित हैं। नाटकों की सौंदर्य्यरक्षा के हेतु विरोधी रसों को बचाना भी बहुत आवश्यक कार्य है, अन्यथा होने से कवि का मुख्य उद्देश्य नष्ट हो जाता है।

अथ अन्य स्फुट विषय

नाटक-रचना के हेतु पूर्वोक्त कथित विषयों के अतिरिक्त कुछ नायिकाभेद और कुछ अलंकारशास्त्र जानने की भी आवश्यकता होती है। ये विषय रसरत्नाकर, भारतीभूषण, लालित्यलता आदि ग्रंथों में विस्तृत रूप से वर्णित हैं।

आजकल की सभ्यता के अनुसार नाटकरचना में उद्देश्य-फल उत्तम निकलना बहुत आवश्यक है। यह न होने से सभ्यशिष्टगण ग्रंथ का तादृश आदर नहीं करते, अर्थात् नाटक पढ़ने वा देखने से कोई शिक्षा मिले, जैसे सत्यहरिश्चंद्र देखने से आर्य जाति की सत्य प्रतिज्ञा, नीलदेवी से देशस्नेह इत्यादि शिक्षा निकलती हैं। इस मर्यादा की रक्षा के हेतु

वर्त्तमान समय में स्वकीया नायिका तथा उत्तम गुण विशिष्ट नायक को अवलंबन करके नाटक लिखना योग्य है। यदि इसके विरुद्ध नायिका-नायक के चरित्र हों तो उसका परिणाम बुरा दिखलाना चाहिए। यथा नहुष नाटक में इंद्राणी पर आसक्त होने से नहुप का नाश दिखलाया गया है, अर्थात् चाहे उत्तम नायिका-नायक के चरित्र की समाप्ति सुखमय दिखलाई जाय किंवा दुश्चरित्र पात्रों के चरित्र की समाप्ति कंटकमय दिखलाई जाय। नाटक के परिणाम से दर्शक और पाठक कोई उत्तम शिक्षा अवश्य पावें।

अथ अभिनय विषयक अन्यान्य स्फुट नियम

नाटक की कथा—नाटक की कथा की रचना ऐसी विचित्र और पूर्वापर-बद्ध होनी चाहिए कि जब तक अंतिम अंक न पढ़े किंवा न देखे, यह न प्रगट हो कि खेल कैसे समाप्त होगा। यह नहीं कि 'सीधा एक को बेटा हुआ, उसने यह किया वह किया' प्रारंभ ही में कहानी का मध्य बोध हो।

पात्रों के स्वर—शोक, हर्ष, हास, क्रोधादि के समय में पात्रों को स्वर भी घटाना-बढ़ाना उचित है। जैसे स्वाभाविक स्वर बदलते हैं, वैसे ही कृत्रिम भी बदलें। 'आप ही आप' ऐसे स्वर में कहना चाहिए कि बोध हो कि धीरे-धीरे कहता है, किंतु तब भी इतना उच्च हो कि श्रोतागण निष्कंटक सुन लें।

पात्रों की दृष्टि—यद्यपि परस्पर वार्त्ता करने में पात्रों की दृष्टि परस्पर रहेगी किंतु बहुत से विषय पात्रों को दर्शकों की

ओर देखकर कहने पड़ेंगे। इस अवसर पर अभिनय-चातुर्य यह है कि यद्यपि पात्र दर्शकों की ओर देखें किंतु यह न बोध हो कि वह बातें वे दर्शकों से कहते हैं।

पात्रों के भाव—नृत्य की भाँति रंगस्थल पर पात्रों को हस्तक भाव वा मुख, नेत्र, भ्रू के सूक्ष्मतर भाव दिखलाने की आवश्यकता नहीं, स्वर भाव और यथायोग्य स्थान पर अंगभंगी भाव ही दिखलाने चाहिएँ।

पात्रों का फिरना—एक यह साधारण नियम भी माननीय है कि फिरने वा जाने के समय जहाँ तक हो सके पात्रगण अपनी पीठ दर्शकों को बहुत कम दिखलावें। किंतु इस नियम पालन का इतना आग्रह न करें कि जहाँ पीठ दिखलाने की आवश्यकता हो वहाँ भी न दिखलावें।

पात्रों का परस्पर कथोपकथन—पात्रगण आपस में जो वार्त्ता करें उसको कवि निरे काव्य की भाँति न ग्रथित करे। यथा नायिका से नायक साधारण काव्य की भाँति 'तुम्हारे नेत्र कमल हैं, कुच कलश हैं' इत्यादि न कहें। परस्पर वार्त्ता में हृदय के भावबोधक वाक्य ही कहने योग्य हैं। किसी मनुष्य वा स्थानादि के वर्णन में लंबी-चौड़ी काव्यरचना नाटक के उपयोगी नहीं होती।

अथ नाटकों का इतिहास

यदि कोई हमसे यह प्रश्न करे कि सब के पहिले किस देश में नाटकों का प्रचार हुआ तो हम क्षणमात्र का भी विलंब

किए बिना मुक्त कंठ से कह देंगे 'भारतवर्ष में'। इसका प्रमाण यह है कि जिस देश में संगीत और साहित्य प्रथम परिपक्व हुए होंगे वहीं प्रथम नाटक का भी प्रचार हुआ होगा। हम नहीं समझ सकते कि पृथ्वी की और कोई जाति भी भारतवर्ष के सामने इस विषय में मुँह खोले। आर्यों का परम शास्त्र वेद संगीत और साहित्यमय है। और जाति में संगीत और साहित्य प्रमोद के हेतु होते हैं किंतु हमारे पूज्य आर्य महर्षियों ने इन्हीं शास्त्रों-द्वारा आनंद में निमग्न होकर परमेश्वर की उपासना की है, यहाँ तक कि हमारे तीसरे वेद साम की संज्ञा ही गान है। और किसके यहाँ धर्म संगीत-साहित्य-मय है ? हमारे यहाँ लिखा है—

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं प्रयच्छति॥ १॥
काव्यालापाश्च ये केचित् गीतिकान्यखिलानि च।
शब्दरूपधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः॥ २॥

तो जब हमारे धर्म के मूल ही में संगीत और साहित्य मिले हैं, तब इसमें क्या संदेह है कि इस रस के प्रथमाधिकारी आर्यगण ही हैं। इसके अतिरिक्त नाटकरचना में रंग नट इत्यादि जो शब्द प्रयुक्त होते हैं वे सब प्राचीन काव्य, कोष, व्याकरण और धर्मशास्त्रों में पाए जाते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि नाटकरचना हमारे आर्यगणों को पूर्व-काल ही से विदित है।

सर्वदा नट लोगों के ही द्वारा ये नाटक नहीं अभिनीत होते थे, आर्य राजकुमार और कुमारीगण भी इसको सीखते थे। महाभारत के खिल हरिवंश पर्व के विष्णु पर्व के ६३ अध्याय में प्रद्युम्न सांबादि यादव राजकुमारों का वज्रनाभ के पुर में जाना और वहां नट बनकर (कौबेररंभाभिसार) नाटक खेलना बहुत स्पष्ट रूप से वर्णित है। वहाँ लिखा है कि जब प्रद्युम्न आदिक वीर वज्रनाभ के पुर में गए तब भगवान् श्रीकृष्णचंद्र ने कुमारों को नाटक करने की आज्ञा देकर भेजा था। प्रद्युम्न सूत्रधार थे, सांब विदूषक थे, और गद पारिपार्श्वक थे। यहाँ तक कि स्त्रियाँ भी गाने-बजाने का साज लेकर साथ गई थीं। पहले दिन इन लोगों ने रामजन्म नाटक किया जिसमें लोमपाद राजा की आज्ञा से गणिकाओं का शृंगी ऋषि को ठगकर लाना बहुत अच्छी रीति से दिखलाया गया था। दूसरे दिन फिर रंभाभिसार नाटक किया*। इसमें पहिले इन लोगों ने नेपथ्य बाँधा † फिर स्त्रियों ने भीतर से बड़े सुंदर स्वर से गान किया‡। पीछे गंगाजी के वर्णन में प्रद्युम्न, गद और सांब ने मिलकर नांदी गाई§ और

---

* भैमापि बद्धनेपथ्या नटवेषधरास्तथा। कार्यार्थं भीमकर्माणो नृत्यार्थमुपचक्रमुः॥ इत्यादि २१ श्लोक से ३२ तक।

† अर्थात् विना नेपथ्य के महाराष्ट्रों की भांति शतरंजी और मशालची के भरोसे नाटक नहीं खेला।

‡ इससे विदित हुआ कि बाह्यपटी उठने के पहले गान होना भी प्राचीन रीति है।

§ नांदी विषयक दृढ़ नियम उसी काल से प्रचलित है।

तदनंतर प्रद्युम्नजी ने विनय के श्लोक पढ़कर सभा को प्रसन्न किया * और तब नाटक आरंभ हुआ। इसमें शूर नामक यादव रावण बना, मनोवती नाम्नी स्त्री रंभा †, प्रद्युम्न नल-कूबर और सांब विदूषक। इसी प्रकरण से यह बात सिद्ध होती है कि केवल नट ही नहीं, प्राचीन काल से आर्यकुल में बड़े बड़े लोग भी इस विद्या को भली भाँति जानते थे।

मध्य समय के नाटक

मध्य समय के नाटककारों में कविकुलगुरु भगवान् कालिदास‡ मुख्यतम हैं। भवभूति § और धावक दूसरी श्रेणी में हैं। राजशेखर, जयदेव, भट्टनारायण, दंडी¶ इत्यादि तीसरी श्रेणी में हैं। अब जितने नाटक

---

* विनय के श्लोक पढ़े अर्थात् प्रस्तावना हुई।

† इससे एक बात यह बहुत बड़ी प्रमाणित हुई कि प्राचीन काल में स्त्री का वेष स्त्री लेती थीं।

‡ पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावात् अनामिका सार्थवती बभूव ॥ १ ॥

§ भवभूतेः संबंधात् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ॥ १ ॥

¶ जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दंडिनि ॥ १ ॥

प्रसिद्ध कवि कालिदास और दंडी की स्पर्द्धिनी दो स्त्रियां भी कवि हुई थीं। यथा—'नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता। वृथैव दंडिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥' तथा 'सरस्वतीव कर्णाटी विजयांका जयत्यसौ। या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनंतरम्' ॥ १ ॥

प्रसिद्ध हैं उनमें मृच्छकटिक सबसे प्राचीन है। इसके पीछे शकुन्तला और विक्रमोर्वशी बने हैं। यहाँ पर एक बड़ी प्रसिद्ध बात का विचार करना है। प्रायः सभी प्राचीन इतिहास-लेखकों ने लिखा है कि श्रीहर्ष कालिदास के पूर्व हुआ, क्योंकि मालविकाग्निमित्र में कालिदास ने धावक का नाम लिया है, किंतु राजतरंगिणी में हर्ष नामक जो राजा हुआ है वह विक्रमादित्य के कई सौ वर्ष पीछे हुआ है। अनंतदेव नामक राजा भोज के समय में था। अनंत का पुत्र कलस हुआ जिसने आठ बरस राज्य किया। इसका पुत्र हर्ष था जिसने कई दिन मात्र राज्य किया था। कनिंगहम के मत से हर्ष सन् १०८८ ई० में और विल्सन के मत से १०५४ ई० में हुआ था। यद्यपि राजतरंगिणीकार ने हर्ष को कवि लिखा है और विह्लण और विल्हण कवि भी इसके समय में लिखे हैं किंतु धावक का नाम तथा रत्नावली इत्यादि के बनने का प्रसंग कोई नहीं लिखा। राजतरंगिणीकार के मत से हर्ष के समय अत्यंत उपद्रव रहा; और चारों ओर राजकुमार तथा उच्च कुल के लोगों के रुधिर की नदी बहती थी। हर्ष श्रीस्वामी दयानंद सरस्वती की भाँति

भास नामक कोई कवि नाटककार हुआ है, किंतु उसका नाटक प्रसिद्ध नहीं है। 'सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः। सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव' ॥ १ ॥ 'भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः' ॥ १ ॥

मूर्तिपूजा के भी विरुद्ध था, इसी हेतु प्रजा उसको तुरुष्क पुकारती थी। इन बातों से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि या तो धावकवाला श्रीहर्ष दूसरा है, कश्मीर का नहीं या मालविकाग्निमित्रकार कालिदास वह जगत्प्रसिद्ध शकुंतला का कालिदास नहीं। दूसरी बात विशेष संभव बोध होती है, क्योंकि शकुंतला और मालविकाग्निमित्र की संस्कृत ही में भेद नहीं, काव्य की उत्तमता मध्यमता में भी आकाश-पाताल का बीच है।

राजतरंगिणी में लिखा है कि कश्मीर के राजा तुंजीन के समय में चंद्रक कवि ने बड़ा सुंदर नाटक बनाया। यह तुंजीन राजतरंगिणी के हिसाब से गत कलि ३५८२ में अर्थात् आज से १४०२ वर्ष पहिले, ट्रायर के मत से १०३ ई० पूर्व अर्थात् आज से १९८६ वर्ष पहले, कनिंगहम के मत से ईस्वी सन ३१९ में अर्थात् १५६४ वर्ष पहले, विल्सन के मत से १०४ ई० पूर्व अर्थात् १९८७ वर्ष पहले, विल्फर्ड के मत से सन ५४ ईस्वी में अर्थात् १८२९ वर्ष पहले हुआ था।

जिन-जिन संस्कृत नाटकों की स्थिति मुझको उपलब्ध हुई है, उनकी एक तालिका प्रकाशित की जाती है। इनमें * ऐसा चिह्न जिनपर दिया है वे नाटक मेरे पढ़े हुए हैं और छपे भी हैं और जिनपर × ऐसा चिह्न है वे मेरे पढ़े तो हैं, किन्तु छपे नहीं हैं और शेष भारतवर्ष में मिलते तो हैं, किन्तु मेरे देखे हुए नहीं हैं। इन्हीं नाटकों में कोई-कोई ऐसे भी होंगे जो मृच्छकटिक के पूर्व के बने होंगे किंतु अब इस बात का पता

नहीं लग सकता है। यह सारी सृष्टि दो हज़ार वर्ष की है। जिस काल के अनंत उदर में हम आर्यों के अनंत ग्रंथ-रत्न गल-पच गए वहाँ इसके पूर्व के नाटक भी गए। कालिदास, भवभूति प्रभृति महाकवियों के जीवनचरित स्वतंत्र आलोच्य विषय हैं; इस हेतु यहाँ नहीं लिखे गए।

अथ संस्कृत-नाटक-तालिका

शाकुंतल*	(कालिदास)	महारामायण	...
मालविकाग्निमित्र*	,,	अंगदनाटक	...
विक्रमोर्वशी*	,,	हनुमन्नाटक	...
मालतीमाधव*	(भवभूति)	मुद्राराक्षस*	(विशाखदत्त)
महावीरचरित*	,,	वेणीसंहार*	(नारायण भट्ट)
उत्तररामचरित*	,,	धनंजयविजय*	(कांचन)
रत्नावली*	(श्रीहर्ष)	मृच्छकटिक*	(शूद्रक)
नागानंद*	,,	जामदग्न्यजय	...
प्रियदर्शिका*	,,	समुद्रमथन	...
धूर्त्तसमागम*	(राजशेखर)	त्रिपुरदाह	...
कर्पूरमंजरी ×	,,	शारदातिलक	(शङ्कर)
विद्धशालभंजिका*	...	ययातिचरित	(रुद्र भट्ट)
प्रचंडपांडव	...	ययातिशर्म्मिष्ठा	...
बालरामायण*	...	मृगांकलेखा	(त्रिमल्लदेव के पुत्र विश्वनाथ)
प्रसन्नराघव*	(जयदेव)		
अनर्घ्यराघव*	(मुरारि)		
पुष्पमाला*	(चंद्रशेखर)	हास्यार्णव ×	...
उदात्तराघव	...	विदग्धमाधव ×	(रूप गोस्वामि)

राधामाधव	...	वसंततिलक भाण※	(वरदाचार्य्य)
पारिजातक	...	मुकुंदानंद ×	...
कमलिनीकलहंस	(चूड़ामणि दीक्षित)	नटक मेलक प्रहसन※	...
		दानकेलिकौमुदी ×	...
तपतीसंवरण	(त्रावंकोरराज)	अभिराममणि	(सुंदर मिश्र)
मालमंगल भाण...	(मालमंगल)	मधुरानिरुद्ध	(चंद्रशेखर)
कलावतीकामरूप	...	कंसवध ×	(कृष्णकविशेष)
नग्नभूपतिग्रह नाटक	...	प्रद्युम्नविजय	बालकृष्ण दीक्षित के पुत्र शङ्कर दीक्षित
प्रियदर्शना	...		
यादवोदय	...		
वालिवध	...	श्रीरामचरित	साम्राज्य दीक्षित
अनेकमूर्त्त	...	धूर्त्तनर्त्तक	साम्राज्य दीक्षित
मयंकपालिका	...	कौतुकसर्वस्व	(गोपीनाथ पं०)
क्रीड़ारसातल	...	प्रबोधचंद्रोदय※	(कृष्ण मिश्र)
कनकावतीमाधव	...	चैतन्यचंद्रोदय ×	(कर्णपूर)
विंदुमती	...	संकल्पसूर्योदय※	(वेदांताचार्य्य)
केलिरैवतक	...	रामाभ्युदय	...
कामदत्ता	...	कुंदमाला	...
सुदर्शनविजय	...	सौगंधिकाहरण	...
वासंतिकापरिणय	...	रैवतकमदनिका	...
चित्रयज्ञ	(वैद्यनाथ वाचस्पति भट्टाचार्य्य)	कुसुमशेखरविजय	...
वृषभानुजा नाटिका ×	(मथुरा-दास कायस्थ)	नर्मवती	...
		विलासवती	...
ऊषारागोदया ×	(रुद्रचंद्र देव)	शृंगारतिलक	(रुद्र भट्ट)
मल्लिकामारुत※	(उद्दंड)	देवीमहादेव	...

ताराशशांक (श्रीधर)
चंडकौशिक* (आर्य्य क्षेमीश्वर)
जानकीराघव ...
रुक्मिणीपरिणय × (रामचंद्र)
गृहवृत्तवाटिका ...
कुलपत्यंग ...
वध्यशिला ...
तरंगदत्त (प्रकरण) ...
लीलामधुकर ...
दूतांगद × ...
मुंडित प्रहसन × (सुभट)
नाटक सर्वस्व ...
उदयनचरित
कृत्यारावण ...
रामाभिनंद ...
रामचरित ...
चंद्रकला (विश्वनाथ)
प्रभावतीपरिणय ...
पार्वतीस्वयंवर ...
सुभद्राविजय ...
सुभद्राहरण ...
भैमीपरिणय ...
रुक्मिणीकल्याण (चूडामणि)
वसुमती-चित्रसेन ...
विद्यापरिणय (वेदकवि स्वामी)
अहल्या-संक्रंदन ...

आनंदविलास ...
सेवंतिकापरिणय ...
कनकवल्लीपरिणय ...
रामनाटक ...
सुभद्राधनंजयविजय (गुरुराम)
वकुलमालिनीपरिणय (कृष्ण दीक्षित)
वसंतभूषण भाण ...
इंदिरापरिणय ...
कल्याणीपरिणय ...
कुसुमबाणविलास ...
वटुचरित्र नाटक ...
मरकतवल्लीपरिणय ...
चूडामणि नाटक ...
सामवत नाटक (पं० अंबिकादत्त व्यास साहित्याचार्य्य)
सौगंधिकाहरण ...
कुसुमशेखरविजय ...
ललितराम ...
कंदर्पकेलि ...
स्तंभितरंभ ...
विजयपारिजात वा आसामविजय (हरिजीवन)
पुष्पदूषितक (प्रकरण) ...
ललिता नाटिका ...
जानकीपरिणय × (रामभद्र दीक्षित)
माधवाभ्युदय (वेदांताचार्य्य)

प्रद्युम्नानंदनीय	(वेंकटाचार्य्य)
पंचबाणविजय	...
रविकिरणकूर्चिका	...
सुभद्राधनंजय	(गुरुराम)
कन्यामाधव	...
त्रिपुरारि	...
सत्यभामापरिणय	(कृष्णकवींद्र)
भिक्षाटन नाटक	...
मंत्रांग नाटक	...
संवरण नाटक	...
सीताराघव नाटक	...
हरिश्चंद्रयशश्चंद्रिका	...
नरकासुर व्यायोग	...
अरुणामोदिनी	...
बृहन्नाटक	...
काशिदास प्रहसन	...
अंबाल भाण	(श्रीवरदाचार्य्य)
कृष्णभक्तिचंद्रिका नाटक ×	(अनंत देव)
अतंद्रचंद्रिका	(विद्यानिधि)
पार्थपराक्रम	...
भर्तृहरिनिर्वेद	...
धर्मविजय नाटक	(शुक्ल भूदेव)
सत्संगविजय नाटक	(वैद्यनाथ)
चंद्रप्रभा ×	...
कर्णसुंदरी नाटिका	...
रतिवल्लभ ×	(जगन्नाथ पंडितराज)
जगन्नाथवल्लभ नाटक	...
ध्रुवचरित्र*	(पं० दामोदर शास्त्री)

अथ भाषानाटक

हिंदी भाषा में वास्तविक नाटक के आकार में ग्रंथ की सृष्टि हुए पचीस वर्ष से विशेष नहीं हुए। यद्यपि नेवाज कवि का शकुंतला नाटक, वेदांत-विषयक भाषा-ग्रंथ समय-सार नाटक, ब्रजवासीदास के प्रबोधचंद्रोदय प्रभृति नाटक के भाषा-अनुवाद नाटक नाम से अभिहित हैं किंतु इन सबों की रचना काव्य की भाँति है, अर्थात् नाटक-रीत्यनुसार पात्रप्रवेश इत्यादि कुछ नहीं है। भाषाकविकुलमुकुटमाणिक्य देव कवि का 'देवमायाप्रपंच नाटक' और श्रीमहाराज काशिराज की

आज्ञा से बना हुआ प्रभावती नाटक तथा श्रीमहाराज विश्वनाथसिंह रीवाँ का आनंदरघुनंदन नाटक यद्यपि नाटक-रीति से बने हैं किंतु नाटकीय यावत् नियमों का प्रतिपालन इनमें नहीं है और ये छंदप्रधान ग्रंथ हैं। विशुद्ध नाटक-रीति से पात्रप्रवेशादि नियम-रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्य-चरण श्री कविवर गिरिधरदास (वास्तविक नाम बाबू गोपालचंद्रजी) का है। इसमें इंद्र को ब्रह्महत्या लगना और उसके अभाव में नहुष का इंद्र होना, नहुष का इंद्रपद पाकर मद, उसकी इंद्राणी पर कामचेष्टा, इंद्राणी का सतीत्व, इंद्राणी के भुलावा देने से सप्तऋषि को पालकी में जोतकर नहुष का चलना, दुर्वासा का नहुष को शाप देना और फिर इंद्र का पूर्वपद पाना, यह सब वर्णित है। मेरे पिता ने बिना अँगरेजी शिक्षा पाए इधर क्यों दृष्टि दी, यह बात आश्चर्य की नहीं; उनके सब विचार परिष्कृत थे। बिना अँगरेजी की शिक्षा के भी उनको वर्तमान समय का स्वरूप भली भाँति विदित था। पहले तो धर्म के विषय में ही वे इतने परिष्कृत थे कि वैष्णवव्रत पूर्ण पालन के हेतु उन्होंने अन्य देवता-मात्र की पूजा और व्रत घर से उठा दिए थे। टामसन साहब लेफ्टिनेंट-गवर्नर के समय काशी में पहला लड़कियों का स्कूल हुआ तो हमारी बड़ी बहिन को उन्होंने उस स्कूल में प्रकाश रीति से पढ़ने बैठा दिया। यह कार्य उस समय में बहुत ही कठिन था क्योंकि इसमें बड़ी ही लोकनिंदा थी।

हम लोगों को अँगरेजी शिक्षा दी। सिद्धांत यह कि उनकी सब बातें परिष्कृत थीं और उनको स्पष्ट बोध होता था कि आगे काल कैसा चला आता है। नहुष नाटक बनने का समय मुझको स्मरण है। आज पचीस बरस हुए होंगे, जब कि मैं सात बरस का था, नहुष नाटक बनता था। केवल २७ वर्ष की अवस्था में मेरे पिता ने देहत्याग किया, किंतु इसी अवसर में चालीस ग्रंथ—जिनमें बलरामकथामृत, गर्गसंहिता, भाषा वाल्मीकिरामायण, जरासंधवध महाकाव्य और रसरत्नाकर ऐसे बड़े बड़े भी हैं—बनाए।

हिंदी भाषा में दूसरा ग्रंथ वास्तविक नाटककार राजा लक्ष्मणसिंह का शकुंतला नाटक है। भाषा के माधुर्य आदि गुणों से यह नाटक उत्तम ग्रंथों की गिनती में है। तीसरा नाटक हमारा विद्यासुंदर है। चौथे के स्थान में हमारे मित्र लाला श्रीनिवासदास का तपती-संवरण, पंचम हमारा वैदिकी हिंसा, षष्ठ प्रिय मित्र बाबू तोताराम का केटोकृतांत और फिर तो और भी चार कृतविद्य लेखकों के लिखे हुए अनेक हिंदी नाटक हैं। सर विलियम म्योर साहिब के काल में अनेक ग्रंथ बने हैं क्योंकि वे ग्रंथ बनानेवालों को पारितोषिक देते थे। इसी से रत्नावली भी हिंदी में बनी और छपी है किंतु इसकी ठीक वही दशा है जो पारसी नाटकों की है। काशी में पारसी नाटकवालों ने नाचघर में जब शकुंतला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यंत खेमटेवालियों

की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटककर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डाक्टर थिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कहकर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं। यही दशा बुरे अनुवादों की भी होती है। बिना पूर्व-कवि के हृदय से हृदय मिलाए अनुवाद करना शुद्ध झख मारना ही नहीं, कवि की लोकांतर-स्थित आत्मा को नरक-कष्ट देना है।

इस रत्नावली की दुर्दशा के दो चार उदाहरण यहाँ दिखलाए जाते हैं। यथा 'तब यह प्रसंग हुआ कि यौगंधरायण प्रसन्न होकर रंगभूमि में आया और यह बोला,' 'और गान कर कहता है कि अए मदनिके'। अब कहिए यह रामकहानी है कि नाटक ?

और आनंद सुनिए 'जो आज्ञा रानीजी की ऐसा कर तैसा ही करती है' हाहाहा!!!

एक आनंद और सुनिए। नाटकों में कहीं-कहीं आता है 'नाट्येनोपविश्य' अर्थात् पात्र बैठने का नाट्य करता है। उसका अनुवाद हुआ है 'राजा नाचता हुआ बैठता है'। 'नाट्ये-नोल्लिख्य' की दुर्दशा हुई है 'ऐसे नाचते हुई लिखती है'। ऐसे ही 'लेखनी को लेकर नाचती हुई' 'निकट बैठकर नाचती हुई'।

और आनंद सुनिए। 'इति विष्कम्भकः' का अनुवाद हुआ है 'पीछे विष्कम्भक आया'। धन्य अनुवादकर्त्ता! और धन्य गवर्नमेंट जिसने पढ़नेवालों की बुद्धि का सत्यानाश करने को अनेक द्रव्य का श्राद्ध करके इसको छापा!!!

गवर्नमेंट की तो कृपादृष्टि चाहिए, योग्यायोग्य के विचार की आवश्यकता नहीं। फालेन साहब की डिक्शनरी के हेतु आधे लाख रुपए से विशेष व्यय किया गया तो यह कौन बड़ी बात है। 'सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास'। यहाँ तो 'भेंट भए जयसाहि सों भाग चाहियत भाल' वाली बात है। किंतु ऐसी दशा में अच्छे लोगों का परिश्रम व्यर्थ हो जाता है क्योंकि 'आँधरे साहिब की सरकार कहाँ लौं करे चतुराई चितेरो'।

यद्यपि हिंदी भाषा में दस-बीस नाटक बन गए हैं किंतु हम यही कहेंगे कि अभी इस भाषा में नाटकों का बहुत ही अभाव है। आशा है कि काल की क्रमोन्नति के साथ ग्रंथ भी बनते जायँगे। और अपनी संपत्ति-शालिनी ज्ञान-वृद्धा बड़ी बहन बंगभाषा के अक्षय रत्नभांडागार की सहायता से हिंदी भाषा बड़ी उन्नति करे।

यहाँ पर यह बात प्रकाश करने में भी हमको अतीव आनंद होता है कि लंडननगरस्थ श्रीयुत फ्रेडरिक पिनकाट साहब ने भी शकुंतला का हिंदी भाषा में अनुवाद* किया है। वह अपने २० मार्च के पत्र में हिंदी ही में मुझको लिखते हैं 'उस पर भी मैंने हिंदी भाषा के सिखलाने के लिए कई एक पोथियाँ बनाई हैं। उनमें से हिंदी भाषा में शकुंतला नाटक एक है।'

---

* यह अनुवाद नहीं है। टीका-टिप्पणी सहित राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवाद का संस्करण है।

हिंदी भाषा में जो सबसे पहला नाटक खेला गया वह जानकीमंगल था। स्वर्गवासी मित्रवर बाबू ऐश्वर्यनारायणसिंह के प्रयत्न से चैत्र शुक्ल ११ संवत् १९२५ में बनारस थिएटर में बड़ी धूमधाम से यह खेला गया था। रामायण से कथा निकालकर यह नाटक पंडित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी ने बनाया था। इसके पीछे प्रयाग और कानपुर के लोगों ने भी रणधीर-प्रेममोहनी और सत्यहरिश्चंद्र खेला था। पश्चिमोत्तर देश में ठीक नियम पर चलनेवाला कोई आर्य शिष्ट जन का नाटकसमाज नहीं है।

अथ हिंदी-नाटक-तालिका

नहुष नाटक	(श्रीगिरधरदास)
शकुंतला	(राजा लक्ष्मणसिंह)
मुद्राराक्षस	(हरिश्चंद्र)
सत्यहरिश्चंद्र	,,
विद्यासुंदर	,,
अंधेर नगरी	,,
विषस्य विषमौषधम्	,,
सतीप्रताप	,,
चंद्रावली	,,
माधुरी	,,
पाखंड-विडंबन	,,
नवमल्लिका	,,
दुर्लभबंधु	,,
प्रेमयोगिनी	(हरिश्चंद्र)
जैसा काम वैसा परिणाम	,,
कर्पूरमंजरी	,,
नीलदेवी	,,
भारतदुर्दशा	,,
भारतजननी	,,
धनंजय-विजय	,,
वैदिकी हिंसा	,,
बूढ़े मुँह मुँहासे लोग देखें तमाशे (बूढ़ो शालिकेर का अनुवाद)	बाबू गोकुलचंद
अद्भुत चरित्र वा गृहचंडी (श्रीमती...	

तपतीसंवरण (लाला श्रीनिवासदास)
रणधीर-प्रेममोहिनी ,,
केटो कृतांत (बाबू तोताराम भारतबंधु-संपादक)
सज्जाद-सुंबुल (बाबू केशोराम भट्ट विहारबंधु-संपादक)
शमशाद-सौसन ,,
जय नारसिंह की (पं० देवकीनंदन तिवारी, प्रयाग समाचारपत्र-संपादक)
होली खगेश ,,
चक्षुदान ,,
पद्मावती, शर्मिष्ठा, चंद्रसेन (पं० बालकृष्ण भट्ट हिंदीप्रदीप-संपादक)
सरोजिनी (पं० गणेशदत्त)
,, (राधाचरण गोस्वामी भारतेंदु-संपादक)
मृच्छकटिक (पं० गदाधर भट्ट मालवीय)
,, (पं० दामोदर शास्त्री)
,, (बाबू ठाकुरदयालसिंह)
वारांगनारहस्य (पं० बदरीनारायण चौधरी, आनंदकादंबिनी के संपादक)
विज्ञानविभाकर (पं० जानी बिहारीलाल)
ललिता नाटिका (पं० अंबिकादत्त व्यास साहित्याचार्य्य, वैष्णव पत्रिका और पीयूष-प्रवाह के संपादक)
देव-पुरुष-दृश्य ,,
वेणीसंहार नाटक ,,
गोसंकट ,,
जानकीमंगल (पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी)
दुःखिनी बाला (बाबू राधाकृष्णदास
पद्मावती ,,
महारास (महाराजाधिराज कुमार लाल खड्गबहादुर मल्ल युवराज मझौली राज)
रामलीला ७ कांड (पं० दामोदर शास्त्री, विद्यार्थी-संपादक)
बालखेल ,,
राधामाधव ,,
वेनिस का सौदागर (बाबू बालेश्वरप्रसाद काशीपत्रिका-संपादक)
,, बाबू ठाकुरदयालसिंह

योरप में नाटकों का प्रचार

योरप में नाटकों का प्रचार भारतवर्ष के पीछे हुआ है। पहले दो मनुष्यों के संवाद को ही वहाँ नाटकों का सूत्रपात मानते हैं। प्राचीन ईसाई-धर्मपुस्तक में 'बुक अॅव् जाब' और सुलैमान के गीतों में ऐसे संवाद मिलते हैं किंतु इनके अतिरिक्त हिब्रू भाषा में और कोई प्राचीन नाटक का ग्रंथ नहीं। योरप में सबसे प्राचीन नाटक यूनान में मिलते हैं और यह निश्चय अनुमान हुआ है कि भारतवर्ष से वहाँ यह विद्या गई होगी। यूनान में एथेंस प्रदेश में नाटकों का प्रचार विशेष था और डायोनिसस* नामक देवता के मेले में नाटक प्रायः खेले जाते थे। अनुमान होता है कि बैकस† नामक देवता की पूजा से वहाँ इनका चलन हुआ। प्राचीन काल से योरप के नाटक संयोगांत और वियोगांत इन दो भागों में बँटे हैं। आरिअन नामक कवि ने ५८० वर्ष ईसा के पूर्व्व वियोगांत नाटक की सृष्टि की। ट्रैजिडी (Tragedy) शब्द बकरे से निकला है जिससे अनुमान होता है कि बैकस देवता के सामने बकरे का बलि दिया जाता था और उसी समय पहिले यह खेल आरंभ हुआ; इससे वियोगांत नाटक की संज्ञा ट्रैजिडी हुई। कामेडी (Comedy) ग्राम शब्द से निकला है

* यह युद्ध का देवता था।

† यह मद्य का देवता है। प्रिंसिप साहब कहते हैं कि यह बलराम है।

अर्थात् ग्राम्य सुखों का जिसमें वर्णन हो वह कामेडी (संयोगांत) है। थेसपिस ने (५३६ ई० पू०) प्रथम रंगशाला में एक शिष्य का वेष देकर मनुष्यों को संवाद पढ़वाया और उसी पात्र को फ्रिनिशश ने (५१२ ई० पू०) पहले पहल स्त्री का वेष देकर रंगशाला में सबको दिखलाया। इसके पीछे इशिलस के काल तक वियोगांत नाटकों में फिर कोई नई उन्नति नहीं हुई।

आरिअन ही के समय में बरन उसी के लाग पर सुसेरिअन ने संयोगांत नाटकों का प्रचार सारे यूनान में फिर-फिरकर किया और एक छोटी सी चलती-फिरती रंगशाला भी उनके साथ थी। उस काल के ये नाटक अब के बंगाली यात्रा वा रास के से होते थे। उस समय में वियोगांत नाटक गंभीराशय और विशेष चित्ताकर्षक होने के कारण सभ्य लोगों में और संयोगांत ग्राम्य लोगों में खेले जाते थे। एपिकार्मस, फार्मस, मैग्नेस, क्रेटस्, क्रेटनस, यूपोलिस, फेटिक्रेटस् और एलिस्टेफेंस ये सब उस काल के प्रसिद्ध कामेडी-लेखक थे। बीच में लोगों ने संयोग-वियोग मिलाकर भी पुस्तकें लिखकर इस विद्या की उन्नति की।

वियोगांत नाटक में इशिलस, सोफाकोलस और यूरुपिडोस ये तीन बड़े दक्ष हुए। इन कवियों ने स्वयं पात्रों को अभिनय करना सिखाया और स्वाभाविक भावभंगी दिखलाने में विशेष परिश्रम किया। अरस्तू ने इन्हीं तीनों कवियों की अपने ग्रंथ में बड़ाई की है।

रोमवाले नाटकविद्या में ऐसे दक्ष नहीं थे। इन लोगों ने यूनानवालों ही से इस विद्या का स्वाद पाया। शोक का विषय है कि प्लाटस और टेरेंस के अतिरिक्त इन कवियों में से किसी का न नाम मालूम है न कोई ग्रंथ मिला। प्रसिद्ध आगस्टस के समय में रोम में इस विद्या की उन्नति हुई थी किंतु सेनीका नामक नाटक के अतिरिक्त और किसी ग्रंथ का नाम तक कहीं नहीं मिला। रोम के बड़े-बड़े महलों और वीरों के साथ वहाँ की विद्या और कला भी धूल में मिल गई, यहाँ तक कि उनका नाम लेनेवाला भी कोई न बचा। जब रोम में क्रिस्तानी मत फैला तो ऐसे नाटक वा खेल राजनियम के अनुसार निषिद्ध कर दिए गए। केवल पिता-पुत्र एपोलीनारी और ग्रेगरी ने इंजील से कथाभाग लेकर क्रिस्तानों का जी बहलाने को कुछ सवाँग इत्यादि बनाए थे।

योरप में इटलीवालों ने पहले-पहल ठीक तरह से नाटक के प्रचार में उद्योग किया और रोमवालों के चित्त में फिर से मुरझाए हुए इस बीज को हरा किया। सोलहवीं शताब्दी में ट्रिसनो कवि का सोफोनिस्बा नामक वियोगांत नाटक पहले-पहल छापा गया। आरिओस्टोबैबिना और मैशियाविली ने ट्रिसीनो की भाँति और कई नाटक लिखे। इसी शताब्दी के अंत में गिएम्बाटिस्टालिआपोर्टा ने प्रहसन पहले-पहल प्रकाश किया और इसमें परिहास की बातें ऐसी सुसभ्यता से वर्णन कीं कि लोगों ने नाटक की इस शैली को बहुत ही प्रसन्नता

से स्वीकार किया। इसी समय में हिशी, बोरगिनी, ओडो और बुओनाटोरी ने जातीय स्नेह बढ़ानेवाले वीररसाश्रित इतिहास के खेल लिखे और प्रचारित किए। सत्रहवीं शताब्दी में रिनुशिनी ने पहले-पहल आपेरा (संगीत-नाट्य) का आरंभ किया। इसमें उसने ऐसी उत्तम रीति से प्रेम, देशस्नेह, वीर और करुण रस के गीत बाँधे कि सब लोग और नाटकों को भूलकर इसी की ओर झुके। मैफी नामक कवि ने इसकी और भी उन्नति की। अब स्पेन, फरासीस आदि में चारों ओर इसी गीतिनाट्य का चर्चा फैल गया। इसके पीछे जीनो, मेटैस्टेसिओ, गोलडोनी, मोलिएर, रिशोबिनी, गोज्जी, गालडोनी, आलफीरो, मांटी, मांजानी और निकोलिनी इत्यादि प्रसिद्ध कवियों ने पूर्वोक्त नाटकों के ऐसी उत्तमता से ग्रंथ लिखे और नाट्य में ऐसी उन्नति की कि इटली इस विद्या में सारे योरप की गुरु मानी गई।

योरप के और देशों में नाटकों के प्रचार को पादरियों ने बहुत रोका। जहाँ कोई नाटक खेलता, ये पादरी उसको धर्म्म-दंड देने को दौड़ते। विलेना, सांतिलाना, नहारो और रूएडा नामक कवियों ने इस आपत्ति से बचने को अपनी लेखनी को धर्म्मविषयक नाटकों के लिखने पर परिचालित किया। विशेष करके करवैंटस ने अपने नाटक ऐसी उत्तमता से लिखे कि लोगों के चित्त से नाटकों की बुराई का संस्कार एकबारगी उठ गया। इसके पीछे कल्डिरन भी ऐसा ही

उत्तम कवि हुआ कि उसको राजनियम-विरुद्ध होने पर भी सैंतीस वरस के वास्ते नाटक लिखने की राजाज्ञा मिली। ये दोनों कवि सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व्व-भाग में हुए थे।

फरासीस में नाटकों के विषय में वहुत सा वाद-विवाद होता रहा और इसके होने के नियमों पर लोगों में वड़ा चरचा रहा किंतु कोई वहुत उत्तम नाटक-लेखक उस समय नहीं हुआ। जाडिली ने पहले-पहल पाँच अंक का एक वियोगांत नाटक ठीक चाल पर बनाया और फरासीस के दूसरे हेनरी वादशाह के सामने वह खेला गया। चौदहवें लुई के दरवार में कार्निली, मोलिएर और रैसिनी क्रम से एक से दूसरे अच्छे नाटकवाले हुए। इसके पीछे वालटायर वड़ा प्रसिद्ध हुआ और फिर चार-पाँच और प्रसिद्ध कवि हुए।

जर्मनी के नाटक के इतिहास में अठारहवीं शताब्दी के आरंभ तक कोई भी विशेष वात नहीं। लेसिंग ने पहले-पहल अपनी धूमधाम की समालोचना में जर्मनी का ध्यान इधर फेरा। इसके पीछे गाथे और सिलर दो बड़े प्रसिद्ध लेखक हुए।

इँगलैंड के नाटकों का इतिहास अत्यंत शृंखलाबद्ध है। पहले यहाँ केवल मतसंबंधी नाटक होते थे और इनका प्रवंध भी पादरियों के हाथ में रहता था। ये नाटक दो प्रकार के होते थे--एक धर्मसंवंधी आश्चर्य घटनाओं के, दूसरे शिक्षा-संवंधी। इँगलैंड के पुनस्संस्कार ने इन पुरानी वातों में कोई

स्वाद बाकी न रखा, यहाँ तक कि सोलहवीं शताब्दी के मध्य में संयोग और वियोग के नाटक स्वतंत्र रूप से वहाँ प्रचंड हुए। पहला संयोगांत नाटक सन् १५५७ में निकोलस उडाल ने लिखा। ठीक उसके दस बरस पीछे बीबी नोरटेन और लार्ड बकहर्स्ट ने गारवूडाक नामक पहला वियोगांत नाटक बनाया। उसके पीछे स्टिल, किड, लाज, ग्रीन, लायली, पील, मार्लो और नैश इत्यादि कई प्रसिद्ध नाटककार हुए। जगद्विख्यात शेक्सपियर ने अपने वाक्य-माधुर्य्य के आगे सबको जीत लिया। यह प्रसिद्ध कवि सन् १५६४ में उत्पन्न हुआ। इसका पिता ऊन का व्यवसाय करता था और उसके दस लड़कों में शेक्सपियर सबसे बड़ा था। काल पाकर यह ऐसा प्रसिद्ध कवि हुआ कि पृथ्वी के मुख्य कवियों की गणना में एक रत्न समझा जाने लगा। इसको जैसी कविता-शक्ति थी वैसी ही विचित्र कथाओं को बाँधने की भी शक्ति थी। जिसके मस्तिष्क में ये दोनों शक्तियाँ एकत्र हों उसके बनाए हुए नाटकों का क्या पूछना है। नाटक भी इसने बहुत बनाए और सब रस के। निस्संदेह यह मनुष्य परमेश्वर की सृष्टि का एक रत्न हुआ है।

बेन जानसन, ब्यूमौंट और फ्लेचर ये तीन शेक्सपियर के समकालीन प्रसिद्ध नाटककार हुए हैं। मैसिंजर, फोर्ड और शरली के काल तक इँगलैंड की प्राचीन नाटक-प्रणाली समाप्त होती है। सत्रहवीं शताब्दी के अंत में ड्राइडन ने नई

प्रणाली के नाटक लिखने आरंभ किए। अठारहवीं शताब्दी में लो, आटवे, ग्रे, कानग्रोव, सिबर, विचरलो, वैनब्रो, फारक्वहर, एडिसन, जानसन, यंग, टामसन, लिलो, मूर, गैरिक, गोल्डस्मिथ, कालमंस, कंबरलैंड, हालक्राफ्ट, बीबी इंचवाल्ड, लूइस, मैट्यूरिन और मैट्यूरिन तथा आधुनिक काल में शेरिडन नोल्स, बुलवर, लिटन, लार्ड वैरन, कालेरिज, हेनरी टेलर, टालफोर्ड, जेरल्ड ब्रूक्स, मार्स्टन, टाम टेलर, चार्ल्स रीड, राबर्टसन, विल्स, वैरन, गिल्वर्ट, स्विनवर्न, टेनीसन और ब्रौनिंग प्रसिद्ध नाटककार गद्य-पद्य के कवि हुए हैं।

इँगलैंड में इन नाटक लिखनेवालों के हेतु एक राजनियम है जिससे अपने जीवित समय में कवि लोग और उनके पीछे उनके उत्तराधिकारी कवि-स्वत्व का भोग कर सकते हैं।

इति

पात्र-सूची

अर्थात

इस नाटकावली में सम्मिलित ग्रंथों में आए
हुए पात्रों की नामावली

अनंगकेलि—सखी (क० मं०)
अनंगलेखा—सखी (क० मं०)
अनंगसेना—सखी (क० मं०)
अर्जुन—पांडव (ध० वि०)
अबदुश्शरीफ खाँ—सिपहसालार (नी० दे०)
अबदुस्समद—मुसाहिब (नी० दे०)
इंद्र—देवराज (ध० वि०, स० ह०)
उंदुर—चर (मु० रा०)
उत्तर—विराट का पुत्र (ध० वि०)
उत्तरा—विराट की कन्या (ध० वि०)
कंदर्पकेलि—सखी (क० मं०)
कपिंजल–विदूषक (क० मं०)
करभक—गुप्त चर (मु० रा०)
करुणा—शांति की सखी (पा० वि०)
कर्पूरकेलि—सखी (क० मं०)
कर्पूरमंजरी—विदर्भनगर की राजकुमारी (क० मं०)
कलिंगसेना–सखी (क० मं०)
कल्लू—बनिया (अं० न०)
कल्लोलवती–सखी (क० मं०)
कांचनचंद्र–वंदीजन (क० मं०)
कांचनमाला–सखी (क० मं०)
काममंजरी—सखी (चं०)
कामिनी—सखी (चं०)
कालपाशिक–सेवक (मु० रा०)
कुंदमाला—सखी (क० मं०)

कुवलयमाला—सखी (क० मं०)
कुरंगिका—सखी (क० मं०)
कृपाचार्य—पांडवों के गुरु (ध० वि०)
केलिवती—सखी (क० मं०)
कौंडिन्य—उपाध्याय का शिष्य (स० ह०)
क्षपणक—जैन साधु—जीवसिद्धि नामक गुप्तचर (मु० रा०)
गंडकीदास—पाखंडी साधु (वै० हिं०)
गंगा—भाट (वि० सुं०)
गप्प पंडित—(प्रे० यो०)
गुणसिंधु—कांचीपुर का राजा (वि० सुं०)
गृद्धराज—राजा (वै० हिं०)
गोपाल शास्त्री—(प्रे० यो०)
गोबरधनदास—चेला (अं० न०)
चंडिका—छद्मवेषधारी गायिका (नी० दे०)
चंदनदास—जौहरी (मु० रा०)
चंदनमाला—सखी (क० मं०)
चंद्रकांता—सखी (चं०)
चंद्रगुप्त—कुसुमपुर का राजा (मु० रा०)
चंद्रपाल—राजा (क० मं०)
चंद्रावली—नायिका (चं०)
चंपकलता—सखी (चं०)
चंबूभट्ट—(प्रे० यो०)
चपरगट्टू खाँ—(नी० दे०)
चपला—दासी (वि० सुं०)
चाणक्य—चंद्रगुप्त का मंत्री (मु० रा०)
चित्रगुप्त—यमराज का मंत्री (वै० हिं०)
चित्रलेखा—सखी (क० मं०)
चित्रवर्मा—कुलूत देश का राजा (मु० रा०)
छक्कूजी—महाजन (प्रे० यो०)
जाजलक—कंचुकी (मु० रा०)
जिष्णुदास—महाजन (मु० रा०)
जीर्णविष—मदारी—विराधगुप्त नामक गुप्तचर (मु० रा०)

जीवसिद्धि—गुप्तचर (मु० रा०)
भूरीसिंह—बदमाश (प्रे० यो०)
टेकचंद—महाजन (प्रे० यो०)
तरंगवती—सखी (क० मं०)
तांबूलवती—सखी (क० मं०)
दंडपाशिक—चंद्रगुप्त का नौकर (मु० रा०)
दीर्घचक्षु— रक्षाधिकारी (मु० रा०)
दुर्योधन—कौरव (ध० वि०)
देवीसिंह—सिपाही (नी० दे०)
द्युमत्सेन—सत्यवान का पिता (स० प्र०)
धनदास—वैष्णव (प्रे० यो०)
धर्म—चांडालवेषधारी (स० ह०)
धर्मराज—युधिष्ठिर (ध० वि०)
धूमकेतु—कोतवाल (वि० सुं०)
नारद—ऋषि (स० ह०, चं०)
नारायण—त्रैलोक्य के स्वामी (स० ह०)
नारायणदास—चेला (अं० न०)
निपुणक—भेदिया (मु० रा०)
नीलदेवी—सूर्यदेव की रानी (नी० दे०)
पर्वतक—मलयकेतु का पिता (मु० रा०)
पार्वती—महादेव की पत्नी (स० ह०)
प्रियंवदक—सेवक (मु० रा०)
पीकदान अली—(नी० दे०)
पुरुपदत्त—सेवक (मु० रा०)
पुष्करनयन | पुष्कराक्ष —काश्मीर का राजा (मु० रा०)
प्रवीरक—परिचारक (मु० रा०)
बकुलमाला—सखी (क० मं०)
बालमुकुंद—वैष्णव (प्रे० यो०)
बुद्धागम—बौद्ध भिक्षुक (पा० वि०)
भंडाचार्य—(वि० वि०)
भद्रभट—सेवक (मु० रा०)
भागुरायण—चाणक्य का भेदिया (मु० रा०)
भामा—सखी (चं०)
भासुरक—सेवक (मु० रा०)